

DUE DATE SLIP**GOVT. COLLEGE, LIBRARY**

KOTA (Raj)

Students can retain library books only for two weeks at the most

BORROWER'S No	<i>DUE DATE</i>	<i>SIGNATURE</i>

सचित्र

श्रीमद्वाल्मीकि-रामायण

[हिन्दीभाषानुवाद सहित]

सुन्दरकाण्ड-६

RESERVED BOOK

अनुवादक

चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्मा, डी० ओ० सी० (काशी)

— ० —

प्रकाशक

रामनारायणलाल वेनीमाधव

प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता

इलाहाबाद

चतुर्थ संस्करण २,००० प्रतिर्या] १९६५

[मूल्य ३ ७५

प्रकाशक

रामनारायणलाल बेनोमाधव
प्रकाशक तथा पुस्तक-वित्रेता
इलाहाबाद

मुद्रक

विजय कुमार भद्रवाल
नव साहित्य प्रेस
इलाहाबाद

श्रीमद्रामायणपारायणोपक्रमः

नोट—सनातन धर्म के अन्तर्गत जिन वैदिक सम्प्रदायों में श्रीमद्रामायण का पारायण होता है, उन्हीं सम्प्रदायों के अनुसार उपक्रम और समापन क्रम प्रत्येक खण्ड के आदि और अन्त में क्रमशः दे दिए गए हैं।

श्रीवैष्णवसम्प्रदायः

कूजन्त राम रामेति मधुर मधुराक्षरम् ।
 अरुह्य कविताशाखा वन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥१॥
 वाल्मीकिनुसिंहरय कवितावनचारिण ।
 शृण्वन् रामकथानाद को न याति परा गतिम् ॥२॥
 य पिबन्सतत रामचरितामृतसागरम् ।
 अतृप्तस्त मुनि वन्दे प्राचेतसमकल्मषम् ॥३॥
 गोष्पदीकृतवारीश मशकोकृतराक्षम् ।
 रामायणमहामालारत्न वन्देऽनिलात्मजम् ॥४॥
 अञ्जनानन्दन वीर जानकीशोक्नाशनम् ।
 कपीशमक्षहन्तार वन्दे सङ्क्रामयञ्जुरम् ॥५॥
 मनोजव मारुततुल्यवेग
 जितेन्द्रिय बुद्धिमता धरिष्ठम् ।
 वातात्मज वानरपूयमुह्य
 श्रीरामदूत शिरसा नमामि ॥६॥
 उल्लङ्घ्य सिन्धो सलिल सलील
 य शोक्वर्हि जनकात्मजाया ।
 आदाय तेनैव वदाह सङ्क्राम
 नमामि त प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ॥७॥

आञ्जनयमतिपाटलाननं

काञ्चनाद्रिकमनोपविग्रहम् ।

पारिजाततण्डुलवासिन

भाद्रपार्थिव पवमाननन्दनम् ॥८॥

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तन

तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम् ।

बाष्पधारिपरिपूर्णलोचन

मार्धति नमत राक्षसान्तकम् ॥९॥

श्रद्धवद्ये परे पुंसि ज्ञाते दशरथात्मजे ।

बद्ध प्रच्येतसादासीत्साक्षाद्गामाभ्यात्मना ॥१०॥

तद्रुपगतसमाससन्धियोग

सममधुरोपनतार्यवाक्यबद्धम् ।

रघुवरचरित मुनिप्रणीत

दशशिरसश्च वध निशामयध्वम् ॥११॥

धीराधव दशरथात्मजमप्रमेय

सीतापति रघुकुलान्वयरत्नदीपम् ।

प्राजानुबाहुमरविन्ददलायताक्ष

राम निशाचरविनाशकर नमामि ॥१२॥

वैदेहीसहित सुरद्रुमतले ह्रींसे महामण्डपे

मध्ये पुर्यकमासने मणिमये वीरासने सुस्थितम् ।

अप्रे घाचयति प्रभञ्जनमुते तत्त्व मुनिम्य पर

ध्याएयान्त भर्तादिभि परिषृत राम भजे श्यामलम् ॥१३॥

माध्वसम्प्रदायः

शुक्लाम्बरधर विष्णु शशिवर्णं चतुर्भुजम् ।

प्रसन्नवदन ध्यायेत्सर्वविघ्नोपशान्तये ॥१॥

लक्ष्मीनारायण वन्दे तद्भक्तप्रवरो हि म ।

धीमदानन्दतीर्थाख्यो गृहस्त च नमाम्यहम् ॥२॥

वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा ।
 प्रादावन्ते च मध्ये च विष्णु सर्वत्र गीयते ॥३॥

सर्वविघ्नप्रशमन सर्वसिद्धिकर परम् ।
 सर्वजीवप्रणेतार वन्दे विजयव हरिम ॥४॥

सर्वाभीष्टप्रद राम सर्वारिष्टनिवारकम् ।
 जानकीजानिमनिश वन्दे मदमुखवन्दितम् ॥५॥

अभ्रम भङ्गरहितमजड विमल सदा ।
 आनन्दतीर्थमत्रुल भजे तापत्रयापहम् ॥६॥

भवति यदनुभावादेडमूकोऽपि वाग्मी
 जडमतिरपि जन्तुर्जायते प्राज्ञमौलि ।
 सकलवचनचेतोदेवता भारती सा
 मम वचसि विघत्तां सतिधि मानसे च ॥७॥

मिथ्यासिद्धातबुध्वान्तविष्वसनविचक्षण ।
 जयतीर्याह्यतरणिर्भासता नो हृदम्बरे ॥८॥

चित्रं पदंश्च गम्भीरंवाक्यंमर्नैरखण्डितं ।
 गुणभाव व्यञ्जयन्ती भाति श्रीजयतीर्थवाक् ॥९॥

कूजन्त राम रामेति मधुर मधुराक्षरम् ।
 आश्रय कविताशाला वन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥१०॥

वाल्मीकेर्मुर्निसिंहस्य कवितायचारिण ।
 शृण्वन्रामकथानाद को न याति परा गतिम् ॥११॥

य पिबन् सतत रामचरितामृतसागरम् ।
 अतूप्सस्त मुनि वन्दे प्राचेतसमकल्मषम् ॥१२॥

गोष्पदीकृतवारीश मशकीकृतराक्षसम् ॥
 रामायणमहामालारत्न वन्देऽनिलात्मजम् ॥१३॥

अञ्जनानन्दन वीर जानकीशोकनाशम् ॥
 कपीशमक्षहन्तार वन्दे सङ्ग्रामपङ्कुरम् ॥१४॥

मनोजव मास्ततुल्पवेग

जितेन्द्रिय बुद्धिमता वरिष्ठम् ।

वातात्मज वानरपूथमुह्य

श्रीरामदूत शिरसा नमामि ॥१५॥

उल्लङ्घ्य सिन्धो सलिल सलील

य शोकवर्द्ध जनकात्मजाया ।

श्रादाप तेनेव देवाह लङ्का

नमामि त प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ॥१६॥

प्राञ्जनेयमतिपाटसरनन

काञ्चनाद्रिकमनीयविग्रहम् ।

पारिजाततश्मूलवासिन

भावयामि पवमाननन्दनम् ॥१७॥

यत्र यत्र रघुनायकीर्तन

तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जतिम् ।

श्राण्यवारिपरिपूर्णलोचन

भार्ति नमत राक्षसान्तकम् ॥१८॥

वेदवेद्ये परे पुंसि जाने दशरथात्मजे ।

वेद प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥१९॥

श्रापदामपहर्तार दातार सर्वसम्पदाम् ।

लोकाभिराम श्रीराम भूयो भूयो नमाम्यहम् ॥२०॥

तद्गुणगतसमाससन्धियोग

सममधुरोपनतार्थवाक्यबद्धम् ।

रघुवरचरित मृत्निप्रणीत

दशशिरसश्च वध निशामयध्वम् ॥२१॥

वंदेहीसहित सुरदुमतले हंसे महामण्डपे

मध्ये पुष्पकमासने मणिमये धीरासने मुत्स्यितम् ।

अग्रे वाक्जति प्रभञ्जनमुने तत्त्व मृत्निम्य पर

व्याख्यान्त भदतादिभि परिवृत राम भजे श्यामलम् ॥२२॥

वन्दे वन्द्यं विधिभवमहेन्द्रादिवृन्दारकेन्द्रं :

व्यक्तं व्याप्तं स्वगुणगणतो देशतः कालतश्च ।

घृतावद्यं सुखचितिमयमङ्गलैर्युक्तमङ्गैः

सान्नाय्यं नो विदधदधिकं ब्रह्म नारायणाख्यम् ॥२३॥

भूधारत्न भुवनबलप्रस्योखिलाश्चर्यरत्नं

लीलारत्नं जलविदुहितुर्वेवतामौलिरत्नम् ।

चिन्तारत्नं जगति भजतां सत्सरोजद्युरत्नं

कौसल्याया ससतु भम हृन्मण्डले पुत्ररत्नम् ॥२४॥

महाव्याकरणाम्भोधिमन्थमानसमन्दरम् ।

कवयन्तं रामकीर्त्या हनुमन्तमुपास्महे ॥२५॥

मुह्यप्राणाय भीमाय नमो यस्य भुजान्तरम् ।

नानावीरमुवर्णानां निकषाश्मापितं वभौ ॥२६॥

स्वान्तस्यानन्तशय्याय पूर्णज्ञानमहार्णवे ।

उत्तुङ्गवाक्तरङ्गाय मध्वद्गुग्धाब्धये नमः ॥२७॥

चाल्मीकिर्गोः पुनीयाज्ञो महीधरपदाश्रया ।

यद्दुग्धमुपजीवन्ति कवयस्तर्णका इव ॥२८॥

सूक्तिरत्नोकरे रम्ये मूलरामायणार्णवे ।

विहरन्तो महीयासः प्रीयन्तां गुरवो मम ॥२९॥

हयप्रीव हयप्रीव हयप्रीवेति यो वदेत् ।

तस्य निःसरते वाणी जह्नु कन्याप्रवाहवत् ॥३०॥

—*—

स्मार्तसम्प्रदायः

शुक्लाम्बरधरं विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजम् ।

प्रसन्नवदनं ध्यायेत्सर्वविघ्नोपशान्तये ॥१॥

वागीशाद्या मुमनसः सर्वार्यानामुपक्रमे ।

यं नत्वा ऋतःशुद्ध्याः स्फुटं नमामि, गवतन्तम् ॥२॥

दोर्नयुक्ता चतुर्भिः सृष्टिकर्मणिमयीमत्तमानां दधाना
 हृन्नेनेकेन पद्य मितमपि च शुक पुस्तकं चारणे ।
 भाषा बुन्देन्दुगङ्गासृष्टिकर्मणिनिभा ज्ञानमानामाना
 या मे वादेवनेन निदमनु वदने सर्वदा मुद्रयता ॥३॥

कृत्स्न राम रामेति मधुर मधुराश्रयम् ।
 आश्रय कविनाशास्त्रा वन्दे दान्मीकिशोक्तिम् ॥४॥
 दान्मीकेर्मुनिमिहस्य कविनाश्रयचारिणः ।
 शृङ्खलामक्यानाद् शो न यानि परा गनिम् ॥५॥

य विवल्नत रामचरितामृतमाारम् ।
 श्रुत्स्न वन्दे प्राञ्चनेममकल्पयम् ॥६॥
 गोष्पदीकृत्स्नवारीश मशकीकृत्स्नराशयम् ।
 रामाश्रयमहामातरल वन्देर्जनतामयम् ॥७॥
 अञ्जनानन्दन वीरं ज्ञानवीशोकताशनम् ।
 कशीममहन्तार वन्दे लङ्कामयङ्कम् ॥८॥

वन्देहृद्य मिश्रो मतिव सर्वान्
 य शोकवीर्ये अनका मशानाः ।
 आश्रय तनव ददाह लङ्का
 नयामि त प्राञ्चनिराञ्चनेयम् ॥९॥

प्राञ्चनेयमनिराटत्तानन
 काञ्चनेनाद्रिकमनीपविग्रहम् ।
 पारिजाननदमूनदामिन
 भावयामि पवमाननन्दनम् ॥१०॥

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तन
 तत्र तत्र कृतमन्त्रकाञ्चनिम् ।
 बाणवारिपरिपुर्नलोचन
 मारुति नमन राजमानकम् ॥११॥

मतोदत्र मारुतनुष्ययोग
 त्रिनेन्द्रिय षुद्धिमता वरिष्ठम् ।

वातात्मज वानरपुत्रमुद्व

श्रीरामदूत शिरसा नमामि ॥१२॥

यः कर्णाञ्जलिसम्पुटंरहरह सम्पक् पिवत्पादरान्

वाल्मीकेवंदनारविन्दगतित रामायणाद्य मधु ।

जन्मव्याधिजराविपत्तिनरर्णरत्पन्तनोपद्रव

सत्सर त विहाय गच्छति पुमान्विष्णो पद शाश्वतम् ॥१३॥

तदुपगतसमाससन्धिपोग

सममधुरोपनतार्पवाक्यबद्धम् ।

रघुवरचरित मुनिप्रणीत

दशशिरसश्च यथ निशामयध्वम् ॥१४॥

वाल्मीकिगिरिसम्भूता रामसागरगामिनी ।

पुनातु भुवन पुण्या रामायणमहानदी ॥१५॥

श्लोकसारसमाकीर्णं सर्वाक्लितसङ्कलम्

षाण्डप्राहमहामीन वन्दे रामायणार्णवम् ॥१६॥

वेदवेद्ये परे पुति जाने दशरथात्मजे ।

वेदः प्राचेतसादासीत्साज्ञाद्रामायणात्मना ॥१७॥

चैदेहीसहित सुद्धुमतले हंमे महामण्डपे

मध्ये पुष्पकमासने मणिमये वीरासने सुस्थितम् ।

भ्रष्टे वाचपति प्रभञ्जतमुने तत्त्व मुनिन्य पर

ष्याह्यान्व भरतादिभि परिवृत्त राम भजे श्यामलम् ॥१८॥

बाने भूमिमुता पुरश्च हनुमान्पदवात्सुमित्रानुत

शत्रुघ्नो भरतश्च पादर्वदलयोर्वाट्टवादिक्वोपेषु च ।

सुग्रीवश्च विभीषणश्च युवराट तारामुतो जाम्बवान्

मध्ये नीच-सरोज कोमलरुचि राम भजे श्यामलम् ॥१९॥

नमोऽस्तु रामाय सतश्मताय

देव्यै च तत्पुं जनकात्मजायै ।

नमोऽस्तु ह्येन्द्रयमानितेन्यो

नमोऽस्तु चन्द्राकंमहद्गणेन्य ॥२०॥

सुन्दरकाण्ड

की

विषयानुक्रमणिका

पहला सर्ग

१—४२

समुद्र फाँदने के लिए हनुमानजी का महेन्द्राचल के ऊपर चढ़ना और वहाँ से छलाँग मारना । मार्ग में मँताक पर्वत के साथ हनुमानजी का कथोप-कथन । भागे बस नागभाता सुरसा को छुका और छायाप्राहिणी सिंहिका का बधकर, समुद्र के उस पार पहुँच कर, हनुमानजी का लम्बाद्रिकूट पर पहुँचना ।

दूसरा सर्ग

४२—५४

लका के बाहिरी वन का वर्णन । रात में हनुमानजी का प्रति छोटा रूप धर कर लका में प्रवेश ।

तीसरा सर्ग

५४—६४

भरी पूरी शोभायमान लकापुरी में प्रवेश करते समय नगररक्षिणी लका नाम की राक्षसी से हनुमानजी की मुठभेड़ । हनुमानजी द्वारा उसका परास्त होना और सीता को ढूँढने के लिए हनुमानजी को, उसकी अनुमति की प्राप्ति ।

चौथा सर्ग

६४—७०

नगर के विशेष स्थानों को देखते-भालते समय श्री हनुमानजी का लकापुरी में रहने वाली सुन्दरी स्त्रियों का गाना-बजाना सुनते-सुनते, क्रमशः रावण के रनवास में प्रवेश ।

पाँचवाँ सर्ग

७१—७८

चन्द्रोदय वर्णन । तदुपरान्त रावण की स्त्रियों को अनेक प्रकार से सीता हुई देख और जानकीजी को नहीं न पाने के कारण, हनुमानजी का दुःखी होना ।

छठवाँ सर्ग

७८—८७

तदनन्तर हनुमानजी का रावण के अमार्य प्रहस्तादि के घरों की समृद्धि तथा रावण की शिविका तथा उसके लतामण्डपादि को देखना ।

सातवाँ सर्ग

८७—९२

हनुमानजी द्वारा पुष्पकविमान का देखा जाना और जानकीजी को न देखने के कारण, हनुमानजी का मन में दुःखी होना ।

आठवाँ सर्ग

९३—९५

पुष्पकविमान का वर्णन ।

नवाँ सर्ग

९६—१११

पुष्पकविमान पर चढ़कर, हनुमानजी का रावण के चारों ओर सोती हुई मुन्दरियों को देखना ।

दसवाँ सर्ग

१११—१२१

मुन्दरियों का वर्णन तथा मन्दोदरी को देख हनुमानजी को उसके सोता होने का भ्रम होना ।

ग्यारहवाँ सर्ग

१२१—१३०

रावण की पानशाला और वहाँ नशे में चूर सोती हुई मुन्दरियों को देखते हुए हनुमानजी का सीता की खोज में अन्त्यत्र गमन ।

बारहवाँ सर्ग

१३०—१३५

रनवास और लका के मुख्य-भूख्य स्थानों को रत्ती-रत्ती देख लेने पर भी जब सीता वहाँ न देख पड़ी, तब हनुमानजी का विमान से कूद कर और परकोटे पर बैठ कर विचार करना ।

तेरहवाँ सर्ग

१३५—१४८

परकोटे पर बैठे हनुमानजी के मन में अनेक प्रकार के सकल्प-विकल्पों का उदय होना । इतने में दूर से भशोक-वाटिका दिखलाई पड़ना और वहाँ जाने के पूर्व हनुमानजी का ब्रह्मादि देवताओं की स्तुति करना ।

चौदहवाँ सर्ग

१४८—१५८

हनुमानजी का भशोकवाटिका में जाना । भशोकवाटिका का वर्णन । हनुमानजी का शिशुपा दूत पर चढ़ना ।

पन्द्रहवाँ सर्ग

१५८—१६६

वहाँ से हनुमानजी का राक्षसियों के बीच बँठी जनकनन्दिनी को देखना ।

सोलहवाँ सर्ग

१६६—१७५

हनुमानजी का मन ही मन सब अपना समुद्र लांघना सफल समझना ।

सत्रहवाँ सर्ग

१७५—१८२

सौशील्य एवं सौन्दर्य आदि गुणों से युक्त सीताजी का वर्णन और हनुमानजी का हर्षित होना ।

अठारहवाँ सर्ग

१८२—१८६

रानियों सहित रावण का अशोकवाटिका में आगमन और हनुमानजी का वृक्ष के पत्तों में अपने को छिपाना ।

उन्नीसवाँ सर्ग

१८६—१९३

माता के समीप जा रावण का सीताजी को लालच दिखलाना ।

बीसवाँ सर्ग

१९३—२००

सीता के प्रति रावण का प्रलोभन दर्शन ।

इक्कीसवाँ सर्ग

२००—२०७

रावण की बातें सुन सीता का तृण की भोट कर यह उत्तर देना कि, "तू मुझे श्रीरामचन्द्रजी के पास भेज दे नहीं तो उनके बाणों से तू मारा जायगा ।"

बाईसवाँ सर्ग

२०७—२१६

इस पर रावण का क्रोध में भर सीताजी को धमकाते हुए यह कहना कि दो मास के भीतर तू मेरे वश में हो जा, नहीं तो अवधि बीतने पर तुझे मार कर मैं कलेवा कर जाऊँगा । तदनन्तर राक्षसियों से सीता को वश में लाने के लिए हर प्रकार के प्रयत्न करने की आज्ञा दे, रावण का वहाँ से प्रस्थान ।

तेईसवाँ सर्ग

२१६—२२०

रावण के चले जाने पर राक्षसियों का सीताजी के सामने तर्जन गर्जन ।

उनतालीसवाँ सर्ग

३४६—३५५

सीताजी का हनुमानजी के प्रति प्रश्न कि वानरसैन्य और श्रीरामचन्द्र एव लक्ष्मण किस प्रकार समुद्र पार कर लका में आ सकेंगे ? इस शकालक प्रश्न का उत्तर में हनुमानजी द्वारा समाधान ।

चालीसवाँ सर्ग

३५६—३६०

हनुमानजी का जानकीजी से बिदा माँगना और भागे के कर्त्तव्य के विषय में विचार करना ।

एकतालीसवाँ सर्ग

३६०—३६६

रावण के मन का हाल जानने और उससे वार्तालाप करने के लिए हनुमानजी का भरोकवाटिका की विष्वस करना ।

बयालीसवाँ सर्ग

३६६—३७३

राक्षसियों का रावण के पास जा, एक वानर द्वारा भरोकवाटिका के नष्ट किए जाने की सूचना देना और उसे इस कुकृत्य का समुचित दण्ड देने के लिए प्रार्थना करना । इस पर षष्टी हजार राक्षसों की सेना का भेजा जाना और हनुमान द्वारा उन सब के वध का वर्णन ।

सैंतालिसवाँ सर्ग

३७४—३७८

चैत्यपाली का हनुमान द्वारा नाश और सब को हनुमानजी द्वारा श्रीराम एव लक्ष्मणादि के नामों का मुनाया जाना ।

चौदालीसवाँ सर्ग

३७८—३८२

उन राक्षसों के मारे जाने का समाद सुन और क्रोध में भर, रावण का जाम्बुमाली को भेजना और हनुमानजी के हाथ से जम्बुमाली का मारा जाना ।

पैंतालीसवाँ सर्ग

३८३—३८६

तदनन्तर रावण के भेज हुए सप्तमत्रिपुरों का हनुमानजी द्वारा वध ।

छियालीसवाँ सर्ग

३८६—३९३

मत्रिपुरों के मारे जाने के बाद, रावण के विरूपाक्षादि पाँच सेना-नायकों का हनुमानजी द्वारा वध ।

सैतालीसवाँ सर्ग

३६४—४०५

पाँचो सेनानायको के मारे जाने पर, रावण द्वारा भेजे हुई एक बड़ी सेना के साथ रावण-पुत्र अक्षयकुमार का आना और हनुमानजी से युद्ध कर ससैन्य मारा जाना ।

अड़तालीसवाँ सर्ग

४०६—४२१

अक्षयकुमार के मारे जाने पर रावण का अतिशय कुपित हो, इन्द्रजीत को भेजना और इन्द्रजीत का रथ पर सवार हो जाना । हनुमानजी का इन्द्रजीत द्वारा ब्रह्मास्त्र से बाँधा जाना और रस्सियों से बाँध कर राक्षसों द्वारा हनुमानजी का रावण की सभा में पहुँचाया जाना । सभा में हनुमान के साथ प्रश्नोत्तर ।

उनचासवाँ सर्ग

४२१—४२५

रावण का प्रताप और तेज देख हनुमानजी का मन ही मन विस्मित होता ।

पचासवाँ सर्ग

४२५—४२८

रावण द्वारा पूछे जाने पर, हनुमान द्वारा, सुग्रीव और रामचन्द्रजी की मैत्री का हाल कहा जाना । हनुमानजी का अपने को श्रीरामदूत कह कर परिचय देना ।

इक्यावनवाँ सर्ग

४२८—४३७

श्रीरामचन्द्रजी का वृत्तान्त कह कर, हनुमानजी का रावण को यह उपदेश देना कि तुम जानकीजी, श्रीरामचन्द्रजी को लौटा दो । सीता को न लौटाने पर हनुमानजी का रावण को उसकी भावी मारी दुर्दशा का दिग्दर्शन कराना । इस पर कुपित हो रावण द्वारा हनुमान के बध की आज्ञा दिया जाना ।

बावनवाँ सर्ग

४३७—४४५

दूत के बध को नीति-विह्वल बतला, विभीषण का रावण को समझाना । अन्त में दूत को अङ्ग भंग करने की बात को रावण का मान लेना और हनुमानजी की पूँछ को जला देने की आज्ञा देना ।

तिरपनवाँ सर्ग

४४५—४५३

हनुमानजी की पूँछ में आग लगा राक्षसों द्वारा हनुमानजी का सारी लका में घुमाया जाना । राक्षसियों द्वारा यह वृत्तान्त सुन, सीताजी द्वारा अग्नि की प्रार्थना किया जाना । उधर हनुमानजी का अपने शरीर को मिकोड कर, बधना से मुक्त होना, अपने पीछे लगे हुए राक्षसों का नगर द्वारा के एक परिध को फिर निकाल, उससे बध करना ।

चौवनवाँ सर्ग

४५३—४६४

हनुमानजी का अपनी पूँछ की आग से विभीषण का घर छोड़ घोर प्रहस्त के घर से आरम्भ कर, रावण के राजप्रसाद तक, सब घरों में आग लगा कर, उनको भस्म करना । लका में इस अग्निकाण्ड से घर घर हाहाकार का मचना और देवताओं का प्रसन्न होना ।

पचपनवाँ सर्ग

४६५—४७१

लका में अग्निकाण्ड देव, हनुमानजी के मन में सीता के भस्म हो जाने का विचार उत्पन्न होने पर, उनका अपनी करनी पर बार बार पढ़वाना । इतने में चारणों के मुख से सीता का कुशलसंवाद सुन, हनुमानजी का हर्षित हो, सीता के पास उनको देखने के लिए गमन और वहाँ से समुद्र के इस पार भाने का सकल्प करना ।

छप्पनवाँ सर्ग

४७१—४७८

शिरापामूल के निकट बँठी जानकीजी को प्रणाम कर, हनुमानजी का लका से प्रस्थान ।

सत्तावनवाँ सर्ग

४७८—४८७

हनुमानजी का समुद्र के इस पार महेन्द्राचल पर कूदना और सीताजी का पता लगाना, यह बात सुन, वानरी का हनुमानजी को फलफूलों की भेंट देना और उनसे लका का वृत्तान्त पूँछना ।

अट्ठावनवाँ सर्ग

४८७—५१७

वानरों को मुताने के लिए हनुमानजी द्वारा समुद्र को पार करते समय तथा लका में हुई घटनाओं का समस्त वृत्तान्त का कहना जाना ।

उनसठवाँ सर्ग

५१७—५२४

सीताजी के पातिव्रत्यादि गुणों का हनुमानजी द्वारा निरूपण ।

साठवाँ सर्ग

५२४—५२६

हनुमानजी के मुख से सका का हाल सुन, अङ्गदादि समस्त वानरो का यह कहना कि लका में चल कर जानकीजी को हम लोग छुड़ा लावें तदनन्तर श्रीरामचन्द्रजी से मिलें किन्तु जम्बवान् का इसके लिए निषेध करना । वानरो का किष्किन्धा के लिए प्रस्थान ।

इकसठवाँ सर्ग

५२७—५३२

रास्ते में सुग्रीव के मधुवन नामक बाग का पडना और उसमें वानरो का प्रवेश । वहाँ मधुपान करने की अनुमति प्राप्त करने के लिए वानरो का युवराज अङ्गद से प्रार्थना करना और अगद का अनुमति प्रदान करना तथा वानरो का यथेष्ट मधुपान करना । इस पर उस मधुवन के रखवाले दधिमुख का उनको रोकना ।

बासठवाँ सर्ग

५३२—५४०

अङ्गद और हनुमानजी का सकेत पा, वानरो का मधुवन को विध्वंस करना, दधिमुख का फिर रोकना । तब उन वनपालों का वानरों द्वारा पीटा जाना और दधिमुख का अपने वनपालों को साथ ले, वानरो की शिकायत करने को सुग्रीव के पास जाना ।

त्रैसठवाँ सर्ग

५४०—५४६

दधिमुख के मुख से समस्त वृत्तान्त सुन, सुग्रीव का यह जान लेना कि सीताजी का पता लग गया । अतः सुग्रीव का दधिमुख को, अङ्गदादि को शीघ्र अपने समीप भेजने के लिए आज्ञा देना ।

चौसठवाँ सर्ग

५४६—५५३

दधिमुख का लौट कर मधुवन में जाना और अङ्गदादि को सुग्रीव की आज्ञा की सूचना देना । सब वानरों का सुग्रीव के समीप जाना और सीता का पता पाने की सूचना देने पर, श्रीरामचन्द्रजी का उनकी प्रशंसा करना । तदुपरान्त सब वानरो का हर्षित होना ।

पैंसठवाँ सर्ग

५५३—५५८

हनुमानजी के मुख में सीता का वृत्तान्त मुन श्रीर वूडामणि देव श्रीरामचन्द्रजी का विलाप करना ।

छियासठवाँ सर्ग

५५९—५६१

श्रीरामचन्द्रजी का हनुमानजी से पुन सीताजी का वृत्तान्त कहने के लिए अनु-रोध ।

सरसठवाँ सर्ग

५६२—५६८

हनुमानजी द्वारा काकासुर की कथा कहा जाना ।

अड़सठवाँ सर्ग]

५६८—५७४

भाईबन्धु सहित रावण को मार कर मुझको ले जाओ, इसी में आपकी बढाई होगी—आदि मीता की वही हुई वार्ता का हनुमानजी द्वारा, श्रीराम-चन्द्रजी से कहा जाना ।

॥ इति ॥

श्रीमद्वाल्मीकिरामायणम्

— ० —

सुन्दरकाण्डः

ततो रावणनीतायाः सीतायाः शत्रुकर्शनः ।

इयेष पदमन्वेष्टुं चारणाचरिते पथि ॥ १ ॥

तदनन्तर शत्रुदमनकर्त्ता हनुमानजी, सीताजी का पता लगाने के लिए, आकाश के उस मार्ग से, जिस पर चारण लोग चला करते हैं, जानने को तैयार हुए ॥१॥

दुष्करं निष्प्रतिद्वन्द्वं चिकीर्षन्कर्म वानरः ।

समुद्रग्रशिरोग्रीवो गवां पतिरिवाऽऽवभौ ॥ २ ॥

इस प्रकार के दुष्कर कर्म करने की इच्छा कर, सिर घीर गर्दन उठा कर, वृषभ की तरह, प्रतिद्वन्द्वीरहित अथवा विघ्नवाधा-रहित, हनुमान जी शोभायमान हुए ॥२॥

अथ वैडूर्यवर्णेषु शाद्वलेषु महाबलः ।

धीरः सलिलकल्पेषु^१ विचचार यथासुखम् ॥ ३ ॥

धीर वीर हनुमान जी, समुद्रजलवत् अथवा पत्तों की तरह हरी रंग की द्वीप के ऊपर, सुख से विचरने लगे ॥३॥

द्विजान्विन्नासयन्धीमानुरसा पादपान्हरन् ।

मृगांश्च सुबहून्निघ्नन्प्रवृद्ध इव केसरी ॥ ४ ॥

१ सलिलकल्पेषु—समुद्रजलवत् । (रा०)

उस समय बुद्धिमान् हनुमानजी, पक्षियों को त्रस्त करते, अपनी छाती की टक्कर से अनेक वृक्षों को उखाड़ते और बहुत से मृगों को मारते हुए ऐसे जान पड़ते थे, मानो बड़ा भयकर सिंह हो ॥४॥

नीललोहितमाञ्जिजष्ठपत्रवर्णः सितासितैः ।

स्वभावविहितैश्चित्रैर्धातुभिः समलङ्कृतम् ॥ ५ ॥

कामरूपिभिरादिष्टमभीक्षण सपरिच्छदैः ।

यक्षकिन्नरगन्धर्वैर्वधकल्पैश्च पन्नगैः ॥ ६ ॥

स तस्य गिरिवर्यस्य तले नागवरायुते ।

तिष्ठन्कपिवरस्तत्र ह्रुदे नाग इवाबभौ ॥ ७ ॥

नीली, लाल, मजीठी और कमल के रंग की तथा सफेद एवं काले रंग की रंग विरगी स्वभावसिद्ध धातुओं से भूषित, विविध भाँति के आभूषणों और वस्त्रों का पहिने हुए और अपने अपने परिवारों सहित देवताओं की तरह कामरूपी यक्ष गन्धर्व, किन्नर और सर्पों से सेवित्र तथा उत्तम जाति के हाथियों से व्याप्त, उस महेन्द्र पर्वत की तलहटी में, वातरश्मेष्ठ हनुमानजी, सरोवरस्थित हाथी की तरह शोभायमान हुए ॥५॥६॥७॥

स सूर्याय महेन्द्राय पवनाय स्वयंभुवे^१ ।

^२भूतेभ्यश्चाञ्जलि कृत्वा चकार गमने मतिम् ॥ ८ ॥

हनुमानजी ने सूर्य, इन्द्र, वायु, ब्रह्मा तथा अन्यान्य देवताओं को नमस्कार करके वहाँ से प्रस्थान करना चाहा ॥८॥

अञ्जलिं प्राङ्मुखः कुर्वन्पवनायात्मयोनये^३ ।

ततोऽभिवदूधे गन्तुं दक्षिणो दक्षिणां दिशम् ॥ ९ ॥

१ स्वयंभुवे—अनुमंज्ञाय । (गो०) २ मृतेभ्य—देवयोनिभ्य (गो०)

३ आत्मयोनये—स्वकारणभूताय । (गो०) । . . .

तदनन्तर वे पूर्वमुख हो, हाथ जोड़ अपने पिता पवनदेव को प्रणाम कर, दक्षिण दिशा की ओर जाने को अग्रसर हुए ॥१९॥

प्लवङ्गप्रवरैर्दृष्टः प्लवने कृतनिश्चयः ।

ववृधे रामवृद्धयर्थं समुद्र इव पर्वसु ॥ १० ॥

वानरश्रेष्ठो ने देखा कि श्रीरामचन्द्रजी के कार्य की सिद्धि के लिए, समुद्र लाघने का निश्चय किए हुए हनुमानजी का शरीर, ऐसे बढ़ने लगा जैसे पूर्णमासी के दिन समुद्र बढ़ता है ॥१०॥

निष्प्रमाणशरीरः^१ संलिलङ्घयिषुरणवम् ।

वाहुभ्यां पीडयामास चरणान्यां च पर्वतम् ॥ ११ ॥

हनुमान्जी ने समुद्र फाँदने के समय अपना शरीर अघाघुन्ध बढ़ाया और अपनी दोनों भुजाओं और चरणों से पर्वत को ऐसा दबाया कि ॥११॥

स चचालाचलश्चापि मुहूर्तं कपिपीडितः ।

तरूणा पुष्पिताग्राणां सर्वं पुष्पमशातयत् ॥ १२ ॥

दबाने से एक मुहूर्त तक वह अचल पर्वत चलायमान हो गया और उसके ऊपर जो पुष्पित वृक्ष थे, उन वृक्षों के सब फल झड़ कर गिर पड़े ॥१२॥

तेन पादपमुक्तेन पुष्पौघेण सुगन्धिना ।

सर्वतः संवृतः शैलो बभौ पुष्पमयो यथा ॥ १३ ॥

वृक्षों से झड़ हुए सुगन्धयुक्त फूलों के ढेरों से वह पर्वत ढक गया और ऐसा जान पड़ने लगा, मानो वह समस्त पहाड़ फूलों ही का है ॥१३॥

तेन चोत्तमवीर्येण पीडयमानः स पर्वतः ।

सलिलं सम्प्रसुखाव मदमत्त इव द्विपः ॥ १४ ॥

१ निष्प्रमाणशरीरः—निर्मं दिशरीरः । (गो०)

जब वीर्यवान् वपिप्रवर हनुमान जी ने उस पर्वत को दबाया, तब उससे अनेक जल की धाराएँ निकल पड़ीं । वे धाराएँ ऐसी जान पड़ती थी, मानो किसी मतवाले हाथी के भस्तक से मद बहता हो ॥१४॥

पीड्यमानस्तु बलिना महेन्द्रस्तेन पर्वतः ।

रीतीर्निर्वतंथामास काञ्चनाञ्जनराजतीः ॥ १५ ॥

बलवान् हनुमानजी ने दबाने से उस महेन्द्राचल पर्वत के चारो ओर घातुषो के वह निकलन से ऐसा जान पड़ता था, मानो पिपलाए हुए सोने और चाँदी की रेखाएँ खिंची हों ॥१५॥

मुमोच च शिलाः शैलो विशालाः समनःशिलाः ।

मध्यमेनार्चिषा जुष्टो धूमराजीरिवानलः ॥ १६ ॥

वह पर्वत मनमिलयुक्त बड़ी-बड़ी शिलाएँ गिराने लगा । उस समय ऐसा जान पड़ा, माना बीच में तो आग जल रही हो और चारो ओर धुँध निकल रहा हो ॥१६॥

गिरिणा पीड्यमानेन पीड्यमानानि सर्वतः ।

गुहाविष्टानि भूतानि विनेदुर्विकृतंः स्वरंः ॥ १७ ॥

हनुमानजी के द्वारा उस पर्वत के दबाए जाने पर उस पर्वत की गुहाओं में रहने वाले समस्त जीव-जन्तु दब गए और विकराल शब्द करने लगे ॥१७॥

स महान्सत्त्वसन्नादः शैलपीडानिमित्तजः ।

पृथिवीं पूरयामास दिशश्चोपवनानि च ॥ १८ ॥

पर्वत के दबने के कारण उन जीव-जन्तुओं ने ऐसा घोर शब्द किया कि, उससे सम्पूर्ण पृथिवी, दिशा और जगल भर गए ॥१८॥

१ रीती — रेखा । (गो०)

शिरोभिः पृथुभिः सर्पा व्यवतस्वस्तिकलक्षणैः ।

वमन्तः पावकं घोरं ददंशुर्दशनैः शिलाः ॥ १९ ॥

स्वस्तिक (शुभ) चिह्नो से चिह्नित फनघारी बड़े बड़े सर्प जो उस पर्वत में रहा करते थे, क्रुद्ध हुए और मुख से भयकर भाग उगलते हुए, शिलाओं को अपने दाँतो से काटने लगे ॥१९॥

तास्तदा सविषदंष्ट्राः कुपितैस्तैर्महाशिलाः ।

जज्वलुः पावकोद्दीप्ता बिभिदुश्च सहस्रधा ॥ २० ॥

क्रुद्ध होकर विषधरो द्वारा दाँतो से काटी गई वे बड़ी बड़ी शिलाएँ जलने लगीं और उनके हजारों टुकड़े हो गए ॥२०॥

यानि चौषधजालानि तस्मिञ्जातानि पर्वते ।

विषघ्नान्यपि नागानां न शेकुः शमितुं विषम् ॥ २१ ॥

यद्यपि उस पर्वत पर सर्पविषनाशक अनेक जड़ी बूटियाँ थी, तथापि वे भी उन नागों के विष को शमन न कर सकी ॥२१॥

भिद्यतेऽयं गिरिभूतैरिति मत्वा तपस्विनः ।

अस्ता विद्याधरास्तस्मादुत्पेतुः स्त्रीगणैः सह ॥ २२ ॥

जब हनुमानजी ने पर्वत को दबाया, तब उस पर्वत पर बसने वाले तपस्वी और विद्याधर लोग घबडा कर अपनी अपनी स्त्रियों को साथ ले वहाँ से चन दिए ॥२२॥

पानभूमिगतं हित्वा हैममासवभाजनम् ।

पात्राणि च महार्हाणि करकांश्च हिरण्मयान् ॥ २३ ॥

घोर शराव पीने की जगह पर जो सोने की बैठकी और बड़े बड़े मूल्यवान सुवर्णपात्र और सुवर्ण के करवे थे, उन्हें वे वही छोड़ कर चल दिए ॥२३॥

लेह्यानुच्चावचान्भक्ष्यान्मांसानि विविधानि च ।

आर्यभाणि च चर्माणि खड्गांश्च कनकत्सरून् ॥ २४ ॥

घटनी आदि विविध पदार्थ और तरह तरह के मांस, सावर के चमड़े की बनी छालें तथा साने की मूठ की तलवारें जहाँ की तहाँ छोड़, (वे लोग जान लेकर, आकाशमार्ग से चल दिए) ॥२४॥

कृतकण्ठगुणाः क्षीवा रक्तमाल्यानुलेपनाः ।

रक्ताक्षाः पुष्कराक्षाश्च गगनं प्रतिपेदिरे ॥ २५ ॥

गलो में सुन्दर पुष्पहारो को पहिने तथा शरीरो में अच्छे अगराय लगाए अरुण एव कमल जैसे नेत्रो वाले विद्याधरो ने आकाश में जाकर दम ली ॥२५॥

हारनूपुरकेयूरपारिहार्यधराः स्त्रियः ।

विस्मिताः सस्मितास्तस्युराकाशे रमणैः सह ॥ २६ ॥

इनकी स्त्रियाँ, जो हार, नूपुर (विद्धवा), विजायठ और ककनो से भपन शरीर सजाए हुए थीं, अत्यन्त आश्चर्यचकित हो भपन भपने पतियो के पास जाकर, आकाश में खड़ी हो गईं ॥२६॥

दर्शयन्तो महाविद्यां विद्याधरमहर्षयः ।

विस्मितास्तस्युराकाशे वीक्षांचक्रुश्च पर्वतम् ॥ २७ ॥

वे विद्याधर और महर्षिगण अणिमादि षष्ट महाविद्याधो को दिखलाते, आकाश में खडे होकर उस पर्वत की ओर देखने लगे ॥२७॥

शुश्रुवुश्च तदा शब्दमृषीणां भावितात्मनाम् ।

चारणानां च सिद्धानां स्थितानां विमलेऽम्बरे ॥ २८ ॥

एष पर्वतसङ्काशो हनूमान्मारुतात्मजः ।

तितीर्यति महावेगः सागरं मकरालयम् ॥ २९ ॥

१ महाविद्या-अणिमाषष्टमहाविद्या । (गो०) • पाठान्तरे-"सहिता-स्तस्युराकाशे" ।

वे निर्मल आकाशस्थित विशुद्धमना महात्मा, ऋषियो को यह कहते हुए मुन रहे थे कि, देखो यह पर्वताकार शरीर वाले हनुमान बड़ी तेजी से समुद्र के पार जाना चाहते हैं ॥२८॥

रामार्थं वानरार्थं च चिकीर्षन्कर्म दुष्करम् ।

समुद्रस्य परं पारं दुष्प्रापं प्राप्तुमिच्छति ॥ ३० ॥

ये वीर वानर हनुमान जी, श्रीरामचन्द्र का कार्यसिद्ध करने और इन वानरो के प्राण बचाने के लिए, दुर्लब्ध समुद्र के उस पार जाने की इच्छा कर, एक दुष्कर कार्य करना चाहते हैं ॥३०॥

इति विद्याधराः श्रुत्वा ब्रह्मस्तेषां तपस्विनाम्* ।

तमप्रमेयं ददृशुः पर्वते वानरर्षभम् ॥ ३१ ॥

उन तपस्वियो की कही हुई इन बातों को मुन विद्याधर लोग उस पर्वत पर खड़े अप्रमेय बलशाली हनुमानजी को देखने लगे ॥३१॥

दुधुवे च स रोमाणि चकम्पे चाचलोपमः ।

ननाद सुमहानादं स महानिव तोयदः ॥ ३२ ॥

उस समय पवननन्दन हनुमानजी ने अपने शरीर के रोमों को फुला, पर्वताकार अपने शरीर को हिलामा और महामेघ की तरह महानाद कर, वे गजें ॥३२॥

आनुपूर्व्येण वृत्तं च लाङ्गूलं लोमभिश्चितम् ।

उत्पतिष्यन्विचिक्षेप पक्षिराज इवोरगम् ॥ ३३ ॥

और चढाव-उतारदार एक गोल और रुएदार अपनी पूँछ को हनुमानजी ने वैसे ही झटकारा जैसे गरुड साँप को झटकारता है ॥३३॥

तस्य लाङ्गूलमाविद्धमतिवेगस्य पृष्ठतः ।

ददृशे गरुडेनेव ह्लियमाणो महोरगः ॥ ३४ ॥

इनकी पीठ पर बड़े बेंग से हिलती हुई इनकी पूँछ, गरुड़ द्वारा पकड़े हुए अजगर साँप की तरह हिलती हुई, देख पड़ती थी ॥३४॥

बाहू संस्तम्भयामास महापरिघसन्निभौ ।

ससाद च कपिः कट्यां चरणौ सञ्चुकोच च ॥ ३५ ॥ ;

हनुमानजी ने (कूदने के समय अपने परिघ जैसे आकार वाली दोनों भुजाओं को जमा कर, कमर पर दोनों पैरों का धल दिया और उनको (पैरों को) सिकोड़ लिया ॥३५॥

संहृत्य च भुजौ श्रीमांस्तयैव च शिरोघराम् ।

तेजः सत्वं तथा वीर्यमाविवेश स वीर्यवान् ॥ ३६ ॥

उन्होंने अपने हाथों, सिर और होठों को भी सिकोड़ा । तदनन्तर अपने तेज, बल और पराक्रम के सहारे ॥३६॥

मार्गमालोकयन्दूरादूर्ध्वं प्रणिहितेक्षणः ।

रुरोघ हृदये प्राणानाकाशमवलोकयन् ॥ ३७ ॥

पद्भ्यां दृढमवस्थानं कृत्वा स कपिकुञ्जरः ।

निकुञ्च्य कर्णौ हनुमानुत्पतिष्यन्महाबलः ॥ ३८ ॥

जाने के मार्ग को दूर से देखा । उछलने के समय हनुमानजी ने ऊपर की ओर आकाश को देख, दम साधी और भूमि पर अपने पैर दृढतापूर्वक जमा, दोनों कानों को सिकोड़ा ॥३७॥३८॥

वानरान्वानरश्रेष्ठ इदं वचनमब्रवीत् ।

यथा राघवनिर्मुक्तः शर. श्वसनविक्रमः ॥ ३९ ॥

गच्छेत्तद्वद्गमिष्यामि लङ्का रावणपालिताम् ।

न हि द्रक्ष्यामि यदि ता लंकायां जनकात्मजाम् ॥४०॥

अनेनैव हि वेगेन गमिष्यामि सुरालयम् ।

यदि वा त्रिदिवे सीतां न द्रक्ष्यामि कृतश्रमः ॥ ४१ ॥

बद्ध्वा राक्षसराजानमानयिष्यामि रावणम् ।

सर्वथा कृतकार्योऽहमेष्यामि सह सीतया ॥ ४२ ॥

आनयिष्यामि वा लंकां समुत्पाद्य सरावणाम् ।

एवमुक्त्वा तु हनुमान्वानरान्वानरोत्तमः ॥ ४३ ॥

वे कपियो में उत्तम हनुमान वानरो से बोले कि, जिस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी के छोड़े हुए बाण हवा की तरह जाते हैं, उसी प्रकार मैं रावणपालित लका में चला जाऊँगा । यदि जनकनन्दिनी मुझे वहाँ न देख पड़ी तो इसी वेग से मैं स्वर्ग को चला जाऊँगा । यदि वहाँ भी प्रयत्न करने पर सीता न देख पड़ी, तो मैं राक्षसराज रावण को बांध कर यहाँ ले आऊँगा । या तो मैं इस प्रवार सफलमनोरथ हो सीता सहित ही लौटूँगा नहीं तो रावण सहित लका को उखाड़ कर ही ले आऊँगा । कपिश्रेष्ठ हनुमानजी ने वानरो से इस प्रकार कहा ॥३६॥४०॥४१॥४२॥४३॥

उत्पताथाय वेगेन वेगवान्विचारयन् ।

सुपर्णमिव चात्मानं मेने स कपिकुञ्जरः ॥ ४४ ॥

मार्ग के विघ्नों की कुछ भी परवाह न कर, वेगवान् हनुमानजी अत्यन्त वेग से कूड़े और उस समय अपने को गरुड़ के तुल्य समझा ॥४४॥

समुत्पतति तस्मिस्तु वेगात्ते नगरोहिणः ।

संहृत्य विटपान्सर्वान्समुत्पेतुः समन्ततः ॥ ४५ ॥

उस समय हनुमानजी के छलांग भरते ही, उस पहाड़ के पेड़ मय पत्तों और डालियों के चारों ओर से इनके पीछे बड़े वेग से चले ॥४५॥

स मत्तकोयष्टिः ऋभकान्पादपान्पुष्पशालिनः ।

उद्धहन्नरुवेगेन जगाम विमलेऽम्बरे ॥ ४६ ॥

हनुमानजी पक्षियों से युक्त और पुष्पित वृक्षों को अपनी जाँघों के वेग से अपने साथ लिए हुए विमल आकाश में गये ॥४६॥

अरुवेगाद्धता वृक्षा मुहूर्तं कपिमन्वयुः ।

प्रस्थितं दीर्घमध्वानं स्वबन्धुमिव वान्धवाः ॥ ४७ ॥

जाँघा के वेग से उड़े हुए पेड़ कुछ ही देर तक हनुमान जी के पीछे पीछे गए । तदनन्तर जिस प्रकार दूर देश की यात्रा करने वाले बन्धु के पीछे उसके भाईबद कुछ दूर तक जाकर लौट आते हैं, उसी प्रकार ये वृक्ष भी हनुमान जी को छोड़ी दूर पहुँचा कर लौटे ॥४७॥

तदूरुवेगोन्मथिताः सालाश्चान्ये नगोत्तमाः ।

अनुजग्मुर्हनूमन्तं सैन्या इव महोपतिम् ॥ ४८ ॥

हनुमानजी की जाँघों के वेग से उखड़े साल आदि के बड़े बड़े पेड़ उनके पीछे वैसे ही चले जाते थे, जैसे राजा के पीछे पीछे सेना बलती हो ॥४८॥

सुपुष्पिताग्रंबहुभिः पादपरिन्वितः कपिः ।

हनूमान्पर्वताकारो बभूवाद्भुतदर्शनः ॥ ४९ ॥

उस समय अनेक फूले हुए वृक्षों से पिछदाये हुए एव पर्वताकार हनुमानजी का अद्भुत रूप देख पडा ॥४९॥

सारवन्तोऽथ ये वृक्षा न्यमज्जल्लवणाम्भसि ।

भयादिव महेंद्रस्य पर्वता वरुणालये ॥ ५० ॥

हनुमानजी के पीछे उड़ने वाले वृक्षों में जो भारी पेड़ थे, वे समुद्र में गिर कर वैसे ही डूब गए जैसे इन्द्र के भय से पहाड़ समुद्र में डूबे थे ॥५०॥

* पाठान्तरे—“म” † पाठान्तरे—“तसूष” ।

स नानाकुसुमैः कीर्णः कपि साङ्कुरकोरकैः ।

शुशुभे मेघसंकाशः खद्योतैरिव पर्वतः ॥ ५१ ॥

उन पेड़ों के फूलों, अकुरों और कलियों से मेघ के समान कपिश्रेष्ठ हनुमानजी वैसे शोभायमान हो रहे थे, जैसे कि जुगुन्धो से कोई पर्वत शोभायमान हो रहा हो ॥५१॥

विमुक्तास्तस्य वेगेन मुक्त्वा पुष्पाणि ते द्रुमाः ।

अवशीर्यन्त सलिले निवृत्ताः सुहृदो यथा ॥ ५२ ॥

हनुमानजी के गमनवेग से छूट कर वे वृक्ष अपने फूलों को गिरा कर और तितर बितर हो समुद्र के जल में उसी प्रकार गिरे जिस प्रकार अपने किसी बधुजन को पहुँचा कर सुहृद लोग तितर बितर हो जाते हैं ॥५२॥

लघुत्वेनोपपन्नं तद्विचित्रं सागरेऽपतत् ।

द्रुमाणां विविधं पुष्पं कपिवायुसमीरितम् ॥ ५३ ॥

हनुमानजी के गमनवेग से उत्पन्न पवन द्वारा प्ररित वृक्षा के विविध प्रकार के पुष्प, हल्के होने के कारण समुद्र के जल पर उतरा कर बड़े शोभायमान हो रहे थे ॥५३॥

ऋताराशतमिवाकाशं प्रबभौ स महार्णवः ।

पुष्पाद्येणानुविद्धेन नानावर्णेन वानरः ॥ ५४ ॥

बभौ मेघ इवाकाशे विद्युद्गणविभूषितः ।

तस्य विंगसमुद्भूतैः पुष्पैस्तोयमदृश्यत ॥ ५५ ॥

ताराभिरभिराभाभिरुदिताभिरिवाम्बरम् ।

तस्याम्बरगतौ वाहू ददृशाते प्रसारितौ ॥ ५६ ॥

उन फूलों के गिरने से समुद्र, सहस्रो ताराओं से शोभित आकाश की तरह जान पड़ता था । सुगन्धयुक्त और रंग बिरंगे पुष्पों से कपिश्रेष्ठ हनुमान

* पाठान्तरे—“ताराचित” ? पाठान्तरे—“भनुबद्धेन”, “सुगन्धेन” ।

† पाठान्तरे—“वेगसमाधूतं” ।

जो ऐसे शोभित हुए जैसे बिजली की रेखाओं से मण्डित आकाशस्थित मेष शोभित होता है । जिस प्रकार आकाशमण्डल उदय हुए मुन्दर ताराओं से सज जाता है, उसी प्रकार समुद्र का जल हनुमानजी के गमनवेग से उड़ कर गिरे हुए पुन्ना से शोभित होने लगा । उस समय हनुमानजी के पयारे हुए हाथ आकाश में ऐसे जान पड़े ॥५४॥५५॥५६॥

पर्वताप्राद्विनिष्क्रान्तौ पञ्चास्याविव पद्मगौ ।

पिवन्निव यभौ श्रीमान्सोमिमालं* महार्णवम् ॥५७॥

मानों पर्वत व शिखर से पाँच छिरो वाले दा साँप निकल रहे हों । आकाश में जाते समय हनुमानजी जब नीचे को मुख करते थे, तब ऐसा जान पड़ता था कि, मानों तरङ्गा से युक्त समुद्र को पी डालना चाहते हैं ॥५७॥

पिपासुरिव चाकाशं ददृशे स महाकपिः ।

तस्य विद्युत्प्रभाकारे वायुमार्गानुसारिणः ॥ ५८ ॥

घोर जब वे ऊपर को मुख उठा कर चलते तब ऐसा जान पड़ता, मानों वे आकाश का पी जाना चाहते हैं । वायुमार्ग से जाते हुए हनुमानजी के बिजली की तरह चमकते हुए ॥५८॥

नयने सम्प्रकाशते पर्वतस्याविवानलो ।

पिङ्गे पिङ्गाक्षमुख्यस्य बृहती परिमण्डले ॥ ५९ ॥

दोना नेत्र एव दक्षपद्ये ये जैसे पर्वत पर दो और दावानल हा । उत्तरी पीनी पीनी और बड़ी बड़ी ॥५९॥

चक्षुषी सम्प्रकाशते *चन्द्रसूर्याविवाम्बरे ।

मुखं नासिकया तस्य ताम्रया ताम्रमावभौ ॥ ६० ॥

घाँसे आकाश में चन्द्रमा और सूर्य की तरह चमक रही थीं । हनुमानजी की नास नास और ताम्र मुखमण्डल ॥६०॥

* पाठान्तरे—“चादि मामि जाव” । पाठान्तरे—“चन्द्रसूर्याविवोदितौ ।

सन्ध्यया समभिस्पृष्टं यथा *सूर्यस्य मण्डलम् ।

लाङ्गूलं च समाविद्ध प्लवमानस्य शोभते ॥ ६१ ॥

अम्बरे वायुपुत्रस्य शक्रध्वज इवोच्छ्रितः ।

लाङ्गूलचक्रेण महाञ्जुक्लदंष्ट्रोऽनिलात्मजः ॥ ६२ ॥

सन्ध्याकालीन सूर्यमण्डल की तरह शोभायमान हो रहा था । आकाश-
मार्ग से जाते समय हनुमानजी की हिलती हुई पूँछ ऐसी शोभायमान हो
रही थी, जैसे आकाश में इन्द्रध्वज । फिर जब कभी वे अपनी पूँछ को
मण्डलाकार करते थे, तब मुख के सफेद दाँतो के साथ साथ उनकी छबि ऐसी
जान पड़ती थी ॥ ६१ ॥ ६२ ॥

व्यरोचत महाप्राज्ञः परिवेषीव भास्करः ।

स्फिग्देशेनातिताम्रेण रराज स महाकपिः ॥ ६३ ॥

महता दारितेनेव गिरिर्गौरिकधातुना ।

तस्य वानरसिंहस्य प्लवमानस्य सागरम् ॥ ६४ ॥

जैसी कि सूर्य में मण्डल पड़ने पर सूर्य की छबि, उनकी कमर का पिछला
भाग अत्यधिक लाल होने के कारण ऐसा जान पड़ता था, मानो पर्वत में गेरू
की खान खुली पड़ी हो । कर्पिसिंह हनुमानजी के समुद्र लांघने के समय
॥ ६३ ॥ ६४ ॥

कक्षान्तरगतो वायुर्जामूत इव गर्जति ।

खे यथा निपतत्युल्का ह्युत्तरान्ताद्विनिःसृता ॥ ६५ ॥

उनकी दोनो बगलो में से वायु के निकलने का ऐसा शब्द होता था जैसा
कि, मेघ के गर्जने से होता है । उस समय बोगवान कपि ऐसे देख पड़े,
जैसे उत्तर दिशा से एक बड़ा अग्नि का लुक्का दक्षिण की ओर चला जाता
हो ॥ ६५ ॥

* पाठान्तरे—“तत्सूर्यमण्डल” ।

दृश्यते सानुबन्धा१ च तथा स कपिकुञ्जरः ।

पतत्पतङ्गसंकाशो व्यायतः शुशुभे कपिः ॥ ६६ ॥

प्रवृद्ध इव मातङ्गः कक्षयया बध्यमानया ।

उपरिष्ठाच्छरीरेण च्छायया चरवगाढया ॥ ६७ ॥

सागरे मारुताविष्टा नीरिवासीत्तदा कपिः ।

यं यं देशं समुद्रस्य जगाम स महाकपिः ॥ ६८ ॥

तब जाने हुए मूर्ख की तरह बड़े आकार वाले कपिश्रेष्ठ हनुमानजी अपनी 'पूँछ' के कारण कमर में रस्सा बँधे हुए महागज की तरह शोभायमान होने लगे । आकाश में उड़ते हुए हनुमान जी के बड़े शरीर और समुद्र के जल में पड़ी हुई उसकी छाया, दोनों मिलकर ऐसी शोभा दे रहे थे, जैसे वायु के झोको से काँपती हुई नौका शोभा देती है । हनुमानजी समुद्र के जिस भाग में पहुँचते ॥६६॥६७॥६८॥

स स तस्योरुवेगेन सोन्माद इव लक्ष्यते ।

॥सागरस्योमिजालानि उरसा शैलवर्ष्मणा ॥ ६९ ॥

वहाँ-वहाँ का समुद्र का भाग खलबलाता हुआ सा जान पड़ता था । वे पर्वत के समान अपने बक्ष स्पल से समुद्र की लहरों को ढकिलते हुए चले जाते थे ॥६९॥

[नोट—इस वर्णन से जान पड़ता है कि हनुमानजी समुद्र के जल की सतह से बहुत ऊँचे नहीं उड़े थे ।]

अभिघ्नंस्तु महावेगः पुप्लुवे स महाकपिः ।

कपिवातश्च चलवान्मेघवातश्च निःसृतः ॥ ७० ॥

१ सानुबन्धा — मपुच्छा ।

* पाठान्तरे—“सागरस्योमिजालानामुरसा” ।

सागरं भीमनिर्घोषं कम्पयामासतुभृशम् ।

विकर्षन्नूर्मिजालानि बृहन्ति लवणाम्भसि ॥ ७१ ॥

पुप्लुवे कपिशार्दूलो विकिरन्निव रोदसी ।

मेरुमन्दरसंकाशानुद्गतान्त महार्णवे ॥ ७२ ॥

*अतिक्रामन्महावेगस्तरङ्गान्गणयन्निव ।

तस्य वेगस्तमुद्धूतं जलं सजलदं तदा ॥ ७३ ॥

एक तो हनुमानजी के वेग से जाने के कारण उत्पन्न वायु और दूसरा मेघो से उत्पन्न हुआ वायु—दोना ही उस महागर्जन करते हुए समुद्र को क्षुब्ध कर रहे थे। इस प्रकार वे क्षार समुद्र की लहरों को चीरते हनुमानजी मानो आकाश और भूमि को चलाने हुए चले जाते थे। इसी प्रकार मेरु और मन्दराचल पर्वत की तरह ऊँची-ऊँची समुद्र की लहरों को साँघते हुए वे ऐसे उड़े चले जाते थे, मानो वे तरंगों को गिनते हुए जाते हों। उस समय कपि के तेजी के साथ जाने के कारण उड़ा हुआ समुद्र का जल और मेघ—॥७०॥७१॥ ॥७२॥७३॥

अम्बरस्थ विबम्बाज शारदान्मिवाततम् ।

तिमिनक्रक्षपाः कूर्मा दृश्यन्ते धिवृतास्तदा ॥ ७४ ॥

(दोनों) आकाश में ऐसे शोभायमान जान पड़ते थे जैसे शरत्कालीन मेघ शोभायमान होते हैं। समुद्र में रहने वाले तिमि जाति के मत्स्य, मगर धन्य प्रकार के मत्स्य तथा कछुवे जल के ऊपर देख पड़ते थे, अर्थात् जल के ऊपर निकल आए थे ॥७४॥

वस्त्रापकर्षणेनेव शरीराणि शरीरिणाम् ।

प्लणमानं समीक्ष्याथ भुजङ्गाः सागरालयाः ॥ ७५ ॥

* पाठान्तरे—“अत्यक्रामन् ।”

व्योम्नि तं कपिशार्दूलं सुपर्णं इति मेनिरे ।

दशयोजनविस्तीर्णा त्रिशद्योजनमायता ॥ ७६ ॥

वे जन-जन्तु ऐसे जान पड़ने से जैसे मनुष्य का शरीर कनडा उतार देने पर देख पड़ता है। समुद्र में रहने वाले सर्पों ने हनुमानजी को आकाश में उड़ते देख जाना कि गहड़ जो उड़े हुए चले जाते हैं। दश योजन चौड़ी और तीस योजन लंबी ॥७६॥७६॥

ध्याया वानरत्तिहृत्य जले चारुतराऽनवत् ।

श्वेताग्रधनराजीव वामुपुत्रानुगामिनी ॥ ७७ ॥

तस्य सा शशुभे ध्याया वितता लवणान्भस्ति ।

शशुभे स महातेजा महाकायो महाकपिः ॥ ७८ ॥

हनुमानजी के शरीर की ध्याया समुद्रजल में डबन्त शोभायमान बन पड़ती थी। परन्तु धन हनुमानजी के शरीर की अनुगामिनी ध्याया समुद्र के जल में पड़ने से सफेद रंग के बड़े बादन की तरह सुन्दर जान पड़ती थी। वे महातेजस्वी और विशालकाय महाकपि बड़े शोभायमान जान पड़ते थे ॥७७॥७८॥

वामुनागे निरात्मन्वे पञ्चवानिव पर्वतः ।

ये नासौ याति बलवान्वेगेन कपिकुञ्जरः ॥ ७९ ॥

आकाश में निरात्मन् और पञ्च वापे पर्वत की तरह वे सुयोग्य हुए। बलवन्त बनगान् हनुमानजी विल भाग से बड़े वेग से धन कर छेदे, ॥७९॥

तेन मार्गेण सहसा द्योगीकृत इषागर्भवः ।

आपते पक्षिसङ्घाना पक्षिराज इषाबभौः ॥ ८० ॥

* पक्षित्वरे—इय इयम् ।

वह समुद्र का मार्ग मानो दोना ऐसा मालूम पड़ता था । आकाश में गमन करते हुए हनुमानजी, पक्षियों के समूह में गहड़ की तरह जान पड़ते थे ॥८०॥

हनूमान्मेघजालानि प्रकर्षन्माहृतो यथा ।

प्रविशन्नभ्रजालानि निष्पतेश्च पुनः पुनः ॥ ८१ ॥

हनुमानजी वायु की तरह मेघ समूह को चीरते फाड़ते चल जाते थे । वे बारबार बादल के भीतर छिप जाते और बादल के बाहिर प्रकट हो जाते थे ॥८१॥

प्रच्छन्नश्च प्रकाशश्च चन्द्रमा इव लक्ष्यते ।

पाण्डुरारुणवर्णानि नीलमाञ्जिष्ठकानि च ॥ ८२ ॥

जब वे बादल के बाहिर आते तब वे घटा से निकले हुए चन्द्रमा की तरह जान पड़ते थे । सफेद, नीले, लाल और मजीठ रंग के ॥८२॥

कपिनाकृष्यमाणानि महाभ्राणि चकाशिरै ।

प्लवमानं तु तं दृष्ट्वा प्लवगं त्वरितं तदा ॥ ८३ ॥

बड़े-बड़े बादल, कपिप्रवर हनुमानजी से गीबे जाकर, ऐसे जान पड़ते थे, मानो वे पवन के द्वारा चालित हो रहे हों । हनुमानजी को बड़ी तेजी से समुद्र लापते देख ॥८३॥

वयुः पुष्पवर्षाणि देवगन्धर्वचारणाः* ।

तताप न हितं सूर्यः प्लवन्त वानरेश्वरम् ॥ ८४ ॥

देवताप्रा, गन्धर्वा, और चारणों ने उन पर फूला की वर्षा की । सूर्यनारायण ने भी समुद्र लापते समय हनुमानजी को अपनी किरणों से सन्तप्त नहीं किया ॥८४॥

सिपेवे च तदा वायु रामकार्यार्थसिद्धये ।

श्रुष्यस्तुष्टुवुश्चनं प्लवमानं विहायसा ॥ ८५ ॥

* पाठान्तरे—“दानवा ।”

घोर पवनदेव ने भी श्रीरामचन्द्रजी के कार्य की सिद्धि के लिए (जाते हुए) हनुमानजी का श्रम हरने के हतु शीतल हो, मन्द गति से संचार किया । (आकाशमार्ग) से जात हुए हनुमानजी को ऋषियो ने स्तुति की ॥८५॥

[नोट—जा लाग लका म हनुमानजी का जाना समुद्र तैर कर बतलाते हैं उनको इस श्लोक म प्रयुक्त विहायसा" (आकाशमार्ग से) शब्द पर ध्यान देना चाहिए ।]

जगुश्च देवगन्धर्वा. प्रशंसन्तो महौजसम् ।

नागाश्च तुष्टुवुर्यक्षा रक्षासि विविधानि च* ॥ ८६ ॥

महाबली हनुमानजी की देवता घोर गन्धर्व भी प्रशंसा कर रहे थे । विविध यज्ञ, राक्षस घोर नाग सन्तुष्ट हो ॥८६॥

प्रेक्ष्याकाशो[†] कपिवरं सहसा विगतक्लमम् ।

तस्मिन्प्लवगशार्दूले प्लवमाने हनूमति ॥ ८७ ॥

आकाश में कपिश्रेष्ठ हनुमानजी को सहसा श्रम-रहित जाते देख, प्रशंसा कर रहे थे । जिस समय प्लवगशार्दूल हनुमानजी समुद्र के पार जात लगे ॥८७॥

इक्ष्वाकुकुलमानार्थो चिन्तयामास सागरः ।

साहाय्यं वानरेन्द्रस्य यदि ताहं हनूमतः ॥ ८८ ॥

तब समुद्र इक्ष्वाकुकुलोद्भव श्रीरघुनाथजी को सम्मान प्रदर्शन करने की कामना से साचने लगा कि, यदि इस समय मैं वानरश्रेष्ठ हनुमानजी की सहायता न ॥८८॥

करिष्यामि भविष्यामि सर्ववाच्यो[‡] विवक्षताम् ।

अहमिक्ष्वाकुनाथेन सगरेण विर्वाधितः ॥ ८९ ॥

* पाठान्तरे - 'विविधा सगा ।'

† पाठान्तरे—'प्रेक्ष्य सर्वे ।'

‡ सर्ववाच्य—सर्वप्रकारेण निन्द्य ।

करूँगा तो मैं सब प्रकार से निन्द्य समझा जाऊँगा । क्योंकि मेरी उन्नति के करने वाले इक्ष्वाकुकुल के नाथ महाराज सगर ही थे ॥८६॥

इक्ष्वाकुसचिवश्चायं नावसीदितुमर्हति ।

तथा मया विधातव्यं विश्रमेत यथा कपिः ॥ ६० ॥

यह हनुमानजी इक्ष्वाकुकुलोद्भव श्रीरामचन्द्रजी के मन्त्री हैं । इनको किसी प्रकार का कष्ट न होना चाहिए । अतः मुझे ऐसा प्रयत्न करना चाहिए, जिससे हनुमानजी की विश्राम मिले ॥६०॥

शेषं च भयि विश्रान्तः सुखेनातिपतिष्यति ।

इति कृत्वा मतिं साध्वीं समुद्रश्छन्नमम्भसि ॥ ६१ ॥

मेरे द्वारा, विश्राम कर यह समुद्र का शेष भाग सुखपूर्वक कूद जायँगे । इस प्रकार अपने मन में साधु सकल्प कर समुद्र जल से ढके हुए ॥६१॥

हिरण्यनाभं मंनाकमुवाच गिरिसत्तमम् ।

त्वमिहासुरसङ्घानां पातालतलवासिनाम् ॥ ६२ ॥

श्रीर सुवर्ण की चोटी वाले गिरिवर मंनाकपर्वत से बोले—हे मंनाक ! पातालवासी अमुरों को ॥६२॥

देवराजा गिरिश्रेष्ठ परिघः सन्निवेशितः ।

त्वमेषां ज्ञातवीर्याणां पुनरेवोत्पतिष्यताम् ॥ ६३ ॥

रोकने के लिए, इन्द्र ने तुमको यहाँ एक परिघ (अर्धल बेडा) की तरह स्थापित कर रक्खा है, इससे वे पुन ऊपर न निकल सकेंगे इन्द्र को इन दैत्यो का पराक्रम मालूम है ॥६३॥

पातालस्थाप्रमेयस्य द्वारमावृत्य तिष्ठसि ।

तिर्यगूर्ध्वमधश्चैव शक्तिस्ते शैल वर्धितुम् ॥ ६४ ॥

१ हिरण्यनाभ—हिरण्यशृङ्ग । (गो)

† पाठान्तरे—“ज्ञातवीर्याणा ।”+पाठान्तरे—“त्वामुपवेति ।”

इसीसे तुम असीम पाताल का द्वार रोके रहते हो । हे मंताक ! तुम सीधे तिरछे, ऊपर नीचे जंस चाहो वैसे बढ सकते हो ॥६४॥

तस्मात्सञ्चोदयामि त्वामुत्तिष्ठ नगसत्तम ।

स एव कपिशार्दूलस्त्वामुपेष्यति वीर्यवान् ॥ ६५ ॥

अतएव हे पवनात्तम ! मैं तुमसे कहता हूँ कि, तुम उठो । देखो ये बलवान् हनुमान तुम्हारे ऊपर पहुँचना ही चाहते हैं ॥६५॥

हनूमान् रामकार्यार्थं भीमकर्मा खमाप्लुतः ।

अस्य साह्यं मया कार्यमिक्ष्वाकुहितवर्तिनः ॥ ६६ ॥

श्रीरामचन्द्रजी का काम करने के लिए, भयकर कर्म करने वाले, हनुमान् जी आकाशमार्ग में जा रहे हैं । मैं इक्ष्वाकु-वंशियों का हितैषी हूँ । अतएव मेरा यह कर्तव्य है कि मैं इनको (हनुमान्जी को) कुछ सहायता करूँ ॥६६॥

श्रमं च प्लवगेन्द्रस्य समीक्ष्योत्थातुमर्हसि ।

हिरण्यनाभो मंताको निशम्य लवणाम्भसः ॥ ६७ ॥

तुम हनुमान्जी के श्रम की ओर देख कर जल के ऊपर उठो । क्षार-समुद्र के ये वचन सुन हिरण्यशृङ्ग मंताक ॥६७॥

उत्पपात जलात्पूर्णं महाद्रुमलतायुतः ।

स सागरजलं भित्त्वा बभूवात्युत्थितस्तदा ॥ ६८ ॥

बड़े बड़े वृक्षों और लताओं से युक्त जल के ऊपर तुरन्त निकल भागा । उस समय वह सागर के जल को चीर कर वैसे ही ऊपर को उठा ॥६८॥

यया जलधरं भित्त्वा दीप्तरश्मिर्दिवाकरः ।

स महात्मा मुहूर्तेन पर्वतः सलिलावृतः ॥ ६९ ॥

दर्शयामास शृङ्गाणि सागरेण नियोजितः ।

शातकुम्भमयैः शृङ्गैः सकिन्नरमहोरगैः ॥१००॥

जैसे मेघ को चीर कर चमकते हुए सूर्यदेव उदय होते हैं उसी प्रकार समुद्रजल से ढके हुए उस महात्मा मैनाक पर्वत ने, समुद्र का कहना मान, एक मुहूर्त में, अपने वे शिखर पानी के ऊपर निकाल दिए जो सुवर्णमय थे और किन्नरो तथा बड़े बड़े उरगो द्वारा मेवित थे ॥६६॥१००॥

आदित्योदयसंकाशैरालिखद्भिरिवाम्बरम् ।

तप्तजाम्बूनदैः शृङ्गैः पर्वतस्य समुत्थितैः ॥१०१॥

वे शिखर उदयकालीन प्रकाशमान सूर्य की तरह थे और आकाश-स्पर्शी थे । उस पर्वत के तप्तसुवर्ण जैसी आभावाले शिखरो के जल के ऊपर निकलने से ॥१०१॥

आकाशं शस्त्रसंकाशमभवत्काञ्चनप्रभम् ।

जातरूपमयैः शृङ्गैर्भ्रजिमानैः स्वयम्प्रभैः ॥१०२॥

आदित्यशतसंकाशः सोऽभवद्गिरिसत्तमः ।

तमुत्थितमसङ्गेन हनूमानग्रतः स्थितम् ॥१०३॥

मध्ये लवणतोयस्य विघ्नोऽयमिति निश्चितः ।

स तमुच्छ्रितमत्यर्थं महावेगो महाकपिः ॥१०४॥

नीला आकाश सुवर्णमय देख पड़ने लगा । उस समय वह अपनी अत्यन्त प्रकाशमुक्त सुनहले शिखरो की प्रभा से शोभायमान हुआ । उस समय सौ सूर्य की तरह उस पर्वतश्रेष्ठ मैनाक की शोभा हुई । बिना विलव किए समुद्र से निकल, भागे खड़े हुए तथा खारी समुद्र के बीच स्थित मैनाक पर्वत की देख, हनुमानजी ने अपने मन में यह निश्चित किया कि, यह एक विघ्न आ उपस्थित हुआ है । तब उस अत्यन्त ऊँचे उठे हुए मैनाक को हनुमानजी ने बड़े जोर से ॥१०२॥१०३॥१०४॥

उरसा पातयामास जीमूतमिव माहृतः ।

स अतथा पातितस्तेन कपिना पर्वतोत्तमः ॥१०५॥

१ शस्त्रसंकाश—नीलमित्यर्थ । (गो०) २ असंगेन—विलम्बराहित्येन । (शि०) * पाठान्तरे—“तदा ।”

अपनी छाती की ठोकर से बंसे हो हटा दिया जैसे पवनदेव, बादलों को हटा देते हैं। तब हनुमानजी ने उस गिरिश्येष्ठ को हटा दिया या नीचे बैठा दिया ॥१०५॥

बुद्ध्वा तस्य कपेवंगं जहर्षं च ननाद च ।
 तमाकाशगतं वीरमाकाशे समवस्थितः ॥१०६॥
 प्रीतो हृष्टमना वाक्यमब्रवीत्पर्वतः कपिम् ।
 मानुषं धारयन्रूपमात्मनः शिखरे स्थितः ॥१०७॥

तब मैनाक, हनुमानजी के वेग का अनुभव कर, प्रसन्न हुआ और गर्वा । मैनाक पर्वत फिर आकाश की ओर उठा और आकाशस्थित वीर हनुमानजी से, प्रसन्न हो बड़ी प्रीति के साथ मनुष्य का रूप धारण कर तथा अपने शिखर पर खड़ा होकर बोला ॥१०६॥१०७॥

दुष्करं कृतवान्कर्म त्वमिदं वानरोत्तम ।
 निपत्य मम शृङ्गेषु विश्रमस्व यथासुखम् ॥१०८॥

हे वानरोत्तम ! यह तुमने बड़ा ही दुष्कर काम किया है अतः तुम मेरे शृङ्ग पर कुछ देर तक ठहर कर विश्राम कर लो । तदनन्तर तुम सुखपूर्वक भागे चले जाना ॥१०८॥

राघवस्य कुले जातैरुदधिः परिवर्धितः ।
 स त्वां रामहिते युवतं प्रत्यर्चयति सागरः ॥१०९॥

इस समुद्र की वृद्धि श्रीरामचन्द्रजी के पूर्वपुरुषों द्वारा हुई है और तुम श्रीरामचन्द्रजी के हितसाधन में उत्पर हो, अतएव यह समुद्र आपका प्रतिभ्य-सत्कार करना चाहता है ॥१०९॥

कृते च प्रतिकर्तव्यमेव धर्मः सनातनः ।
 सोऽयं तत्प्रतिकारार्थो त्वत्तः सम्मानमर्हति ॥११०॥

क्योंकि उपकार करने वाले का उपकार करना यह सनातन धर्म है ।
सो यह श्रीरामचन्द्रजी का प्रत्युपकार करना चाहता है । अतः तुमको समुद्र
के सम्मान की रक्षा करनी चाहिए, अथवा समुद्र की बात मान लेनी चाहिए
॥११०॥

त्वन्नमित्तमनेनाहं बहुमानात्प्रचोदितः ;

योजनानां शतं चापि कपिरेष खमाप्लुतः ॥१११॥

तुम्हारा सत्कार करने के लिए समुद्र ने मेरा बड़ा सम्मान कर, मझे यहाँ
भेजा है । उन्होंने मुझसे कहा है कि, देखो यह कपि सौ योजन जाने के लिए
प्राकाश में उडे है ॥१११॥

तव सानुषु विश्रान्तः शेषं प्रक्रमतामिति ।

तिष्ठ त्वं हरिशार्ङ्गं ल मयि विश्रम्य गम्यताम् ॥११२॥

अतः हनुमानजी तुम्हारे शिखर पर विश्राम कर शेष मार्ग को पूरा करें ।
सो हे कपिशार्ङ्ग ! तुम यहाँ ठहर कर विश्राम करो । तदनन्तर आगे चले
जाना ॥११२॥

तदिदं गन्धवत्स्वादु कन्दमूलफलं बहु ।

तदास्वाद्य हरिश्रेष्ठ विश्रम्य श्वो गमिष्यसि ॥११३॥

हे कपिश्रेष्ठ मेरे स्वादिष्ट और मुगन्धयुक्त बहुत से कन्दमूल फलों को
खाकर विश्राम करो । कल सबेरे तुम चले जाना ॥११३॥

अस्माकमपि सम्बन्धः कपिमुख्य त्वयास्ति वै ।

प्रख्यातस्त्रिषु लोकेषु महागुणपरिग्रहः ॥११४॥

हे कपियो में प्रधान । मेरा भी तुम्हारे साथ कुछ सम्बन्ध है और
तुम तीनों लोको में महागुण-प्राही प्रसिद्ध हो ॥११४॥

वेगवन्तः प्लवन्तो ये प्लवगाः मारुतात्मज ।

तेषां मुख्यतमं मन्ये त्वामहं कपिकुञ्जर ॥११५॥

हे पवननन्दन ! इस लोक में जितने कूड़ने वाले वेगवान् वावर हैं, हे कपीपवर ! उन सब में, मैं तुमको मुख्य समझता हूँ ॥१११॥

अतियिः किल पूजार्हः प्राकृतोऽपि विजानता ।

धर्मं जिज्ञाममानेन किं पुनर्यादृशो भवान् ॥११२॥

धर्मजिज्ञामुषीं के लिए तो एक साधारण अतियि भी पूज्य है, फिर आपके समान गुणी अतियि का सत्कार करना तो मुझे सर्वथा उचित ही है ॥११२॥

त्वं हि देववरिष्ठस्य माहस्तस्य महात्मनः ।

पुत्रस्तस्यैव वेगेन सदृशः कपिकुञ्जर ॥११३॥

फिर तुम देवताओं में श्रेष्ठ महात्मा पवनदेव के पुत्र हो । हे कपिकुञ्जर ! वेग में भी तुम अपने पिता के समान ही हो ॥११३॥

पूजिते त्वयि धर्मज्ञ पूजां प्राप्नोति माहस्तः ॥

तस्मात्त्वं पूजनीयो मे शृणु चाप्यत्र कारणम् ॥११४॥

हे धर्मज्ञ ! तुम्हारी पूजा करने से पवनदेव का पूजन होगा । धनः तुम में पूज्य हो । इसके अतिरिक्त और भी एक कारण तुम्हारे पूज्य होने का है । उसे भी तुम मृत् को ॥११४॥

पूर्वं कृतयुगे तात पर्वताः पक्षिणोऽभवन् ।

तेऽभिजग्मुर्दिशः सर्वा गृहटानित्तवेगिनः ॥११५॥

हे दास ! प्राचीन काल में सतयुग में सब पहाड़ों के पक्षी दृष्टा करने थे । वे पवनारों पहाड़ गृहटों की तरह दहे वेग में चारों ओर उड़ा करते थे ॥११५॥

ततस्तेषु प्रयातेषु देवसङ्घाः सहार्षिभिः ।

भूतानि च भयं जग्मुस्तेषां पवनशंकया ॥११६॥

* पाटानन्दे—“पुनर्यादृशो महान् ।”

† पाटानन्दे—“तं हि ।”

पर्वतों को उड़ते देख, देवता, ऋषि तथा अन्य समस्त प्राणी उनके ऊपर गिरने की शका से डर गए थे ॥१२०॥

ततः क्रुद्धः सहस्राक्षः पर्वतानां शतक्रतुः ।

पक्षांश्चिच्छेद वज्रेण तत्र तत्र सहस्रशः ॥१२१॥

तब हजार नेंगों वाले इन्द्र ने कुपित हो, अपने वज्र से इधर उधर घूमने वाले हजारों पहाड़ों के पक्ष काट डाले ॥१२१॥

स मामुपगतः क्रुद्धो वज्रमुद्यम्य देवराट् ।

ततोऽहं सहसाक्षिप्तः श्वसनेन महात्मना ॥१२२॥

जब देवराज इन्द्र वज्र उठाकर मेरी ओर आए, तब महात्मा पवनदेव ने मुझको सहसा उठा कर फेंक दिया ॥१२२॥

अस्मिल्लवणतोये च प्रक्षिप्तः प्लवगोत्तम ।

गुप्तरक्षः समग्रश्च तव पित्राऽभिरक्षितः ॥१२३॥

हे वानरोत्तम ! मुझे उन्होंने 'रस' खारे समुद्र में उठा कर फेंक दिया इस प्रकार तुम्हारे पिता पवनदेव ने मेरे समस्त पक्षों की रक्षा की ॥१२३॥

ततोऽहं मानयामि त्वां मान्यो हि मम मासुतः ।

त्वया मे ह्येष सम्बन्धः कपिमुख्य महागुणः ॥१२४॥

हे पवननन्दन ! इसी से तुम मेरे साथ हो और तुम तो मेरे पूज्य पवनदेव के पुत्र हो दूसरे कपियो में मुख्य और बड़े गुणवान होने के कारण मेरे मान्य हो, अतः मैं तुम्हारी पूजा करता हूँ ॥१२४॥

॥अस्मिन्नेवविधे कार्ये सागरस्य ममैव च ।

प्रीतिं प्रीतमनाः कर्तुं त्वमर्हसि महाकपे ॥१२५॥

हे महाकपे ! तुम्हारे ऐसा करने पर मेरी और सागर की प्रीति और भी बढ़ेगी अथवा तुम्हारे ऐसा करने पर मैं और समुद्र बहुत प्रसन्न होंगे, अतः हे महाकपे ! तुम मेरा भातिष्य ग्रहण कर मुझे प्रसन्न करो ॥१२५॥

* पाठान्तरे—“तस्मिन् ।”

श्रमं *मोक्षय पूजां च गृहाण कपिसमत्त ।

प्रीतिं च बहुमन्यस्व प्रीतोऽस्मि तव दर्शनात् ॥१२६॥

हे कपिसमत्त ! तुम अपना श्रम दूर कर, मेरा आतिथ्य ग्रहण कर मुझे प्रसन्न करो । तुम्हें देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है ॥१२६॥

एवमुक्तः कपिश्रेष्ठस्तं नगोत्तममब्रवीत् ।

प्रीतोऽस्मि कृतमातिथ्यं मन्युरेपोऽपनीयताम् ॥१२७॥

जब मँनाक ने इस प्रकार कहा तब कपिश्रेष्ठ हनुमानजी ने गिरिश्रेष्ठ मँनाक से कहा—मैं आपके आतिथ्य से प्रसन्न हूँ । आपने मेरा सत्कार किया, अब आप अपने मन में किसी प्रकार का खेद न करें ॥१२७॥

त्वरते कार्यकालो मे अहश्चाप्यतिवर्तते ।

प्रतिज्ञां च मया दत्ता न स्थातव्यमिहान्तरा ॥१२८॥

एक तो मुझे कार्य करने की त्वरा है । दूसरे समय भी बहुत ही चुका है । तीसरे मैंने वानरों के सामने यह प्रतिज्ञा भी की है कि मैं बीच में कहीं न ठहरूँगा ॥१२८॥

इत्युक्त्वा पाणिना शैलमालिन्य हरिपुङ्गवः ।

जगामाकाशमाविश्य वीर्यवान्प्रहसन्निव ॥१२९॥

यह कह कर कपिश्रेष्ठ हनुमानजी ने मँनाक को हाथ से छूड़ा । तदनन्तर पराक्रमी हनुमानजी हँसते हुए आकाश में उड़ चले ॥१२९॥

स पर्वतसमुद्राभ्यां बहुमानादवेक्षितः ।

पूजितश्चोपपन्नाभिराशीर्भिरनिलात्मजः ॥१३०॥

तब तो समुद्र और पर्वत न हनुमानजी को बड़ी प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखा, उनको आशीर्वाद दिया और उनका अग्निनन्दन किया ॥१३०॥

पाठान्तरे—“मोक्षय” ।

अयोध्वं दूरमुत्पत्य हित्वा शैलमहार्णवौ ।

पितुः पन्थानमास्थाय जगाम विमलेऽम्बरे ॥१३१॥

तदनन्तर हनुमानजी, मँनाक तथा नमुद्र को छोड़, बहुत ऊँचे विमल
भाकाश में जा, पवन के मार्ग से उड़ कर जाने लगे ॥१३१॥

ततश्चोर्ध्वगतिं* प्राप्य गिरिं तमवलोकयन् ।

वायुसूनुर्निशलम्बे जगाम विमलेऽम्बरे ॥१३२॥

हनुमानजी ने भाकाश में पहुँच मँनाक की भीर देशा भीर फिर वे पवन-
मन्दन निखलम्ब (बिना सहारे) विमल भाकाश में उड़ बने ॥१३२॥

[नोट—हनुमानजी का आकाश मार्ग से जाना पूर्व श्लाको ने स्पष्ट है ।]

द्वितीयं हनुमत्कर्म दृष्ट्वा तत्र सुदुष्करम् ।

प्रशशंसुः सुराः सर्वे सिद्धाश्च परमर्षयः ॥१३३॥

हनुमानजी का यह दूसरा दुष्कर कार्य देख, सब देवता, सिद्ध और
महर्षि गण उनकी प्रशंसा करने लगे ॥१३३॥

देवताश्चामबन्हुष्टास्तत्रस्थास्तस्य कर्मणा ।

काञ्चनस्य सुनाभस्य सहस्राक्षश्च वासवः ॥१३४॥

उस समय वहाँ जो देवता उपस्थित थे तथा सहस्रनेत्र सुवर्णशृङ्ग वाले
मँनाक के इस कार्य से उनके ऊपर बहुत प्रसन्न हुए ॥१३४॥

‘उवाच वचनं धीमान्परितोषात्सगद्गदम् ।

सुनाभं पर्वतश्रेष्ठं स्वयमेव शचीपतिः ॥१३५॥

शचीपति स्वराज इन्द्र स्वयं सुवर्ण शृङ्गवाच पर्यन्त श्रेष्ठ मँनाक से प्रसन्न
हो, गद्गद वाणी से बोले ॥१३५॥

* पाठान्तरे “भूयश्चोर्ध्वगति ।”

† पाठान्तरे—“तद्द्वितीय हनुमतो दृष्ट्वा कर्म सुदुष्करम् ।”

‡ पाठान्तरे—“धीमान् ।”

हिरण्यनाभ शैलेन्द्र परितुष्टोऽस्मि ते भृशम् ।

अभय ते प्रयच्छामि तिष्ठ सौम्य यथासुखम् ॥१३६॥

हे सुवर्ण शिखरो वाले शैलेन्द्र ! मैं तुम्हारे ऊपर बहुत प्रसन्न हुआ । मैं तुझको अभय वर दता हूँ । हे सौम्य ! तू अब जहाँ चाहे वहाँ सुखपूर्वक रह सकता है ॥१३६॥

साह्य कृत स्वया सौम्य विक्रान्तस्य हनुमत ।

क्रमतो योजनशत निर्भयस्य भये सति ॥१३७॥

हे सौम्य ! भय रहते पराक्रमी हनुमानजी को निर्भीक हो सौ योजन समुद्र के पार जाते देख तथा उनको बीच में विधाम करने का अवसर दे तू न उनकी बड़ी सहायता की है ॥१३७॥

रामस्यैष हि दौत्येन याति दाशरथेर्हरि ।

सत्क्रिया कुर्वता तस्य तोयितोऽस्मि भृश त्वया ॥१३८॥

ये हनुमानजी श्रीरामचन्द्रजी के दूत बन कर जा रहे हैं । इनका तू न जा सत्कार किया इससे मैं तेरे ऊपर अत्यन्त प्रसन्न हुआ हूँ ॥१३८॥

तत प्रहर्षमगमद्विपुल पर्वतोत्तम ।

देवताना पति दृष्ट्वा परितुष्ट शतक्रतुम् ॥१३९॥

तब तो गिरिश्रिष्ठ मैनोक देवराज इन्द्र को अपने ऊपर प्रसन्न देख बहुत प्रसन्न हुआ ॥१३९॥

स वै दत्तवर शैलो बभूवावस्थितस्तदा ।

हनूमाश्च मुहूर्तेन व्यतिचक्राम सागरम् ॥१४०॥

इन्द्र ने अभयदान प्राप्त कर मैनोक सुस्थिर हुआ । उसपर हनुमानजी भी मैनोक अधिष्ठित समुद्र के भाग को मुहूर्त मात्र में पार कर गए ॥१४०॥

ततो दवा सगन्धर्वा सिद्धाश्च परमर्षय ।

अब्रुवन्सूर्यसकाशा सुरसा नागमातरम् ॥१४१॥

तब तो देवताप्रो, गन्धर्वों, सिद्धों और महर्षियों ने सूर्य के समान प्रकाश वाली नागों की माता सुरसा से कहा ॥१४१॥

। श्रयं वातात्मजः श्रीमान्प्लवते सागरोपरि ।

हनूमान्नाम तस्य त्वं मुहूर्तं विघ्नमाचर ॥१४२॥

पवननन्दन हनुमानजी समुद्र के पार जाने के लिए आकाश मार्ग से चले जा रहे हैं । अतः तू उनके गमन में एक मूहूर्त के लिए विघ्न डाल ॥१४२॥

राक्षसं रूपमास्थाय सुघोरं पर्वतोपमम् ।

दंष्ट्राकरालं पिङ्गाक्षं वक्त्रं कृत्वा नभःसभम् ॥१४३॥

अतः तू पर्वत के समान बड़ा और राक्षस के समान अति भयङ्कर रूप धर कर, पीले नेत्रों सहित भयकर दांतों से युक्त अपना मुख बना कर इतनी बड़ कि आकाश छू ले ॥१४३॥

बलमिच्छामहे ज्ञातुं भूयश्चास्य पराक्रमम् ।

त्वां विजेष्यत्युपायेन विषादं वा गमिष्यति ॥१४४॥

क्योंकि हम सब हनुमानजी के बल और पराक्रम की परीक्षा ही लेना चाहते हैं । या तो हनुमानजी तुझको किसी उपाय से जीत लेंगे अथवा दुखी हो कर चले जायेंगे ॥१४४॥

एवमुक्ता तु सा देवी दैवतैरभिसत्कृता ।

समुद्रमध्ये सुरसा विभ्रती राक्षसं वपुः ॥१४५॥

जब देवताप्रो ने सुरसा से आदरपूर्वक इस प्रकार कहा, तब सुरसा राक्षसी का रूप धर, समुद्र के बीच जा लड़ी हुई ॥१४५॥

विकृतं च विरूपं च सर्वस्य च भयावहम् ।

प्लवमानं हनूमन्तभावृत्येदमुवाच ह ॥१४६॥

उस समय का सुरसा का रूप ऐसा विकट और भयङ्कर था कि, जिसे देख सब को डर लगता था । सुरसा, समुद्र के पार जाते हुए हनुमानजी का रास्ता छेक कर, उनसे कहने लगी ॥१४६॥

मम भक्ष्यः प्रविष्टस्त्वमीश्वरं वानरर्यभ ।

अहं त्वां भक्षयिष्यामि प्रविशेदं ममाननम् ॥१४७॥

हे वानरश्रेष्ठ ! ईश्वर ने तुमको मेरा भक्ष्य बनाया है । इसलिए मैं तुमको खा जाऊँगी । आ तू अब मेरे मुख में घुस ॥१४७॥

एवमुक्तः सुरसया प्राञ्जलिर्वानरर्यभः ।

प्रहृष्टवदनः ॥ श्रीमान्सुरसां वाक्यमब्रवीत् ॥१४८॥

सुरसा के इस प्रकार कहने पर हनुमानजी ने हाथ जोड़ और प्रसन्न हो कर सुरसा से कहा ॥१४८॥

रामो दाशरथिः † श्रीमान्प्रविष्टो दण्डकावनम् ।

लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा वदेह्या चापि भार्यया ॥१४९॥

दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्रजी अपने भाई लक्ष्मण और भार्या सीताजी के साथ दण्डकारण्य में आए ॥१४९॥

अन्यकार्यविषयस्य बद्धवैरस्य राक्षसैः ।

तस्य सीता हृता भार्या रावणेन तपस्विनी ॥१५०॥

और कारणान्तर से उनसे और राक्षसों से परस्पर शत्रुता हो गई । इससे रावण उनकी तपस्विनी भार्या सीता को हर कर ले गया ॥१५०॥

तस्याः सकाशं दूतोऽहं गमिष्ये रामशासनात् ।

कर्तुमर्हसि रामस्य साह्यं विषयवासिनी ॥१५१॥

श्रीरामचन्द्रजी की आज्ञा मे मैं सीताजी के पास दूत बन कर जा रहा हूँ । तू श्रीरामचन्द्रजी के राज्य में बसने वाली है, अतः तुझे तो मेरी सहायता करनी चाहिए ॥१५१॥

* पाठान्तरे—श्रीमान्निद वचनमब्रवीत् । † पाठान्तरे—“दाशरथिर्नाम ।”

‡ अन्यकार्यविषयस्य—मारीचमृगग्रहणव्यासक्तस्य । [गो०]

अथवा मैथिलीं दृष्ट्वा रामं चाविलष्टकारिणम् ।

आगमिष्यामि ते वक्त्रं सत्यं प्रतिशृणोमि ते ॥१५२॥

अथवा जब मैं सीता को देख, अविलष्टकर्मा श्रीरामचन्द्रजी को उनका समाचार दे आऊँ, तब मैं तेरे मुख में धाकर प्रवेश करूँगा । मैं यह तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ ॥१५२॥

एवमुक्ता हनुमता सुरसा कामरूपिणी ।

तं प्रयान्तं समुद्दीक्ष्य सुरसा वाक्यमब्रवीत् ॥१५३॥

जब हनुमानजी ने इस प्रकार उससे कहा, तब वह कामरूपिणी सुरसा हनुमानजी को जाते देख, उनसे बोली ॥१५३॥

बलं जिज्ञासमाना वै नागमाता हनूमतः ।

हनूमान्नातिवर्तेन्मां कश्चिदेव वरो मम ॥१५४॥

हनुमानजी के बल की परीक्षा लेती हुई नागमाता बोली कि, हे हनुमान ! मुझको ब्रह्माजी ने यह वर दे रखा है कि, मेरे प्राणों से कोई जीता जागता नहीं जा सकता ॥१५४॥

प्रविश्य वदनं मेऽद्य गन्तव्यं वानरोत्तम ।

वर एव पुरा दत्तो मम धात्रेति सत्त्वरा ॥१५५॥

हे वानरोत्तम ! पहिले तुम मेरे मुख में प्रवेश करो, फिर तुरत चले जाना । विधाता ने मुझे पूर्वकाल में यही वरदान दिया था ॥१५५॥

व्यादाय वक्त्रं विपुलं स्थिता सा मारुतेः पुरः ।

एवमुक्तः सुरसया क्रुद्धो वानरपुङ्गवः ॥१५६॥

यह कह कर नागमाता सुरसा, अपना बड़ा भारी मुख फेला, हनुमान जी के सामने खड़ी हो गई । सुरसा के ऐसे वचन सुन अपिश्रेष्ठ हनुमानजी क्रुद्ध हुए ॥१५६॥

अन्नवीत्कुरु वं वक्त्र येन मा विपहिष्यसे ।

इत्युक्त्वा सुरसा क्रुद्धा दशयोजनमायता* ॥१५७॥ १

हनुमानजी ने उमत्ते कहा कि तू अपना मुख उतना बड़ा फला जिसमें कि मैं समा सकूँ । यह सुन सुरसा ने क्रुद्ध हो अपना मुख दशयोजन फैलाया ॥१५७॥

दशयोजनविस्तारो बभूव हनुमास्तदा ।

त दृष्ट्वा मेघसकाश दशयोजनमायतम् ॥१५८॥

तब हनुमानजी ने भी अपना गरीर दस याजन का कर लिया । तब हनुमानजी के गरीर को मेघ के समान दश याजन लम्बा देख ॥१५८॥

चकार सुरसाप्यास्य† विशद्योजनमायतम् ।

तत पर हनुमास्तु त्रिशद्योजनमायत ॥१५९॥

सुरसा ने अपना मुख बीस योजन का कर लिया तब हनुमानजी ने अपना गरीर तीस योजन लम्बा किया ॥१५९॥

चकार सुरसा वक्त्र चत्वारिंशत्तथायतम् ।

बभूव हनुमान्वीर पञ्चाशद्योजनोच्छ्रित ॥१६०॥

तब सुरसा ने अपना मुख चालीस योजन चौड़ा किया । इस पर हनुमान जी ने अपना गरीर पचास योजन ऊँचा कर लिया ॥१६०॥

चकार सुरसा वक्त्र षष्टियोजनमायतम् ।

तथैव हनुमान्वीर सप्ततीयोजनोच्छ्रित ॥१६१॥

इस पर जब सुरसा ने अपना मुख साठ योजन चौड़ा किया तब हनुमान जी सत्तर योजन लंबे हो गए ॥१६१॥

* पाठान्तरे— इत्युक्त्वा सुरसा क्रुद्धा दशयोजनमायताम् ।

† पाठान्तरे— सुरसा चास्य ।

चकार सुरसा वक्त्रमशीतीयोजनायतम् ।

हनूमानचलप्रख्यो नवतीयोजनीच्छ्रुतः ॥१६२॥

इस पर जब सुरसा ने अपना मुख भस्ती योजन का किया तब हनुमान जी बृहदाकार पर्वत की तरह, नब्बे योजन लम्बे हो गए ॥१६२॥

चकार सुरसा वक्त्रं शतयोजनमायतम् ।

तद् दृष्ट्वा व्यादितं चास्यं वायुपुत्रः सुबुद्धिमान् ॥१६३॥

दीर्घजिह्वं सुरसया सुघोरं नरकोपमम् ।

स संक्षिप्यात्मनः कायं जीमूत इव मारुतिः ॥१६४॥

तस्मिन् मुहूर्ते हनुमान्बभूवाङ्गुष्ठमात्रकः ।

सोभिपत्याशु तद्वक्त्रं निष्पत्य च महाबलः ॥१६५॥

इस पर जब सुरसा ने अपना मुख सौ योजन फैलाया, तब बुद्धिमान् वायुनन्दन हनुमानजी ने उसके उस सौ योजन फैले हुए बड़ी जिह्वा से युक्त, भयकर और नरक जैसे मुख को देख, भय जैसे अपने विशाल शरीर को समेटा और वे तत्क्षण अंगूठे के बराबर छोटे शरीर वाले हो गए । तदनन्तर वे महाबली उसके मुख में प्रवेश कर, तुरन्त उसके बाहिर निकल आए ॥१६३॥ ॥१६४॥१६५॥

अन्तरिक्षे स्थितः श्रीमान्प्रहसन्निदमन्नवीत् ।

प्रविष्टोऽस्मि हि ते वक्त्रं दाक्षायणि नमोस्तुते ॥१६६॥

भीर आकाश में खड़े ही, हँसते हुए यह बोले—हे दाक्षायणि ! तुझको नमस्कार है । मैं तेरे मुख में प्रवेश कर चुका ॥१६६॥

गमिष्ये यत्र वैदेही सत्यश्चास्तु वरस्तव ।

तं दृष्ट्वा वदनान्मुक्तं चन्द्र राहुमुखादिव ॥१६७॥

१ पाठान्तरे—“वास्य ।”

२ पाठान्तरे—“महार्जवः ।”

तेरा बरदान सत्य हो गया । अब मैं वहाँ जाता हूँ, जहाँ सीता जी है । राहु के मुख से चन्द्रमा के समान, हनुमानजी को अपने मुख से निकला हुआ देख, ॥१६७॥

अब्रवीत्सुरसा देवी स्वेन रूपेण वानरम् ।

अर्थसिद्ध्यै हरिश्रेष्ठ गच्छ सौम्य यथासुखम् ॥१६८॥

सुरसा अपना रूप धारण कर हनुमानजी से बोलो—हे कपिश्रेष्ठ ! तुम अपना कार्य सिद्ध करने के लिए जहाँ चाहो वहाँ जाओ ॥१६८॥

समानय त्वं वैदेहीं राघवेण महात्मना ।

तत्तृतीयं हनुमतो दृष्ट्वा कर्म सुदुष्करम् ॥१६९॥

घोर महारामा श्रीरामचन्द्र जी से सीता को लाकर मिला दो । हनुमान जी का यह तीसरा दुष्कर कर्म देख, ॥१६९॥

साधु साध्विति भूतानि प्रशशंसुस्तदा हरिम् ।

स सागरमनाधूप्यमभ्येत्य बरुणालयम् ॥१७०॥

अगामाकाशमाविश्य वेगेन गरुडोपमः ।

सेविते वारिधाराभिः पन्नगैश्च निषेविते ॥१७१॥

“साधु साधु” कह कर सब लोग हनुमानजी की प्रशंसा करने लगे । तदनन्तर हनुमान जी बरुणालय समुद्र के ऊपर, आकाशमार्ग से गरुड की तरह बड़े वेग से जाने लगे । वह आकाशमार्ग बादलों से युक्त घोर पक्षियों से सेवित था ॥१७०॥॥१७१॥

चरिते कैशिकाचार्यैरैरावतनिषेविते ।

सिंहकुञ्जरशार्दूलपतगौरगवाहनैः ॥१७२॥

विमानैः सम्पतद्भिश्च विमलैः समलङ्कृते ।

वज्राशनिसमाघातैः पावकैरुपशोभिते ॥१७३॥

१ कैशिकाचार्यैः—कैशिके रागविशेषे आचार्यैः विद्याधरविशेषैरित्यर्थः ।

तुम्बुरु आदि विद्याधरों से सेवित, ऐरावत सहित, सिंह, गजेन्द्र, गार्दूल, पक्षी और सर्प आदि वाहनो से युक्त निर्मल विमानो से भूषित; वज्र के तुल्य स्पर्श वाले, अग्नि तुल्य ॥१७२॥१७३॥

कृतपुण्यमहाभागः स्वर्गजिद्भूरलंकृते ।

बहता हव्यमत्यर्थं सेविते ऽचित्रभानुना ॥१७४॥

ग्रहनक्षत्रचन्द्रार्कतारागणविभूषिते ।

महर्षिगणगन्धर्वनागयक्षसमाकुले ॥१७५॥

विविवते विमले विश्वे विश्वावसुनियेविते ।

देवराजगजाक्रान्ते चन्द्रसूर्यपथे शिवे ॥१७६॥

पुण्यात्मा महाभाग स्वर्ग को जीतने वाली से शोभित, सदा ही हव्य को लिए हुए अग्नि, ग्रह, सूर्य और तारागण से सेवित, महर्षि, गन्धर्व, नाग और यक्षो से पूर्ण, एकान्त, विमल विशाल, और विश्वावसु गन्धर्व से सेवित, इन्द्र के ऐरावत से रोंदा हुआ, चन्द्रमा और सूर्य का सुन्दर मार्ग ॥१७४॥१७५॥ ॥१७६॥

विताने जीवलोकस्य विमले ब्रह्मनिर्मिते ।

बहुशः सेविते वीरैर्विद्याधरगणैर्वरैः ॥१७७॥

जीवलोक के चेंदोवा रूपी इस स्वच्छ मार्ग को ब्रह्माग्नी ने बनाया है। इस मार्ग का सेवन अनेक वीर और श्रेष्ठ विद्याधरगण किया करते हैं ॥१७७॥

जगाम वायुमार्गं च गरुत्मानिव मारुतिः ।

हनुमान्मेघजालानि प्रकर्षन्मारुतो यथा ॥१७८॥

ऐसे वायुमार्ग से पवनकुमार हनुमानजी गरुडजी की तरह बड़ी तेजी के साथ उठे चले जाते थे। जाते हुए वे मेघो को चीरते जाते थे ॥१७८॥

कालागुरुमवर्णानि रक्तपीतसितानि च ।

कपिनाञ्जकृप्यमाणानि महान्गाणि चक्रागिरे ॥१७६॥

काल आर का उच्छ तात पात श्रीर मुकुर रग क बड बड दान्त कारयन्त हनुमान जा द्वारा आव माकर अपन्त गाना को प्राप्त् हात थे ॥१७६॥

प्रविशन्नजालानि निप्यनश्च पुन पुन ।

प्रावृषीन्दुरिवानानि निप्यनप्रविशस्तदा ॥१८०॥

प्रदृश्यमान सर्वत्र हनुमान्माहनात्मज ।

भेजेऽम्बर निरालम्ब लम्बयत्त इवाद्रिराट् ॥१८१॥

हनुमानको कना या नसा क नाद द्विज जात श्रीर कना बाहिर निकर प्रातथ । उक्ते दरवार मर्जे में द्विज श्रीर निकरन म वे बसाकातात चन्द्रना का उच्छ नवन सब को दख पन्त थ । हनुमानका पख पन्काद पवत्रयण का तरा निपनार, माग में देख पडत थ ॥१ ०॥१८१॥

प्लवमान तु त दृष्ट्वा सिंहिका नाम राक्षसी ।

मनसा चिन्तयामास प्रवृद्धा कामटपिणी ॥१८२॥

इनका आकाश नाग म जात थड सिंहिका नाम राक्षसी जा समुद्र में उछा था श्रीर जा बडुड वृग हा बुझो या तथा जा इन्द्रानुसार तरह तरह क स्र धारण कर मरणा था अपन मन में विचारत ना कि ॥१८२॥

अद्य दीर्घस्य कालस्य भविष्याम्यहमाशिना ।

इदं हि मे महत्तत्त्व चिरम्य वशमानम् ॥१८३॥

अहा आज मूय दान्तिनों दान् नाशन निगना । काक आतयई विपन्नकार जब दूत निना दान् मर जाद ना ॥१८३॥

इति सचिन्त्य मनसा छायामन्व मनाशिवन् ।

छायामा सगृहीताया चिन्तयामास धानर ॥१८४॥

इस प्रकार विचार, सिंहिका ने हनुमानजी की परछाईं पकड़ी। परछाईं पकड़ जाने पर हनुमानजी विचारने लगे ॥१८४॥

समाक्षिप्तोस्मि सहसा पद्मगुकृतपराक्रमः ।

प्रतिलोमेन वातेन महानौरिव सागरे ॥१८५॥

अचानक पकड़ जाने से मरा पराक्रम शिथिल हो गया। इस समय मेरी दशा तो समुद्र में पड़ी और प्रतिकृत वायु से रुकी हुई बड़ी नाव की तरह हो रही है ॥१८५॥

तिर्यगूर्ध्वमधश्चैवः वीक्षमाणः समन्ततः ।

ददर्श सा महासत्त्वमुत्थितं लवणाम्भसिः ॥१८६॥

इस प्रकार साच, हनुमानजी अगल बगल, ऊपर नीचे देखने लगे। तब उन्होंने देखा कि, खारी समुद्र में कोई एक बड़ा भारी जन्तु उतरा रहा है ॥१८६॥

तां दृष्ट्वा चिन्तयामास मारुतिविकृताननाम् ।

कपिराजा यदाख्यातं सत्त्वमद्भुतदर्शनम् ॥१८७॥

छायाग्राहि महावीर्यं तदिदं नात्र संशयः ।

स तां बुद्ध्वाऽयंतत्त्वेन सिंहिकां मतिमान्कपिः ॥१८८॥

व्यवर्धंत महाकायः प्रावृषीव बलाहकः ।

तस्य सा कायमुद्वीक्ष्य वर्धमानं महाकपेः ॥१८९॥

उस विकराल मुख वाले जन्तु को देख जब हनुमानजी ने अपने मन में विचार किया, तब इन्हें कपिराज सुग्रीव की बात याद पड़ी और उन्होंने निश्चय किया कि, अद्भुत सूरत वाला और छाया पकड़ने वाला महाबली शीव निस्तान्देह यही है। इस प्रकार उसके कर्म को देख, बुद्धिमान् हनुमानजी उस सिंहिका को पहचान कर वर्षाकाल के बादल की तरह बढ़े। जब सिंहिका ने हनुमान के शरीर को बढ़ता हुआ देखा ॥१८७॥॥१८८॥॥१८९॥

वक्त्रं प्रसारयामास पातालतलसन्निभम् ।

घनराजीव गर्जन्ती वानरं समभिद्रवत् ॥१६०॥

तब उसने पाताल की तरह घपना मुख फंलाया और वह बादल की तरह गर्जती हुई हनुमान जी की ओर दौड़ी ॥१६०॥

स ददशं ततस्तस्या विवृतं सुमहन्मुखम् ।

१कायमात्रं च मेधावी मर्माणि च महाकपि ॥१६१॥

तब हनुमानजी ने उसके भयंकर और विशाल मुख को और उसके शरीर की लम्बाई चौड़ाई तथा शरीर के मर्मस्थानों को बली-भाँति देखा भाता ॥१६१॥

स तस्या विवृते वक्त्रे वज्रसंहननः कपिः ।

संक्षिप्य मुहुरात्मानं निष्पपात महाबलः ॥१६२॥

महाबली और वज्र के समान दृढ़ शरीर वाले हनुमानजी ने, अपने शरीर भरपूर धोटा कर लिया और वे उसके बड़े मुख में घुस गए ॥१६२॥

आस्ये तस्या निमज्जन्तं ददृशुः सिद्धचारणाः ।

प्रस्यमानं यथा चन्द्रं पूर्णं पर्वणि राहुणा ॥१६३॥

उस समय सिद्धो और चारणो ने हनुमानजी को सिंहिका के मुख गिरते हुए देखा । जिस प्रकार पूर्णिमा का चन्द्रमा, राहु से घसा जाता उसी प्रकार हनुमानजी भी सिंहिका द्वारा घसे गए ॥१६३॥

ततस्तस्या नखैस्तीक्ष्णैर्मर्मण्यित्कृत्य वानरः ।

उत्पपाताथ वेगेन मनःसम्पातविक्रमः ॥१६४॥

हनुमानजी ने सिंहिका के मुख में जा, घपने पंने नखों से उसके मर्मस्थान चीर फाड़ डाले और मन के समान शीघ्र वेग से वे वहाँ से निकल कर फिर ऊपर चले गए ॥१६४॥

१ कायमात्र—देहप्रमाणम् । (गो०)

२ मनःसम्पातविक्रम—मनोवेगतुल्यगतिः । (गो०)

ता तु दृष्ट्वा च धृत्या च दाक्षिण्येन निपात्य हि ।

स कपिप्रवरो वेगाद्ववृधे पुनरात्मवान् ॥१६५॥

इस प्रकार से हनुमान जी ने उसे दूर ही से देख कर, धीरे धीरे चतुराई से उसे मार गिराया । तदनन्तर उन्होंने पुनः अपना शरीर पूर्ववत् बड़ा कर लिया ॥१६५॥

हृतहृत्सा हनुमता पपात 'विघुराम्भसि ।

तां हतां वानरेणाशु पतितां वीक्ष्य सिहिकाम् ॥१६६॥

वह राक्षसी हृदय के फट जाने से भ्रातृ हो, समुद्र के जल में डूब गई । हनुमानजी द्वारा बात की बात में मार कर गिराई गई सिहिका को देख ॥१६६॥

भूतान्याकाशचारीणि तमूचुः प्लवगर्षभम् ।

भीममद्य कृतं कर्म महत्सत्त्वं त्वया हृतम् ॥१६७॥

आकाशचारी प्राणियो ने हनुमानजी से कहा, तुमने जो इस बड़े जन्तु को मारा सो आज तुमने बड़ा भयकर काम कर डाला ॥१६७॥

साधयार्यमभिप्रेतमरिष्टं गच्छ मारुते ।

यस्य त्वेतानि चत्वारि वानरेन्द्र यथा तव ॥१६८॥

धृतिर्दृष्टिमंतिर्दाक्ष्यं स कर्मसु न सीदति ।

स तैः सम्भावितः पूज्यैः प्रतिपन्नप्रयोजनः ॥१६९॥

अब तुम निर्विघ्न हो अपने कार्य सिद्ध करो । हे वानरेन्द्र ! तुम्हारी तरह जिसमें धीरता, सूक्ष्मदृष्टि, बुद्धि और चतुराई, ये चार गुण होते हैं, वह कभी किसी काम के करने में नहीं घबडाता । ये चारो गुण तुममें मौजूद हैं । पूज्य हनुमानजी उन प्राणियो से पूजित और अपने कार्य की सिद्धि के विषय में निश्चित से हो ॥१६८॥॥१६९॥

१ दृष्ट्वा—दूरादेव दृष्टेन । (गो०)

२ विघुरा—भार्या (गो०)

जगामाकाशमाविश्य पन्नगाशनवत्कपिः ।

प्राप्तभूयिष्ठपारस्तु सर्वतः प्रतिलोकयन् ॥२००॥

गहड़ की तरह बड़े वेग से आकाश में उड़ने लगे और समुद्र के दूसरे तट के निकट पहुँच चारों ओर देखने लगे ॥२००॥

योजनानां शतस्यान्ते घनराजि ददर्श सः ।

ददर्श च पतन्नेव विविधद्रुमभूषितम् ॥२०१॥

तब उन्हें वहाँ से सौ योजन के फासले पर बड़ा भारी एक जंगल देख पड़ा । जाते जाते उन्होंने विविध वृक्षों से भूषित ॥२०१॥

द्वीपं शाखामृगश्रेष्ठो मलयोपवनानि च ।

सागरं सागरानूपं सागरानूपजान्द्रुमान् ॥२०२॥

द्वीप (टापू), और मलयागिरि के उपवनो को देखा । उन्होंने सागर और सागर का तट और सागरतट पर लग हुए पेड़ों को ॥२०२॥

सागरस्य च पत्नीनां मुखान्यपि विलोकयन् ।

स महामेघसकाश समीक्ष्यात्मानमात्मवान् ॥२०३॥

निरुन्धन्तमिवाकाशं चकार मतिमान्मतिम् ।

कायवृद्धिं प्रवेगं च मम दृष्ट्वैव राक्षसाः ॥२०४॥

तथा सागर की पत्नी अर्थात् नदियों को और समुद्र के सगमस्थानों को (भी) देख बुद्धिमान् हनुमानजी ने महामेघ के समान अपने शरीर को जो आकाश को ढके हुए था, देख कर अपने मन में विचारा कि, मेरा यह बड़ा शरीर और मेरा वेग देख कर राक्षस लोग ॥२०३॥२०४॥

मयि कौतूहलं कुर्युरिति मेने महाकपिः ।

ततः शरीरं संक्षिप्य तन्महोदरसन्निभम् ॥२०५॥

पुनः 'प्रकृतिमापेदे वीतमोह इवात्मवान् ।

तद्रूपमतिसक्षिप्यः हनुमान्प्रकृतौ स्थितः ।

श्रीन्क्रमानिव विक्रम्य बलिवीर्यंहरौ हरिः ॥२०६॥

मुझे एक खेल की वस्तु समझेंगे, यह विचार उन्होंने अपने पर्वताकार शरीर को प्रति छोटा कर लिया । उन्होंने वाममोहादिविहीन जीव-मुक्त योगी की तरह पुनः अपना सघुरूप जो सदा का या वैसे ही धारण कर लिया, जैसे भगवान् वामन ने बलि को छलने के समय अपने शरीर को बड़ा कर, पुनः छोटा कर लिया था ॥२०५॥२०६॥

स चारुनानाविधिरूपधारी

परं समासाद्य समुद्रतीरम् ।

परंरशवयः प्रतिपन्नरूपः

समीक्षितात्मा समवेक्षितार्थः ॥२०७॥

विषममोहरूप धारण करने वाले हनुमानजी ने दूसरे द्वारा न पार जाने योग्य समुद्र के पार पहुँच कर, और भागे के वस्तु का भली भाँति विचार कर, अपना कार्य सिद्ध करने के लिए अत्यन्त छोटा रूप धारण किया ॥२०७॥

ततः स सम्बस्य गिरे. समृद्धे

विचित्रकूटे निपपात कूटे ।

सकेतकोद्दालफनारिकेले

महाद्रिकूटप्रतिमो महात्मा ॥२०८॥

तदनन्तर समुद्रतट से हनुमानजी सम्ब नामक पर्वत के ऊपर गए । उस सम्बपर्वत पर केतकी, उद्दालक, नारियल आदि के अनेक फले फूले बूझ सगे हुए थे । उस पर्वत के शिखर भी बड़े सुन्दर थे । उही सुन्दर शिखरों में से एक शिखर पर हनुमानजी जा कर ठहरे ॥२०८॥

१ प्रकृति—नित्यानदस्वभावमिव । (शि०) २ आत्मवान्—योगीशरीर (शि०) ३ सक्षिप्य—तिरस्कृत्य । (शि०)

ततस्तु सम्प्राप्य समुद्रतीरं
 समीक्ष्य लङ्का गिरिजमूर्ध्न ।
 कपिस्तु तस्मिन्निपपात पर्वते
 विधूय रूपं व्यथयन्मृगद्विजान् ॥२०६॥

हनुमानजी, समुद्र तीरवर्ती त्रिकूटपर्वत के शिखर पर बसी हुई लका को देख और अपने पूर्वरूप को त्याग तथा वहाँ के पशुपक्षियों को डराते हुए, लम्ब गिरि नामक पर्वत पर उतरे ॥२०६॥

स सागरं दानवपन्नगायुतं
 बलेन विक्रम्य महोर्मिमालिनम् ।
 निपत्य तीरे च महोदधेस्तदा
 ददर्श लंकाममरावतीमिव ॥२१०॥

इति प्रथम सर्ग

दानवों और सर्पों से व्याप्त और महातरङ्गों से युक्त महासागर को अपने बल पराक्रम से नाँच कर और उसके तट पर पहुँच कर, अमरावती के समान लकापुरी को हनुमान जी न देखा ॥२१०॥

सुन्दरकाण्ड का प्रथम सर्ग पूरा हुआ ।



द्वितीयः सर्गः

स सागरमनाधृष्यमतिक्रम्य महाबलः ।

त्रिकूटशिखरे लंकां स्थितां स्वस्थो ददर्श ह ॥ १ ॥

अपने बल पराक्रम से महाबली हनुमानजी ने अपार समुद्र को नाँच कर और सावधान होकर, त्रिकूटपर्वत पर बसी हुई लकापुरी को देखा ॥१॥

ततः पादपमुक्तेन पुष्पवर्षेण वीर्यवान् ।

अभिवृष्टः स्थितस्तत्र बभौ पुष्पमयो यथा ॥ २ ॥

उस पर्वत पर जो फूले हुए वृक्ष थे, वे पवन के वेग से हिलने लगे । उनके हिलने में फूट टूट कर गिरने लगे उन वृक्षों की पुष्पवर्षा से महाबली हनुमानजी माना पुष्पमय हो गए ॥२॥

योजनानां शतं श्रीमास्तीर्त्वाप्यमितविक्रमः ।

अग्निश्वसन्कपिस्तत्र न ग्लानिमधिगच्छति ॥ ३ ॥

शोभावान एव अमित विक्रमशाली हनुमानजी इतने चौड़े अर्थात् १०० योजन के समुद्र को फाँद आए किन्तु न तो उन्होंने बीच में कहीं दम ली और न उनके मन में ग्लानि हो उपजी ॥३॥

[नोट—एक इतिहास में लिखा है कि हनुमानजी तैर कर लका में पहुँचे थे और बीच बीच में टापुओं पर ठहर दम लेते थे । इन लोगों की इस श्लोक के 'अग्नि श्वसन्' शब्द पर ध्यान देना चाहिए ।]

शतान्यहं योजनानां क्रमेयं सुबहून्यपि ।

कि पुनः सागरस्यान्तं संख्यातं शतयोजनम् ॥ ४ ॥

हनुमानजी मन ही मन कहने लगे कि, इस शत योजन मर्यादा वाले समुद्र की तो बात ही क्या है मैं तो बहुत से और सैकड़ों योजन मर्यादा वाले समुद्रों को फाँद सकता हूँ ॥४॥

स तु वीर्यवतां श्रेष्ठः प्लवतामपि चोत्तमः ।

जगाम वेगवाँल्लंकां लङ्घयित्वा महोदधिम् ॥ ५ ॥

इस प्रकार मन ही मन सोचते विचारते बलवानों में श्रेष्ठ कपियो में मुख्य, महावेगवान् हनुमानजी समुद्र को फाँद कर, लका में गए ॥५॥

शाद्वलानि च नीलानि गन्धवन्तिय वनानि च ।

'पुष्पवन्ति च मध्येन जगाम नगवन्ति च ॥ ६ ॥

शैलांश्च 'तरुभिश्छन्नान्वनराजीश्च पुष्पिताः ।

अभिचक्राम तेजस्यो हनुमान्प्लवगर्षभः ॥ ७ ॥

वानरोत्तम तेजस्वी हनुमानजी, रास्ते में हरी-हरी घासो धीर सुगन्ध-युक्त मधु से शोभित वनो और वृक्षो से मरे और सुन्दर वृक्षो से प्राच्यादित पर्वतो और पुष्पित वृक्षो से वनो में हो कर जा रहे थे ॥६॥७॥

स तस्मिन्नचले तिष्ठन्वनान्युपवनानि च ।

स नगाग्रे च तां लंकां ददर्श पवनात्मजः ॥ ८ ॥

जब पवननन्दन हनुमानजी ने उस पहाड़ पर खड़े होकर देखा, तब उन्हें वन, उपवन तथा पर्वतशिखर पर बसी हुई लंका देख पडी ॥८॥

सरलान्कारिणकारांश्च खर्जूरांश्च सुपुष्पितान् ।

प्रियालान्मुचुलिन्दांश्च कुटजाङ्केतकानपि ॥ ९ ॥

वनो में उन्हें देवदारु, कर्णिकार भली-भाँति पुष्पित खजूर, चिरोजी, खिन्नी, महूआ, केतकी ॥९॥

प्रियङ्गुनाङ्घपूर्णांश्च नीपान्सप्तच्छदास्तथा ।

असनान्कोविदारांश्च करवीरांश्च पुष्पितान् ॥ १० ॥

सुगन्धित प्रियगु, कदव, शतावरी, असन, कोविदार और फूले हुए करवीर के वृक्ष देख पडे ॥१०॥

पुष्पभारनिबद्धांश्च तथा मुकुलितानपि ।

पादपान्विहगाकीर्णान्पवनाधूतमस्तकान् ॥ ११ ॥

इन वृक्षो में से बहुत से तो फूलो से लदे हुए थे और बहुत ऐसे भी थे जिनमें बलियाँ लगी हुई थी । उन पर झुंड के झुंड पक्षी बैठे हुए थे । उन वृक्षों की फूलगिर्णो पवन के चलने से हिल रही थी ॥११॥

हंसकारण्डवाकीर्णा वापीः पद्मोत्पलायुताः ।

आक्रीडान्विविधान्रम्यान्विविधांश्च जलाशयान् ॥ १२ ॥

वहाँ बावलियाँ भी थीं, जिनमें हंस और जलमुगं खेल रहे थे और कमल तथा कई फूल रहे थे । वहाँ पर विहार करने योग्य तरह-तरह की रमणीक घाटियाँ थीं, जिनके भीतर विविध आकार प्रकार के जलकुण्ड बने हुए थे ॥१२॥

सन्ततान्विविधदृशैः सर्वतुं फलपुष्पितैः ।

उद्यानानि च रम्याणि ददर्श कपिकुञ्जरः ॥१३॥

सब ऋतुओं में फूलने फूलन वाले अनेक प्रकार के वृक्षों से युक्त, बड़ी रमणीक वाटिकाएँ भी हनुमानजी ने देखीं ॥१३॥

समासाद्य च लक्ष्मीवांल्लंकां रावणपालिताम् ।

परित्वाभिः सपद्माभिः सौत्पलाभिरलङ्कृताम् ॥१४॥

शोनायुक्त हनुमान जी अब रावणपालित लंका के समीप पहुँचे । सक्वापुरी फूले कमलौ तथा कुई से युक्त, परिखा से घिरी हुई थी ॥१४॥

सीतापहरणार्थेन रावणेन सुरक्षिताम् ।

समन्ताद्विचरदिभश्च राक्षसैः *कामरूपिभिः ॥१५॥

जब से रावण सीता को हर कर लाया था, तब से लंका की विशेष रूप से निगरानी करने के लिए कामरूपी राक्षस लंका के चारों ओर घूम कर पहरा दिया करते थे । (हनुमान जी ने इन पहरेदार राक्षसों को भी देखा) ॥१५॥

काञ्चनेनावृतां रम्यां प्राकारेण महापुरीम् ।

गृहैश्च गिरिसंकाशैः शारदाम्बुदसन्निभैः ॥१६॥

लंकापुरी के चारों ओर बड़ा सुन्दर सोने का परकोटा खिपा हुआ था । उसके भीतर शरत्कालीन मेषों के समान सफेद घोर पहाड़ों की तरह अनेक अनेक मकान बने हुए थे ॥१६॥

पाण्डुराभिः प्रतोलीभिः शिलष्ठाभिरभिलक्षिताम् ।

अट्टालकशताकीर्णा पलाकाध्वजनाल्निनीम् ॥१७॥

लंका में सफेद गच्च की हुई पक्की घोर शायद सुन्दरी मकानों थी । संकडों अटारियोदार मकान थे और जगह जगह ध्वजा पताका लगी हुई देखा ॥१७॥

१ पाठान्तरे—उग्रघन्विभिः । २ प्रतोलीभिः—वीथीभिः

३ पाठान्तरे—“उज्ज्वलिभिः ।”

तोरणैः काञ्चनदीप्तां लतापङ्क्तिविचित्रितैः ।

ददर्श हनुमाल्लंकां द्विवि देवपुरीमिव ॥१८॥

यहाँ चमचमावी हुई सोने की लताकार रेखा जैसी रंग विरगी बदनवारे देख पड़ती थी । हनुमानजी ने देवताओं की भ्रमरावतीपुरी की तरह सुन्दर-भजी हुई लका की शोभा देखी ॥१८॥

गिरिर्मूर्ध्न स्थितां लंकां पाण्डुरेभंवतैः शुभाम् ।

स ददर्श कपिः श्रीमान्पुरमाकाशगं यथा ॥१९॥

शोभायमान हनुमानजी ने त्रिकुटाक्षल पर बसी हुई घसस्य सफेद रंग के सुन्दर मनोहर भवनो से युक्त, भाकाशस्पर्शी लकापुरी की देखा (भयवा-शका ऐसी जान पड़ती थी मानो अन्तरिक्ष में बसी हो) ॥१९॥

पालितां राक्षसेन्द्रेण निर्मितां विश्वकर्मणा ।

प्लवमानामिवाकाशे ददर्श हनुमान्पुरीम् ॥२०॥

लकापुरी का शासन रावण के हाथ में था और विश्वकर्मा ने इस पुरी को बनाया था । हनुमानजी ने देखा कि, उसके भीतर जो ऊँचे-ऊँचे भवन लड़े थे, उनको देखने से ऐसा जान पड़ता था मानों वह पुरी आकाश में उड़ी जा रही हो ॥२०॥

वप्रप्राकारजघनो विपुलाम्बुवनाम्बराम् ।

शतघ्नोशूलकेशान्तामट्टालकवतंसकाम् ॥२१॥

लका की परकोटे की दीवारें तो लकाहृषिणी स्त्री की मानो जाँघें हैं, उसके चारों ओर जो वन और समुद्र था, वह मानों उसके पहिने के वस्त्र थे । शतघ्नी [तोंपे] और शूलकेश मानो उसके मस्तक के बेश थे और उसकी जो घटारियाँ थीं, वे मानों उसके कानो के कर्णफूल थे ॥२१॥

१ पाठान्तरे—“काञ्चनीदिव्यैः ।” २ लतापङ्क्तय—लताकार रेखा ।

(गो०) ३ पाठान्तरे—“शुभैः ।” ४ पाठान्तरे—“ददर्श स कपिश्रेष्ठ. पुरमा-काशग यथा ।”

मनसेव कृतां लङ्कां निर्मितां विश्वकर्मणा ।

द्वारमुत्तरमासाद्य चिन्तयामास वानरः ॥२२॥

इस प्रकार की लकापुरी को विश्वकर्मा ने बड़े मन से अर्थात् जी लगा कर बनाया था । जब हनुमानजी लका के उत्तर दिशा वाले फाटक पर पहुँचे, तब वे मन ही मन कहने लगे ॥२२॥

कंलासशिखरप्रत्यैरालिखन्तीमिवाम्बरम् ।

ध्रियमाणामिवाकाशमुच्छ्रितैर्भवनोत्तमैः ॥२३॥

लका के उत्तर दिशा का फाटक भी कंलास के सदृश आकाश-स्पर्शी था । ऐसा जान पड़ता था, मानो उसके ऊँच-ऊँचे मकान आकाश को सहारा देने वाले सन्धे हैं । अथवा वे ऊँचे मकान को धारण किए हुए हैं ॥२३॥

सम्पूर्णा राक्षसैर्घोरंनगिर्भोगवतीमिव ।

अचिन्त्यां सुकृतां स्पष्टां कुबेराध्युषितां पुरा ॥२४॥

हनुमानजी कहने लगे कि, जिस प्रकार भोगवतीपुरी भयकर नागों से भरी है, उसी प्रकार यह लका भी घोर राक्षसों से भरी हुई है ॥२४॥

तस्याश्च महतीं गुप्ति सागरं च समीक्ष्य सः ।

रावण च रिपुं घोरं चिन्तयामास वानरः ॥२५॥

हनुमानजी ने देखा कि, लका की भली-भाँति रक्षा तो समुद्र ही कर रहा है । साथ ही हनुमानजी ने यह भी सोचा कि, रावण भी एक महा भयकर शत्रु है ॥२५॥

आगत्यापीह हरयो भविष्यन्ति निरर्थकाः ।

न हि युद्धेन वै लंका शक्या जेतुं सुरासुरैः ॥२६॥

यदि वानरगण यहाँ किसी प्रकार आ भी पहुँचे, तो भी उनका यहाँ आना व्यर्थ होगा । क्योंकि इस लका को जीतने की शक्ति तो देवताओं और दैत्यों में भी नहीं है ॥२६॥

१ पाठान्तरे—“अक्षयामालिखन्ति ।” २ पाठान्तरे—“दीयमानाम् ३ पाठान्तरे—“सुरैरपि ।”

इमां तु विषमां दुर्गां लंकां रावणपालिताम् ।

प्राप्यापि स महाबाहुः किं करिष्यति राघवः ॥२७॥

रावणपालित इस विकट दुर्गम लका में श्रीरामचन्द्रजी यदि आ भी गए तो, वे कर ही क्या सकेंगे ?

अथकाशो न सान्त्वस्य राक्षसेष्वभिगम्यते ।

न दानस्य न भेदस्य नैव युद्धस्य दृश्यते ॥२८॥

मेरी समझ में तो राक्षस लोग, खुशामद से काबू में आने वाले नहीं । इन लोगों को लालच दिखला कर या इनमें फूट डाल कर अथवा इनसे युद्ध करके भी, इनसे पार नहीं पाया जा सकता ॥२८॥

चतुर्णामिव हि गतिर्वानराणां महात्मनाम् ।

बालिपुत्रस्य नीलस्य मम राजश्च धीमतः ॥२९॥

हमारी सेना में चार ही ऐसे जन हैं जो यहाँ आ सकते हैं । एक तो अंगद, दूसरे नील, तीसरा मैं और चौथे बुद्धिमान वानरराज सुग्रीव ॥२९॥

यावज्जानामि वैदेहीं यदि जीवति वा न वा ।

तत्रैव चिन्तयिष्यामि दृष्ट्वा तां जनकात्मजाम् ॥३०॥

अस्तु, अब सब से प्रथम तो यह जान लेना है कि, जानकीजी जीवित भी हैं कि नहीं । मैं प्रथम जानकीजी को देख लेने पर पीछे और बाती पर विचार करूँगा ॥३०॥

ततः स चिन्तयामास मुहूर्तं कपिकुञ्जरः ।

गिरिशृङ्गे स्थितस्तस्मिन् रामस्याभ्युदये रतः ॥३१॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्रजी के हित में रत, कपिशेष्ठ हनुमानजी पर्वत के शिखर पर बैठे हुए मुहूर्त भर तक मन ही मन कुछ सोचते रहे ॥३१॥

अनेन रूपेण मया न शक्या रक्षसां पुरी ।

प्रवेष्टुं राक्षसैर्गुप्ता क्रूरैर्बलसमन्वितैः ॥३२॥

उन्होंने सोचा कि, बलवान् तथा क्रूर स्वभाव वाले राक्षसों द्वारा रक्षित लका में मैं अपने इस रूप से प्रवेश नहीं कर सकता ॥३२॥

उग्रौजसो महावीर्या बलवन्तश्च राक्षसाः ।

वञ्चनीया मया सर्वे जानकीं परिमार्गता ॥३३॥

तब मुझे, जानकी जी का पता लगाने के लिए इन सब महाबली और महापराक्रमी राक्षसों को धोखा देना होगा ॥३३॥

लक्ष्यालक्ष्येण रूपेण रात्रौ लंकापुरी मया ।

प्रवेष्टुं प्राप्तकालं मे कृत्यं साधयितुं महत् ॥३४॥

मतः मुझे रात के समय ऐसे रूप से जिसे कोई देखे और कोई न देखे, लका में घुसना उचित है । क्योंकि इतना बड़ा कार्य बिना ऐसा किए पूरा नहीं होगा ॥३४॥

तां पुरीं तादृशीं दृष्ट्वा दुराघर्षां सुरासुरैः ।

हनुमांश्चिन्तयामास विनिःश्वस्य मुहुर्मुहुः ॥३५॥

केनोपायेन पश्येयं मैथिलीं जनकात्मजाम् ।

श्रद्धृष्टो राक्षसेन्द्रेण रावणेन दुरात्मना ॥३६॥

इस प्रकार हनुमानजी सुरों और असुरों से दुराघर्ष उस लकापुरी को बराबर देखने लगे और बार बार लम्बी साँसें ले यह सोचते थे कि, किस उपाय से जनकनन्दिनी जानकी को मैं देख लूँ और उस दुरात्मा राक्षसराज रावण को दृष्टि से बचा रहूँ ॥३५॥३६॥

न विनश्येत्कथं कार्यं रामस्य विदितात्मनः ।

एकामेकस्तु पश्येयं रहिते जनकात्मजाम् ॥३७॥

तोनों लोको में प्रतिद्ध थीरामचन्द्रजी का कार्य किस प्रकार कर्हें जिससे कार्य बिगडने न पावे । मैं तो एकैला एकान्त में जानकी को देखना चाहता हूँ ॥३७॥

भूताश्चार्या विपद्यन्ते देशकालविरोधिताः ।

विकलवं द्रुतमासाद्य तमः सूर्योदये यथा ॥३८॥

देना और काल के प्रतिकूल कार्य करने वाला और बादर द्रुत, बने बनाए कार्य को उसी प्रकार नष्ट कर डालता है, जिस प्रकार सूर्य अन्धकार को ॥३८॥

अर्थानिर्थान्तरे बुद्धिनिश्चिताऽपि न शोभते ।

घातयन्ति हि कार्याणि दूताः पण्डितमानिनः ॥३९॥

कर्तव्याकर्तव्य के विषय में निश्चित कर लेने पर भी, ऐसे दूतों के कारण कार्य को सिद्धि नहीं होती । क्योंकि वे अपनी बुद्धिमानों के अभिमान में धुर हो, कार्यों को न बना कर, उन्हें बिगाड़ डालते हैं ॥३९॥

न विनश्येत्कथं कार्यं वैकल्यं न कथं भवेत् ।

लङ्घनं च समुद्रस्य, कथं नु न भवेद्यथा ॥४०॥

अतः अब किस उपाय से मैं काम लूँ जिससे न तो कार्य ही बिगड़े, और न मुझमें फादरता आवे । साथ ही मेरा समुद्र फाँदना वृथा भी न हो ॥४०॥

मयि दृष्टे तु रक्षोभी रामस्य विदितात्मनः ।

भवेद्द्वयर्थमिदं कार्यं रावणानर्थमिच्छतः ॥४१॥

त्रिभुवन विख्यात श्रीरामचन्द्रजी रावण को दण्ड देना चाहते हैं, अतः यदि राक्षसों ने मुझे देख लिया तो श्रीरामचन्द्र का यह कार्य बिगड़ जायगा ॥४१॥

न हि शक्यं क्वचित्स्थातुमविज्ञातेन राक्षसैः ।

अपि राक्षसरूपेण किमुतान्येन केनचित् ॥४२॥

राक्षसों से छिप कर यहाँ कोई भी नहीं रह सकता । यहाँ तक कि राक्षसों का भयवा अन्य किसी का रूप धारण करने से भी राक्षसों से छुटकारा नहीं मिल सकता ॥४२॥

१ पाठान्तरे—“कथं नु न वृथा भवेत् ।” २ विदितात्मा का अर्थ किसी किसी ने आत्मदर्शी युञ्जान योगी भी किया है ।

वायुरप्यत्र नाज्ञातश्चरेदिति मतिर्मम ।

न ह्यस्त्यविदितं किञ्चिद्राक्षसानां बलीयसाम् ॥४३॥

मैं तो समझता हूँ कि, वायु भी यहाँ पर गुप्त रूप से नहीं बह सकता ।
क्योंकि बलवान राक्षसों से कोई बात छिप नहीं सकती ॥४३॥

इहाहं यदि तिष्ठामि स्वेन रूपेण संवृतः ।

विनाशमुपयास्यामि भर्तुरर्यश्च हास्यते ॥४४॥

यदि मैं छपने छसली रूप में यहाँ ठहरा रहूँ तो केवल स्वामी का कार्य
ही नष्ट न होगा, बल्कि मैं भी मारा जाऊँगा ॥४४॥

तदहं स्वेन रूपेण रजन्यां ह्रस्वतां गतः ।

लंकामभिगमिष्यामि राघवस्यार्थसिद्धये ॥४५॥

अत मैं छपने शरीर को बहुत ही छोटा बना कर, श्रीरामचन्द्रजी के
काम के लिए रात के समय लंका में जाऊँगा ॥४५॥

रावणस्य पुरीं रात्रौ प्रविश्य सुदुरासदाम् ।

विचिन्वन्भवनं सर्वं द्रक्ष्यामि जनकात्मजाम् ॥४६॥

रावण की इस अत्यन्त दुर्धर्म राजधानी लकापुरी में रात के समय घुस कर,
सब घरों में जा कर, सीता को खोजूँगा ॥४६॥

इति निश्चित्य हनुमान्सूर्यस्यास्तमयं कपिः ।

आचकाङ्क्षे तदा वीरो वैदेह्या दर्शनोत्सुकः ॥४७॥

इस प्रकार छपने मन में निश्चय कर जानकीजी को देखने के लिए
उत्सुक वीर हनुमानजी, सूर्यास्त की प्रतीक्षा करने लगे ॥४७॥

सूर्यं चास्तं गते रात्रौ देहं संक्षिप्य मारुतिः ।

वृषदंशकमात्रः^१ सन्वभूवाद्भुतदर्शनः ॥४८॥

१ पाठान्तरे—“हीयते ।”

२ पाठान्तरे—“लकामधिपतिष्यामि ।”

३ पाठान्तरे—“मञ्जि शय ।” ४ वृषदंशकमात्र — विज्ञानप्रमाणः {१००}

जब सूर्य अस्तावलगामी हुए, तब रात में हनुमानजी ने अपने शरीर को दिल्ली के समान छोटा और देखने में विस्मयोत्पादक बनाया ॥४८॥

प्रदोषकाले हनुमांस्तूर्णमुत्प्लुत्य वीर्यवान् ।
प्रविवेश पुरीं रम्यां सुविभक्तमहापथाम् ॥४९॥

वीर्यवान हनुमान जो तुरन्त परकोटा फाँद कर, उस रमणीय और सुन्दर राजमार्गों से युक्त, लकापुरी में घुस गए ॥४९॥

प्रासादमालाविततां स्तम्भैः काञ्चनराजतैः ।
शातकुम्भमयैर्जालिगन्धर्वनगरोपमाम् ॥५०॥

हनुमानजी ने लका के भीतर जाकर देखा कि, बड़े बड़े भवनों की श्रेणियों से और अनेक सुवर्णमय छम्बों से तथा सोने के झरोखों से लकापुरी गन्धर्वनगरी की तरह सजी हुई है ॥५०॥

सप्तभौमाष्टभौमैश्च स ददर्श महापुरीम् ।
तलैः स्फटिकसंकीर्णैः कार्तस्वरविभूषितैः ॥५१॥

सप्त अठ-खने-भवनों से और स्फटिक सजित तथा सुवर्ण भूषित अनेक स्थानों से वह राक्षसों की निवास स्थली लकापुरी अत्यन्त शोभायुक्त देख पड़ती थी ॥५१॥

वैडूर्यमणिचित्रैश्च मुक्ताजालविराजितैः ।
तलैः शुशुभिरै तानि भवनान्यत्र रक्षसाम् ॥५२॥

राक्षसों के घरों के फर्श वैडूर्य मणियों के जडावों और मोतियों की झानरो से सौभित थे ॥५२॥

काञ्चनानि विचित्राणि तोरणानि च रक्षसाम् ।
लंकामुद्घोतयामासुः सर्वतः समलंकृताम् ॥५३॥

राक्षसों के घर के तोरणद्वार, जो सुवर्णनिर्मित और रंग विरंगे बने हुए थे, चारों ओर से विभूषित थे और लकापुरी की सीमा बड़ा रहे थे ॥५३॥

१ पाठान्तरे—“मुक्ता-जालविभूषितैः ।”

अचिन्त्यामद्भुताकारां दृष्ट्वा लंकां महाकपिः ।

आसीद्विपण्णो हृष्टश्च वैदेह्या दर्शनोत्सुकः ॥५४॥

जानकी जी के दर्शन के लिए उत्सुक, महाकपि हनुमान जी इस प्रकार की अचिन्त्य और आश्चर्यजनक बनावट की लकापुती को देख, पहिले तो हर्षित हुए, फिर पीछे उदास हो गए ॥५४॥

स'पाण्डुरोन्नद्धविमानमालिनीं

महार्हजाम्बूनदजालतोरणाम् ।

यशस्विनीं रावणबाहुपालितां

क्षपाचरंभोमवलैः समावृताम् ॥५५॥

हनुमानजी ने देखा कि, रावण द्वारा रक्षित, प्रसिद्ध सकानगरी, श्रेणीबद्ध सफेद मट्टालिकाग्री से, महामूल्यवान् सुवर्णमय शरोखो और तोरणद्वारो से भलकृत है और अत्यन्त बलिष्ठ राक्षसो की सेना चारो ओर से उसकी रक्षवाली कर रही है ॥५५॥

चन्द्रोऽपि साचिव्यमिवास्य कुर्व-

स्तारागणैर्मध्यगतोविराजन् ।

ज्योत्स्नावितानेन वितत्य लोकमु-

त्तिष्ठते नैकसहस्ररश्मिः ॥५६॥

उम समय मानी वायुपुत्र की सहायता करने के लिए सहस्रो किरणो वाला चन्द्रमा, ताराग्री के साथ, चाँदनी छिटकाता हुआ, आकाश में आ विराजा ॥५६॥

शङ्खप्रभं क्षीरमृणालवर्णम्-

उद्गच्छमानं व्यवभासमानम् ।

ददर्श चन्द्रं स कपिप्रवीरः

पोप्लूयमानं सरसीव हंसम् ॥५७॥

१ पाठान्तरे—“पाण्डुरोद्विद्ध ।” २ पाठान्तरे—“ह्रीप्रवीर ।”

कपिश्रेष्ठ हनुमान जी ने देखा कि, सरोवर में जिस प्रकार हंस उछल कूद मचाते हैं, उसी प्रकार दूध अथवा मृणाल वर्ण शङ्ख की तरह चन्द्रमा भी आकार में उदय होकर ऊपर को उठ रहा है ॥१७॥

सुन्दरकाण्ड का दूसरा सर्ग पूरा हुआ ।

तृतीयः सर्गः

स लम्बशिखरे लम्बे लम्बतोयदसन्निभे ।

'सत्त्वमास्थाय मेधावी हनुमान्मारुतात्मजः ॥१॥

निशि लंकामहासत्त्वो विवेश कपिकुञ्जरः ।

रम्यकाननतोयाढ्या पुरीं रावणपालिताम् ॥२॥

बुद्धिमान् तथा महाबलवान् कपिश्रेष्ठ पवननन्दन हनुमान्जी ने धैर्य धारण पूर्वक महामेघ की तरह लम्ब नामक पर्वत के उच्च शिखर पर स्थित सकापुरी में रात के समय प्रवेश किया । वह रावण की लकापुरी उपवनो तथा स्वादिष्ट जल वाले कूप, तडाग, बावली से पूण थी ॥१॥२॥

शारदाम्बुधरप्रथ्यैर्भवनैरुपशोभिताम् ।

सागरोपमनिर्घोषा सागरानिलसेविताम् ॥३॥

वह शरदकालीन बादला की तरह सफेद भवनो से सुशोभित थी । उसमें सदा समुद्र जैसा गर्जन सुन पडना था और वही समुद्री पवन सदा बहा करता था ॥३॥

सुपुष्टबलसंगुप्ता यथैव विटपावतीम् ।

चारुतोरणनिर्घूहा पाण्डुरद्वारतोरणाम् ॥४॥

विटपावती नगरी की तरह सकापुरी की भी रखवालो के लिए परम हृष्टपुष्ट राक्षसी सेना पुरी के चारों ओर नियत थी । उसके तोरणद्वारों पर मदमत्त हाथी झूमा करते थे । उसके तोरणद्वार सफेद रंग के थे ॥४॥

१ सत्त्व—व्यवसाय । धैर्यमिति यावत् । (गो०)

० पाठान्तरे—

“सुपुष्टबलसमुपुष्टा ।”

भुजगाचरितां गुप्तां शुभा भोगवतीमिव ।

ता सविद्युद्धनाकोर्णां ज्योतिर्मार्गनिषेविताम् ॥५॥

वह सब और स सर्पों द्वारा सुरक्षित सर्पों को भोगवतीपुरी की तरह सुरक्षित थी । वह दामिनी युक्त बादला से घिरी थी अथवा उसकी सड़का पर पर्याप्त प्रकाश था ॥५॥

चण्डमारुतनिर्हृदा यथा चाप्यमरावतीम् ।

शातकुम्भेन महता प्राकारेणाभिसंवृताम् ॥६॥

इन्द्र की अमरावतीपुरी की तरह लकापुरी में भी चण्ड वायु सन् सन् करता चला करता था । उसके चारों ओर बड़ा ऊँचा और सब चौड़ा मोने की दीवारों का परकोटा खिंचा हुआ था ॥६॥

किंकिणीजालघोषाभिः पताकाभिरलकृताम् ।

आसाद्य सहसा हृष्टः प्राकारमभिषेदिवान् ॥७॥

उसमें छोटी छोटी घटियों के जाल जगह जगह बने हुए थे, जिनकी घटियाँ सदा बज्र करती थीं । जगह जगह पताकाएँ फहरा रही थीं । उस लकापुरी के परकोट की दीवार पर हनुमानजी प्रसन्नता पूर्वक सहसा कूद कर चढ़ गए ॥७॥

विस्मयाविष्टहृदयः पुरोमालोक्य सर्वतः ।

जाम्बूनदमयैर्द्वारैर्वैडूर्यकृतवेदिकैः ॥८॥

उस परकोटे पर से उन्होंने उस पुरी को चारों ओर से देखा और दहक कर वे विस्मित हुए । क्योंकि उन्होंने देखा कि, उस पुरी के भवनो के दरवाजे सोने से और चबूतरे पत्थर से बने हुए थे ॥८॥

वज्रस्फटिकमुक्ताभिर्मणिकुट्टिमभूषितैः ।

तप्तहाटकनिर्यूहैः राजतामलपाण्डुरैः ॥९॥

१ पाठान्तरे—“मन्दमारुतसञ्चारा यथेन्द्रस्यामरावतीम् ।”

उस पुरी के भवनों को दीवारों हीरा स्फटिक भोती तथा अन्य मणियों की बनी हुई थीं। उनका ऊपरी भाग सुवर्ण और चांदी का बना हुआ था ॥६॥

बहुततलसोपानैः स्फाटिकान्तरयांसुभिः ।

चाहसञ्जवनोपेतैः खमिवोत्पतितैः शुभैः ॥१०॥

भवनों में जाने के लिए जो सीढ़ियाँ थीं, वे पत्थरों से बनाई गई थीं और द्वारों के भीतर का समस्त फर्श भी पत्थरों से जड़ कर बनाया गया था। उन द्वारों के ऊपर जो बेटकें (कमरे) बने थे, वे बहुत ही मनोहर थे। वे इतने ऊँचे थे कि, जान पड़ता था कि, वे आकाश से बातें कर रहे हैं ॥१०॥

क्रौञ्चवाहिणसंघुष्टै राजहंसनिषेवितैः ।

तूयाभरणनिर्घोषैः सर्वतः प्रतिनादिताम् ॥११॥

भवनों के द्वारों पर क्रौंच, मोर आदि पक्षी मुहावनी बोलियाँ बोल रहे थे। राजहंस अलग ही वहाँ की शोभा बढा रहे थे। सर्वत्र नगाडो और धामूपणों के शब्द सुनाई पड़ते थे ॥११॥

वस्वोकसारप्रतिमां समीक्ष्य^१ नगरौ ततः ।

खमिवोत्पतितां लंकां जह्यं हनुमान्कपिः ॥१२॥

इस प्रकार समृद्धशालिनी और आकाशस्पर्शिनी अलकापुरी को तरह उस लकापुरी को देख, हनुमानजी बहुत प्रसन्न हुए ॥१२॥

तां समीक्ष्य पुरौ^२ लंका राक्षसाधिपतेः शुभाम् ।

अनुत्तमामृद्धिमतीं^३ चिन्तयामास वीर्यवान् ॥१३॥

रावण की उस सुन्दर ऋद्धमती लकापुरी को देख, बलवान हनुमान जी अपने मन में कहने लगे ॥१३॥

१ पाठान्तरे—“वीक्ष्य नगरौ ततः ।” २ पाठान्तरे—“खमिवोत्पतितु कामा ।” ३ पाठान्तरे—“रथ्या ।” ४ पाठान्तरे—“युता ।”

नेयमन्येन नगरी शक्या धर्ययितुं वलात् ।

रक्षिता रावणवल्लह्यतायुधधारिभिः ॥१४॥

दूम्रैः क्रिमि कौ तो सामर्थ्य नहीं, जो इम लका को जीत सके । क्योंकि रावण के मैनिक हाथों में आयुधों को ले, इस नगरी को रक्षा करने में तत्पर रहते ह ॥१४॥

कुमुदाङ्गदयोर्वापि सुपेणस्य महाकपेः ।

प्रतिद्वेयं भवद्भूमिर्मन्दद्विविदयोरपि ॥१५॥

विवस्वतस्तनूजस्य हरेश्च कुशपर्वणः ।

ऋक्षस्य केतुमालस्य मम चैव गतिर्भवेत् ॥१६॥

परन्तु कुमुद, अङ्गद, महाकपि सुपेण, मन्द, द्विविद, मूर्खपुत्र सुग्रीव और कुश जैसे लोमघारी रीछों में थोड जाम्बवान और मैं—बस ये ही लोग यहाँ आ सकते हैं ॥१५॥१६॥

समौक्ष्य च महाबाहू राघवस्य पराक्रमम् ।

लक्ष्मणस्य च विक्रान्तमभवत्प्रोतिमान्कपिः ॥१७॥

इस प्रकार सोच विचार कर, जब हनुमान जी ने श्रीरामचन्द्र के पराक्रम और लक्ष्मण के विक्रम की और दृष्टि डाली, तब तो वे प्रसन्न हो गए ॥१७॥

तां रत्नवसनोपेतां गोष्ठागारावतंसकाम् ।

यन्त्रागारस्तनीमृद्धां प्रमदामिव भूयिताम् ॥१८॥

सका, मणि रूपी वस्त्रों से और गोशाला अथवा हथशाला रूपी कर्णमूषणों में और आयुधों के गृह रूपी स्तनों में अलकृत स्त्री की तरह, जान पड़ती थी ॥१८॥

तां नष्टतिमिरां दीपैर्भास्वरंश्च महागृहैः ।

नगरौ राक्षसेन्द्रस्य ददर्श स महाकपिः ॥१९॥

१ गोष्ठागार—गोष्ठ गोशाला । इद वाजिशालादेश्च्यूलक्षणम् । (रा०)

अनेक प्रकार के रत्नों से प्रकाशित भवनो में जो दीपक जल रहे थे, उनसे वहाँ पर अन्धकार नाम मात्र को भी नहीं था । ऐसी राक्षसराज रावण की लंकापुरी को, महाकपि हनुमानजी ने देखा ॥१६॥

अथ सा हरिशार्दूलं प्रविशन्तं महाबलम् ।

नगरी 'स्वेन रूपेण ददर्श पवनात्मजम् ॥२०॥

इतने में कपिश्रेष्ठ महाबली हनुमान जी को लंकापुरी में प्रवेश करते समय, उस पुरी की अधिष्ठात्री देवी ने देख लिया ॥२०॥

सा तं हरिवरं दृष्ट्वा लंका वं कामरूपिणी ।

स्वयमेवोत्थिता तत्र विकृताननदर्शना ॥२१॥

कपिश्रेष्ठ हनुमानजी को देख, वह महाविकराल मुखवाली एवं कामरूपिणी लंका की अधिष्ठात्री देवी, स्वय ही उठ घाई ॥२१॥

१पुरस्तात्तस्य वीरस्य वायुसूनोरतिष्ठत ।

मुञ्चमाना महानादमन्नवीत्पवनात्मजम् ॥२२॥

वह देवी, हनुमानजी को राह रोक उनके सामने जा खड़ी हुई और भयकर नाद कर, पवनानन्दन से बोली ॥२२॥

कस्त्वं केन च कार्येण इह प्राप्तो वनालय ।

कथयस्वेह यत्तत्त्वं यावत्प्राणान्धरिष्यसि ॥२३॥

अरे वनवासी बदर ! तू कौन है ? और यहाँ क्यों आया है ? यदि तुझे अपने प्राण प्यारे हो तो ठीक ठीक बतला ॥२३॥

२न शक्या खल्वियं लंका प्रवेष्टुं धानर त्वया ।

रक्षिता रावणबलैरभिगुप्ता समन्ततः ॥२४॥

१ स्वेन रूपेण—अधिदेवतारूपेण । (२०) २ पाठान्तरे—“रावण पालिता ।” ३ पाठान्तरे—“पुरस्तात्कपिवर्यस्य ।” ४ पाठान्तरे—“यावत्प्राणा व रन्ति ते ।” ५ पाठान्तरे—“न शक्या ।”

हे बानर ! निश्चय ही तुझमें यह सामर्थ्य नहीं कि, तू लका में घुस सके । क्योंकि रावण की सेना इसकी चारों ओर से रखवाती क्रिया करती है ॥२४॥

अथ ताम्रवीद्वीरो हनुमानप्रतः स्थिताम् ।

कथयिष्यामि ते तत्त्वं यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥२५॥

सामने खडो हुई उस लका से वीर हनुमानजी ने कहा—तू मुझसे जो कुछ पूछ रही है, सो मैं सब ठीक ठीक बतलाऊंगा ॥२५॥

का त्वं विरूपनयना पुरद्वारेऽवतिष्ठसि ।

किमर्थं चापि मां रुद्ध्वा निर्भर्त्सयसि दारुणा ॥२६॥

हे निष्ठुर ! [परन्तु पहिले तू तो यह बतला कि] तू कौन है, जो इस नगद्वार पर बिकराल नत्र किए खडो है और क्यों मेरा मार्ग रोक कर मुझे दपट रही है ॥२६॥

हनुमद्वचनं श्रुत्वा लंका सा कामरूपिणी ।

उवाच वचनं क्रुद्धा परुषं पवनात्मजम् ॥२७॥

हनुमानजी के ये वचन सुन, वह कामरूपिणी लका की अधिष्ठात्री देवी क्रुद्ध हो, हनुमानजी से कठोर वचन बोली ॥२७॥

अहं राक्षसराजस्य रावणस्य महात्मनः ।

आज्ञाप्रतीक्षा दुर्धर्या रक्षामि नगरोन्मिमाम् ॥२८॥

मैं महाबनवान राजसराज रावण की आज्ञानुवर्तिनी दुर्धर्या लका नगरी की अधिष्ठात्री देवी हूँ और इस पुरी को मैं रक्षा किया करती हूँ ॥२८॥

न शक्यं मामवजाय प्रवेष्टुं नगरी त्वया ।

अद्य प्राणैः परित्यक्तः स्वप्स्यसे निहतो मया ॥२९॥

मेरी अवहेलना कर तू इस नगरी के भीतर नहीं घुस सकता । यदि मेरी अवहेलना की, तो याद रखना, तू मुझसे मारा जाकर, अभी भूमि पर पड़ा हुआ दिखाई पड़ेगा ॥२९॥

अहं हि नगरी लंका स्वयमेव प्लवङ्गम ।

सर्वतः परिरक्षामि ह्येतत्ते कथितं मया ॥३०॥

हे वानर ! मैं स्वयं लका हूँ और मैं चारों ओर से इसकी रखवाली किया करती हूँ । इसीसे मैंने तुनको रोका है ॥३०॥

लंकाया वचनं श्रुत्वा हनूमान्मारुतात्मजः ।

यत्नवान्स हरिश्रेष्ठः स्थितः शैल इवापरः ॥३१॥

उद्योगी एवं कपिश्रेष्ठ पवननन्दन हनुमान जीने लका की ये बातें सुनीं, उसे परास्त करन के लिए उसके सामने एक दूसरे पर्वत की तरह झबल भाव से खड़े हो गए ॥३१॥

स ता स्त्रीरूपविकृतां दृष्ट्वा वानरपुङ्गवः ।

श्रावभाषेऽथ मेघावी सत्त्ववान्प्लवगर्षभः ॥३२॥

वानरश्रेष्ठ बुद्धिमानएव बलवान् हनुमान जी, उस रूपधारिणी लका देवी से बोले ॥३२॥

द्रक्ष्यामि नगरीं लंकां सादृप्राकारतोरणाम् ।

तदर्थमिह सम्प्राप्तः परं कौतूहलं हि मे ॥ ३३ ॥

वनान्युपवनानीह लंकायाः काननानि च ।

सर्वतो गृह्णमुख्यानि द्रष्टुमागमनं हि मे ॥ ३४ ॥

हे लका ! मैं इस नगरी की अटारियां, प्राकार, तोरण, वन, उपवन तथा प्रधान प्रधान भवनों को देखना चाहता हूँ और इसीलिए मैं यहीं आया भी हूँ । मुझे लकापुरी को देखने का बड़ा कुतूहल है ॥३३॥३४॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा लंका सा कामरूपिणी ।

भूय एवं पुनर्वाक्यं यभाषे पर्याक्षरम् ॥ ३५ ॥

उस कामरूपिणी लकादेवी ने हनुमानजी के ये वचन सुन, फिर हनुमान जी से कठोर वचन बड़े ॥३५॥

भामनिर्जित्य दुर्बुद्धे राक्षसेश्वरपालिताम् ।

न शक्यमद्य ते द्रष्टुं पुरीयं वानराधम ॥३६॥

हे दुर्बुद्ध ! हे वानराधम ! राक्षसेश्वर रावण द्वारा रक्षित इस लका-पुरी को, मुझे हराए बिना भव तू नहीं देख सकता ॥३६॥

ततः स हरिशार्दूलस्तामुवाच निशाचरीम् ।

दृष्ट्वा पुरमिमां भद्रे पुनर्यास्ये ययागताम् ॥३७॥

तदनन्तर कपिशेष्ठ हनुमानजी ने उस निशाचरी से कहा—हे भद्रे ! मैं एक बार इस लकापुरी को देख, जहाँ से भाया हूँ, वहाँ लौट कर चला जाऊँगा ॥३७॥

ततः कृत्वा महानादं सा वै लंका भयानकम् ।

तलेन वानरश्रेष्ठं ताडयामास वेगिता ॥३८॥

तब उस लकादेवी ने बड़ी जोर से भयकर नाद कर, हनुमानजी के कस-कर एक चप्पड़ मारा ॥३८॥

ततः स कपिशार्दूलो लंकया ताडितो भृशम् ।

ननाद सुमहानादं वीर्यवान्पवनात्मजः ॥३९॥

सकादेवी के हाथ से जोर का चप्पड़ खा, बलवान पवननन्दन ने महानाद किया ॥३९॥

ततः संवर्तयाभास वामहस्तस्य सोऽङ्गुलीः ।

मुष्टिनाऽभिजधानैनां हनूमान्क्रोधमूर्च्छितः ॥४०॥

घोर बाँधे हाथ की अंगुलियाँ मोड़ और मुट्ठी बाँध हनुमानजी ने क्रुद्ध हो, लका के एक घूँसा मारा ॥४०॥

स्त्री चेति मन्यमानेन नातिक्रोधः स्वयं कृतः ।

सा तु तेन प्रहारेण विह्वलाङ्गी निशाचरी ॥४१॥

१ पाठान्तरे—“भयावहम् ।”

पपात सहसा भूमौ विकृताननदर्शना ।

ततस्तु हनुमान्प्राज्ञस्तांदृष्ट्वा विनिपातिताम् ॥ ४२ ॥

तिस पर भी लका को स्त्री समझ हनुमानजी ने बहुत क्रोध नहीं किया था, किन्तु वह राक्षसी लका उतने ही प्रहार से विकल और लोट पीट हो पृथ्वी पर गिर पड़ी और उसका मुख और भी अधिक विकराल हो गया । उसकी भूमि पर छटपटाते देख, बुद्धिमत् एव तेजस्वी हनुमान जी को ॥४१॥ ४२॥

कृपां चकार तेजस्वी मन्यमान. स्त्रियं तु ताम् ।

ततो वै भृशमुद्विग्ना लंका सा गद्गदाक्षरम् ॥४३॥

उवाच गर्वितं वाक्यं हनुमन्तं प्लवङ्गमम् ।

प्रसीद सुमहाबाहो त्रायस्व हरिसत्तम ॥४४॥

उसे स्त्री समझ उस पर बड़ी दया आई । तदनन्तर अत्यन्त विकल वह लकादेवी, गद्गद् वाणी से अभिमान रहित हो कपिवर हनुमान जी से बोली । हे कपियेष्ठ ! हे महाबाहो ! तुम मेरे ऊपर प्रसन्न हो और मुझे बचाओ ॥४३॥४४॥

'समये सौम्य तिष्ठन्ति सत्त्ववन्ता महाबलाः ।

अहं तु नगरी लंका स्वयमेव प्लवङ्गम् ॥४५॥

क्योंकि जो धैर्यवान् और महाबली पुष्प होते हैं, वे स्त्री का बध नहीं करते । हे बानर ! मैं ही लका नगरी की अधिष्ठात्री देवी हूँ ॥४५॥

निर्जिताहं त्वया वीर विक्रमेण महाबल ।

इदं च तर्ह्यं शृणु वै श्रुवन्त्या मे हरीश्वर ॥४६॥

मैं ही महाबली ! तुमने मुझे अपने पराक्रम से जीत लिया । महाकपीश्वर ! मैं जो अब यथाथं वृत्तान्त कहती हूँ, उसे तुम सुनो ॥४६॥

१ समयै—स्त्रीवधवर्जनव्यवस्थाया । (गो०)

स्वयंभुवा पुरा दत्तं वरदानं यथा मम ।

यदा त्वां वानरः कश्चिद्विक्रमाद्वशमानयेत् ॥४७॥

ब्रह्माजी ने प्राचीनकाल में मुझको यह वरदान दिया था कि, जब सुझको कोई वानर परास्त करे ॥४७॥

तदा त्वया हि विज्ञेयं रक्षसां भयमागतम् ।

स हि मे समयः सौम्य प्राप्तोऽद्य तव दर्शनात् ॥४८॥

तब तू जान लेना कि, अब राक्षसों के ऊपर विपत्ति आ पहुँची । सो हे सौम्य ! तुम्हारे दर्शन से आज मेरा वह समय आ गया ॥४८॥

स्वयंभूविहितः सत्यो न तस्यास्ति व्यतिक्रमः ।

सीतानिमित्तं राज्ञस्तु रावणस्य दुरात्मनः ।

रक्षसां चैव सर्वेषां विनाशः समुपस्थितः ॥४९॥

क्योंकि ब्रह्मा की कही बात सत्य है—उगमें तिल भर भी अन्तर नहीं पड़ सकता । देखो, सीता के कारण इस दुष्ट रावण का तथा समस्त राक्षसों का विनाशकाल आ पहुँचा ॥४९॥

तत्प्रविश्य हरिश्रेष्ठ पुरीं रावणपालिताम् ।

विघत्स्व सर्वकार्याणि यानि यानीह वाञ्छसि ॥५०॥

सो हे कविश्रेष्ठ ! तुम अब रावण द्वारा पालित इस पुरी में प्रवेश कर, जो कुछ करना चाहते हो, करो ॥५०॥

प्रविश्य शापोपहृतां हरीश्वरः

पुरीं शुभां राक्षसमुख्यपालिताम् ।

यदृच्छ्या त्वं जनकात्मजां सतीं

विमार्गं सर्वत्र गतो यथासुखम् ॥५१॥

हे कपोद्वर ! शापोपहत, रावणपालित एव सुन्दर इस लकापुरी में
मनमाना प्रवेश कर, तुम सर्वत्र ढूँढ कर, सती सीता का पता लगाओ ॥५१॥

सुन्दरकाण्ड का तीसरा सर्ग पूरा हुआ ।

— ० —

चतुर्थः सर्गः

— ० —

स निर्जित्य पुरीं श्रेष्ठा लंकां तां कामरूपिणीम् ।

विक्रमेण महातेजा हनुमान्कपिसत्तमः ॥१॥

श्रद्धारेण महाबाहुः प्राकारमभिपुप्तुचे ।

निशि लंकां महासत्त्वो विवेश कपिकुञ्जरः ॥२॥

महाबली, महाबाहु, महातेजस्वी, दानरश्रेष्ठ हनुमानजी ने, लकापुरी
कामरूपिणी अघिष्टात्री देवी को अपने पराक्रम से जीत कर, द्वार से न जा
कर किन्तु कूद कर, परकोटे की दीवाल फाँदी और लका में प्रवेश
किया ॥१॥२॥

[टिप्पणी—द्वार से अर्थात् फाटक से हनुमानजी नहीं गए । इसका
एक कारण तो यह था कि उन्होंने पहचाने राक्षसों की निगाह बचाई दूसरे
शास्त्र का अज्ञा भी है—कि विशेष समयों पर दूसरे राज के ग्रामक अथवा
नगर में फाटक से प्रवेश न करे । यथा—

ग्राम वा नगर वापि पत्तन वा परस्य हि ।

विशेषात्समये सौम्य न द्वारेणविशेन्नृप ॥]

प्रविश्य नगरों लंकां कपिराजहितंकरः ।

चक्षेऽथ पादं सव्यं च शत्रूणां स तु भूर्धनि ॥३॥

कपिराज सुग्रीव के हितंपी हनुमानजी ने लकापुरी में प्रवेश करते ही
शत्रु के सिर पर अपना बाया पैर रखा ॥ ३ ॥

नोट—कहाँ-कहाँ प्रथम वाम पैर रखना चाहिए ? यह बात बृहस्पति जी ने बतलाई है । यथा—

[प्रयाणकाले च गृहप्रवेशे विवाहकालेऽपि च दक्षिणाद्घ्रिम् ।

कृत्वाप्रथ. शत्रुपुरप्रवेशे वाम निदध्याञ्चरण नृपानः ॥

अर्थात् राजा को उचित है कि यात्रा के समय, गृह-प्रवेश करते समय, विवाह-काल में तो दाहिने पैर से भागे बढ़े, किन्तु शत्रु के नगर में प्रवेश करते समय प्रथम वाम चरण भागे रखे ।]

प्रविष्टः सत्वसम्पन्नो निशायां मारुतात्मजः ।

स महापथमास्थाय मुक्तापुष्पविराजितम् ॥ ४ ॥

इस प्रकार महापराक्रमी पवननन्दन हनुमानजी रात के समय पुरी में प्रवेश कर, खिले हुए पुष्पों से सुशोभित राजमार्ग पर गमन करने लगे ॥ ४ ॥

ततस्तु तां पुरीं लङ्कां रम्यामभिययौ कपिः ।

हसितोद्घुष्टनिन्दं स्तूर्यघोषपुरं सरैः ॥ ५ ॥

रमणीक लकापुरी में जाते समय, हनुमानजी ने लोगों के हँसने का तथा मगाडों के बजने का शब्द सुना ॥ ५ ॥

वज्रांकुशानिकाशैश्च वज्रजालविभूषितैः ।

गृहमुख्यैः पुरी रम्या वभासे द्यौरिवाम्बुदैः ॥ ६ ॥

हनुमानजी ने लका में अनेक प्रकार के घर देखे । उन घरों में कोई तो बज्र के आकार का, कोई अकुश के आकार का बना हुआ था । उनमें हीरे के जडाव के झरोखे बने हुए थे । उन प्रधान-प्रधान घरों से उस रमणीक पुरी को ऐसी शोभा हो रही थी, जैसी शोभा मेघों से आकाश की हुमा करती है ॥ ६ ॥

प्रजज्वाल तदा लङ्का रक्षोगणगृहेः शुभैः ।

सिताम्नसदृशैश्चित्रैः पद्मस्वस्तिकसंस्थितैः ॥ ७ ॥

राक्षसों के मुन्दर गृहों से उस काल लकापुरी खूब दमक रही थी । उन श्वेत एव विदाल भवनों में से किसी की बनावट कमलाकार, किसी की स्वस्तिकाकार थी ॥ ७ ॥

[नोट—बराहमिहिर संहिता में पद्माकार स्वस्तिकाकार प्रादि गूर्हों के सखण दिए हुए हैं। विस्तारमय से उनका उल्लेख यहाँ नहीं किया गया।]

वर्धमानगृहैश्चापि सर्वतः सुविभूषिता ।

तां चित्रमाल्याभरणां कपिराजहितङ्कुरः ॥ ८ ॥

लकापुरी सब ओर से वर्धमान सजक गृहो से भी शोभायमान थी। उन घरों में जगह-जगह फूलों की मालाएँ शोभा के लिए लटक गई थी। सुग्रीव के हितैषी हनुमान इन घरों की सजावट देखते हुए चले जाते थे ॥ ८ ॥

राघवार्थं चरन्धीमान्ददर्शं च मनन्द च ।

भवनाद्भुवनं शच्छन्ददर्शं पवनात्मजः ॥ ९ ॥

विविधाकृतिरूपाणि भवनानि ततस्ततः ।

शुश्राव मधुरं गीतं त्रिस्थानस्वरभूषितम् ॥ १० ॥

श्रीरामचन्द्र का कार्य पूरा करने के लिए, हनुमानजी लकापुरी को देख प्रसन्न होते थे और जानकीजी को खोजने के लिए एक घर से दूसरे घर में जाते हुए, विविध आकार के घरों को देखते थे। उन भवनों में सुन्दर गाने का शब्द सुन पड़ता था। वह गान वक्ष स्पस, कठ और मस्तक से निकले हुए मन्त्र, मध्य और तार नामक स्वरो से युक्त था ॥ ९ ॥ १० ॥

स्त्रीणां मदनविद्वानां दिवि चाप्सरसामिव ।

शुश्राव काञ्चीनिनदं नूपुराणां च निःस्वनम् ॥ ११ ॥

सोपाननिनादांश्चैव भवनेषु महात्मनाम् ।

आस्फोटितनिनादांश्च क्ष्वेडितांश्च ततस्ततः ॥ १२ ॥

स्वर्गवासिनी अप्सरामो की तरह काम से उन्मत्त हुई स्त्रियों के विद्वेष और करघनी की झनकार, जो स्त्रियों के सीढियों पर चढ़ने-उतरने से होती थी—हनुमानजी वहाँ के बलवान् राजसो के घरों में सुनते जाते थे। कहीं-

१ पाठान्तरे—“मद समृद्धाना ।”

कहीं तालियाँ बजाने और सिंहतुल्य दहाड़ने के शब्द भी सुन पड़ते थे ॥११॥१२॥

शुश्राव जपतां तत्र मन्त्रान् रक्षोगृहेषु वै ।

'स्वाध्यायनिरतांश्चैव यातुधानान्ददर्श सः ॥ १३ ॥

हनुमान जी ने राक्षसों के भवनों में जप करने वाले राक्षसों द्वारा उच्चारित मन्त्रों को सुना और स्वाध्यायनिरत राक्षसों को देखा ॥१३॥

रावणस्तवसंयुक्तान्गर्जतो राक्षसानपि ।

राजमार्गं समावृत्य स्थितं रक्षोवलं महत् ॥ १४ ॥

अनेक राक्षसों को रावण की प्रशंसा करते और गर्जते हुए देखा । राजमार्ग को घेरे हुए राक्षसों का एक बड़ा दल खड़ा हुआ था ॥१४॥

ददर्श मध्यमे गुल्मे^१ राक्षसस्य चरान्वहून् ।

दीक्षिताञ्जटिलान्मुण्डान् गोजिनाम्बरधारसः^२ ॥ १५ ॥

नगर के बीच में सैनिकों की जो छावनी थी, उसमें हनुमानजी ने अनेक पासूओं को देखा । इनके अतिरिक्त वहाँ पर बहुत से गृहस्थ जटाधारी, मुड़िया, बँल का चमड़ा वस्त्र की तरह ओढ़े हुए, ॥१५॥

दर्भमुष्टिप्रहरणानग्निकुण्डायुधांस्तथा ।

फूटमुद्गरपाणीश्च दण्डायुधधरानपि ॥ १६ ॥

कुत्त के मूठे से प्रहार करने वाले, मन्त्रों द्वारा अग्नि से कृपया उत्पन्न करने वाले, कँटीले मुद्गर धारण करने वाले, डंडा-धारी, ॥१६॥

एकाक्षानेककर्णाश्च चललम्बपयोधरान् ।

करालान्मुग्धबन्धनांश्च विकटान्वामनांस्तथा ॥ १७ ॥

एक आँख वाले, अनेक कानों वाले, छाती पर लम्बे लटकते हुए स्तनों वाले, देखने में भयकर, टेढ़े मुख वाले, विकट रूप धारी, बौरे ॥१७॥

१ स्वाध्यायनिरतान्—ब्रह्मभागपाठ निरतान् । (गो०)

२ मध्यमेगुल्मे—नगरमध्यस्थितसंन्यसमाजे । (गो०)

३ पाठान्तरे—“गोजिनाम्बरधारिणः ॥”

धन्विनः खड्गिनश्चैव शतघ्नीमुसलायुधान् ।

परिघोत्तमहस्ताश्च विचित्रकवचोज्ज्वलान् ॥ १८ ॥

धनुषधारी, खड्गधारी, शतघ्नी और मूसलधारी, परिघ को हाथ में लिये हुए और विचित्र चमकते हुए कवच पहिने हुए राक्षसों को हनुमानजी ने देखा ॥१८॥

नातिस्थूलान्नातिकृशान्नातिदीर्घातिह्रस्वकान् ।

नातिगौरान्नातिकृष्णान्नातिकुब्जान् वामनान् ॥ १९ ॥

वहाँ ऐसे भी सैनिक राक्षस थे, जो न तो मोटे और न दुबले थे, न लंबे और ठिगने ही थे । न बहुत गोरे और न बहुत काले थे, न कुबड़े और न बौने ही थे ॥१९॥

विरूपान्बहुरूपाश्च सुरूपाश्च सुवर्चसः ।

ध्वजिनः पताकिनश्चैव ददर्श विविधायुधान् ॥ २० ॥

क्रूररूप भी थे, अनेक रूपधारी थे, सुन्दर थे और तेजस्वी भी थे । कहीं-कहीं ध्वजाधारी, पताकाधारी और अनेक आयुधों को धारण करने वाले सैनिक राक्षस भी थे ॥२०॥

शक्तिवृक्षायुधाश्चैव पट्टिसाशनिधारिणः ।

क्षेपणीपाशहस्ताश्च ददर्श स महाकपिः ॥ २१ ॥

उनमें अनेक ऐसे राक्षसों को हनुमान जी ने देखा जो शक्ति, वृक्ष, पटा, बज्र, गुत्तल और पाश धारण किए हुए थे ॥२१॥

स्त्रविणः स्वनुलिप्ताश्च वराभरणभूषितान् ।

नानावेष^१ समायुक्तान्ग्रथास्वैरगतान्बहून् ॥ २२ ॥

सब राक्षस माला धारण किए हुए, चदन लगाए हुए और बढिया गहने और वस्त्र पहिने हुए थे । अनेक प्रकार के झलकारों को धारण किए हुए फैशन धारी राक्षसों को स्वतन्त्र विहार करते हुए (हनुमानजी ने देखा) ॥२२॥

१ वेष — झलकार । (गो०)

तीक्ष्णशूलघरांश्चैव वज्रिणश्च महाबलान् ।

शतसाहस्रमव्यग्रमारक्षं मध्यमं कपिः ॥ २३ ॥

सका के मध्य भाग में एक लाख बलवान और सावधान राक्षस सैनिकों को, हाथों में पत्ते शूल और वज्र लिए हुए, हनुमानजी ने देखा ॥२३॥

रक्षोधिपतिर्निदिष्टं ददर्शान्तःपुराग्रतः ।

स तदा तद्गृहं दृष्ट्वा महाहाटकतोरणम् ॥ २४ ॥

राक्षसेन्द्रस्य विख्यातमद्रिमूर्ध्नि प्रतिष्ठितम् ।

पुण्डरीकावतंसाभिः परिखाभिः समावृतम् ॥ २५ ॥

फिर जब हनुमानजी रावण के रजवास में पहुँचे, तब वहाँ देखा कि रावण की आज्ञा से, रजवास के सामने भी राक्षस सैनिकों का पहरा है । तदनन्तर हनुमानजी ने पर्वत के शिखर पर स्थित रावण का प्रसिद्ध भवन देखा । इस भवन का तोरण द्वार सुवर्ण का बना हुआ था और इस भवन के चारों ओर बल से मरी और कमलों से शोभित छायाँ थीं ॥२४॥२५॥

प्राकारावृतमत्यन्तं ददर्श स महाकपिः ।

त्रिविष्टपनिभं दिव्यं दिव्यनादविनादितम् ॥ २६ ॥

छाई के बाद एक बड़ा ऊँचा परकोटा था । हनुमानजी ने रावण के भवन को स्वर्ग की तरह सुन्दर पाया । उन भवन में स्वर्गीय गाना-बजाना हो रहा था ॥२६॥

वाजिह्वेषितसंघुष्टं नादितं भूषणैस्तथा ।

रथैर्यानिर्विमानैश्च तथा गजहयैः शुभैः ॥ २७ ॥

भवन के द्वार पर घोड़े हिनहिना रहे थे, और वे जो आभूषण धारण किए हुए थे, उनकी सनकार भी हो रही थी । इनके अतिरिक्त विविध प्रकार के रथ आदि सवारियाँ, विमान और भ्रन्धी नस्ल के हाथी और घोड़े भी मौजूद थे ॥२७॥

वारणेश्च चतुर्दन्तः श्वेताभ्रनिघयोपमैः ।

भूषितं रुचिरद्वारं मत्तेश्च मृगपक्षिभिः ॥ २८ ॥

भवन के द्वार की शोभा बढ़ाने के लिए सफेद बादल जैसे चार दाँतों वाले बड़े डीलडौस के सफेद हाथी और अनेक प्रकार के मत्त मृग और पक्षी भी थे ॥२८॥

रक्षितं सुमहावीर्यैर्यातुधानैः सहस्रशः ।

राक्षसाधिपतेर्गुप्तमाधिवेश 'गृहं' कपिः ॥ २९ ॥

जिस राजभवन की रक्षवाली के लिए हजारों महाबली और पराक्रम राक्षस नियुक्त थे, उनके भीतर हनुमानजी ने प्रवेश किया ॥२९॥

सहेमजाम्बूनदक्षरुवाले

महार्हमुक्तामणिभूषितान्तम् ।

पराध्यकालागुहचन्दनाक्त

स रावणान्त.पुरमाधिवेश ॥ ३० ॥

इति चतुर्थं सर्गं ॥

रावण के भवन का परकोटा विशुद्ध उत्तम सुवर्ण का बना हुआ था और उसमें यथास्थान बड़े बड़े मृत्युवान मोती और मणियों के नग जड़े हुए थे । रावण का अन्त पुर सदा चन्दन, गुग्गुलु आदि सुगन्धित द्रव्यों से सुवासित रहता था । ऐसे राजभवन में हनुमानजी ने प्रवेश किया ॥३०॥

सुन्दरकाण्ड का चौथा सर्ग पूरा हुआ

पञ्चमः सर्गः

तत स मध्य गतमशुमन्त
 ज्योत्स्नावितान महदुद्वमन्तम् ।
 ददर्श धीमान्दिवि भानुमन्त
 गोष्ठे वृष मत्तमिव भ्रमन्तम् ॥ १ ॥

हरणीतिका

नभमधि प्रकाशित तेज धर ससि चन्द्रिकाहि फैलावतो ।
 भ्रति दिपत जिमि वृष मत्त धूमत गोठ में छवि छावतो ॥१॥

लोकस्य पापानि' विनाशयन्त
 महोर्दधि चापि समेधयन्तम् ।
 भूतानि सर्वाणि विराजयन्त'
 ददर्श शीताशुमथाभियान्तम् ॥ २ ॥

नासत जगत दुख और पारावार परम बढावतो ।
 जीवन प्रकाशित करत हिमकर लख्यो नभ मधि छावतो ॥२॥

या भाति लक्ष्मीर्भुवि मन्दरस्था
 तथा प्रदोषेषु च सागरस्था ।
 तथैव तोयेषु च पुष्करस्था
 रराज सा चारुनिशाकरस्था ॥ ३ ॥

छवि लसत मन्दर भूमि जो परदोष में सागर लसै ।
 जो नीर मधि नीरजन में सो सुछवि हिमकर में बसै ॥३॥

१ पापानि—दु खानि । [गो०] २ विराजयन्त—प्रकाशयन्त । [गो०]

हंसो यथा राजतपञ्जरस्यः

सिंहो यथा मन्दरकन्दरस्यः ।

वीरो यथा गर्वितकुञ्जरस्य-

श्चन्द्रोऽपि बभ्राज तथाऽम्बरस्यः ॥ ४ ॥

जिमि रजत पिञ्जर हंस केहरि बसत मन्दर माहि ज्यो ।

जिमि वीर कुजर बँडि हिमकर लसत अम्बर माहि त्यो ॥४॥

स्थितः ककुद्धानिव तीक्ष्णशृङ्गो

महाचलः श्वेत इवोच्चशृङ्गः ।

हस्तोव जाम्बूनदबद्धशृङ्गो^१

विभाति चन्द्रः परिपूर्णशृङ्गः ॥ ५ ॥

जिमि शृषभ तीक्ष्ण-शृङ्ग गिरिवर सेतसृङ्गन सोहई ।

गज हेमभूषित तथा पूरन कला सों ससि छबि भई ॥५॥

विनष्टशीताम्बुतुषारपङ्को

महाग्रहग्राहविनष्टपङ्कः ।

प्रकाशलक्ष्म्याश्रयनिर्मलाङ्को

रराज चन्द्रो भगवाञ्शशाङ्कः ॥ ६ ॥

तम सीत जल ग्रह तुहिन को रवि किरन कीनो नास है ।

निरमल कलकटु तेज सो घति ससि करत परकाश है ॥६॥

शिलातलं प्राप्य यथा मृगेन्द्रो

महारणं प्राप्य यथा गजेन्द्रः ।

राज्यं समासाद्य यथा नरेन्द्रः

तथा प्रकाशो विरराज चन्द्रः ॥ ७ ॥

१ जाम्बूनदबद्धशृङ्गो—सुवर्णबद्धदन्तः । (सि०)

जिमि पाइ केहुरि सिलासल को महारन को गज जया ।
जिमि^१राज लहि राजा लसत परकास-मय हिमकर तथा ॥७॥
प्रकाशचन्द्रोदयनष्टदोषः

प्रवृद्धरक्षःपिशिताशदोषः ।

रामाभिरामेरितचित्तदोषः

स्वर्गप्रकाशो भगवान्प्रदोषः ॥ ८ ॥

ससि तेज तम दुरि बढ्यो भ्रामिढ-भसन रजनीचरन को ।
रमनी-प्रनय-कलहहि सुराइ प्रदोस है सुखकरन को ॥८॥

तंत्रीस्वनाः कर्णसुखाः प्रवृत्ताः

स्वपन्ति नार्यः पतिभिः सुवृत्ताः ।

नवतंचराश्चापि तथा प्रवृत्ता

विहर्तुमत्यद्भूतरौद्रवृत्ताः ॥ ९ ॥

सोई सपटि तिय पियन कानहुं वीन-सुर-सुख सो पगे ।
भति क्रूर भद्भुत चरित निसिचर-गन सबै विहरन लगे ॥९॥

मत्तप्रमत्तानि समाकुलानि

रथाश्वभद्रासनसङ्कुलानि ।

वीरश्रिया चापि समाकुलानि

ददर्श धीमान् स कपिः कुलानि ॥ १० ॥

मदमत्त रजनीचर सुरय हय हेम आसन सो भर्यो ।
वर बीर-सोभाजुत निसाचर कुलहि भवलोकन कर्यो ॥१०॥

परस्परं चाधिकमाक्षिपन्ति

भुजांश्च पीनानधिविक्षिपन्ति ।

मत्तप्रलापानधिविक्षिपन्ति^१

मत्तानि चान्योन्यमधिक्षिपन्ति ॥ ११ ॥

१. पाठान्तरे—“मत्तप्रलापानधिकं क्षिपन्ति ।”

कोऊ विबादहि करत आपुसु माहि भुजहि लढावते ।
हैं मत्त करत प्रलाप इक को एक इपटि डरावते ॥११॥

रक्षांसि वक्षांसि च विक्षिपन्ति

गान्त्राणि कान्तासु च विक्षिपन्ति ।

रूपाणि चित्राणि च विक्षिपन्ति

दृढानि चापानि च विक्षिपन्ति ॥ १२ ॥

उर सो मिलावत उर बदन कोउ तियन सो लपटावते ।

कोउ संवारत अङ्ग निज कोउ कोउ घनुष टनकावते ॥१२॥

ददर्श कान्ताश्च समालपन्त्य-

स्तथापराश्च पुनः स्वपन्त्यः ।

सुरूपवक्त्राश्च तथा हसन्त्यः

क्रुद्धाः पराश्चापि विनिःश्वसन्त्यः ॥ १३ ॥

ता ठाम कोउ सोए कोऊ प्यारिन सिगारहि चोप सो ।

सुन्दर-बदन कोउ हंसत लेत उसांस कोऊ कोप सो ॥१३॥

महागजेश्चापि तथा नदद्भिः

सुपूजितेश्चापि तथा सुसद्भिः ।

रराज धीरेश्च विनिःश्वसद्भिः-

हृदो भुजङ्गरिव निश्वसद्भिः ॥ १४ ॥

गज नदत कहूँ सज्जन सुपूजित बसत सोभा धारते ।

कहूँ वीर लेत उसांस मनु सर में सरप फूँकारते ॥१४॥

बुद्धिप्रधानान्-रुचिराभिधाना-

न्संश्रद्धधानाञ्जगतः प्रधानान् ।

नानारविधानान् रुचिराभिधानान्-

ददर्श तस्यां पुरि यातुधानान् ॥ १५ ॥

बोलत मधुर श्रद्धालु बुद्धि प्रधान अगत-प्रधान ते ।
नाता विधिन के जाबुधान बने श्विर-अभिधान ते ॥१५॥

ननन्द दृष्ट्वा च स तान्सुरूपान्-

नानागुणानात्मगुणानुरूपान् ।

विद्योतमानान्स तदानुरूपा-

न्ददर्श कांश्चिच्च पुनर्विरूपान् ॥ १६ ॥

हरप्यो निरसि अनुरूप गुन के बपु बिदिष विधि सोहने ।

कोऊ कुरूपहु तेज सो निज सखि परै सुगदर बने ॥१६॥

ततो वरार्हाः सुविशुद्धभावाः

तेषां स्त्रियस्तत्र महानुभावाः ।

प्रियेषु पानेषु च सक्तभावा

ददर्श तारा इव सुप्रभावाः ॥ १७ ॥

मूपन धरे कल-भाव की तिन नारि परम प्रभाव की ।

भासक्त प्रिय भरु पान में तारा सरिस सुमुभाव की ॥१७॥

श्रिया ज्वलन्तीस्त्रपयोपगूढा

निशीथकाले रमणोपगूढाः ।

ददर्श कांश्चित्प्रमदोपगूढा

यथा विहङ्गाः कुसुमोपगूढाः ॥ १८ ॥

छवि सों दिपत कोड लजत पाधी रात रमत उमङ्ग सो ।

सुन्दरिन निरख्यो मनहुं विहंगी लपटि रही बिहङ्ग सो ॥१८॥

अन्याः पुनर्हर्म्यतलोपविष्टाः

तत्र प्रियाङ्गेषु सुखोपविष्टाः ।

भर्तुः प्रिया धर्मपरा निविष्टा

ददर्श योनात्मदनामिनिविष्टाः ॥ १९ ॥

कोक महल के छतन बँठी अक में निज पियन के ।
पतिव्रता धर्मवता मदन-बंधित हृदय कोउ तियन के ॥१६॥

अप्रावृताः काञ्चनराजिवर्णाः

काश्चित्पराध्यास्तपनीयवर्णाः ।

पुनश्च काश्चिच्छशलक्ष्मवर्णाः

कान्तप्रहीणा रुचिराङ्गवर्णाः ॥ २० ॥

कवनवदनि विनु घोड़ने कोउ तप-सुबरत बरन की ।

प्रिय सो मिलत कोउ सुन्दरी तहँ, चन्द्रमा सम-बदन की ॥२०॥

ततः प्रियान्प्राप्य मनोभिरामान्

सुप्रीतियुवताः सुमनोभिरामाः ।

गृहेषु हृष्टाः परमाभिरामा

हरिप्रदीरः स ददर्श रामाः ॥ २१ ॥

निज पियन पाइ सनेह बस प्रमिराम कुमुमन सो बनी ।

गृह में मुदित छबि धाम नारिद लखैउ कपि सोमा-सुती ॥२१॥

चन्द्रप्रकाशाश्च हि वक्त्रमालाः

वक्राक्षिपक्षमाश्च सुनेत्रमालाः ।

विभूषणानां च ददर्श मालाः

शतहृदानामिव चारुमालाः ॥ २२ ॥ १

कल-नमत टेढ़ी-भौंहें जुत तिन बदन ससि सम सोहूँते ।

भूपन सजे-विजुरीत की प्रबली सरिस मन सोहूँते ॥२२॥

न त्वेव सीतां परमाभिजातां

पथि स्थिते राजकुले प्रजाताम् ।

लतां प्रफुल्लामिव साधु जातां

ददर्श तन्वीं मनसाऽभिजाताम् ॥ २३ ॥

मन सों विधाता ने सुजी फूली सता सम सुन्दरी ।
वनमी सनातन-राज-कुल सीता न र्य तहें सखि परी ॥२३॥

सनातने वर्त्मनि सन्निविष्टां

रामेक्षणां तां मदनाभिविष्टाम् ।

भर्तुर्मनः श्रीमदनुप्रविष्टां

स्त्रीभ्यो वराभ्यश्च सदा विशिष्टाम् ॥२४॥

तापित मदन सो धित सनातन घरम घ्यावत राम को ।
निज स्वामि मन पैठी मनहुँ उत्कृष्ट सब ही बाम सो ॥२४॥

उष्णादितां सानुसृतास्त्रकण्ठीं

पुरा वराहोत्तमनिष्ककण्ठीम् ।

सुजातपक्षमामभिरक्तकण्ठीं

वने प्रनृत्तामिव नीलकण्ठीम् ॥ २५ ॥

बर-कण्ठ भूषण जोग आनुन सिंच्यो तापित बिरहिनी ।
कल-भौहं कोमल-कण्ठ की वन मादि मनहुँ मयूरिनी ॥२५॥

श्रव्यक्तरैखामिव चन्द्ररेखां

पांसुप्रदिग्धामिव हेमरेखाम् ।

क्षतप्ररूढामिव वाणरेखां

वायुप्रभिन्नामिव मेघरेखाम् ॥ २६ ॥

रज घूसरित जिमि हेमरेखा ससिकला घूमिल भई ।
द्यत बाल के आघात को घन शबलि घायु बिलरि गई ॥२६॥

सीतामपश्यन्मनुजेश्वरस्य

रामस्य पत्नीं वदतां वरस्य ।

वभूव दुःखाभिहतश्चिरस्य

प्लवङ्गमो मन्द इवाचिरस्य ॥ २७ ॥

इति पञ्चमः सर्गः ॥

दोहा

तिमि मनुजाधिप राम की तिय सिय निरख्यो नाहिं ।

भयो म'दमति सम दुखित कपिवर निज मन माहिं ॥२७॥

[नोट—यह कविना काशीवासी बा० कृष्णचन्द्र कृत वाल्मीकीय सुन्दर-काण्ड के पद्यानुवाद" से उद्धृत की गई है ।]

सुन्दरकाण्ड का पाचवाँ सय पूरा हुआ ।

— ० —

पष्ठः सर्गः

स निकाम विमानेषु विषण्ण कामरूपधृत् ।

विचचार 'कपिलका लाघवेन समन्वित ॥ १ ॥

अपनी इच्छानुसार ह्म धारण किए कपिश्रेष्ठ हनुमानजी विपादित हो, जल्दी जल्दी अगारियो पर चढ चड कर लकापुरी में विचरने लग ॥ १ ॥

आससादाथ लक्ष्मीवा राक्षसेन्द्रनिवेशनम्

प्राकारेणार्कवर्णन भास्वरेणाभिसवृतम् ॥ २ ॥

वे राक्षसराज रावण के भवन के समीप पहुँच । वह राज भवन सूप सद्गुण चमकीले परकोट से घिरा हुआ था ॥ २ ॥

रक्षित 'राक्षसैर्भोमै सिंहैरिव महद्वनम् ।

समीक्षमाणो भवन 'चक्राशे कपिवुञ्जर ॥ ३ ॥

जिस प्रकार सिंहा से कोई महावन रक्षित होता है उसी प्रकार वह राजभवन बड-बड राक्षसों से रक्षित था । उस राज भवन की बनावट और सजावट देख हनुमानजी प्रसन्न हो गए ॥ ३ ॥

१ पाठान्तरे— पुनलङ्का ।

२ पाठान्तरे— राक्षसैर्घोरैः ।

३ चक्राश—जहपत्यप । (गो०)

रूप्यकोपहितैश्चित्रंस्तोरणंह मभूयितैः ।

विचित्राभिश्च कक्ष्याभिर्द्वारैश्च रुचिरैर्वृतम् ॥ ४ ॥

उस राजभवन का तोरणद्वार चाँदी का था और चाँदी के ऊपर सोने का काम किया गया था । उस भवन की डबोडियाँ तरह-तरह की बनी हुई थीं । वहाँ की भूमि और दरवाजे विविध प्रकार के बने थे । वे देखने में सुन्दर और भवन की शोभा बढ़ा रहे थे ॥ ४ ॥

गजास्थितंमहामात्रैः^१ शूरैश्च विगतधर्मैः ।

उपस्थितमसहायैर्हयैः^२ स्पन्दनयायिभिः ॥ ५ ॥

वहाँ पर अमरहित (अथवा शीघ्र न चलने वाले) शूरवीरों और हाथियों पर चढ़े हुए महावत, मौजूद थे । ऐसे बेगवान कि, जिनका बेग कोई न रोक सके, रथों में जोते जाने वाले ऐसे घोड़े भी वहाँ उपस्थित थे ॥ ५ ॥

सिंहव्याघ्रतनुत्राणैर्दान्तिकाञ्चनराजतैः ।

घोषवद्भिर्विचित्रैश्च सदा विचरितं रथैः ॥ ६ ॥

सिंह और व्याघ्र के चर्म को धारण किए हुए, सोने, चाँदी और हाथी दाँत के खिलौने से सुसज्जित तथा गम्भीर शब्द करते बाने विचित्र रथ, भवन के चारों ओर [रक्षा के लिए] घूमा करते थे ॥ ६ ॥

बहुरत्नसमाकीर्णं परार्घ्यासनभाजनम् ।

^३महारथसमाजार्प महारथमहास्वनम् ॥ ७ ॥

वहाँ पर विविध प्रकार के श्रेष्ठ अनेक रत्नजटित मूडे, कुर्तियाँ आदि रखे हुए शोभा दे रहे थे । वहाँ पर बड़े-बड़े महारथियों के रहने के मकान (बारकें) बने हुए थे और वहाँ महारथियों का सिंहनाद हुआ करता था । अर्थात् राजभवन के पहरे पर बड़े-बड़े महारथी नियुक्त थे ॥७॥

टिप्पणी—महारथी का लक्षण यह बतलाया गया है —

१ महामात्रैर्हस्तिपकैः । (रा०) २ असहायैः—प्रतिहतवेगैः (रा०)

३ पाठान्तरे—‘महारथसमावाप्तः ।’

एकादश सहस्राणि योषधेवस्तु धन्विनाम् ।

अस्त्रशस्त्रप्रवीणश्च स महारथ उच्यते ॥

धर्षात् महारथी उसे कहते हैं जो ११ हजार अस्त्र-शस्त्र धलाने में पट्ट
य नुधंर योद्धाओं से युद्ध करे ।

दृश्यैश्च परमोदारैस्तेस्तैश्च मृगपक्षिभिः ।

विविधैर्वहुसाहस्रैः परिपूर्णं समन्ततः ॥ ८ ॥

वह राजभवन बड़े डीलडौल के और देखने योग्य सहस्रो पक्षियों और
मृगों से भरा हुआ था ॥ ८ ॥

धिनीतैरन्तपालैश्च^१ रक्षाभिश्च सुरक्षितम् ।

मुख्याभिश्च वरस्त्रोभिः परिपूर्णं समन्ततः ॥ ९ ॥

धिनीत और बाहिर की रक्षा करने वाले राजसों द्वारा, उस राजभवन
की रक्षवाली की जाती थी और अत्यन्त सुन्दर स्त्रियों से वह राजभवन ही
भरा पुरा था ॥ ९ ॥

मुदितप्रमदारत्नं राक्षसेन्द्रनिवेशनम् ।

धराभरणसंह्लादैः समुद्रस्वननिःस्वनम् ॥ १० ॥

प्रसन्नवदना स्त्रीरत्नों के सुन्दर आभूषणों की मधुर झनकार से रावण
का राजभवन समुद्र की तरह (सदा) प्रतिध्वनित हुआ करता था ॥ १० ॥

तद्राजगुणसम्पन्नं^२ मुख्यैश्चागुरचन्दनैः ।

महाजनैः समाकीर्णं सिंहैरिव महद्वनम् ॥ ११ ॥

वह सुगन्धित धूपादि मुख्य मुख्य राजापचारोपयुक्त सामग्रियों से परिपूर्ण
था । जिस प्रकार महावन में सिंह रहते हैं, उसी प्रकार उस भवन में मुख्य-मुख्य
राजास रहा करते थे ॥ ११ ॥

भेरीमृदङ्गाभिरुतं शङ्खघोषविनादितम् ।

नित्यार्चितं पर्वहुतं पूजितं राक्षसैः सदा ॥ १२ ॥

१ परमोदारै — धर्ममहद्भिः । [८०] २ अन्तपालै — बाह्यरक्षिभि [गो०]
३ राजगुणसम्पन्न — राजोपचारधूपादिभि सम्पन्न । [गो०]

वह भेरी, मृदग और शंख के शब्दों से प्रतिध्वनित हुआ करता था। तथा उस भवन में नित्य अर्चन हुआ करता था और पर्वदिवसों के अवसर पर राक्षसों द्वारा हवनादि भी हुआ करते थे ॥१२॥

समुद्रमिव गम्भीर समुद्रमिव निःस्वनम् ।

महात्मनो महद्देश्म महारत्नपरिच्छदम् ॥ १३ ॥

महारत्नसमाकीर्णं ददर्श स महाकपिः ।

विराजमान वपुषा गजाश्वरथसङ्कुलम् ॥ १४ ॥

[कमी कमी] रावण के डर के मारे राजभवन समुद्र की तरह गम्भीर और निःशब्द भी हो जाया करता था अर्थात् वहाँ कोनाहल नहीं होने पाता था। उत्तम उत्तम सामग्री से तथा भरे हुए उत्तम रत्नों से रावण के विशाल राजभवन की हनुमानजी ने देखा। उस भवन में जहाँ तथा गज अश्व और रथ मौजूद थे ॥१३॥१४॥

लंकाभरणमित्येव सोऽमन्यत महाकपिः ।

चत्वार हनुमास्तत्र रावणस्य समीपतः ॥ १५ ॥

हनुमानजी ने उस राजभवन को लंकापुरी का भूषण समझा। वे अब उस स्थान पर गये, जहाँ रावण सो रहा था ॥१५॥

। गृहीद्गृहं राक्षसानामुद्यानानि च वानरः ।

वीक्षमाणो ह्यसत्रस्तं प्रासादाश्च चत्वार सः ॥ १६ ॥

हनुमान जी राक्षसों के एक घर से दूसरे घर में तथा उनके उद्यानों में जा जा कर, सीता की ढूँढ रहे थे। भवनों में निभय हा घूम फिर रहे थे ॥१६॥

अवप्लुत्य महावेगं प्रहस्तस्य निवेशनम् ।

ततोऽन्यत्पुप्लुवे वेश्म महापार्श्वस्य वीर्यवान् ॥ १७ ॥

महावेगवान् हनुमान जी क्रुद कर प्रहस्त के भवन में घुस वहाँ से क्रुद कर, महाबली महापार्श्व के घर में गये ॥१७॥

अथ मेघप्रतीकाशं कुम्भकर्णनिवेशनम् ।

विभीषणस्य च तथा पुप्लुवे स महाकपिः ॥ १८ ॥

तदनन्तर वे कुम्भकर्ण के मेघ सदृश विशाल भवन में गये । वहाँ से छलांग मार वे विभीषण के घर पर पहुँचे ॥१८॥

महोदरस्य च गृहं विरूपाक्षस्य चैव हि ।

विद्युज्जिह्वस्य भवनं विद्युन्मालेस्तथैव च ॥ १९ ॥

वज्रदंष्ट्रस्य च तथा पुप्लुवे स महाकपिः ।

शुकस्य च महावेगः सारणस्य च धीमतः ॥ २० ॥

तदनन्तर क्रमशे उहोने महोदर, विरूपाक्ष, विद्युज्जिह्व, विद्युन्माली, वज्रदंष्ट्र, महावेगवान् शुक और बुद्धिमान् सारण के घरों की तलाशी ली ॥१९॥२०॥

तथा चेन्द्रजितो वेश्म जगाम हरियूथपः ।

जम्बुमालेः सुमालेश्च जगाम भवनं ततः ॥ २१ ॥

तदनन्तर वे वानरयूथपति हनुमानजी इन्द्रजीत—मेघनाद के घर में गये । वहाँ से वे जम्बुमाली, सुमाली के भवनों में गये ॥२१॥

रश्मिकेतोश्च भवनं सूर्यशत्रोस्तथैव च ।

वज्रकायस्य च तथा पुप्लुवे स महाकपिः ॥ २२ ॥

हनुमानजी बुद्धकर रश्मिकेतु, सूर्यशत्रु और वज्रकाय के घरों में गये ॥२२॥

धूम्राक्षस्याथ सम्पातेर्भवनं मारुतात्मजः ।

विद्युद्रूपस्य भीमस्य घनस्य विघनस्य च ॥ २३ ॥

पवननन्दन हनुमानजी ने धूम्राक्ष, सम्पाति, विद्युद्रूप, भीम, घन, विघन के घरों को ढूँढ़ा ॥२३॥

१ पाठान्तरे—'महातेज ।' २ पाठान्तरे—'हरिसत्तम ।'

शुकनासस्य वक्रस्य शठस्य विकेटस्य च ।

ह्रस्वकर्णस्य दंष्ट्रस्य रोमशस्य च राक्षसः ॥ २४ ॥

फिर शुकनास, वक्र, शठ, विकेट, ह्रस्वकर्ण, दंष्ट्र, रोमश राक्षस के घरों को देखा ॥२४॥

युद्धोन्मत्तस्य मत्तस्य ध्वजग्रीवस्य 'रक्षसः ।

विद्युज्जिह्वेन्द्रजिह्वाना तथा हस्तिमुखस्य च ॥ २५ ॥

फिर वे युद्धोन्मत्त, मत्त, ध्वजग्रीव, विद्युज्जिह्व, इन्द्रजिह्व और हस्तिमुख नामक राक्षसों के घरों में गये ॥२५॥

करालस्य पिशाचस्य शोणिताक्षस्य चैव हि ।

क्रममाणः क्रमेणैव हनुमान्मारुतात्मजः ॥ २६ ॥

फिर पवननन्दन हनुमान जी क्रमशः कराल, पिशाच, शोणिताक्ष के घरों में गये ॥२६॥

तेषु तेषु महार्हेषु भवनेषु महायशाः ।

तेषामृद्धिमतामृद्धिं ददर्श स महाकपिः ॥ २७ ॥

इन सब बड़े भवनों में जाकर, ऋद्धिशाली राक्षसों की समृद्धिशालीनता हनुमानजी ने देखी ॥२७॥

सर्वेषां समतिक्रम्य भवनानि महायशाः ।

आससादाथ लक्ष्मीवान्राक्षसेन्द्रनिवेशनम् ॥ २८ ॥

इन सब भवनों में होते हुये हुए बड़े यशस्वी हनुमान जी, प्रतापी राक्षस-राज रावण के भवन में पहुँचे ॥२८॥

रावणस्योपशायिन्यो ददर्श हरिसत्तमः ।

विचरन्हरिशार्दूलो राक्षसीर्विकृतेक्षणाः ॥ २९ ॥

१ पाञ्च-तरे--' नादिन." "वा सादिन " २ पाञ्च-तरे--' समन्तन " ।

हनुमान जी ने वहाँ जाकर देखा कि रावण पटा सो रहा है। राजमवन में घूमते हुए हनुमान जी ने बड़ी मयकर सूरत वाली राक्षसियों को रावण के शयनगृह की रक्षा करते हुए देखा ॥२६॥]

शूलमुद्गरहस्तारच शविततोमरधारिणीः ।

ददर्श विविधान्गुल्मास्तस्य रक्षःपतेर्गृहे ॥ ३० ॥

वे हाथों में त्रिशूल, मुद्गर, शक्ति, तोमर लिये हुए थीं। हनुमान जी ने रावण के घर में विविध सूरत शकल की और विविध प्रकार के धायुषों को लिए राक्षसियों के दलों को देखा ॥३०॥

[टिप्पणी—“गुल्म” का अर्थ दल अथवा टोली है। इसे दस्ता भी कह सकते हैं। ऐसे प्रत्येक दल या दलते में ६ हाथी, ६ रथ, २७ घोड़े और ४५ पैदल हुम्मा करते थे।]

राक्षसांश्च महाकायाद्गनाप्रहरणोद्यतान् ।

रक्ताञ्चेतान्सि तांश्चापि हरींश्चापि महाजवान् ॥ ३१ ॥

कुत्सीनान् रूपसम्पन्नान्गजान्परगजारुजान् ।

निष्ठितान्गजशिक्षायामंरावतसमान्युधि ॥ ३२ ॥

निहन्तृन्परसंग्यानां गृहे तस्मिन्ददर्श सः ।

क्षरतश्च यथा मेघान्क्षवतश्च यथा गिरीन् ॥ ३३ ॥

मेघस्तनितनिर्घोषान्दुर्धर्षान्समरे परैः ।

सहस्रं वाजिना तत्र जाम्बूनदपरिष्कृतम् ॥ ३४ ॥

ददर्श राक्षसेन्द्रस्य रावणस्य निवेशने ।

शिविका दिविधाकाराः स कपिर्मास्तात्मजः ॥ ३५ ॥

इन पहरेवालों के अतिरिक्त वहाँ पर विशालकाय और सस्यधारण किए हुए राक्षस भी थे और लाल और सफेद रंग के घोड़े भी बंधे हुए थे।

१ सितान्—बदान्। (गो०) २ पाठान्तरे—‘वाहिनीस्तत्र ।’
३ पाठान्तरे—‘परिष्कृताः ।’

कृलीन और सुन्दर हाथियो को, जो शत्रु के हाथियो को मारने वाले, शिशित और रण में ऐरावत के तुल्य शत्रुसैन्य का नाश करने वाले, मेघों की तरह मद की चुभाने वाले भयवा डरने की तरह मद की धारा को बहाने वाले, मेघों की तरह विधारने वाले थे और युद्ध में शत्रु से दुर्घपं थे, देखे । हनुमानजी ने कलावतू के सामान से सजी हुई घुडसवार सना भी राक्षसराज रावण के घर में देखी । पवनतन्दन हनुमानजी ने विविध प्रकार की पालकियों भी देखी ॥३१॥३२॥३३॥३४॥३५॥

हेमजालपरिच्छन्नास्तरुणादित्यवर्चसः ।

सतागृहाणि चित्राणि चित्रशालागृहाणि च ॥ ३६ ॥

क्रीडागृहाणि चान्यानि दारुपर्वतकानपि ।

कामस्य गृहकं रम्यं दिवागृहकमेव च ॥ ३७ ॥

ददर्श राक्षसेन्द्रस्य रावणस्य निवेशने ।

स मन्दरगिरिप्रह्यं मयूरस्थानसङ्कुलम् ॥ ३८ ॥

ये पालकियां सुवर्ण की जालियो से भूषित, मध्याह्न के सूर्य की तरह चमचमाती थीं । हनुमानजी ने राक्षसेन्द्र रावण के भवन में अनेक चित्र विचित्र सतागृह, चित्रशालाएँ, क्रीडागृह, काठ के पहाड, रतिगृह और दिन में विहार करने के गृह देखे । उस भवन में एक स्थान मन्दराचल की तरह विशाल था, जिस पर मोरों के रहने के स्थान बने हुए थे ॥३६॥३७॥३८॥

ध्वजयष्टिभिराकीर्णं ददर्श भवनोत्तमम् ।

अनन्तरत्नसंकीर्णं तिथिजालसमावृतम् ॥ ३९ ॥

और वहाँ ध्वजाएँ फहरा रही थी । कहीं पर रत्ना के डेर लगे हुए थे और कहीं पर विविध प्रकार का द्रव्य एकत्र था, (ऐसा सर्वश्रेष्ठ भवन हनुमान जी ने देखा) ॥३९॥

धीरनिष्ठितकर्मान्तं गृहं भूतपतेरिव ।

अचिभिशचापि रत्नाना तेजसा रावणस्य च ॥ ४० ॥

१ भूतपतेर्यंशेस्वरस्य वा (रा०), ब्राह्मण । (सि०)

विरराजाय तद्वेश्म रश्मिर्मानिव रश्मिभिः ।

जाम्बूनदमयान्येव शयनान्यासनानि च ॥ ४१ ॥

भाजनानि च शुभ्राणि ददर्श हरियूथपः ।

मध्वासवकृतबलेदं मणिभाजनसङ्कुलम् ॥ ४२ ॥

वही पर निर्भोक, स्थिरचित्त या एकाग्र मन राक्षस उन निधियो की रक्षा कर रहे थे। उस घर की शोभा ऐसी ही रही थी, जैसी कि, यक्षराज कुबेर के घर की होती है। रत्नों के प्रकाश और रावण के तेज से वह भवन ऐसा शोभित हो रहा था, जैसे सूर्य अपनी किरणों से शोभित होते हैं। वह पर हनुमान जी ने जरदोजी के काम के उत्तमोत्तम विस्तारे तथा आसन और चाँदी के स्वच्छ बरतन देखे। मद्य और आसव से वह घर परिपूर्ण था अर्थात् उस घर में मदिरा और आसवों का कीचड़ हो रहा था और जगह-जगह मणियों के बने [शराब पीने के] पात्र ढेर के ढेर इकट्ठे किए हुए थे ॥४०॥ ॥४१॥४२॥

मनोरमसम्बाधं कुबेरभवनं यथा ।

नूपुराणां च घोषेण काञ्चीनां नितदेन च ।

मृदङ्गतलघोषश्च घोषवद्भिर्विनादितम् ॥ ४३ ॥

उस घर में सब वस्तुएँ मनोहर और यथास्थान नियम से रखी हुई थीं। वह घर कुबेरभवन की तरह रमणीक था। कहीं नूपुरों की धम-धम, वहीं करधनियों की झनकार, कहीं मृदंग की गमक और कहीं ताल मुन पड़ता था। इस प्रकार के विविध शब्दों से वह घर नादित था ॥४३॥

प्रासादसङ्घातयुतं स्त्रीरत्नशतसंकुलम् ।

सुव्यूढकक्ष्यं हनुमान्प्रविवेश महागृहम् ॥ ४४ ॥

इति पष्ठः सर्गं ॥

१ पाठान्तरे—“मूहयानि ।”

भवन में अनेक अटारियाँ बनी हुई थीं, जिनमें सँकड़ो सुन्दरी स्त्रियाँ भरी पड़ी थी। उस भवन की ढधोढियाँ बड़ी मजबूत बनी हुई थी। ऐसे उस विशाल भवन में हनुमान जी गये ॥४४॥

सुन्दरकाण्ड का छठवाँ सर्ग पूर्ण हुआ ॥

—:०:—

सप्तमः सर्गः

[पुष्पक विमान वर्णन]

स वेश्मजालं बलवान्ददर्शं

व्यासक्तवैडूर्यसुवर्णजालम् ।

यथा महत्प्रावृषि मेघजालं

विद्युत्पिनद्धं सविहङ्गजालम् ॥ १ ॥

बलवान हनुमान जी उन घरो के समूहो को देखते चले जाते थे, जिनमें पत्थों के और सोने के झरोखे बने हुए थे। उन घरो की वैसी ही शोभा हो रही थी, जैसी शोभा वर्षाकालीन मेघो की बिजुली और बकपवित से होती है ॥ १ ॥

निवेशनानां विविधाश्च शालाः

प्रधानशङ्खायुधचापशालाः । " ४

मनोहराश्चापि पुनर्विशाला

ददर्शं वेश्माद्रिषु चन्द्रशालाः ॥ २ ॥

उस विशाल भवन के भीतर रहने, बैठने, सोने आदि के लिए विविध दालान और कोठे बने हुए थे। उन पर्वताकार भवन-समूह के ऊपर बनी हुई अटारियो को, (जिनको चन्द्रशाला भी कहते हैं) हनुमानजी ने देखा ॥ २ ॥

गृहाणि नानावसुराजितानि

देवासुरेश्चापि सुपूजितानि ।

सर्वेश्च दोषैः परिवर्जितानि

कपिवंदर्श स्ववर्लाजितानि ॥ ३ ॥ ।

विविध प्रकार के द्रव्यों से परिपूर्ण, क्या देवता, क्या असुर सब से पूजित (अर्थात् क्या देवता और क्या असुर सभी इनमें रहने को लाक्षापित रहते थे), समस्त दोषों से रहित और रावण के निज भुजबल से सम्पादित, इन भवनों को हनुमान जी ने देखा ॥ ३ ॥

तानि प्रयत्नाभिसमाहितानि

मयेन साक्षादिव निर्मितानि ।

महीतले सर्वगुणोत्तराणि

ददर्श लङ्काधिपतेर्गृहाणि ॥ ४ ॥

बड़े प्रयत्न और सावधानी से मानो साक्षान् मय नाम के दैत्य द्वारा निर्मित और इस भूमण्डल पर सब प्रकार से श्रेष्ठ, रावण के इन भवनों की हनुमान जी ने देखा ॥ ४ ॥

ततो ददर्शोच्छ्रितमेघरूपं

मनोहरं काञ्चनचारुरूपम् ।

रक्षोधिपत्यात्मवलानुरूपं

गृहोत्तमं ह्यप्रतिरूपरूपम् ॥ ५ ॥

ये अत्यन्त ऊँचे मेघाकार, मनोहर, सोने के बने राजसाराव रावण के बल के अनुरूप और अनुपम उत्तम भवन थे ॥ ५ ॥

महीतले स्वर्गमिव प्रकीर्णं

धिया ज्वलन्तं बहुरत्नकीर्णम् ।

नानातरूपां कुसुमावकीर्णं

गिरेरिवाग्रं रजसावकीर्णम् ॥ ६ ॥

ये भवन मानो पृथिवी पर उतरे हुए स्वर्ग के समान कान्तिमान् और विविध प्रकार के बहुत से रत्नों से भरे हुए थे । इन विविध प्रकार के रत्नों से भरे होने के कारण, वे धर पुष्पो और पुष्पराग से पूर्ण पर्वतशिखर जैसे जान पड़ते थे ॥ ६ ॥

नारीप्रवेकैरिव^१ दीप्यमानं

तडिद्भिरम्भोदवदन्व्यमानम् ।

हंसप्रवेकैरिव वाह्यमानं

श्रिया युतं खे सुकृतं विमानम् ॥ ७ ॥

राक्षसराज रावण का वह राजभवन श्रेष्ठ सुन्दरियों से वैसे ही जगमगा रहा था, जैसे बिजली से भेषघटा चमकती है अथवा पुष्पवान् जन का हंसयुक्त आकाशचारी विमान शोभायमान होता है ॥ ७ ॥

यथा नगाग्रं बहुधातुचित्रं

यथा नभश्च ग्रहचन्द्रचित्रम् ।

ददर्श युवतीकृतमोघचित्रं

विमानरत्न^३ बहुरत्नचित्रम् ॥ ८ ॥

जैसे अनेक रंग बिरंगे धातुओं से पर्वतशिखर को शोभा होती है अथवा जैसे चन्द्रमा और ग्रहों से भूषित आकाश और जैसे नाना रंगों से युक्त मेघों की घटा शोभित जान पड़ती है, वैसे ही रत्नजटित रावण का विचित्र पुष्पक नामक विमान हनुमानजी ने देखा ॥ ८ ॥

मही^४ कृता पर्वतराजिपूर्णा

शैलाः कृता वृक्षवितानपूर्णाः ।

१ नारीप्रवेकै—नारीश्रेष्ठै । (गो०) २ पाठान्तरे—“सुकृता ।”

३ विमानरत्न—पुष्पक । (गो०) ४ मही—यत्रपुष्पके मही अनेकजनानामाधार-स्थानं (रा०) ५ पर्वतराजिपूर्णा—चित्ररूपेणालिखिता । [गो०]

वृक्षाः कृताः पुष्पवितानपूर्णाः

पुष्पं कृतं केसरपत्रपूर्णम् ॥ ९ ॥

इस विमान में अनेक जनों के बैठने की जो जगह (डेक) थी वह विश्व विचित्र चित्रकारी से चित्रित थी । उनमें नवली बँठकें, पर्वतों पर बनायी गयी थीं । उन पर्वतों के ऊपर नवली वृक्षों की छाया की हुई थी । वे वृक्ष खिले हुए फूलों से लदे हुए थे और उन पुष्पों से पराग झरा करता था ॥९॥

कृतानि वेश्मानि च पाण्डुराणि

तथा सुपुष्पाप्यपि पुष्कराणि ।

पुनश्च पद्मानि सकेसराणि

धन्यानि चित्राणि तथा वनानि ॥ १० ॥

उस विमान में सफेद रंग के बहुत से घर भी बने हुए थे । उन घरों में सुन्दर पुष्पयुक्त पुष्करिणी भी थी । उन पुष्करिणियों में पराग सहित कमल के फूल खिल रहे थे । उन घरों में ऐसी चित्रकारियाँ की गई थीं जो घराहने योग्य थीं तथा जो उपवन बनाये गये थे वे भी देखते ही बन आते थे ॥१०॥

पुष्पाह्वयं नाम विराजमानं

रत्नप्रभाभिश्च विवर्धमानम् ।

वेश्मोत्तमानामपि चोत्तमानं

महाकपिस्तत्र महाविमानम् ॥ ११ ॥

हनुमान जो ने वहाँ उस बड़े पुष्पक नामक विमान को देखा, जो रत्नों की प्रभा से दमक रहा था और ऊँचे से ऊँचे नवनो से भी बड़ कर ऊँचा था ॥११॥

कृताश्च वैडूर्यमया विहङ्गा

रूप्यप्रचालैश्च तथा विहङ्गाः ।

चित्राश्च नानावसुभिर्भुजङ्गा

जात्यानुरूपास्तुरगाः शुभाङ्गाः ॥ १२ ॥

उस विमान में पन्नो के, चांदी के और मूंगों के पक्षी और रंग बिरंगी धातुओं के बने हुए सर्प तथा उत्तम जाति के उत्तम भ्रमों वाले घोड़े भी बनाये गये थे ॥१२॥

प्रवालजाम्बूनदपुष्पपक्षाः।

सलीलमावर्जितजिह्वपक्षाः :

कामस्य साक्षादिव भान्ति पक्षाः

कृता विहङ्गाः सुमुखाः सुपक्षाः ॥ १३ ॥

पक्षियों के पंरों पर मूंगों और सोने के फूल बने हुए थे । ये पक्षी अपने आप अपने पंखों को सपेटते और पसरते थे । उन पक्षियों के पर ब चौंके बड़ी सुन्दर थी । पक्ष तो उनके कामदेव के पक्षों की तरह सुन्दर थे ॥१३॥

नियुज्यमानास्तु गजाः सुहस्ताः

सकेसराश्चोत्पलपत्रहस्ताः

बभूव देवी च कृता सुहस्ता

लक्ष्मीस्तथा पद्मिनि पद्महस्ता ॥ १४ ॥

इनके अतिरिक्त कमलयुक्त तालाब में, कमल के फूल को हाथ में लिए लक्ष्मीजी और उनका अभिषेक करने में नियुक्त सुन्दर सूँडे वाले हाथी, जिनकी सूँडों में केसर सहित कमल के पुष्प थे, बने हुए थे ॥१४॥

इतीव तद्गृहमभिगम्य शोभनं

सविस्मयो नगमिव चारुशोभनम् ।

पुनश्च तत्परमसुगन्धि सुन्दरं ॥

हिमात्यये नगमिव चारुकन्दरम् ॥ १५ ॥

हनुमान जी विस्मययुक्त हो सुन्दर कन्दरा की तरह शोभित स्थानों से युक्त उस भवन में गये । फिर यह भवन वसन्त श्रुत होने के कारण सुगन्धित खोइर युक्त वृक्ष की तरह सुवासित हो रहा था ॥१५॥

ततः स तां कपिरभिपत्य पूजितां
 चरन्पुरीं दशमुखबाहुपालिताम् ।
 अदृश्य तां जनकसुतां सुपूजितां
 सुदुःखितः पतिगुणवोगनिजिताम् ॥ १६ ॥

हनुमानजी उस दशमुख रावण की भूषाओं से रसित, लकापुरी में घूमे फिरे । किन्तु सुपूजिता एव पति के गुणों पर मूढा जानकीजी उनकी दिललाई न पड़ी, अतः वे अत्यन्त दुःखी हुए ॥१६॥

ततस्तदा' बहुविधभावितात्मनः
 कृतात्मनो' जनकसुता सुवर्त्मनः' १
 अपश्यतोऽभवदतिदुःखितं मनः
 सुचक्षुषः* प्रविचरतो महात्मनः ॥ १७ ॥

इति सप्तमः सर्गः ॥

तब अनेक चिन्तार्यों से युक्त, सुन्दर नीति मार्ग-दर्शी, एक बार देवने से ही वस्तु का बीजा बकुना तक जान लेने वाले, धैर्यवान् हनुमानजी, अनेक प्रयत्न करने पर भी घोर बहुल खोजने पर भी, जब सीता को न देख सके, तब वे दुःखी हुए ॥१७॥

सुन्दरकाण्ड का सातवाँ सर्ग पूरा हुआ

— ० —

१ बहुविधभावितात्मन -- बहुचिन्तान्वितस्य । (रा०) २ कृतात्मनो-
 कृतप्रयत्नस्य । (रा०) ३ सुवर्त्मन -- शोभननीतिमार्गदर्शिन इत्यर्थः ।
 ४ सुचक्षुषु -- सहृदालो हनेन द्रष्टव्य सर्वैकरततामलकवशादारकुं क्षमस्य ।
 (रा०)

अष्टमः सर्गः

[पुन पुष्पक-विमान-वर्णनम्]

स तस्य मध्ये भवनस्य संस्थितं
महद्विमानं 'बहुरत्नचित्रितम् ।
प्रतप्तजाम्बूनदजालकृत्रिमं
ददर्श वीरः पवनात्मजः कपिः ॥ १ ॥

रावण के राजभवन में रखे हुए पुष्पक विमान को, जिसमें बढिया सुवर्ण के बने झरोखे थे और जिनमें जगह-जगह रत्नविरगे बहुत से रत्न जड़े हुए थे, पवननन्दन वीर हनुमान ने देखा ॥१॥

तदप्रमेयाप्रतिकारकृत्रिमं

कृतं स्वयं साध्विति विश्वकर्मणा ।
दिवं गतं वायुपथे प्रतिष्ठितं
व्यराजतादित्यपथस्य लक्ष्मवत् ॥ २ ॥

वह अनुपम सुन्दरता युक्त था । उसमें कृत्रिम प्रतिमाएँ बनायी गयी थीं । उसे विश्वकर्मा ने स्वयं ही अनेक प्रकार से सजाया था । वह आकाश में चलने में प्रसिद्ध था और सूर्य के पथ का एक प्रसिद्ध चिह्न सा था ॥२॥

न तत्र किञ्चिन्न कृतं प्रयत्नतो
न तत्र किञ्चिन्न महार्घरत्नवत् ।
न ते विशेषा नियताः सुरेष्वपि
न तत्र किञ्चिन्न महाविशेषवत् ॥ ३ ॥

उस विमान में ऐसी कोई वस्तु न थी जो परिश्रमपूर्वक न बनायी गयी हो । और उसका कोई भाग ऐसा न था जो मूल्यवान् रत्नों से न बनाया

१ पाठान्तरे—“मणिवज्रचित्रितम्” वा ‘मणिरत्नचित्रितम् ।”

गया हो । उसका एक भी भाग ऐसा न था जिसमें कुछ न कुछ विशेष कारी गरी न हो । पुष्पक में जैसी कारीगरी थी, वैसी कारीगरी देवताओं के विमानों में भी देखने में नहीं आती थी ॥३॥

तपः समाधानपराक्रमाजितं

मनःसमाधानविचारचारिणम् ।

अनेकसंस्थानविशेषनिर्मितं

ततस्ततस्तुल्यविशेषदर्शनम् ॥ ४ ॥

रावण ने एकाग्रचित्त हो तप करके जो बल प्राप्त किया था उसीके सहारे उसने यह पुष्पक विमान सम्पादन किया था । वह विमान सकल्प मात्र ही से यथेच्छ स्थान में पहुँचा देता था । इसमें बहुत सी बैठकें विशेष रूप की बनायी गयी थी । इसी से वे उक्त विमान के अनुरूप विशेष प्रकार की भी थीं ॥४॥

मनः समाधाप तु शीघ्रगामिनं

दुरावरं मारुततुल्यगामिनम् ।

महात्मनां पुण्यकृतां' मर्त्तस्विनां

यशस्विनामप्र्यमुदामिवालयम् ॥ ५ ॥

वह अपने स्वामी की इच्छा के अनुसार अभीष्ट स्थान पर तुरन्त पहुँच जाता था । उसकी चाल वायु की तरह बड़ी तेज थी । चलते समय इसकी कोई नहीं रोक सकता था । महात्मा, पुण्यात्मा बड़े समृद्धिशाली और यशस्वी लोगों के लिए तो यह मानो भ्रान्त का घर ही था ॥५॥

विशेषमालम्ब्य विशेषसंस्थितं

विचित्रकूटं बहुकूटमण्डितम् ।

मनोभिरामं शरदिन्दुनिर्मलं

विचित्रकूटं शिवरं गिरेयंथा ॥ ६ ॥

१ पाठान्तरे—“महर्दिना”, “महर्दिना ।”

यह विमान विशेष विशेष चालो के अनुसार, आकाश में घमता था । उसमें विविध प्रकार को अनेक वस्तुएं भरी थी । उसमें बहुत से कमरे थे । प्रतिशय मनोरम, शरत्कालीन चन्द्रमा की तरह निर्मल, विचित्र शिखरों से भूषित, तथा विचित्र शिखर से युक्त पर्वत की तरह वह जान पड़ता था ॥६॥

वहन्ति यं कुण्डलशोभितानना
महाशना व्योमचराः निशाचराः-
विवृतविध्वस्तविशाललोचना
महाजवा भूतगणाः सहस्रशः ॥ ७ ॥

इस विमान को चलाने वाले विशालकाय आकाशचारी निशाचर थे । उनके मुख कुण्डलो से मुशोभित थे । गोल, टेढ़े और विशाल नेत्रो वाले तथा महावेगवान हजारो भूतगण थे ॥७॥

वसन्तपुष्पोत्करचारुदर्शनं
वसन्तमासादपि कान्तदर्शनम् ।
स पुष्पकं तत्र विमानमुत्तमं
ददर्श तद्धानरवीरसत्तमः ॥ ८ ॥

इति अष्टम सर्गं ॥

वानरश्रेष्ठ हनुमानजी ने वसन्त कालीन पुष्पो के ढेर से युक्त और वसन्तऋतु से भी अधिक सुन्दर एव देखने योग्य वह श्रेष्ठ पुष्पक विमान देखा ॥८॥

सुन्दरकाण्ड का आठवाँ सर्ग पूरा हुआ

-- ० --

१ विवृतानि—वर्तुलानि । (गो०) रविवस्तानि—भुग्नानि । (गो०)

नवमः सर्गः

तस्यालयवरिष्ठस्य मध्ये विपुलमायतम् ।

ददर्श भवनश्रेष्ठं हनुमान्मारुतात्मजः ॥ १ ॥

उस उत्तम राजभवन के भीतर एक स्वच्छ साफ भौर लम्बा चौड़ा भवन पवननन्दन हनुमानजी ने देखा ॥१॥

अर्धयोजनविस्तीर्णमायतं योजनं हि तत् ।

भवन राक्षसेन्द्रस्य बहुप्रासादसङ्कुलम् ॥ २ ॥

रावण के भवन की चौड़ाई आधे योजन की भौर लम्बाई एक योजन की थी । उसमें बहुत सी भटारियाँ थी ॥२॥

मार्गमाणस्तु वैदेहीं सीतामायतलोचनाम् ।

सर्वतः परिचक्राम हनुमानरिसूदनः ॥ ३ ॥

रामहस्ता हनुमानजी विशाल भेत्र वाली सीता को ढूँढते हुए उस भवन में सर्वत्र घूम ॥३॥

उत्तमं राक्षसादासं हनुमानवलोकयन् ।

आससादाथ लक्ष्मीवान्राक्षसेन्द्रनिवेशनम् ॥ ४ ॥

हनुमान जी राक्षसों के उत्तम गृहों को देखते हुए, रावण के राजभवन में पहुँचे ॥४॥

चतुर्विपाणैर्द्विरदैस्त्रिविपाणैस्तथैव च ।

परिक्षिप्तमसंवाधं रक्ष्यमाणमुदायुधैः ॥ ५ ॥

वह राजभवन चार भौर तीन दाँतो वाले हाथियों से व्याप्त था । हाथियार हाथ में लिये राक्षस सदा इसकी रखवाली किया करते थे ॥५॥

राक्षसीभिश्च पत्नीभो रावणस्य निवेशनम् ।

आहृताभिश्च विक्रम्य राजकन्याभिरावृतम् ॥ ६ ॥

वहाँ अनेक सुन्दरी राजसी जो रावण की पत्नी थीं तथा अनेक राज-
कन्याएँ जिनको रावण बरजोरी छीन लाया था, उन भवन में, ॥६॥

तन्नक्रमकराकीर्णं तिमिङ्गलक्षपाकुलम् ।

वायुवेगसमाधूतं पन्नगरिव सागरम् ॥ ७ ॥

वह भवन मानो नाको, तिमिङ्गल-मत्स्यो के समूह और सर्पों से
परिपूर्ण, वायु के वेग से उफनाते हुए समुद्र की तरह, जान पड़ता था
॥७॥

या हि वैश्रवणे लक्ष्मीर्या चेन्द्रे हरिवाहने ।

सा रावणगृहे रम्या नित्यमेवानपायिनी ॥ ८ ॥

कुबेर, चन्द्रमा व इन्द्र के भवन में जैसी लोभा देख पड़ती है, वैसी ही
नाशरहित अथवा सदैव बनी रहने वाली शोभा, रावण के भवन की सदा बनी
रहती थी ॥८॥

या च राज्ञः कुबेरस्य यमस्य बरुणस्य च ।

तादृशो तद्विशिष्टा वा ऋद्धी रक्षोगृहेष्विह ॥ ९ ॥

राजा कुबेर, यम और बरुण के घर में जितना धन रहता है, रावण के घर
में उतना ही अथवा उससे भी अधिक था ॥९॥

तस्य हर्म्यस्य मध्यस्थं वेश्म चान्यत्सुनिर्मितम् ।

बहुनिर्यूहसङ्घोर्णं ददर्श पवनात्मजः ॥ १० ॥

उस भवन के बीच में एक और सुन्दर भवन बना हुआ था, जिसमें
मतवाले हाथी के आकार के अनेक स्थान बने हुए थे, उसे हनुमान जी ने
देखा ॥१०॥

ब्रह्मणोऽर्थे कृतं दिव्यं दिवि यद्विश्वकर्मणा ।

विमानं पुष्पकं नाम सर्वरत्नविभूषितम् ॥ ११ ॥

परेण तपसा लेभे यत्कुबेरः पितामहात् ।

कुबेरमोजसा जित्वा लेभे तद्राक्षसेश्वरः ॥ १२ ॥

स्वर्ग में विश्वकर्मा ने जिस दिव्य एव सर्वरत्नविभूषित पुष्पक विमान को बनाया और जो कुबेर को बड़ी तपस्या करने के बाद ब्रह्माजी से प्राप्त हुआ था, उस विमान को अपने बाहुबल से कुबेर को जीत, रावण ने उनसे छीन लिया था ॥११॥१२॥

ईहामृगसमायुक्तं: कार्तस्वरहिरण्यैः ।

सुकृतंराचितं स्तम्भैः प्रदीप्तमिव च श्रिया ॥ १३ ॥

सोने चाँदी के काम से युक्त, मृगों (वनजन्तुओं) के आकार के खिलौनों से भरा हुआ, सुडौल स्तम्भों से और अपनी शोभा से वह चमचमा रहा था ॥१३॥

मेरुमन्दरसंकाशंरालिखद्भिरिवाम्बरम् ।

कूटागारैः शुभाकारैः सर्वतः समलङ्कृतम् ॥ १४ ॥

वह सुमेरु और मन्दराचल पर्वत की तरह आकाशस्पर्शी था तथा सुन्दर बने हुए तहखानों से भूषित था ॥१४॥

ज्वलनार्कप्रतीकाशं सुकृतं विश्वकर्मणा ।

हेमसोपानसंयुक्तं चारुप्रवरवेदिकम् ॥ १५ ॥

वह अग्नि और सूर्य के सदृश चमकीला था तथा विश्वकर्मा ने उसे बहुत अच्छी तरह बनाया था । उसमें सोने की सीढियाँ और मनोहर चबूतरे बने हुए थे ॥१५॥

जालवातायनैर्युक्तं काञ्चनैः स्फाटिकैरपि ।

इन्द्रनीलमहानीलमणिप्रवरवेदिकम् ॥ १६ ॥

विद्रुमेण विचित्रेण मणिभिश्च महाधनैः ।

निस्तुलाभिश्च मुक्ताभिस्तलेनाभिविराजितम् ॥१७॥

हवा व रोगनों के लिए उसमें सोने और स्फटिक के झरोखे अथवा लिङ्कियाँ थी । उसका कोई कोई भाग इन्द्रनील और महानील मणियों के मत्तों या चबूतरों से सुसोभित था और वहीं-कहीं उनमें नाना प्रकार के मूंगे, महा-

मूल्य मणि और गोल मोती जड़े थे । उसका फर्य प्रति उत्तम सफेद धस्तरकारी
बैसा जान पड़ता था ॥१६॥१७॥

चन्दनेन च रक्तेन तपनीयनिभेन च ।

सुपुण्यगन्धिना युक्तमादित्यतरुणोपमम् ॥ १८ ॥

उसका कोई कोई भाग सफेद चन्दन से और कोई भाग लाल चन्दन से
और कोई कोई सोने के सनात भटनन्त पवित्र गन्धयुक्त काष्ठ से बना था ।
उसकी चमक मध्याह्न के सूर्य की तरह थी ॥१८॥

कूटागारैर्वेराकारैर्विविधैः समलङ्कृतम् ।

विमानं पुष्पकं दिव्यमारुरोह महाकपिः ॥ १९ ॥

वह पुष्पक विमान उत्तम आकार के विविध गुप्तगृहों से भूषित था ।
हनुमानजी उस उत्तम पुष्पक विमान पर चढ़ गए ॥१९॥

तत्रस्थः स तदा गन्धं पानभक्ष्यान्नसंभवम् ।

दिव्यं संमूर्च्छितं जिघृक्षुर्हृषवन्तमिवानिलम् ॥ २० ॥

वहाँ चारों ओर से पेय और भक्ष्य पदार्थों की दिव्य सुगन्धि आने
लगी । उसे उन्होंने सूँघा । वह सुगन्धि बड़ी उत्तम थी । वहाँ के सर्वत्रय्याप्त
वानु ने मानों साक्षात् गन्ध का रूप ही धारण कर लिया था ॥२०॥

स गन्धस्तं महासत्त्वं वन्द्युर्बन्धुमिवोत्तमम् ।

इत एहीत्युवाचैव तत्र यत्र स रावणः ॥ २१ ॥

एक भाई बिना प्रकार अपने दूसरे भाई को बुलावे; उसी प्रकार वह
गन्ध मानों हनुमान जी को वहाँ बुलाने लगा, जहाँ रावण था ॥२१॥

ततस्तां प्रास्थितः शालां ददर्श महतीं शुभाम् ।

रावणस्य मनः कान्तां कान्तामिव वरस्त्रियम् ॥ २२ ॥

वहाँ जाते हुए हनुमानजी ने वह विशाल शाला देखी, जो रावण को उत्तम
स्त्री की तरह प्यारी थी ॥२२॥

मणिसोपानविकृतां हेमजालविराजिताम् ।

स्फाटिकैरावृततलां दन्तान्तरितरूपिकाम् ॥ २३ ॥

मुक्ताभिश्च प्रवालैश्च रूप्यचामीकरैरपि ।

विभूषिता मणिस्तम्भैः सुबहुस्तम्भभूषिताम् ॥ २४ ॥

वह शाला अत्यन्त रमणीक थी, अत्यन्त स्वच्छ मणियों की सीढ़ियों से सुशोभित थी और सोने की बनी जलियों से युक्त थी । स्फटिक मणियाँ उसके फर्श में जड़ी थी, उस पर हाथीदांत की कारीगरी हो रही थी, उसमें जहाँ तहाँ चित्र सजाये गये थे और मोती, हीरा, मूँगा, रूपा, सुवर्ण से युक्त थी । वह अनेक मणि के स्तम्भों से विभूषित थी ॥२३॥२४॥

सुमैत्रं जुभिरत्युच्चैः समन्तात्सुविभूषितैः ।

पक्षरिवात्युच्चैर्दिवं संप्रस्थितामिव ॥ २५ ॥

वह सुमेरु के समान ही प्रायः सभी स्तम्भे समान, सीधे और ऊँचे थे । ऐसे स्तम्भे उस शाला के चारों ओर बने हुए थे । उन पक्ष जैसे अत्यन्त ऊँचे स्तम्भों से मानों उड़ने लगे थे । उन पक्ष जैसे अत्यन्त ऊँचे स्तम्भों से मानों उड़ने लगे थे ॥२५॥

हेमसो कथयाऽऽस्तीर्णां पृथिवीलक्षणाङ्गुया ।

वह मणिमिव विस्तीर्णां सराष्ट्रगृहमालिनीम् ॥ २६ ॥

बहुत अच्छी की तरह चौरस चौकोना फर्श, जिसमें हीरा आदि मणियाँ चबूतरे बने हुए बँधी थी । यह रावण की केवल शयन शाला ही नहीं थी, जालवाती घरो सहित दूसरी सभी चौड़ी पृथिवी ही के समान इन्द्रनीलमहा

विद्रुमेण विविहगैर्दिव्यगन्धाधिवासिताम् ।

निस्तुलाभिश्च गन्धैश्च रक्षोधिपनिषेविताम् ॥ २७ ॥

हवा व रोशनो के लिए कूज से कूजित और दिव्य सुगन्धित द्रव्यों से किरी थी । उसका कोई कोई कोने पर रावण सो रहा था ॥२७॥ या चबूतरों से सुशोभित था और ५

धूम्रामगुरुधूपेन विमलां हंसपाण्डुराम् ।

चित्रां पुष्पोपहारेण^१ कल्माषीमिव सुप्रभाम् ॥ २८ ॥

वह शयनशाला भ्रगर के घौने वर्ण के धुएँ से घौने रग के हंस की तरह सकेद रग जैसो जान पडती थी । वह पुत्रो और पत्रो की सजावट से सब मनोरयो को पूरा करने वाली वसिष्ठ की सबला गी की तरह सुन्दर प्रमा-
युक्त ॥२८॥

मनःसंह्लादजननीं वर्णस्यापि प्रसादिनीम् ।

तां शोकनाशिनीं दिव्यां श्रियः सञ्जननीमिव ॥२९॥

हृदय को आनन्दित करने वाली, शरीर के रङ्ग को सुन्दर बनाने वाली, समस्त शोको को दूर भगाने वाली और दिव्य शोभा को उत्पन्न करने वाली थी ॥२९॥

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थैश्च पञ्च पञ्चभिरुत्तमैः ।

तर्पयामास मातेव तदा रावणपालिता ॥ ३० ॥

उस समय हनुमानजी की आँख, कान, नाक आदि पाँचो ज्ञानेन्द्रियो को, रूपादि पाँचो उत्तम विषयो से, माता की तरह रावण की शयनशाला ने तुष्ट किया ॥३०॥

स्वर्गोऽयं देवलोकोऽयमिन्द्रस्येयं पुरी भवेत् ।

सिद्धिर्वेयं परा हि स्यादित्यमन्यत मारुतिः ॥ ३१ ॥

उस समय हनुमानजी ने मन में समझा कि, यह शयनशाला नहीं, किन्तु यह साक्षात् स्वर्ग है, देवलोक है, इन्द्र की अमरावतीपुरी है अथवा कोई उत्कृष्ट सिद्धि है ॥३१॥

प्रध्यायत इवापश्यत्प्रदीपांस्तत्र काञ्चनान् ।

धूर्तानिव महाधूर्तदेवनेन पराजितान् ॥ ३२ ॥

१ कल्माषी—शबलवर्णा, वसिष्ठधेनुमिव । (रा०) ० पाठान्तरे—
“प्रसादिनीम् १”

वहाँ पर सोने के दीपों ऐसे स्थिर जल रहे थे, मानों महाप्रवृत्तियों से जू में हारे हुए धूलें लोग बैठे शोक मना रहे हों ॥३२॥

दीपानां च प्रकाशेन तेजसा रावणस्य च ।

अर्चिभिर्भूषणानां च प्रदीप्तैत्यभ्यमन्यत ॥ ३३ ॥

उस समय दीपों के जजियाले थे, रावण के तेज से और नूपरों की चमक से वह घर दमक रहा था ॥३३॥

ततोऽपश्यत्कुथासीनं नानावर्णाम्बररत्नजम् ।

सहस्रं वरनारीणां नानावेषविभूषितम् ॥ ३४ ॥

फिर हनुमानजी ने देखा कि, रात हो जाने से विविध प्रकार के वस्त्रों और फूलमालाओं से सजी, हजारों सुन्दरी स्त्रियाँ तरह तरह के शृंगार बिभे हये उत्तम बिद्धीनों पर पड़ी (बेहोश सो रही) हैं ॥३४॥

परिवृत्तेऽर्धरात्रे तु पाननिद्रावशं गतम् ।

क्रीडित्वोपरतं रात्रौ मुष्ट्वाप बलवत्तदा ॥ ३५ ॥

भावी रात ढल जाने पर वे सब सुन्दरियाँ शराब पीने के कारण, नींद के बंध हों और विहार से निवृत्त हो, सो रही थीं ॥३५॥

तत्प्रसुप्तं विरुरुचे निःशब्दान्तरभूषणम् ।

निःशब्दहंसभ्रमरं यथा पद्मवर्नं महत् ॥ ३६ ॥

इस प्रकार सब के सो जाने से और विद्यवे पायजंब घादि की सनकार का शब्द बन्द हो जाने से रावण की वह शयनशाला भ्रमरी के गुंजार और हंसों की ध्वनि से रहित, बड़े भारी कमलवन की तरह शोभायमान हो रही थी ॥३६॥

तासां संवृतदन्तानि भीलिताक्षीणि मारुतिः ।

अपश्यत्पद्मगन्धीनि वदनानि सुयोपिताम् ॥ ३७ ॥

तदनन्तर हनुमानजी ने परम सुन्दरी ललनाओं की मुँदी बत्तीखी और मुँदी भाँखें और कमल की सुगन्धि से युक्त वदनमण्डल देखे ॥३७॥

प्रबुद्धानीव पद्मानि तासां भूत्वा क्षपाक्षये ।

पुनः संवृतपत्राणि रात्राविव बभुस्तदा ॥ ३८ ॥

उन स्त्रियों के ऐसे मुखमण्डल रात व्यतीत होने पर कमल के फूलों की तरह प्रफुल्लित हो कर, फिर रात होने पर मुकुलित कमल की तरह, बड़े सुन्दर जान पड़ते थे । अथवा हनुमानजी ने विचार कि, उन स्त्रियों के मुख कमल समान हैं । क्योंकि जिस प्रकार दिन में कमल खिल जाते हैं वैसे ही ये मुख भी खिल रहे हैं और रात्रि में जैसे वे कली के रूप में हो जाने हैं वैसे ही ये भी मुँद रहे हैं । गन्ध में भी ये दोनों समान ही हैं । अतः इन स्त्रियों के मुखमण्डल और कमल में कुछ भी अन्तर नहीं है ॥३८॥

इमानि मुखपद्मानि नियतं मत्तपट्पदाः ।

अम्बुजानीव फुल्लानि प्रार्थयन्ति पुनः पुनः ॥ ३९ ॥

फिर मतबारे भौरे खिले हुए कमल की तरह हो, इन मुखकमलों की बार बार अनिलाया किया करते हैं ॥३९॥

इति चामन्यत श्रीमानुपपत्त्या महाकपिः ।

मेने हि गुणतस्तानि समानि सलिलोद्भवैः ॥ ४० ॥

इस प्रकार सोच विचार कर हनुमानजी ने उन सुन्दरियों के मुखकमलों का और जलोत्पन्न कमलपुष्प का सादृश्य माना ॥४०॥

सा तस्य शुशुभे शाला ताभिः स्त्रीभिर्विराजिता ।

शारदीव प्रसन्ना द्यौस्ताराभिरभिशोभिता ॥ ४१ ॥

अस्तु रावण की रायनशाला, इन सब लसनामो से शरत्काल के ताराओं से मण्डित निर्मल आकाश की तरह शोभायमान हो रही थी ॥४१॥

स च ताभिः परिवृतः शुशुभे राक्षसाधिपः ।

यथा ह्युडुपतिः श्रीमांस्ताराभिरभिसंवृतः ॥ ४२ ॥

उसी प्रकार रावण स्वयं भी उन स्त्रियों के बीच रहने से तारागण युक्त चन्द्रमा की तरह सुशोभित हो रहा था ॥४२॥

याश्च्यवन्तेऽम्बरात्ताराः पुण्यशेषसमावृताः ।

इमास्ताः सङ्गताः कृत्स्ना इति मेने हरिस्तदा ॥४३॥

जो तारा पुण्यशील हाने पर प्राकान मे गिरते हैं, वे ही सब तारा स्त्रीरूप हो कर रावण के पास इकट्ठे हुये है ॥४३॥

ताराणामिव सुव्यवतं महतीनां शुभाचिषाम् ।

प्रभा वर्णप्रसादाश्च विरेजुस्तत्र योपिताम् ॥ ४४ ॥

क्योकि सुन्दर प्रकाश युक्त और विशाल तारो ही की तरह उन स्त्रियो की धमक, रूप और प्रसन्नता देख पडती थी ॥४४॥

व्यावृत्तगुरुपीनलवप्रकोर्णवरभूषणाः ।

पानव्यायामकालेषु निद्रोपहृतचेतसः ॥ ४५ ॥

उनमें से बहुत सी स्त्रियो वे बाल और फूलों के हार टेढ़े-मेढ़े हो गए थे और वदिया वदिया गहने बिलखे हुए पडे थे । क्योकि मद्यपान करने और गाने नाचने के परिश्रम से थक कर वे सब निद्रा के वश हो गई थी ॥४५॥

व्यावृत्ततिलकाः काश्चित्काश्चिदुद्भ्रान्तनूपुराः ।

पाश्वर्षे गलितहाराश्च काश्चित्परमयोपितः ॥ ४६ ॥

उनमें से किसी के माथे के तिलक मिट गए थे, किसी के नूपुर उल्टे सीधे हो गए थे और किसी किसी के टूटे हुए हार उसके पास पडे हुये थे ॥४६॥

मुक्ताहारावृताश्चान्याः काश्चिद्विलस्तवाससः ।

व्याविद्धरशनाद्यामाः किशोर्य इव बाहिताः ॥ ४७ ॥

किमी किमी के मोतियो के हार टूट गए थे, किसी के कपडे उसके शरीर से ढीले हो खिसक पडे थे, किसी की करधनी कमर के नीचे खसक पडी थी । वे स्त्रियो धकी हुई और बोन उतारी हुई घोड़ियो की तरह अपने गहनों को छपर उचर पटक शयन कर रही थी ॥४७॥

सुकुण्डलधराश्चान्या विच्छिन्नमृदितलजः ।

गजेन्द्रमृदिताः फुल्ला लता इव महावने ॥ ४८ ॥

अनेक स्त्रियो के कानो के कुण्डल गिर पड़े थे, मालाएँ टूट गई थीं और रगड़ खा गई थी—मानो हाथियो से रौंदी हुई पुष्पलताएँ महावन में पड़ी हों ॥४८॥

चन्द्रांशुकिरणाभाश्च हाराः कासांचिदुत्कटाः ।

हंसा इव बभुः सुप्ताः स्तनमध्येषु योषिताम् ॥ ४९ ॥

किमी किमी के चन्द्रमा की किरणा की तरह सफेद मोती के हार, बटुर कर स्तनो के बीच में जा ऐसी शोभा दे रहे थे, मानो हंस सोते हो ॥४९॥

अपरासां च वैडूर्याः कादम्बा इव पक्षिणः ।

हेमसूत्राणि चान्यासां चक्रावाका इवाभवन् ॥ ५० ॥

अन्य स्त्रिया के पनो के हार स्तना के बीच में जलकाक की तरह शोभा दे रहे थे और अन्य स्त्रिया के सोने के हार सिमिट कर स्तनो के बीच चकवा चकवी की तरह जान पड़ते थे ॥५०॥

हंसकारण्डवाकीर्णश्चक्रवाकोपशोभिताः ।

आपगा इव ता रेजुर्जघनैः पुलिनैरिव ॥ ५१ ॥

इसलिये वे सब स्त्रियाँ हंस कारण्डव पक्षिया सहित और चक्रवाको से शोभित नदियो की तरह तट रूमी जघाघो से शोभायमान हो रही थी ॥५१॥

किङ्किणोजालसङ्कोशास्ता वनविपुलाम्बुजाः ।

भावप्राहा यशस्तीराः सुप्ता नद्य इवावभुः ॥ ५२ ॥

उन स्त्रियो के किङ्किणियो के समूह, सुवर्ण कमल की तरह जान पड़ते थे । उनकी विलास भावनाएँ प्राह के तुल्य थी । उनके विविध गुण तट के

१ पाठान्तरे—“हेम विपुलाम्बुजा ।” “वक्रकनकावुजा वा ।”

समान थे । वे सोती हुई स्त्रियाँ इस प्रकार नदी की तरह शोभायमान जान पड़ती थी ॥५२॥

मृदुष्वङ्गेषु कासांचित्कुचाग्रेषु च संस्थिताः ।

‘वभूवभ्रमराणीव शुभा भूषणराजयः ॥ ५३ ॥

किसी किसी स्त्री के मुकामल अङ्गों में और किसी किसी के स्तनों के अग्रभाग में, आभूषणों की खरोंब भी भौरे की तरह शोभा दे रही थी ॥५३॥

अंशुकान्ताश्च कासांचिन्मुखमास्तकम्पिताः ।

उपर्युपरि वक्राणां व्याधूयन्ते पुनः पुनः ॥ ५४ ॥

किसी किसी स्त्री के वस्त्र के अञ्चल उसके मुख पर लटक रहे थे और मुख से निकली हुई श्वास से बारम्बार हिल कर अति शोभा दे रहे थे ॥५४॥

ताः पताका इवोद्धृताः पत्नीनां रुचिरप्रभाः ।

नानावर्णाः सुवर्णानां वक्रमूलेषु रेजिरे ॥ ५५ ॥

वे रंग विरगे ऊरदोड़ी के वस्त्र जो बहुत चमक रहे थे, जब श्वास के पवन से हिलते थे, तब वे पताका की तरह फहराते हुये जान पड़ते थे ॥५५॥

वधलगुश्चात्र कासांचित्कुडलानि शुभार्चियाम् ।

मुखमास्तसंसर्गान्मन्दं मन्दं स्म योयिताम् ॥ ५६ ॥

किसी किसी के कानों के कुण्डल मुख के पवन से धीरे धीरे हिलने लगते थे ॥५६॥

शर्करासवगन्धश्च प्रकृत्या सुरभिः सुखः ।

तासां वदननिःश्वासः सिधेवे रावणं तदा ॥ ५७ ॥

१ पाठान्तरे—‘वभूवभ्रपणानीव ।’

उन स्त्रियों की स्वाभाविक सुगन्धियुक्त एव स्पर्श करने से सुखदायी, मुख से निकली हुई साँसों का पवन, शर्करासव मद्य से और भी अधिक सुगन्धित हो, रावण को सुख उपजा रहा था ॥५७॥

रावणाननशङ्काश्च काश्चिद्रावणयोपितः ।

मुखानि स्म सपत्नीनामुपाजिघ्रन्पुनः पुनः ॥ ५८ ॥

रावण की कोई कोई स्त्री अपनी सौते के मुख को, रावण के मुख के अन्न से, बार बार सूँघ रही थी ॥५८॥

अत्यर्थं सवतमनसो रावणे ता वरस्त्रियः ।

अस्वतन्त्राः सपत्नीनां प्रियमेवाचरंस्तदा ॥ ५९ ॥

वे स्त्रियाँ भी जो रावण में अत्यन्त आसक्त थीं, मद्य के नशे में चूर हो, अपनी सौते के साथ प्रीतियुक्त व्यवहार कर रही थी ॥५९॥

वाहनुपनिधायान्याः पारिहार्यविभूषितान् ।

अंशुकानि च रम्याणि प्रमदास्तत्र शिथियरे ॥ ६० ॥

कोई कोई स्त्रियाँ अपनी ककनो से अलङ्कृत बलाइयो को और सुन्दर वस्त्रों को अपने सिर के नीचे तकिया के स्थान पर रख, सो रही थी ॥६०॥

अन्या वक्षसि चान्यस्यास्तस्याः काश्चित्पुनर्भुजम् ।

अपरा त्वङ्गमन्यस्यास्तस्याश्चाप्यपरा भुजौ ॥ ६१ ॥

ऊरुपार्श्वकटोपृष्ठमन्योन्यस्य समाश्रिताः ।

परस्परनिविष्टाङ्गघो मदस्नेहवशानुगाः ॥ ६२ ॥

अन्योन्यस्याङ्गसंस्पर्शात्प्रीयमाणाः सुमध्यमाः ।

एकोकृतभुजाः सर्वाः सुषुवुस्तत्र योपितः ॥ ६३ ॥

एक स्त्री दूसरी स्त्री की छाती पर हाथ रखे हुये थी, कोई आपस में एक दूसरे की भुजा को अपना अपना तकिया बनाए हुए थी, कोई किसी की गोद में पड़ी और कोई एक दूसरे के बक्ष स्थल को अपना अपना तकिया बनाये हुये थी और कोई किसी की जाँघ, कमर और दगल से और कोई

किसी की पीठ से लिपट कर तथा परस्पर अङ्गस्पर्श से मति प्रसन्न हो, भुजा से भुजा मिला कर मदिरा के मशे में चूर, बड़े प्रेम से सो रही थी ॥६१॥ ॥६२॥६३॥

अन्योन्यभुजसूत्रेण स्त्रीमाला ग्रथिता हि सा ।

मालेव ग्रथिता सूत्रे शुशुभे मत्तषट्पदा ॥ ६४ ॥

परस्पर एक दूसरे की भुजा रूपी सूत से गुथी हुई स्त्रियों की वह माला ऐसी सोभा दे रही थी, मानो डोरे में गुथी हुई पुष्पमाला से युक्त हो सौभाग्य-मान हीनी हो ॥६४॥

लताना माधवे मासि फुल्लानां वायुसेवनात् ।

अन्योन्यमालाग्रथितं संसक्तकुसुमोच्चयम् ॥ ६५ ॥

वंशाक्ष मास में फूली हुई बेलो के फूल के ढेर, वायु के कारण एकत्र हुए ऐसे जान पड़ते थे, मानो माला की तरह वे एक सूत्र में गुथे हों ॥६५॥

व्यतिवेष्टितसुस्कंधमन्योन्यभ्रमराकुलम् ।

आसीद्वनमिवोद्धूतं स्त्रीवनं रावणस्य तत् ॥ ६६ ॥

रावण की स्त्रियों का वह समूह एक वन की तरह सुशोभित था । उस वन में फैली हुई वृक्षों की डालियाँ केशरूपी भ्रमरों से भूषित ही, वायुवेग से परस्पर लिपटी हुई सी मालूम पड़ती थी ॥६६॥

उचितेष्वपि सुव्यक्तं न तासां योपितां तदा ।

विवेक. शक्य आधातुं भूषणाङ्गाम्बरस्त्रजाम् ॥ ६७ ॥

यद्यपि स्त्रियों के समस्त आभूषण उचित रीति से यथास्थानो पर थे तथापि उनके परस्पर लिपटने से यह स्थिर करना कठिन था कि, इनमें कौन सा गहना है, कौन सी पुष्पमाला है अथवा उनका कौन सा अङ्ग है ॥६७॥

रावणे सुखसंविष्टे ताः स्त्रियो विविधप्रभाः ।

ज्वलन्तः काञ्चना दीपाः प्रैक्षन्तानिमिया इव ॥६८॥

रावण को इस समय निद्रावश देख, वहाँ के वे जलते हुए सोने के दीपक, मानों उन स्त्रियो को, जो विविध प्रकार के शृङ्गार किये हुए थी, एकटक देख रहे थे ॥६८॥

राजपिविप्रदैत्यानां गन्धर्वाणां च योषितः ।

'रक्षसां चाभवन्कन्यास्तस्य कामवशं गताः ॥ ६९ ॥

उन स्त्रियो में कोई कोई तो राजपियो की, कोई कोई ब्राह्मणो की, कोई कोई दैत्यो की, कोई कोई गन्धर्वों की स्त्रियाँ थीं और कोई कोई राक्षसो की कन्याएँ थीं, जिन्हे रावण ने अपनी प्रणयिनी बनाया था अथवा व्याहा था ॥६९॥

युद्धकामेन ताः सर्वा रावणेन हृताः स्त्रियः ।

समदा मदनेनैव मोहिताः काश्चिदागताः ॥ ७० ॥

उनमें से किसी किसी को रावण युद्ध में उनके पिताम्रो को हरकर छीन लाया था और कोई कोई मदमाती युवतियाँ काम से सतायी जाकर स्वय ही रावण के साथ चली आई थी ॥७०॥

न तत्र काश्चित्प्रमदा प्रसह्य

वीर्योपपन्नेन गुणेन लब्धा ।

न चान्यकामापि न चान्यपूर्वा

विना वरार्हा जनकात्मजां ताम् ॥ ७१ ॥

यद्यपि रावण बड़ा पराक्रमी था, तथापि बरजोरी वह किसी स्त्री को हरकर नहीं लाया था, किन्तु सम्मान योग्य जानकी को छोड़ अन्य बहुत सी स्त्रियाँ रावण के सौन्दर्यादि गुणों पर मुग्ध हो स्वय ही उसके साथ चली आई थी । इनमें ऐसी कोई स्त्री न थी जो दूसरे को प्यार करती हो अथवा अन्य किसी पुरुष के साथ उसका संयोग हुआ हो । अथवा हनुमानजी ने वहाँ जितनी स्त्रियाँ देखी वे सब रावण को पति समझने वाली स्त्रियाँ थी । उनमें भकुलीन कुलटा एक भी न थी ॥७१॥

१ पाठान्तरे—“राक्षसाना च याः कन्याः ।”

न चाकुलीना न च हीनरूपा

नादक्षिणा नानुपचारयुक्ता ।

भार्याऽभवत्तस्य न हीनसत्त्वा

न चाति कान्तस्य न कामनीया ॥ ७२ ॥

उत स्त्रियो में कोई स्त्री कुलहीन, कुल्लुप, फूहर, शृङ्गार रहित और अशक्त न थी । उनमें ऐसी एक भी न थी, जिसको रावण न चाहता हो ॥७२॥

बभूव बुद्धिस्तु हरीश्वरस्य

यदीदृशी राघवधर्मपत्नी ।

इमा यथा राक्षसराजभार्याः^१

सुजातमस्येति हि साधुबुद्धेः ॥ ७३ ॥

उस समय साधुबुद्धि हनुमान जी ने अपने मन में सोचा कि, जिस प्रकार रावण की ये स्त्रियाँ अपने पति से अनुरागवती हैं, उसी प्रकार यदि श्रीरामचन्द्र जी की धर्मपत्नी सीता भी श्रीरामचन्द्र में अभी तक अनुरागवती बनी हों और रावण द्वारा सीता के, श्रीराम के प्रति अनुराग में बाधा न पड़ी हो, तो रावण का कल्याण है ॥७३॥

पुनश्च सोऽचिन्तयदार्तरूपो

ध्रुवं विशिष्टा गुणतो हि सीता ।

अथायमस्या कृतवान्महात्मा

लंकेश्वरः कष्टमनार्यकर्म ॥ ७४ ॥

इति नवम सर्गं

१ राक्षसराजभार्या—यथा स्वपतिस्मरणादिषु निरता ईदृशी तथा रामस्मरणादिनिरता यदि राघवधर्मपत्नी तस्मरणादीना विघ्नो न कृत स्मरदित्यर्थं, तदा अस्य रावणस्य सुजातम् कल्याणमेवेत्यर्थं इति साधुबुद्धेर्हरीश्वरस्य बुद्धिनिश्चयो बभूव । (श्ल०)

फिर हनुमान जी ने विचारा कि, निश्चय ही जानकी जी में पातिव्रत्यादि गुण विशेष रूप से हैं, क्योंकि जिस समय क्रूरकर्मा रावण सीता को पकड़ कर लिये जाता था, उस समय वह बुरी तरह रोती हुई गई थी, अतः उसका इन स्त्रियों में होना सम्भव नहीं ॥७४॥

सुन्दरकाण्ड का नवाँ सर्ग पूरा हुआ

— ० —

दशमः सर्गः

तत्र दिव्योपमं मुख्यं स्फाटिकं रत्नभूषितम् ।

अवेक्षमाणो हनुमान्ददर्श शयनासनम् ॥ १ ॥

तदनन्तर हनुमानजी ने शयनशाला में चारों ओर देखते-देखते एक स्थान पर त्रिविध रत्न विभूषित, स्फटिक का बना स्वर्गीय पलंग जैसा एक बड़ा पसंग पड़ा देखा ॥ १ ॥

दान्तकाञ्चनचित्राङ्गवैडूर्यैश्च वरासनैः ।

महार्हास्तरणोपेतैरुपपन्नं महाधनैः ॥ २ ॥

उस पसंग पर हाथीदांत और सोने से चित्रकारी (नक्काशी का काम) की गई थी और जगह-जगह पत्थे जड़े हुए थे । उसके ऊपर बड़े मूल्यवान् और कोमल विछीने बिछे थे ॥ २ ॥

तस्य चैकतमे देशे सोऽग्रचमालाविभूषितम् ।

ददर्श पाण्डुरं छत्रं ताराधिपतिसन्निभम् ॥ ३ ॥

उस शयनशाला में एक विशेष स्थान पर सफेद रंग का, चन्द्रमा की तरह चमकता, एक छत्र रखा था । वह छत्र दिव्य-पुष्पों की माला से भूषित था ॥ ३ ॥

१ दिव्योपम—स्वर्गस्य । (शि०) २ शयनासनम्—खट्वा । (गो०)

जातरूपपरिक्षिप्तं चित्रभानुसमप्रभम् ।

अशोकमालाविततं ददर्श परमासनम् ॥ ४ ॥

वहाँ सुवर्ण का बना हुआ, सूर्यसम चमकीला और अशोक पुष्पों की माला से अलङ्कृत एक पलंग हनुमानजी ने देखा ॥ ४ ॥

बालव्यजनहस्ताभिर्वीज्यमानं समन्ततः ।

गन्धैश्च विविधैर्जुष्टं वरघूपेन धूपितम् ॥ ५ ॥

इस पलंग के आसपास सुन्दर पुतलियाँ हाथों में चोंबर और पञ्जा से हवा कर रही थीं । वहाँ पर विविध प्रकार के इत्र रखे हुए थे और उत्तम सुगन्धि की धूप जल रही थी, जिससे वह स्थान सुवासित हो रहा था ॥ ५ ॥

परमास्तरणास्तीर्णाभाविकाजिन' संवृतम् ।

दामभिर्वरमाल्यानां समन्तादुपशोभितम् ॥ ६ ॥

वह पलंग कोमल पद्ममीने से मड़ा था, कोमल विस्तर उस पर बिछे हुये थे । उसके चारों ओर फूलों के हार सटक रहे थे ॥ ६ ॥

तस्मिञ्जीमूतसङ्काशं प्रदीप्तोत्तमकुण्डलम् ।

लोहिताक्षं महाबाहुं महारजतवाससम् ॥ ७ ॥

उस पलंग पर काले मेघ की तरह काले रंग का, कानों में उत्तम और चमकते हुए कुण्डल पहिने हुए, लाल-लाल नेत्रों वाला, बड़ी भुजाओं वाला, कलावत् के काम के कपड़े धारण किए हुए ॥ ७ ॥

लोहितेनानुलिप्ताङ्गं चन्दनेन सुगंधिना ।

संध्यारक्तमिवाकाशे तोयदं सतडिद्गणम् ॥ ८ ॥

सब शरीर में लाल चन्दन लगाए, दामिनी सहित सन्ध्याकालीन लाल बादल की तरह शोभायमान किए हुए ॥ ८ ॥

वृत्तमाभरणैर्दिव्यैः सुरूपं कामरूपिणम् ।

सर्वक्षवनगुल्माद्द्व्यं प्रसुप्तमिव मंदरम् ॥ ९ ॥

दिव्य गहने पहिन हुए, सुस्वरूप, कामरूपी रावण, उस पर पडा हुआ, ऐसा जान पड़ता था, मानो विविध प्रकार की लताप्रो और शादियों से पूर्ण मन्दराचल पर्वत पडा सी रहा हो ॥ ६ ॥

क्रीडित्वोपरतं रात्रौ वराभरणभूषितम् ।

प्रियं राक्षसकन्यानां राक्षसानां सुखावहम् ॥ १० ॥

रावण रात को बिहार करते-करते यका हुआ, मदिरापान किए हुए था । वह राक्षस-कन्याप्रो का प्रिय था और राक्षसा को सुख देने वाला था ॥१०॥

पीत्वाऽप्युपरतं चापि ददर्श स महाकपिः ।

भास्वरे शयने वीरं प्रसुप्तं राक्षसाधिपम् ॥ ११ ॥

मदिरापान एव स्त्रियो के साथ क्रीडा करके तृप्त हो सुवर्ण से चमचमाते पलंग पर शयन किये हुए वीर राक्षसराज को हनुमानजी ने देखा ॥११॥

निःश्वसंतं यथा नागं रावणं वानरर्षभः ।

आसाद्य परमोद्विग्नः सोऽपासर्पत्सुभीतवत् ॥ १२ ॥

अयारोहणमासाद्य वेदिकांतरमाश्रितः ।

सुप्तं राक्षसशार्दूलं प्रक्षते स्म महाकपिः ॥ १३ ॥

सोते में रावण हाथी की तरह स्वास छोड रहा था । हनुमान रावण को देख घबडा कर डरे हुए मनुष्य की तरह उस जगह से क्रुध दूर हट कर सीढ़ी की आड में एक खूतरे पर सडे हो गए और वहाँ से राक्षसराज को देखने लगे ॥१२॥१३॥

शुशुभे राक्षसेन्द्रस्य स्वपतः शयनोत्तमम् ।

गंधहस्तिनि संविष्टे यथा प्रलवणं महत् ॥ १४ ॥

सोते हुए रावण का पलंग ऐसा शोभायमान हो रहा था, जैसे वह पहाडी झरना शोभायमान होता है जिसके निचट मदमत्त हाथी सोता हो ॥१४॥

काञ्चनाङ्गदनद्धौ च ददर्श स महात्मनः ।

विक्षिप्तौ राक्षसेन्द्रस्य भुजाविन्द्रध्वजोपमौ ॥ १५ ॥

रावण की दोनों भुजाएँ जो बाजूबन्दो से असकृत थीं और जिनको पसार कर वह सो रहा था, इन्द्रध्वज की तरह जान पड़ती थी ॥१५॥

ऐरावतवियाणार्गैरापीडनकृतव्रणौ ।

बज्रोर्लिलिखितपीनांस्तौ विष्णुचक्रपरिक्षतौ ॥ १६ ॥

उसकी दोनों भुजाओं पर ऐरावत के दाँतों के आघात के चिह्न थे । कंधों पर बज्र के आघात के निशान थे । मुदर्सनचक्र के लगने के भी उसकी दोनों भुजाओं पर निशान बने हुए थे ॥१६॥

पीनौ समसुजातांस्तौ संहतौ बलसंयतौ ।

सुलक्षणनखांगुष्ठौ स्वंगुलीतललक्षितौ ॥ १७ ॥

उसकी दोनों लम्बी भुजाएँ मोटी और शरीर के अनुरूप एवं बलयुक्त थी । उसकी अँगुलियाँ और अँगूठे के नख सुलक्षण युक्त थे और अँगुलियाँ सुन्दर-सुन्दर अँगूठियों से भूषित थी ॥१७॥

संहतौ परिघाकारौ वृत्तौ करिकरोपमौ ।

विक्षिप्तौ शयने शुभ्रे पञ्चशीर्षाविवोरगौ ॥ १८ ॥

(रावण की भुजाएँ,) मोटी, परिघ के आकार वाली, हाथी की सूँड की तरह उतार चढ़ाव की और पलंग पर फैली हुई ऐसी जान पड़ती थी, मानों पाँच सिर वाले सर्प हो ॥१८॥

शशक्षतजकल्पेन सुशीतेन सुगन्धिना ।

चन्दनेन पराध्यैन स्वनुलिप्तौ स्वलंकृतौ ॥ १९ ॥

सरहा के रक्त की तरह लाल, सुगन्धित, शीतल एवं उत्तम चन्दन तथा अन्य सुगन्धित पदार्थों से लिप्त वे दोनों भुजाएँ सुन्दर भ्रामूपणों से असकृत थीं ॥१९॥

उत्तमस्त्रीविमृदितौ गन्धोत्तमनिषेवितौ ।

यक्षपद्मगगन्धर्वदेवदानवराविणौ ॥ २० ॥

सुन्दरी स्त्रियों के आनिगन से मर्दित, अत्यन्त सुगन्धित द्रव्यों से सेवित, यक्ष, नाग, गन्धर्व, देव और दानवों को हला देने वाली ॥२०॥

ददर्श स कपिस्तस्य बाहू शयनसंस्थितौ ।

मंदरस्यांतरे सुप्तौ महाही रषिताविव ॥ २१ ॥

और बिछौने पर फैली हुई दोनों भुजाओं को हनुमानजी ने देखा । उस समय वे दोनों भुजाएँ ऐसी जान पड़ती थी, माना मन्दराचल पर्वत को तलेटी में दो क्रुद्ध सर्प सो रहे हो ॥२१॥

ताभ्यां स परिपूर्णान्यां भुजान्यां राक्षसेश्वरः ।

शुशुभेऽचलसङ्काशः शृङ्गान्यामिव मंदरः ॥ २२ ॥

उन दोनों भुजाओं से रावण, दो शिखरों में गोभित मन्दराचल की तरह शोभायमान हो रहा था ॥२२॥

चूतपुन्नागसुरभिर्वकुलोत्तमसंयुतः ।

मृष्टान्नरससंयुक्तः पानगंधपुरःसरः ॥ २३ ॥

तस्य राक्षससिंहस्य निश्वक्राम महामुखात् ।

शयानस्य विनिःश्वासः पूरयन्निव तद्गृहम् ॥ २४ ॥

उस राक्षसराज रावण के बड़े मुख से निकली हुई साँसें, जो आम, नागकेसर और मौलसिरी के पुष्पों की सुगन्धि से सुवासित थी तथा जिनमें पड़रस युक्त अन्न तथा शराव की गन्ध मिश्रित थी, उस सम्पूर्ण शयनशाला को सुवासित कर रही थी ॥२३॥२४॥

मुक्तामणिविचित्रेण काञ्चनेन विराजिताम् ।

मुकुटेनापवृत्तेन' कुण्डलोज्ज्वलिताननम् ॥ २५ ॥

विचित्र मोतियों और मणियों के जडाऊ सोने के मुकुट से, जो सोते में अपने स्थान से कुछ छसक गया था तथा कुण्डलों से उसका मुख बड़ा सुन्दर जान पड़ता था ॥२५॥

रक्तचंदनदिग्धेन तथा हारेण शोभिना ।

पीनायतविशालेन वक्षसाभिविराजितम् ॥ २६ ॥

१ अपवृत्तेन—स्थानात्किञ्चिच्चलितेन । (शो०)

उसका मासल और चौड़ा वक्ष स्थल लाल चन्दन और सुन्दर हार से
भसट्ट था ॥२६॥

पाण्डुरेणापविद्धेन क्षौभेण क्षतजेतक्षणम् ।

महाहॅण सुसंवीतं पीनेनोत्तमवासता ॥ २७ ॥

वह सफेद रेशमी धोती पहिने हुए था और दबिया पीले रंग का हुपट्टा
ओढ़े हुए था ॥२७॥

मायराशिप्रतीकाशं निःश्वसन्तं भुजङ्गवत् ।

गाङ्गे महति तोयान्ते प्रसुप्तमिव कुञ्जरम् ॥ २८ ॥

रावण सोता हुआ उदों के ढेर की तरह जान पड़ता था । वह साँप की
कूफकार की तरह साँस लेता हुआ, पत्तन पर पड़ा ऐसा सो रहा था मानों
गंगाजी के गहरे जल में पड़ा सोता हो ॥२८॥

चतुर्भिः काञ्चनैर्दोषैर्दोष्यमानैश्चतुर्दिशम् ।

प्रकाशीकृतसर्वाङ्गं मेघं विद्युद्गणैरिव ॥ २९ ॥

उसके चारों ओर चार सीने के दीपक जल रहे थे । उन दीपकों के
प्रकाश से उसके शरीर के समस्त अंग वैसे ही चमक रहे थे, जैसे बिजलियों
से बादल ॥२९॥

पादमूलगताश्चापि ददर्श सुमहात्मनः ।

पत्नीः स प्रियभार्यस्य तस्य रक्षःपतेर्गृहे ॥ ३० ॥

हनुमानजी ने देखा कि, उस पतिप्रिय राक्षसराज रावण की शयनशाला
में, रावण के पैताने उसकी पत्नियाँ पड़ी हैं ॥३०॥

शशिप्रकाशवदनाश्चारुकुण्डलभूषिताः ।

अम्लानमाल्याभरणा ददर्श हरियूथपः ॥ ३१ ॥

हनुमानजी ने देखा कि, उन स्त्रियों के मुखमण्डल, चंद्रमा की तरह
चमकमा रहे थे । उनके कानों में श्रेष्ठ कुण्डल उनकी शोभा बढ़ा रहे थे
और उनके गलों में बिना कुम्हलाये ताजे फूलों की मालाएँ पड़ी हुई
थीं ॥३१॥

नृत्तवादित्रकुशला राक्षसेन्द्रभुजाङ्कुगाः ।

वराभरणधारिण्यो 'निपण्णा ददृशे हरिः ॥ ३२ ॥

हनुमानजी ने देखा कि, वे सब स्त्रियाँ जो रावण की भुजाओं के बीच तथा गोद में पड़ी थीं नाचने गाने में निपुण थीं और अच्छे-अच्छे गहने पहिने हुए, सो रही थी ॥३२॥

वञ्चवैडूर्यगर्भाणि श्रवणान्तेषु योषिताम् ।

ददर्श तापनीयानि कुण्डलान्यङ्गदानि च ॥ ३३ ॥

उनके कानों में सोने के तथा हीरों पत्थरों के जडाऊ कर्णफूल लटक रहे थे । हनुमानजी ने देखा कि, वे स्त्रियाँ भुजाओं में जो बाजूबन्द पहिने हुए थीं, भुजाओं का तकिया लगाने से, वे भी कानों के पास कुण्डला के साथ शोभायमान हो रहे थे ॥३३॥

तासां चन्द्रोपमैर्वक्त्रैः शुभैर्ललितकुण्डलैः ।

विरराज विमानं तन्नभस्तारागणैरिव ॥ ३४ ॥

उन स्त्रियों के चन्द्रमा के समान मुखों और सुन्दर कुण्डलों से वह स्थान ऐसा शोभायमान हो रहा था, जैसे तारों से आकाश की शोभा होती है ॥३४॥

मदव्यायामखिन्नस्ता राक्षसेन्द्रस्य योषितः ।

तेषु तेष्ववकाशेषु प्रसुप्तास्तनुमध्यमाः ॥ ३५ ॥

मदिरा के नशे में चूर हो तथा नाचने गाने के परिश्रम से अत्यन्त खिन्न होकर, जहाँ जिसे जो जगह मिली वहाँ पड़ कर, वे सो रही थीं ॥३५॥

अङ्गहारैस्तथैवान्या कोमलैर्नृत्तशालिनी ।

विन्यस्तशुभसर्वाङ्गी प्रसुप्ता चरवर्णिनी ॥ ३६ ॥

कोई-कोई मनोहर कोमलाङ्गी कामिनी निद्रावस्था में अपने कोमल हाथों को हिता डुला रही थी, जिसको देखने से ऐसा जान पड़ता था, मानो वह हाव भाव दिखा कर नाच रही हो ॥३६॥

काचिद्वीणां परिष्वज्य प्रसुप्ता सम्प्रकाशते ।

महानदीप्रकीर्णैव नलिनी पोतमाश्रिता ॥३७॥

कोई स्त्री वीणा को अपनी छाती से लिपटा कर भोजाने से ऐसी जान पड़ती थी, मानो नदी की धार में डूबती हुई कमलिनी सौभाग्यवश किसी नाव से जा लिपटी हो ॥३७॥

अन्या कक्षगतेनैव मड्डुकेनासितेक्षणा ।

प्रसुप्ता भामिनी भाति बालपुत्रेय वत्सला ॥ ३८ ॥

कमल के समान नेत्र वाली कोई स्त्री मड्डुक नामक वाद्य (बाजा) विशेष को बगल में दबा, वैसे ही सो रही थी, जैसे कोई बालवत्सला स्त्री अपने बालक को बगल में दबा सा रही हो ॥३८॥

पटहं चाखसर्वाङ्गी पीडय शते शुभस्तनी ।

चिरस्य रमणं लब्ध्वा परिष्वज्येव भामिनी ॥ ३९ ॥

कोई शुभस्तनी तबला बजाते-बजाते (मारे नरों के) उसी पर झुकी हुई सो रही थी । मानो कोई स्त्री बहुत दिनों बाद अपने पति को पाकर, उससे लिपट रही हो ॥३९॥

काचिद्वंशं परिष्वज्य सुप्ता कमललोचना ।

रहः प्रियतमं गृह्य सकामेव च कामिनी ॥ ४० ॥

कोई कमललोचनी वंशी को पकड़ कर सो रही थी, मानो कोई कामिनी एकान्त में कामातुर हो, अपने प्यारे को पकड़ रही हो ॥४०॥

विपञ्चीं परिगृह्यान्या नियता नृत्तशालिनी ।

निद्रावशमनुप्राप्ती सहकान्तेव भामिनी ॥ ४१ ॥

कोई नाचने वाली स्त्री वीणा को पकड़ कर ऐसे सो रही थी मानो अपने पति के साथ पड़ी सो रही हो ॥४१॥

अन्या कनकसङ्काशं दुपीनैर्मनोरमं ।

मृदङ्गं परिपीडयाङ्गैः प्रसुप्ता मत्तलोचना ॥ ४२ ॥

कोई कोई मदमाते नयनो वाली अपने सुवर्ण सदृश, कोमल एव मांसल और सुन्दर मङ्गो से मृदग को लिपटाए और नयन भूँदे सो रही थी ॥४२॥

भुजपार्श्वान्तरस्थेन कक्षगेन कृशोदरी ।

पणवेन सहोनिन्द्या सुप्ता मदकृतश्रमा ॥ ४३ ॥

एक कृशोदरी रति के श्रम से थक कर, अपनी भुजाओं में ढोलक को दबाए सो रही थी ॥४३॥

डिण्डिमं परिगृह्यान्या तथैवासक्तडिण्डिमा ।

प्रसुप्ता तरुणं वत्समुपगुह्येव भामिनी ॥ ४४ ॥

कोई डमरुप्रिय स्त्री, डमरु को छाती से चिपटाए ऐसे पड़ी सो रही थी, मानों कोई बालवत्सा कामिनी अपने बच्चे को छिपाए पड़ी सोती हो ॥४४॥

काचिदाडम्बरं नारी भुजसंयोगपीडितम् ।

कृत्वा कमलपत्राक्षी प्रसुप्ता मदमोहिता ॥ ४५ ॥

कोई कमलनयनी मदिरा के नशे में बेहोश हो, आडम्बर नाम के बाजे को भुजाओं में दबाए सो रही थी ॥४५॥

कलशीमपविध्यान्या प्रसुप्ता भाति भामिनी ।

वसन्ते पुष्पशबला मालेव परिमार्जिता ॥ ४६ ॥

एक औरत जल के कलसे ही को लिपटा कर, सो गई थी । कलसे के जल से वह तर थी । इससे उसकी ऐसी शोभा जान पड़ती थी, मानों वसन्तकाल में फूलों की माला को ताजी (कुम्हलाने न पावे) रखने के लिए, उस पर जल छिड़का गया हो ॥४६॥

पाणिभ्यां च कुचौ काचित्सुवर्णकलशोपमौ ।

उपगुह्याबला सुप्ता निद्राबलपराजिता ॥ ४७ ॥

कोई अबला अपने दोनों हाथों से सोने के कलसे की तरह अपने दोनों कुचों को ढक कर, नींद के मारे, पड़ी सो रही थी ॥४७॥

अन्या कमलपत्राक्षी पूर्णेंद्रुसदृशानना ।

अन्यामालिङ्ग च सुश्रोणी प्रसुप्ता मदविह्वला ॥ ४८ ॥

एक पूर्णचन्द्राननी एव कमलनयनी, दूसरी एक सुन्दर निम्ब वाली स्त्री को, चिपटाए हुए नशे में खूर पडी सो रही थी ॥४८॥

आतोद्यानि विचित्राणि परिष्वज्यापराः स्त्रियः ।

निपीड्य च कुचैः सुप्ताः कामिन्यः कामुकानिव ॥४९॥

इसी प्रकार अन्य स्त्रियाँ भी अनेक प्रकार के बाजो को अपने स्तनों से दबाए सो रही थी । मानों कामी पुरुषों से वे अपने कुचों को मर्दन करती हुई पडी हों ॥४९॥

तासामेकान्तविन्द्यस्ते शयानां शयने शुभे ।

ददर्श रूपसम्पन्नामपरां स कपिः स्त्रियम् ॥ ५० ॥

अन्त में हनुमानजी ने देखा कि अलग एक सुन्दर सेज पर, मूर्ध्व रूपयौवनशालिनी एक स्त्री पडी सो रही है ॥५०॥

मुक्तामणिसमायुक्तैर्भूषणैः सुविभूषिताम् ।

विभूषयन्तोमिव तत्स्वश्रिया भवनोत्तमम् ॥ ५१ ॥

मणियो और मोतियो के जडाऊ विविध प्रकार के भूषणो को पहने हुए वह स्त्री अपने सौदर्य से मानों उस उत्तम भवन को अलङ्कृत कर रही थी ॥५१॥

गौरीं ; कनकवर्णाङ्गीमिष्टामन्तःपुरेश्वरीम् ।

कपिर्मन्दोदरीं तत्र शयानां चारुरूपिणीम् ॥ ५२ ॥

स ता दृष्ट्वा महाबाहुर्भूषितां माहतात्मजः ।

तर्कयामास सीतेति रूपयौवनसम्पदा ।

हर्षेण महता युक्तो तनन्द हरिसूयपः ॥ ५३ ॥

उसके शरीर का रंग गौर या और सुवर्ण की तरह उसके शरीर की कांति थी । वह सारे रत्नवास की स्त्रियो की स्वामिनी, रावण की प्यारी और परम

रूपवती मन्दोदरी थी । महाबाहु पवननन्दन हनुमानजी ने उस सर्वाभरण-
भूषित, मन्दोदरी की सुन्दरता और जवानी को देख उसे सीता समझा और
इससे उनका ध्यानन्द उत्तरोत्तर बढ़ता गया ॥१२॥१३॥

आस्फोटयामास चुचुम्ब पुच्छं

ननन्द चिक्रीड जगौ जगाम ।

स्तम्भानरोहन्निपपात भूमौ

निदर्शयन्स्वां प्रकृतिं कपीनाम् ॥ ५४ ॥

इति दशम सर्गं ॥

वानरी प्रकृति के बशवर्ती हो, हनुमानजी मारे हर्ष के पूँछ को झट-
कारने और चूमने लगे । ये धमे पर बार-बार चढ़ने और वहाँ से नीचे भूमि
पर कूदने लगे ॥५४॥

सुन्दरकाण्ड का दसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

— ० —

एकादशः सर्गः

श्रवधूय च तां बुद्धि बभूवावस्थितस्तदा ।

जगाम चापरां चितां सीतां प्रति महाकपिः ॥ १ ॥

हनुमानजी ने अपनी वह निश्चय कुछ देर बाद बदल दिया । वे स्थिर
होकर बैठ गये और सीता के बारे में फिर सोचने लगे ॥ १ ॥

न रामेण वियुक्ता सा स्वप्नुमर्हति भामिनी ।

न भोक्तुं नाप्यलंकृतं न पानमुपसेवितुम् ॥ २ ॥

वे मन ही मन कहने लगे कि, सीता पतिव्रता होकर श्रीराम के वियोग
में न तो इस प्रकार सो ही सकती हैं, न खा सकती हैं, न अपना श्रृंगार कर
सकती हैं और न मदिरा ही पी सकती हैं ॥ २ ॥

नान्यं नरमुपस्थातुं सुराणामपि चेश्वरम् ।

न हि रामसमः कश्चिद्विद्यते त्रिदशेष्वपि ॥ ३ ॥

अन्य पुरुष का तो पूछना ही क्या, वह देवताओं के राजा इन्द्र को भी अपना पति नहीं समझ सकती । क्योंकि श्रीरामचन्द्रजी के सामने देवताओं में भी कोई नहीं है ॥ ३ ॥

अन्येयमिति निश्चित्य पानभूमौ चचार सः ।

क्रोडितेनापराः बलान्ताः गीतेन च तथा पराः ॥ ४ ॥

नृत्तेन चापराः बलान्ताः पानविप्रहृतास्तथा ।

मुरजेषु मृदङ्गेषु चेलिकासु च संस्थिताः ॥ ५ ॥

अतः यह कोई और ही स्त्री है । इस प्रकार अपने मन में ठहरा, अपि-श्रेष्ठ हनुमानजी सीताजी के दर्शन की अभिलाषा किए हुए पुनः रावण की मदशाला में विचरने लगे । वहाँ उन्होंने देखा कि, कोई स्त्री खेल से, कोई गाने से और कोई नाचते-नाचते थक कर और कोई नशे में चूर होकर और मुरज अथवा मृदङ्ग का सहारा ले चोली बसे ली रही है ॥ ४ ॥ ५ ॥

तथास्तरणमुख्येषु संविष्टाश्चापराः स्त्रियः ।

अङ्गनानां सहस्रेण भूपितेन विभूषणं ॥ ६ ॥

कोई सुन्दर विस्तरों पर यथा नियम पड़ा सो रही थी । वहाँ पर हजारों स्त्रियाँ भूषणों से सजी सजाई पड़ी सो रही थी ॥ ६ ॥

रूपसंल्लापशीलेन युक्तगीतार्थभाषिणा ।

देशकालाभियुक्तेन युक्तवाक्याभिधायिना ॥ ७ ॥

रताभिरतसंसुप्त ददर्श हरियूयपः ।

तासां मध्ये महाबाहुः शुशुभे राक्षसेश्वरः ॥ ८ ॥

हनुमानजी ने देखा कि उनमें से कोई स्त्री तो अपने रूप का बखान करने में कोई गान का अर्थ समझा-समझा कर, कोई देशकालानुसार वार्तालाप करते-करते, कोई उचित बचन बोलते-बोलते और कोई रतिक्रीडा में रत हो, सोई हुई थी । उनके बीच में पड़ा सोता हुमा महाबाहु रावण ऐसा शोभायमान हो रहा था ॥ ७ ॥ ८ ॥

गोष्ठे महति मुख्यागां गवां मध्ये यथा वृषः ।

स राक्षसेन्द्रः शुशुभे ताभिः परिवृतः स्वयम् ॥ ९ ॥

जैसे किसी बड़ी गोठ में, गौग्रो के बीच साँड शोभायमान होता है उसी प्रकार स्वयं राक्षसेन्द्र रावण उन स्त्रियो के बीच शोभायमान हो रहा था ॥ ९ ॥

करेणुभिर्यथारण्ये परिकीर्णो महाद्विपः ।

सर्वकामैरुपेतां च पानभूमिं महात्मनः ॥ १० ॥

जिस प्रकार किसी वन में हृषिनियो के बीच महागज शोभित होता है । रावण की पानशाला में किसी बात की कमी न थी ॥१०॥

वदशं कपिशार्दूलस्तस्य रक्ष.पतेर्गृहे ।

मृगाणां महिषाणां च वराहाणां च भागशः ॥ ११ ॥

कपिश्रेष्ठ हनुमानजी ने, रावण की उस पानशाला में हिरनो का, भैंसो का और शूकरो का मास, अलग-अलग रखा हुआ देखा ॥११॥

तत्र न्यस्तानि मांसानि पानभूमौ वदशं सः ।

रौक्मेषु च विशालेषु भाजनेष्वर्धभक्षितान् ॥ १२ ॥

वदशं कपिशार्दूलो मयूरान्कुक्कुटांस्तथा ।

वराहवाध्रणिसकान्दधिसौवर्चलायुतान् ॥ १३ ॥

शल्यान्मृगमयूरांश्च हनुमानन्ववक्षत ।

ऋकरान्विविधान्सिद्धांश्चकोरानधभक्षितान् ॥ १४ ॥

हनुमानजी ने उस पानशाला में सोने के पात्रों में रखे हुए और भ्रषष्णाए हुए, मुरगों और मोरो के मास देखे । शूकर, जगली बकरा (जिसके लम्बे कान होते हैं) सेही, हिरनो और मोरो के मास, वहाँ दही और नमक से लपेटे हुए हनुमानजी ने देखे । विविध प्रकार से बनाये हुए तीतरो और चकोरो के मास भ्रषष्णाए हुए वहाँ देख पडे ॥१२॥१३॥१४॥

महिपानेकशल्यांश्च छागर्गांश्च कृतनिष्ठितान्^१ ।

लेह्यानुच्चावचान्पेयान्भोज्यानि विविधानि च ॥१५॥

भैंसों, एकशल्य मतस्यो, (मछली जिसके एक काँटा होता है) और बकरो के भली भीति पकाये हुए मास वहाँ रखे थे । इनके प्रतिरिक्त अन्य विविध प्रकार के चाटने, खाने और पीने के पदार्थ भी वहाँ रखे थे ॥१५॥

तथाम्ललवणोत्तंसैर्विविधैः^२ रागपाण्डवैः^३ ।

हारनपुरकेयूरैरपविद्धैर्महाधनैः ॥ १६ ॥

इनमें बहुत से लो चरपरे, खट्टे और नमकीन पदार्थों से मिश्रित थे । फिर सफेद सरसों के बनाये हुए षड्रस पदार्थ भी थे । किसी किसी पीने के पात्र में बहुमूल्य हार, नूपुर और विजायठ पड़े हुए थे ॥१६॥

पानभाजनविक्षिप्तैः फलैश्च विविधैरपि ।

कृतपुष्पोपहारा भूरधिकां पुष्यति श्रियम् ॥ १७ ॥

और कहीं प्यालों में अनेक प्रकार के फल रखे थे । उस पानशाला में इधर उधर पड़े हुए फूल वहाँ की अत्यन्त शोभा बढ़ा रहे थे ॥१७॥

तत्र तत्र च विन्यस्तैः सुश्लिष्टैः शयनासनैः ।

पानभूमिर्विना वाह्न प्रदीप्तैवोपलक्ष्यते ॥ १८ ॥

जहाँ तहाँ कोमल बिस्तरो सहित पलंग पड़े हुए थे । वह पानशाला अग्नि के बिना ही अग्निसम जमक रही थी ॥१८॥

बहुप्रकारैर्विविधैर्वरसंस्कारसंस्कृतैः ।

मासैः कुशलसंयुक्तैः पानभूमिगतैः पृथक् ॥ १९ ॥

बहुत से और विविध प्रकार के निपुण पाचको [रसोद्धार्यो] द्वारा अच्छे प्रकार से पकाए हुए मास, पानशाला में अलग अलग रखे हुए थे ॥१९॥

१ कृतनिष्ठितान्—पर्याप्तपक्वान् । (गो०) २ राग—श्वेतसर्पपं । (गो०)

३ पाण्डवा—षड्रससंयोगकृतामदयविशेषा । (गो०)

'दिव्याः प्रसन्ना' विविधाः सुराः कृतसुरा' अपि ।

शर्करासवमाध्वीकपुष्पासवफलासवाः ॥ २० ॥

मासो के अतिरिक्त बाह्यी जाति की मदिरा तथा अन्य विविध प्रकार की साफ और बनावटी शरावें भी वहाँ थीं । चीनी की, शहद की, फूलों [महुआ आदि के फूलों से खींची हुई] की और फला से खींची हुई शरावें भी वहाँ रखी हुई थी ॥२०॥

वासचूर्णेश्च 'विविधैर्मृष्टास्तैः पृथक्पृथक् ।

सन्तता शुशुभे भूमिमाल्यश्च बहुसंस्थितः ॥ २१ ॥

हिरण्यैश्च विविधैर्भाजनैः स्फाटिकैरपि ।

जाम्बूनदमयैश्चान्यैः करकैरभिसंवृता ॥ २२ ॥

अनेक प्रकार के साफ किए हुए सुगन्धित मसालों से बसाए हुए मास और मदिराएँ वहाँ भलग भलग रखी थीं । वह पानशाला फूलों के ढेरों से, सुवर्ण कलसों से, स्फटिक क पात्रों से और सोने के गंडुमों से परिपूर्ण थी ॥२१॥२२॥

राजतेषु च कुम्भेषु जाम्बूनदमयेषु च ।

पानश्रेष्ठं तथा भूरि कपिस्तत्र ददर्श सः ॥ २३ ॥

हनुमानजी ने देखा कि कहीं चाँदी के और कहीं सोने के बड़े बड़े पात्रों में अच्छी अच्छी शरावें भरी हुई हैं ॥२३॥

सोऽपश्यच्छातकुम्भानि शीघोर्मणिमयानि च ।

राजतानि च पूर्णानि भाजनानि महाकपिः ॥ २४ ॥

हनुमानजी ने और भी देखा कि सुवर्ण, मणि और चाँदी के पात्रों में मदिराएँ भरी हुई हैं ॥२४॥

१ दिव्या — बाह्यीजातीया । (गो०) २ प्रसन्ना — निष्कलमया ।

(गो०) ३ कृतसुरा — कृत्रिमसुराः । (गो०) ४ पाठान्तरे — "विविधैर्मृष्टा ।

क्वचिदधविशेषाणि क्वचित्पीपानि सर्वशः ।

क्वचिन्नैव प्रपीतानि पानानि स ददर्श ह ॥ २५ ॥

हनुमानजी ने देखा कि, उन पात्रों में कोई तो धाधे खाली थे, कोई बिल्कुल खाली थे और कोई ज्यों के त्यों लवालब भरे हुए थे ॥२५॥

क्वचिद्भुक्ष्यांश्च विविधान्क्वचित्पानानि भागशः ।

क्वचिदन्नावशेषाणि पश्यन्वै विचचार ह ॥ २६ ॥

बिस्ती स्थान में विविध प्रकार की भोजन-सामग्री और पीने योग्य मदिरा सजा कर रखी हुई थी । कहीं पर भक्ष्य पदार्थ धाधे खाए हुए पड़े थे । इन सब वस्तुओं को देखते भालते हनुमानजी वहाँ विचर रहे थे ॥२६॥

क्वचित्प्रभिन्नैः करकैः क्वचिदालोलितैर्घटैः ।

क्वचित्सम्पृक्तमाल्यानि मूलानि च फलानि च ॥ २७ ॥

कहीं पर टूटे गडुवे और कहीं पर खाली घड़े सुटक रहे थे । कहीं पर फूलों की मालामो, मूलों और फलों का गडमगड्ड हो रहा था ॥२७॥

शयनान्यत्र नारीणां शून्यानि बहुधा पुनः ।

परस्परं समाश्लिष्य काश्चित्सुप्ता वराङ्गनाः ॥ २८ ॥

कहीं कहीं स्त्रियों की सेजें सूनी पड़ी थीं और कोई कोई स्त्रियाँ आपस में लिपटी हुई सो रही थी ॥२८॥

काश्चित्च वस्त्रमन्यस्याः अपहृत्योपगुह्य च ।

उपगम्याबला सुप्ता निद्राबलपराजिता ॥ २९ ॥

कहीं पर कोई स्त्री धाँधाती हुई दूसरी स्त्री की सेज पर जा, उसके वस्त्र छीन कर, उससे अपने शरीर को ढक कर, पड़ी सो रही थी ॥२९॥

तासामुच्छ्र्वासवातेन वस्त्रं मांस्यं च गात्रजम् ।

नात्यर्थं स्पन्दते चित्रं प्राप्य मन्दमिवानिलम् ॥ ३० ॥

उनके निःवास वायु से शरीर के वस्त्र और मालाएँ धीरे धीरे हिल रही थीं; मानो वे मन्द पवन के चलने से हिल रही हों ॥३०॥

चन्दनस्य च शीतस्य शीघोर्मधुरसस्य च ।

विविधस्य च माल्यस्य धूपस्य विविधस्य च ॥ ३१ ॥

बहुधा मारुतस्तत्र गन्धं विविधमुद्बहन् ।

रसाना चन्दनाना च धूपानां चैव मूर्च्छितः^१ ॥ ३२ ॥

प्रववौ सुरभिर्गन्धो विमाने पुष्पके तदा ।

श्यामावदातास्तत्रान्याः काश्चित्कृष्णा वराङ्गनाः ॥ ३३ ॥

काश्चित्काञ्चनवर्णाङ्गयः प्रमदा राक्षसालये ।

तासां निद्रावशत्वाच्च मदनेन च मूर्च्छितम् ॥ ३४ ॥

शीतल चन्दन, मदिरा, मधुररस, विविध प्रकार की मालाएँ और विविध प्रकार की धूपों का गन्ध लिए पवन बह रहा था । अनेक प्रकार के चन्दनों के इत्रों की और सुगन्धित पदार्थों की बनी धूपों की सुगन्धि उड़ता हुआ पवन उस समय पुष्पकविमान में व्याप्त (भरा हुआ) हो रहा था । हनुमानजी ने रावण के रनवास में अनेक स्त्रियाँ देखी, जिनमें कोई साँवली और कोई -वर्णवर्ण की थी । वे सब रति से थक कर सो रही थी ॥३१॥३२॥ ३३॥३४॥

पद्मिनीनां प्रसुप्तानां रूपमासीद्यथैव हि ।

एवं सर्वमशेषेण रावणान्तःपुरं कपिः ॥ ३५ ॥

उस रात में उनका सौन्दर्य भुरसाई हुई कमलिनी की तरह हो रहा था । इस प्रकार रावण के रनवास में हनुमानजी ने सब कुछ देखा ॥३५॥

ददर्श सुमहातेजा न ददर्श च जानकीम् ।

निरीक्षमाणश्च तदा ताः स्त्रियः स महाकपिः ॥ ३६ ॥

१ मूर्च्छित — व्याप्त । (गो०)

हनुमानजी ने ये सब तो देखा, किन्तु जानकीजी उनको न देख पड़ीं ।
हनुमानजी उन सब स्त्रियो को देखने से ॥३६॥

जगाम महतीं चिन्तां धर्म साध्वसशङ्कितः ।

परदारावरोधस्य प्रसुप्तस्य निरीक्षणम् ॥ ३७ ॥

बहुत चिन्तित हुए, क्योंकि सोती हुई परस्त्रियो को देखने में उनको अपने
धर्म के नष्ट होने की सका उत्पन्न हो गई ॥३७॥

इदं खलु ममात्यर्थं धर्मलोपं करिष्यति ।

न हि मे परदाराणां दृष्टिद्विषयवर्तिनी ॥ ३८ ॥

[वे मन ही मन कहने लगे कि] मेरा यह कर्म [सोती हुई पराई
स्त्रियो का देखना] अवश्य मेरे धर्मजनित पुण्य को नष्ट कर देगा । आजतक
मैंने बुरी दृष्टि से स्त्रियो को कभी नहीं देखा ॥३८॥

अप्यं चाद्य मया दृष्टः परदारपरिग्रहः ।

तस्य प्रादुरभूच्चिन्ता पुनरन्या मनस्विनः ॥ ३९ ॥

किन्तु आज मैंने परस्त्रीगामी रावण को देखा है । इस प्रकार बिना
करते करते मनस्वी हनुमानजी के मन में, एक दूसरी बात उत्पन्न
हुई ॥३९॥

निश्चितैकान्तचित्तस्य कार्यनिश्चयदर्शिनी ।

कामं दृष्ट्वा मया सर्वा विश्वस्ता रावणस्त्रियः ॥ ४० ॥

न हि मे मनसः किञ्चिद्वैकृत्यमुपपद्यते ।

मनो हि हेतुः सर्वेषामिन्द्रियाणां प्रवर्तने ॥ ४१ ॥

शुभाशुभास्ववस्थासु तच्च मे सुव्यवस्थितम् ।

नान्यत्र हि मया शक्या वैदेही परिमागितुम् ॥ ४२ ॥

उनके मन में स्थिरता और निश्चयपूर्वक यह बात आई कि, यद्यपि
मैंने इन स्त्रियो को देखा, तथापि मेरे मन में तिल भर भी विकार उत्पन्न

नहीं हुआ । फिर मन ही तो पाप और पुण्य करने वाली सब इन्द्रियों का प्रेरक है । सो वह मन मेरे बश में है । अतः मुझे सोती हुई पराई स्त्रियों के देखने का पाप नहीं लग सकता । फिर अन्यत्र मैं सीता को ढूँढ भी तो नहीं सकता था ॥४०॥४१॥४२॥

स्त्रियो हि स्त्रीषु दृश्यन्ते सर्वथा परिमार्गणे ।

यस्य सत्त्वस्य या योनिस्तस्यां तत्परिमार्ग्यते ॥ ४३ ॥

स्त्रियाँ तो स्त्रियों ही में ढूँढी जाती हैं । जिस प्राणी की जो जाति होती है, वह प्राणी उसी जाति में खोजा जाता है ॥४३॥

न शक्या प्रमदा नष्टा मृगोषु परिमार्गितुम् ।

तदिदं मार्गितं तावच्छुद्धेन मनसा मया ॥ ४४ ॥

खोई हुई स्त्री हिरनिषो के समूह में नहीं खोजी जाती । अतः मैंने शुद्ध मन से जानकी को खोजते हुए ॥४४॥

रावणान्तःपुरं सर्वं दृश्यते न च जानकी ।

देवगन्धर्वकन्याश्च नागकन्याश्च वीर्यवान् ॥ ४५ ॥

श्रवेक्षमाणो हनुमन्नैवापश्यत जानकीम् ।

तामपश्यन्कपिस्तत्र पश्यंश्चान्या वरस्त्रियः ॥ ४६ ॥

रावण के समस्त अन्तःपुर को ढूँढा, पर जानकीजी न देख पड़ी । वीर्यवान् हनुमान ने वहाँ देव, गन्धर्व और नागों की कन्याओं को तो देखा किन्तु उनको जानकी न देख पड़ी । तब हनुमानजी ने जानकी को न देख कर, अन्य सुन्दरी स्त्रियों में जानकीजी को तलाश किया ॥४५॥४६॥

अपक्रम्य तदा वीरः प्रध्यतुमुपचक्रमे ।

स भूयस्तु परं श्रीमान्मारुतिर्यत्नमास्थितः ।

आपानभूमिमुत्सृज्य तद्विचेतुं प्रचक्रमे ॥ ४७ ॥

इति एकादश सर्ग ॥

तदनन्तर हनुमानजी, रावण के रनवास से निकल कर, अन्यत्र जाकर जानकीजी का पता लगाने का विचार करने लगे । पवन-नन्दन हनुमानजी पानशाला को त्याग, अन्य स्थानों में जानकीजी की खोज के प्रयत्न में लगे ॥४७॥

सुन्दरकाण्ड का ग्यारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

— ० —

द्वादशः सर्गः

स तस्य मध्ये भवनस्य मासति-
 र्लतागृहांश्चित्रगृहान्निशागृहान् ।
 जगाम सीतां प्रति दर्शनोत्सुको
 न चैव तां पश्यति चारुदर्शनाम् ॥ १ ॥

रावण के वासगृह के बीच हनुमानजी ने लतागृहो, चित्रशालागृहो और रान में रहने के घरों में भली भाँति ढूँढा, पर जानकी उनकी न देख पड़ी ॥१॥

स चिन्तयामास ततो महाकपिः
 प्रियामपश्यन्रघुनन्दनस्य ताम् ।
 ध्रुवं हि सीता म्रियते यथा न मे
 विचिन्वतो दर्शनमेति मैथिली ॥ २ ॥

हनुमानजी श्रीरामचन्द्रजी की प्यारी सीता को न देख कर, अत्यन्त चिन्तित हो विचारने लगे कि निश्चय ही जानकीजी जीवित नहीं है । क्योंकि मैंने उन्हें इतना ढूँढा, सो भी उनके दर्शन मुझे न हुए ॥२॥

सा राक्षसानां प्रवरेण जानकी
 स्वशीलसंरक्षयत्परा सती ।

अनेन नूनं परिदृष्टकर्मणा

हता भवेदार्यपये^१ वरे स्थिता ॥ ३ ॥

जान पडता है, अपने पातिव्रतधर्म की रक्षा में तत्पर और श्रेष्ठ पाति-
व्रतधर्म पर आहट जानकी को, इस दुष्टात्मा रावण ने मार डाला ॥३॥

विरूपरूपा विकृता विवर्चसो

महानना दीर्घविरूपदर्शनाः ।

समीक्ष्य सा राक्षसराजयोपितो

भयाद्विणष्टा जनकेश्वरात्मजा ॥ ४ ॥

अथवा इन कुरूप, विकराल, बुरे रंग वाली, बड़े-बड़े मुँहों वाली, दीर्घा-
कार और भयङ्कर नयनों वाली रावण की स्त्रियों को देख, डर के मारे सीता
स्वयं ही भर गई ॥४॥

सीतामदृष्ट्वा ह्यनवाप्य पौरुषं

विहृत्य कालं सह वानरैश्चिरम् ।

न मेऽस्ति सुग्रीवसमीपगा गतिः

सुतीक्ष्णदण्डो बलवांश्च वानरः ॥ ५ ॥

हा ! न तो मुझे सीता का कुछ पता लगा और न समुद्र लांघने का
फन ही मुझे प्राप्त हुआ । फिर वानरों के लिए, सुग्रीव का नियत किया
हुआ भवधि-काल भी व्यतीत हो गया । अतः धब लौट कर सुग्रीव के पास
जाना भी नहीं बन पड़ता । क्योंकि वह बलवान वानरराज बड़ा कड़ा दण्ड
देने वाला है ॥५॥

दृष्टमन्तःपुरं सर्वं दृष्ट्वा रावणयोपितः ।

न सीता दृश्यते साध्वी वृथा जातो मम श्रमः ॥ ६ ॥

मैंने रावण का सारा रनवास और उसकी स्त्रियों को रत्ती रत्ती देख
डाला, पर वह सती सीता न देख पड़ी—अतः मेरा सारा परिश्रम मिट्टी में
मिल गया ॥६॥

किं नु मां वानराः सर्वे गत वक्ष्यन्ति सङ्गताः ।

गत्वा तत्र त्वया वीर किं कृतं तद्वदस्व नः ॥ ७ ॥

जब मैं लौटकर जाऊंगा और वानर मुझसे पूछेंगे कि, तुमने लका में पहुँच कर क्या किया तो हमसे कहो—तब मैं उनसे क्या कहूँगा ॥ ७ ॥

अदृष्ट्वा किं प्रवक्ष्यामि तामहं जनकात्मजाम् ।

घ्रुवं प्रायमुपैष्यन्ति कालस्य व्यतिवर्तने ॥ ८ ॥

जानकी को देखे बिना मैं उनसे क्या कहूँगा । अतः मुग्रीव की निरिच्छत की हुई समय की अवधि तो बीत ही गई, तो मैं तो भव अन्न-जल-त्याग यहीं अपने प्राण रेंवा दूँगा ॥८॥

किं वा वक्ष्यति वृद्धश्च जाम्बवानङ्गदश्च सः ।

गतं पारं समुद्रस्य वानराश्च समागताः ॥ ९ ॥

यदि मैं समुद्र के पार वानरो के पास लौट कर जाऊँ, तो बूढ़े जाम्बवान् और युवराज अंगद मुझसे क्या कहेंगे ? ॥९॥

अनिवदः श्रियो मूलमनिर्वेदः परं सुखम् ।

अनिर्वेदो हि सततं सर्वार्थेषु प्रवर्तकः ॥ १० ॥

(इस प्रकार हताश होकर भी पवननन्दन ने पुनः मन ही मन कहा कि, मुझे अभी हतोत्साह न होना चाहिए—क्योंकि) उत्साह ही कार्यसिद्धि की कुञ्जी है, उत्साह ही परम सुख का देने वाला है और उत्साह ही मनुष्यो को सदैव सब कामों में लगाने वाला है ॥१०॥

करोति सफलं जन्तोः कर्म यच्च करोति सः ।

तस्मादनिर्वेदकरं यत्नं कुर्यादिनुत्तमम् ॥ ११ ॥

उत्साहपूर्वक जीव जो काम करते हैं, उत्साह उनके उस काम को सिद्ध करता है । अतः मैं भव उत्साहपूर्वक सीताजी को ढूँढने का प्रयत्न करता हूँ ॥११॥

भूयस्तावद्विचेष्यामि देशान्रावणपालितान् ।

आपानशाला विचितास्तथा पुष्पगृहाणि च ॥ १२ ॥

चित्रशालाश्च विचिता भूयः क्रीडागृहाणि च ।

निष्कुटान्तररथ्याश्च विमानानि च सर्वशः ॥ १३ ॥

यद्यपि पानशाला, पुष्पगृह, चित्रशाला, क्रीडागृह, गृहोद्यान, भीतरी गलियाँ और भटारियों को एक बार रत्ती रत्ती ढूँढ़ चुका, तथापि मैं भव इन समस्त रावणरक्षित स्थानों को दुबारा ढूँढ़ूँगा ॥१२॥१३॥

इति संचिन्त्य भूयोऽपि विचेतुमुपचक्रमे ।

भूमौगृहांश्चैत्यगृहान्' गृहातिगृहकानपि ॥ १४ ॥

उत्पतन्निपतंश्चापि तिष्ठन्गच्छन्पुनः पुनः ।

अपावृण्वंश्च द्वाराणि कपाटान्यवधाटयन् ॥ १५ ॥

इस प्रकार मन में निश्चय कर हनुमानजी, फिर ढूँढ़ने में प्रवृत्त हुए । वे तहलाने (तलघरो) में, चीराहों के मण्डपों में तथा रहने के घरों से दूर सैर सपाटे के लिए बने हुए घरों में, ऊपर-नीचे सर्वत्र ढूँढ़ने लगे । कभी तो वे ऊपर चढ़ते, कभी नीचे उतरते, कभी खड़े हो जाते और कभी फिर चल पड़ते थे । कहीं क़िवाड़ों को खोलते और कहीं उन्हें बन्द कर देते थे ॥१४॥१५॥

प्रविशन्निष्पतंश्चापि प्रयतन्नुत्पतन्नपि ।

सर्वमप्यवकाशं स विचचार महाकपिः ॥ १६ ॥

कहीं घर में घुस, कहीं बाहिर निकल, कहीं लेट कर और कहीं बैठ कर हनुमानजी, सब स्थानों में घूमते फिरे ॥१६॥

चतुरङ्गुलमात्रोऽपि नावकाशः स विद्यते ।

रावणान्तःपुरे तस्मिन्यं कपिनं जगाम सः ॥ १७ ॥

१ चैत्यगृहान्—चतुष्पथमण्डपान् । (गो०) २ गृहातिगृहकान्—गृहानतीत्य दूरे स्वैरविहारार्थं निर्मितान् गृहान् । (गो०)

यहाँ तक कि, रावण के रमवास में चार भ्रगुल भी जगह ऐसी न बची
जहाँ कपि न गए हो घोर जो उन्होने न देखी हो ॥१७॥

प्राकारान्तररथ्याश्च वेदिकाश्चैत्यसंश्रयाः ।

दीर्घिकाः पुष्करिण्यश्च सर्व तेनावलोकितम् ॥ १८ ॥

परकोटा, परकोटे के भीतर की गलियाँ, चौराहों के चबूतरे, तालाब और
नलैया सभी स्थान हनुमानजी ने देख डाले ॥१८॥

राक्षस्यो विविधाकारा विरूपा विकृतास्तदा ।

दृष्टा हनुमता तत्र न तु सा जनकात्मजा ॥ १९ ॥

इन जगहों में उनको विविध प्रकार की कुरूप विकराल राक्षसियाँ ता शिख
लाई पड़ी, किन्तु सीताजी कहीं भी न देख पड़ी ॥१९॥

रूपेणाप्रतिमा लोके वरा विद्याधरस्त्रियः ।

दृष्टा हनुमता तत्र न तु राघवनन्दिनी ॥ २० ॥

सभार में अनुपम सौंदर्यवती और श्रेष्ठ विद्याधरा की स्त्रिया तो हनुमानजी
ने देखी, किन्तु सीताजी की नहीं ॥२०॥

नागकन्या वराशोहाः पूर्णचन्द्रनिभाननाः ।

दृष्टा हनुमता तत्र न तु सीता सुमध्यमा ॥ २१ ॥

चन्द्रधूनी मुन्दरी नागकन्याएँ भी हनुमानजी ने देखी, किन्तु मुन्दरी सीता
जी उन्हें न साह नहीं ॥२१॥

प्रमथे में लगाने वेहेण नागकन्या बलाद्धृताः ।

दृष्टा सफलं जन्तोः तत्र न सा जनकनन्दिनी ॥ २२ ॥

हनुमानजी ने देकरं यत्नो को देखा जिन्हें रावण बलपूर्वक हर लाया
था, किन्तु जनकनन्दिनी को काम करते पड़ी ॥२२॥

सोऽपश्यंस्तां मे उत्साहपूर्वकं सौमित्रान्या वरस्त्रियः ।

विषसाद

नुमान्मारुतात्मजः ॥ २३ ॥

महाबाहु पवननन्दन हनुमानजी ने अन्य सुन्दरी स्त्रियों में ढूँढने पर भी जब जानकीजी को न देखा, तब वे दुखी हुए ॥२३॥

उद्योगं वानरेन्द्राणां प्लवनं सागरस्य च ।

व्यर्थं वीक्ष्यानिलमुतश्चिन्तां पुनरुपागमत् ॥ २४ ॥

सीता का पता लगाने के लिए मुग्रीब का उद्योग और अपना समुद्र का काँटना व्यर्थ हुआ देख, पवननन्दन पुनः चिन्तित हो गए ॥२४॥

अवतीर्य विमानाच्च हनुमान्मायतात्मजः ।

चित्तामुपजगामाथ शोकोपहतचेतनः ॥ २५ ॥

इति द्वादस सर्गं ॥

पवननन्दन विमान से उतर और शोक से विकल हो, अत्यन्त चिन्तित हो गए ॥२५॥

सुन्दरवाण्ड का वारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

त्रयोदशः सर्गः

विमानात् सुसंक्रम्य प्राकारं हरिपुङ्गवः ।

हनुमान्वेगवानासीद्यथा विद्युद्धनान्तरे ॥ १ ॥

तदनन्तर वानरश्रेष्ठ हनुमानजी विमान से उतर कर परकोटे पर कूद कर चढ़ गए । हनुमानजी का वेग उस समय ऐसा था, जैसा कि मेष के भीतर चमकने वाली विजली का होता है ॥ १ ॥

सन्परिक्रम्य हनुमान् रावणस्य निवेशनम् ।

अदृष्ट्वा जानकीं सीतामब्रवीद्वचनं कपिः ॥ २ ॥

रावण के आवासगृह में चारों ओर घूम-फिरकर और सीता को न पा कर, हनुमानजी आप ही आप कहने लगे ॥ २ ॥

भूयिष्ठं लोलिता लङ्का रामस्य चरता प्रियम् ।

न हि पश्यामि वैदेहीं सीतां सर्वाङ्गशोभनाम् ॥ ३ ॥

श्रीरामचन्द्रजी का प्रियकार्य करने के अर्थ मैंने दुवारा लङ्कापुरी खोज डाली, किन्तु उस सर्वाङ्गसुन्दरी सीता का पता तो भी न चला ॥ ३ ॥

पल्वलानि तटाकानि सरांसि सरितस्तथा ।

नद्योऽनूपवनान्ताश्च दुर्गाश्च धरणीधराः ॥ ४ ॥

पुष्करिणियो, तडागो, झीलो, छाटी बडी नदियो, नदीतट के बनो, दुर्गो भोर पर्वतो को लेकर ॥ ४ ॥

लोलिता वसुधा सर्वा न तु पश्यामि जानकीम् ।

इह सम्पातिना सीता रावणस्य निवेशने ॥ ५ ॥

आख्याता गृध्रराजेन न च पश्यामि तामहम् ।

किं नु सीताय वैदेही मैथिली जनकात्मजा ॥ ६ ॥

सारा पृथ्वीमण्डल देख डाला, किन्तु सीताजी न मिली । किन्तु सम्पाति का कहना यह है कि, सीता रावण के ही घर में है, किन्तु यहाँ तो सीता है नहीं । कही वैदेही, मैथिली, जनकात्मजा सीता ॥ ५ ॥ ६ ॥

उपतिष्ठेत विवशा रावणं दुष्टचारिणम् ।

क्षिप्रमुत्पततो मन्ये सीतामादाय रक्षसः ॥ ७ ॥

बिम्यतो रामबाणानामन्तरा पतिता भवेत् ।

अथवा ह्लियमाणायाः पथि सिद्धनियेविते ॥ ८ ॥

विवश हो, दुष्टात्मा रावण के वश में तो नहीं हो गई अथवा जब रावण सीता को हरण करके, श्रीरामचन्द्रजी के बाणो के भय से क्षिप्रता-पूर्वक भा रहा था, तब जानकीजी कहीं हड़बडी में बीच में तो छसक नहीं पडी । अथवा जब वह सिद्धों से सेवित आकाशमार्ग से सीता को हर कर ला रहा था ॥ ७ ॥ ८ ॥

मान्ये पतितमार्याया हृदयं प्रेक्ष्य सागरम् ।
 रावणस्योरुवेगेन भुजान्यां पीडितेन च ॥ ६ ॥
 तया मन्ये विशालाक्ष्या त्यक्तं जीवितमार्याया ।
 उपर्युपरि वा नूनं सागरं क्रमतस्तदा ॥१०॥

तब जान पड़ता है कि, सागर को देखने से भयभीत हो, सीता के प्राण निकल गए अथवा रावण के महावेग से चलने और उसकी भुजाओं के बीच दब जाने से विकल हो, उस विशालाक्षी सीता ने प्राण त्याग दिए हो । अथवा समुद्र पार करते समय ॥ ६ ॥ १० ॥

विवेष्टमाना पतिता समुद्रे जनकात्मजा ।
 आहो क्षुद्रेण वाग्नेन रक्षन्ती शीलमात्मनः ॥११॥
 अबन्धुर्भक्षिता सीता रावणेन तपस्विनी ।
 अथवा राक्षसेन्द्रस्य पत्नीभिरसितेक्षणा ॥१२॥
 अद्रुष्टा द्रुष्टभावाभिर्भक्षिता सा भविष्यति ।
 सम्पूर्णचन्द्रप्रतिमं पद्मपत्रनिभेक्षणम् ॥१३॥

छटपटाती सीता समुद्र में गिर पड़ी हो । अथवा अपने पातिव्रत की रक्षा करती हुई उस अनाथिनी को इस नीच रावण ने ही खा डाला हो अथवा रावण की द्रुष्टा स्त्रियो ने ही कमनाक्षी सीता को सीतिया डाह के कारण मिला कर खा डाला हो । अथवा पूर्णिमा के चन्द्र की तरह ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥

रामस्य ध्यायती ववत्रं पञ्चत्वं कृपणा गता ।
 हा राम लक्ष्मणेत्येवं हायोध्ये चेति मंथिली ॥१४॥
 विलप्य बहु वंदेही न्यस्तदेहा भविष्यति ।
 अथवा निहिता मन्ये रावणस्य निवेशने ॥१५॥

श्रीरामचन्द्रजी के मुल्लमण्डल का स्मरण करती हुई वह बपुरी मर गई हो । अथवा हा राम ! हा लक्ष्मण ! हा अयोध्या ! कह कर बहुत विलाप

करती हुई मँबिली ने शरीर छोड़ दिया होगा प्रयवा यह भी सम्भव है कि रावण के घर में वह कहीं छिपा कर रखी गई हो ॥ १४ ॥ १५ ॥

नूनं लालप्यते सीता पञ्जरस्येव शारिका ।

जनकस्य सुता सीता रामपत्नी सुमध्यमा ॥ १६ ॥

कथमुत्पलपत्राक्षी रावणस्य वशं व्रजेत् ।

विनष्टा वा प्रणष्टा वा मृता वा जनकात्मजा ॥ १७ ॥

श्रीर पित्रटे में वद मँना की तरह विवश पडी विलाप करती हो । किन्तु कमलदल के समान नेत्र वाली श्रीर क्षीण कटिवाली सीता जनक की बेटी श्रीर श्रीरामचन्द्रजी की भार्या होकर रावण क वश में बँसे जा सकती हैं ? उन्हें रावण ने भले ही किसी तरहखाने में छिपा रखा हो प्रयवा वह समुद्र में गिर कर नष्ट हो गई हा प्रयवा मर गई हो ॥ १६ ॥ १७ ॥

रामस्य प्रियभार्यस्य न निवेदयितुं क्षमम् ।

निवेद्यमाने दोषः स्याद्दोषः स्यादनिवेदने ॥ १८ ॥

किन्तु श्रीरामचन्द्रजी के पास जा, इन बातों में से में एक भी बात नहीं कह सकता । ऐसी बातें कहने से भी दोष लगता है और न कहने में भी दोष का भागी होना पडना है ॥ १८ ॥

कथं नु खलु कर्तव्यं विषमं प्रतिभाति मे ।

अस्मिन्नेवं गते कार्ये प्राप्तकालं क्षमं च किम् ॥ १९ ॥

ऐसे में निश्चयपूर्वक मेरा क्या कर्तव्य है, इसका निश्चय करना बड़ी विषम समस्या जान पडती है । परिस्थिति तो यह है—अब समयानुसार क्या किया जाय ॥ १९ ॥

भवेदिति मत्तं भूयो हनुमान्प्रविचारयन् ।

यदि सीतामदृष्ट्वाहं वानरेन्द्रपुरीमितः ॥ २० ॥

१ विनष्टा—भूगृहादी स्थापनेनादर्शनं गता । (गो०) २ प्रणष्टा—समुद्र-पतनादिना त्यक्त्वा जीविता । (गो०)

गमिष्यामि ततः को मे पुरुषार्थो भविष्यति ।

ममेवं लङ्घनं व्यर्थं सागरस्य भविष्यति ॥२१॥

इस प्रकार अपने मन में विचारो की ऊहापोह करते-करते, हनुमानजी बड़े विचार में पड़ गए । वे सोचने लगे कि यदि सीता को देखे बिना किष्किन्धा को लौट चलूँ तो उसमें मेरा पुरुषार्थ ही क्या समझा जायगा । बल्कि मेरा सौ योजन समुद्र का लंघना भी व्यर्थ हो जायगा ॥ २० ॥ २१ ॥

प्रवेशश्चैव लङ्काया राक्षसानां च दर्शनम् ।

किं मां वक्ष्यति सुग्रीवो हरयो वा समागताः ॥२२॥

फिर लङ्का में प्रवेश करना और राक्षसों को देखना-भालना भी व्यर्थ है । सुग्रीव अथवा अन्य बानर मिलने पर मुझसे क्या कहेंगे ? ॥ २२ ॥

किष्किन्धां समनुप्राप्तौ तौ वा दशरथात्मजौ ।

गत्वा तु यदि काकुत्स्थं वक्ष्यामि परमप्रियम् ॥२३॥

फिर किष्किन्धा में जाने पर दशरथनन्दन श्रीराम और लक्ष्मण मुझसे क्या कहेंगे ? वहाँ जा कर यदि मैं श्रीरामचन्द्रजी से यह अप्रिय वचन कहूँ ॥ २३ ॥

न दृष्टेति मया सीता ततस्त्यक्ष्यति जीवितम् ।

परुषं दारुणं क्रूरं तीक्ष्णमिन्द्रियतापनम् ॥२४॥

कि, मुझे सीता का पता नहीं मिला, तो वे तत्क्षण प्राण त्याग देंगे । क्योंकि सीता के सम्बन्ध में उनसे इस प्रकार का वचन कहना श्रीरामजी के लिए केवल कठोर, मयङ्कर, असह्य और इद्रियों को व्यथित करने वाला ही होगा ॥ २४ ॥

सीतानिमित्तं दुर्वाक्यं श्रुत्वा स न भविष्यति ।

तं तु कृच्छ्रगतं दृष्ट्वा पञ्चत्वगतमानसम् ॥२५॥

सीता के बारे में कोई भी बुरी बात सुन, श्रीरामचन्द्रजी का वचन कठिन होगा । उनको शोक से विकल हो प्राण त्यागते देख ॥ २५ ॥

भृशानुरक्तो मेधावी न भविष्यति लक्ष्मणः ।

विनष्टो भ्रातरौ श्रुत्वा भरतोऽपि मरिष्यति ॥२६॥

उनके अत्यन्त अनुरागी और मेधावी लक्ष्मण भी न बचेंगे जब श्रीराम और लक्ष्मण के मरने का वृत्तान्त भरतजी सुनेंगे तब वे भी प्राण त्याग देंगे ॥ २६ ॥

भरतं च मृतं दृष्ट्वा शत्रुघ्नो न भविष्यति ।

पुत्रान्मृतान्समीक्ष्याथ न भविष्यन्ति भातरः ॥२७॥

भरत को मरा देख शत्रुघ्न भी जीवित न रहेंगे । जब अपने पुत्रों को मरा हुआ देखेंगी, तब उनकी माताएँ भी जीती न बचेंगी ॥ २७ ॥

कौसल्या च सुमित्रा च कैकेयी च न संशयः ।

कृतज्ञः सत्यसन्धश्च सुग्रीवः प्लेवगाधिपः ॥२८॥

निश्चय ही, कौसल्या, सुमित्रा और कैकेयी मर जायेंगी । फिर कृतज्ञ और सत्यप्रतिज्ञ बानरराज सुग्रीव भी ॥ २८ ॥

रामं तथागतं दृष्ट्वा ततस्त्यक्ष्यति जीवितम् ।

दुर्मना व्यथिता दीना निरानन्दा तपस्विनी ॥२९॥

पीडिता भर्तृशोकेन रुमा त्यक्ष्यति जीवितम् ।

वालिजेन तु दुःखेन पीडिता शोककर्षिता ॥३०॥

श्रीराम को मरा देख अपना प्राण त्याग देंगे । तब अपना मन मारे, व्यथित, दीन और दुखी बेचारी रुमा अपने पति के शोक से पीडित हो, अपने प्राण गँवा देगी । वालि के मारे जाने के दुःख से पीडित और शोक से विकल ॥ २९ ॥ ३० ॥

पञ्चत्व च गते राज्ञि तारापि न भविष्यति ।

मातापित्रोर्विनाशेन सुग्रीवव्यसनेन च ॥३१॥

तारा उसी समय मरने को तैयार थी, सो भव राजा सुग्रीव के मर

जाने पर वह भी कभी न जीती बचेगी । माता, पिता और सुग्रीव के मर जाने पर ॥ ३१ ॥

कुमारोऽप्यङ्गदः कस्माद्धारयिष्यति जीवितम् ।

भर्तृजेन तु दुःखेन ह्यभिभूता वनोकसः ॥३२॥

सुवराज अङ्गद क्योंकर जीवित रह सकेगा ? फिर स्वामी को मरा देख वानर बहुत दुःखी होकर ॥ ३२ ॥

शिरांस्यभिहनिष्यन्ति तलंमुष्टिभिरेव च ।

सान्त्वेनानुप्रदानेन मानने च यशस्विना ॥३३॥

धपेडो और घूसों से अपने सिरों को घुन डालेंगे । जो वानरराज सुग्रीव दान व मान से वानरो को सान्त्वना प्रदान कर ॥ ३३ ॥

लालिताः कपिराजेन प्राणांस्त्यक्ष्यन्ति वानराः ।

न वनेषु न शैलेषु न निरोधेषु वा पुनः ॥३४॥

उनका लालन-पालन किया करते हैं, उन सुग्रीव को मरा देख, समस्त वानर मर जायेंगे । तब क्या वनो, क्या पर्वतो और क्या धरो में ॥ ३४ ॥

क्रौडामनुभविष्यन्ति समेत्य कपिकुञ्जराः ।

सपुत्रदाराः सामात्या भर्तृव्यसनपीडिताः ॥३५॥

शैलाग्नेभ्यः पतिष्यन्ति समेषु विषमेषु च ।

विषमुद्बन्धनं वाऽपि प्रवेशं ज्वलनस्य वा ॥३६॥

कपिकुञ्जर एकत्र ही विहार न करेंगे । अपने स्वामी के शोक से सन्तापित होकर स्त्री पुत्र और अपने-अपने सेवकों को साथ लेकर वानरगण, पर्वत शिखरों पर चढ़ ऊबड़-खाबड़ भूमि पर गिर कर, प्राण दे देंगे । अथवा गले में फाँसी लगा कर, अथवा जलती हुई आग में कूद कर, मर जायेंगे ॥ ३५ ॥ ३६ ॥

१ निरोधेषु—गुहादिसंबृतप्रदेशेषु । (गो०)

उपवासमथो शस्त्रं प्रचरिष्यन्ति वानराः ।

घोरमारोदनं मन्ये गते मयि भविष्यति ॥३७॥

अथवा उपवास कर या शस्त्र से घपना गला काट, वानर मर जायेंगे । मैं समझता हूँ, मेरे किष्किन्धा में लोट कर जाने से, वहाँ महामयङ्कर हाहाकार मच जायगा ॥ ३७ ॥

इक्ष्वाकुकुलनाशश्च नाशश्चैव वनौकसाम् ।

सोऽहं नैव गमिष्यामि किष्किन्धां नगरीमितः ॥३८॥

क्योंकि मेरे जाते ही इक्ष्वाकुकुल का घोर वानरकुल का नाश निश्चित है—घन मैं यहाँ से किष्किन्धा को लोटकर नहीं जाऊँगा ॥ ३८ ॥

न च शक्याम्यहं द्रष्टुं सुग्रीवं मैथिलीं विना ।

मप्यगच्छति चेहस्थे धर्मात्मानो महारथी ॥ ३९ ॥

आशया तौ धरिष्येते वानरश्च मनस्विनः ।

हस्तादानो^१ मुखादानो^२ नियतो वृक्षमूलिकः^३ ॥ ४० ॥

मैं सीता को देखे बिना सुग्रीव के सामने नहीं जा सकता और यदि मैं वहाँ न जाकर यही बना रहूँ तो वे दोनों धर्मात्मा महारथी धीराम और लक्ष्मण तथा वानरगण आशा से जीवित तो बने रहेंगे । अतः अब तो मैं जितेन्द्रिय हो, आपसे आप जो हाथ में या मुख में भा जायगा, उसको खाकर और वृक्षमूलवासी हो ॥ ३९ ॥ ४० ॥

वानप्रस्थो भविष्यामि ह्यदृष्ट्वा जनकात्मजाम् ।

सागरानूपजे देशे बहुमूलफलोदके ॥४१॥

वानप्रस्थ हो जाऊँगा । यदि मैं जानकी का पता न लगा पाया, तो अनेक फल, मूल और जल से पूर्ण कहीं समुद्र के तट पर ॥ ४१ ॥

१ हस्तादान —हस्तपतिनभोजी । (गो०) २ मुखादान —मुखपतिनभोजी । (गो०) ३ वृक्षमूलिक.—वृक्षमूलवासी । (गो०)

चितां कृत्वा प्रवेक्ष्यामि समिद्धभरणीसुतम् ।

उपविष्टस्य^१ वा सम्यग्लिङ्गिनं^२ साधयिष्यतः ॥४२॥

चिता बना कर और अरणी म उत्पन्न की हुई आग में उसे जला, उसमें गिर कर प्राण दे दूँगा । अथवा प्रायोपवेशन व्रत धारण कर शरीर से आत्मा को धडा दूँगा अर्थात् मर जाऊँगा ॥ ४२ ॥

शरीरं भक्षयिष्यन्ति वायसाः श्वापदानि च ।

इदं महर्षिभिर्दृष्टं निर्याणमिति मे मतिः ॥४३॥

सन्यगापः प्रवेक्ष्यामि न चेत्पश्यामि जानकीम् ।

सुजातमूला सुभगा कीर्त्तिमाला यशस्विनी ॥४४॥

तब मेरे मृतशरीर को कौए, स्वार आदि खा डालेंगे । ऋषिया ने इस शरीर को त्याग करने का और भी उपाय बतलाया है । सो यदि मुझे जानकी न मिलेगी, तो मैं जल में डूब कर मर जाऊँगा । हाय, मैंने आरम्भ में लका राक्षसी को जीत कर जो नामवरी प्राप्त की, अब सीता के दर्शन न पाने से, वह मेरी कीर्त्ति सदा के लिए नष्ट हो गई ॥ ४३ ॥ ४४ ॥

प्रभग्ना चिररात्रीयं मम सीतामपश्यत ।

तापसो वा भविष्यामि नियतो वृक्षमूलिकः ॥४५॥

और जागते-जागते इतनी लंबी रात भी सीता के खोजने में समाप्त हुई ; किन्तु सीता देखने को न मिली । अतः अब तो मैं किसी वृक्ष के तले जितेंद्रिय बन और वानप्रस्थ हो निवास करूँगा ॥ ४५ ॥

नेतः प्रतिगमिष्यामि तामदृष्ट्वासितेक्षणाम् ।

यदीतः प्रतिगच्छ्यामि सीतामनधिगम्य ताम् ॥४६॥

१ उपविष्टस्म—प्रायोपविष्टस्य । (गो०) २ लिङ्गिनं—लिङ्ग शरीर उदान् लिङ्गी आत्मा त साधयिष्यत शरीरादात्मान मोचयिष्यत इत्यर्थः ।
(गो०)

उस कमल सदृश नेत्र वाली सीता को देखे बिना तामें भ्रव यहाँ में न जाऊँगा और यदि सीता का पता लगाए बिना यहाँ से लौट कर गया ॥४६॥

अद्भुतः सह तैः सर्वैर्वानरैर्न भविष्यति ।

विनाशे बहवो दोषा जीवन्भद्राणि पश्यति ॥४७॥

तो अद्भुत सहित वे सब वानर जीते न बचेंगे । मरने में अनेक दोष हैं और जीवित रहने में अनेक शुभा की प्राप्ति की आशा है ॥ ४७ ॥

तस्मात्प्राणान्धरिष्यामि श्रुवो जीवति सद्भ्रमः ।

एवं बहुविधं दुःखं मनसा धारयन्मुहुः ॥४८॥

मत में जीवित रहूँगा । क्योंकि जीवित रहने से निश्चय ही इष्टसिद्धि होती है । इस प्रकार की अनेक दुःखदायिनी चिन्ताएँ करते हुए पवन नन्दन बहुत दुःखी हो रहे थे ॥ ४८ ॥

नाध्यगच्छत्तदा पारं शोकस्य कपिकुञ्जरः ।

रावणं वा वधिष्यामि दशग्रीवं महाबलम् ॥४९॥

और वे उस शोक (सागर) के पार न जा सके । तब उन्होंने विचार किया, चलो महाबली दशग्रीव रावण ही का सहार करते चलें ॥ ४९ ॥

काममस्तु हुता सीता त्याचीर्णं भविष्यति ।

अथवेनं समुत्क्षिप्य उपर्युपरि सागरम् ॥५०॥

क्योंकि सबको मार डालने से सीता के हरने का बदला पूरा हो जायगा अथवा रावण को बारबार समुद्र के ऊपर उछालते हुए ॥ ५० ॥

रामायोपहरिष्यामि पशुं पशुपतेरिव ।

इति चिन्तां समापन्नः सीतामनधिगम्य ताम् ॥५१॥

ध्यानशोकपरीतात्मा चिन्तयामास वानरः ।

यावत्सीतां हि पश्यामि रामपत्नीं यशस्विनीम् ॥५२॥

तावदेतां पुरीं लङ्कां विचिनोमि पुनः पुनः ।

सम्पातिवचनाच्चापि रामं यद्यानयाम्यहम् ॥५३॥

श्रीरामचन्द्रजी को बैचे ही भेंट कर दूँ, जैसे पशु के मालिक को पशु सौंपा जाता है। इस प्रकार की अनेक चिन्ताएँ करने हुए तथा चिन्ता और शोक में डूबे हुए, हनुमानजी ने विचारा कि, जब तक सीता न मिले तब तक बार-बार इसी लका को ढूँढ़ें अथवा सपाति के वचनो पर विश्वास कर, श्रीरामचन्द्रजी ही को यहाँ ले आऊँ ॥ ५१ ॥ ५२ ॥ ५३ ॥

अपश्यन्राघवो भार्या निर्दहेत्सर्ववानरान् ।

इहैव नियताहारो वत्स्यामि नियतेन्द्रियः ॥५४॥

यदि यहाँ आने पर सीता जी को श्रीरामचन्द्र जी ने न पाया तो क्रुद्ध हो, वे सब वानरो को भस्म कर डालेंगे। अतः यही ठीक है कि, मैं नियताहारी और नियतेन्द्रिय हो यही रहूँ ॥ ५४ ॥

न मत्कृते विनश्येयुः सर्वे ते नरवानराः ।

अशोकवतिका चेयं दृश्यते या महाद्रुमा ॥५५॥

मैं नहीं चाहता कि, मेरे पीछे ये सब नर और वानर नष्ट हो। अरे! उस अशोकवाटिका को तो जिसमें बड़-बड़े वृक्ष देख पड़ते हैं ॥ ५५ ॥

इमामभिगमिष्यामि न हीयं विचिता मया ।

वसून्रुद्रास्तथादित्यानश्विनौ मरुतोऽपि च ॥५६॥

नमस्कृत्वा गमिष्यामि रक्षसां शोकवर्धनः ।

जित्वा तु राक्षसान्सर्वानिक्ष्वाकुकुलनन्दिनोम्

सम्प्रदास्यामि रामाय् यथा सिद्धिं तपस्विने ॥५७॥

मैंने ढूँढा ही नहीं। अतः अब मैं उसमें जाऊँगा। आठो वसुओं, ग्यारहों रुद्रों, बारहों आदित्यों, दोनो अश्विनीकुमारा तथा उनचासो पवनो को नमस्कार कर, राक्षसों का शोक बढ़ाने के लिए मैं वहाँ जाऊँगा। फिर सब राक्षसों को जीत और जनकनन्दिनी को ले जाकर, मैं श्रीरामचन्द्रजी को वैसे ही दूँगा, जैसे तपस्विनी को सिद्धि दी जाती है ॥ ५६ ॥ ५७ ॥

स मुहूर्तमिव ध्यात्वा चिन्तावग्रथितेन्द्रियः ।

उदतिष्ठन्महातेजा हनुमान्मारुतात्मज ॥५८॥

चिन्ता से विकल हो महातेजस्वी पवननन्दन हनुमानजी एक मुहूर्त तक कुछ सोच विचार कर उठ खड़े हुए ॥ ५८ ॥

नमोऽस्तु रामाय सलक्ष्मणाय

देव्यै च तस्यै जनकात्मजायै ।

नमोऽस्तु रुद्रेन्द्रयमानिलेभ्यो

नमोऽस्तु चन्द्रार्कमरुद्गणेभ्यः ॥५९॥

श्रीर मन ही मन बोले—मैं श्रीरामचन्द्र श्रीर लक्ष्मण को नमस्कार करता हूँ । उन देवी जनकनदिनी को भी मैं नमस्कार करता हूँ । मैं, रुद्र, इन्द्र यम वायु चन्द्र अग्नि और मरुद्गण को भी नमस्कार करता हूँ ॥ ५९ ॥

स तेभ्यस्तु नमस्कृत्वा सुग्रीवाय च मारुतिः ।

दिश सर्वा समालोश्य ह्यशोकवनिका प्रति ॥६०॥

उन सब को श्रीर सुग्रीव को नमस्कार कर, पवनकुमार ने दसो दिशामों को अच्छी तरह देख कर अशोकवन की ओर प्रस्थान किया ॥ ६० ॥

स गत्वा मनसा पूर्वमशोकवनिका शुभाम् ।

उत्तर चिन्तयामास वानरो मारुतात्मजः ॥६१॥

उस मनोहर अशोकवाटिका में पवननन्दन हनुमानजी मन द्वारा तो पहिले ही पहुँच गए । तदनन्तर आगे के कर्तव्य के विषय में वे विचारने लगे ॥ ६१ ॥

ध्रुव तु रक्षोयहुला भविष्यति वनाकुला ।

अशोकवनिकाचिन्त्या सर्वं सस्कारसकृता ॥६२॥

उहोन विचारा कि अशोकवाटिका निश्चय ही बहुत साफ-सुथरी और सजी हुई होगी और उसकी रखवाली क लिए भी बहुत से राक्षस नियुक्त होंगे । घबरे उभे चल कर अवश्य डूटना चाहिए ॥ ६२ ॥

रक्षिणश्चात्र विहिता नूनं रक्षन्ति पादपान् ।

भगवानपि सर्वात्मा नातिक्षोभं प्रवाति वै ॥६३॥

अवश्य ही वहाँ के पेड़ों की रखवाली के लिए रखवाले होंगे । भगवान् विश्वात्मा पवनदेव भी पेड़ों को झकझोरते हुए, वहाँ न बहने पाते होंगे ॥ ६३ ॥

संक्षिप्तोऽयं मयात्मा च रामार्थे रावणस्य च ।

सिद्धिं दिशन्तु मे सर्वे देवाः सर्षिगणास्त्विह ॥६४॥

अतः श्रीरामचन्द्रजी का कार्य पूरा करने के लिए श्रीराम रावण की दृष्टि से अपने को बचाने के लिए, मैंने अपने शरीर को छोटा कर लिया है । अतः इस समय देवगण और ऋषिगण मेरा अभीष्ट पूरा करें ॥ ६४ ॥

ब्रह्मा स्वयंभूर्भगवान्देवाश्चैव दिशन्तु मे ।

सिद्धिमग्निश्च वायुश्च पुरुहूतश्च वज्रभृत् ॥६५॥

वरुणः पाशहस्तश्च सोमादित्यौ तथैव च ।

अश्विनौ च महात्मानौ मरुतः शर्व एव च ॥६६॥

सिद्धिं सर्वाणि भूतानि भूतानां चैव यः प्रभुः ।

दास्यन्ति मम ये चान्ये ह्यदृष्टाः पथि गोचराः ॥६७॥

भगवान् स्वयम् ब्रह्मा, देवतागण, तपस्वीगण, अग्नि, वायु, वज्रधारी इन्द्र, पाशहस्त वरुण, चन्द्रमा, सूर्य, महारामा अश्विनीकुमार, जननासो मरुत् और रुद्र, समस्त प्राणिगण और समस्त प्राणियों के प्रभु श्रीमन्नारायण तथा अदृश्य भाव से विचरने वाले अन्य देवगण-मेरा काम पूरा करें ॥ ६५ ॥
॥ ६६ ॥ ६७ ॥

तदुन्नसं पाण्डुरदन्तमन्नं

शुचिस्मितं पद्मपलाशलोचनम् ।

द्रक्ष्ये तदार्याविदनं कदान्वह

प्रसन्नताराविपतुल्यदर्शनम्

॥६८॥

ना जानूँ कब मैं उन सती एव कमलनयनी सीता का उच्च नासिका विभूषित, श्वेतदन्तशोभित, भद्रमुखक्या न युक्त और चेचक के दागों से रहित मुखारविन्द का दर्शन पाऊँगा ॥ ६८ ॥

क्षुद्रेण पापेन नृशंसकर्मणा

सुदारुणालंकृतवेषधारिणा ।

बलाभिभूता ह्यबला तपस्विनी

कथं नु मे दृष्टिपथेऽद्य सा भवेत् ॥६९॥

इति त्रयोदश सर्गं ॥

नीच, शोछे, घातक और भयकर रूप वाले रावण ने कपट रूप सजा कर, बलपूर्वक जिस अबला तपस्विनी सीता को हर लिया है, यह देखें, मुझे दिखलाई पड़ती है ॥ ६९ ॥

सुन्दरकाण्ड का तेरहवाँ सर्ग पूर्ण हुआ ।

— ० —

चतुर्दशः सर्गः

स मुहूर्तमिव ध्यात्वा मनसा चाधिगम्य ताम् ।

अवप्लुतो महातेजाः प्राकारं तस्य वेश्मनः ॥१॥

महातेजस्वी हनुमानजी मुहूर्त भर कुछ विचार तथा सीताजी का ध्यान कर, रावण के महल के परकोटे के नीचे उतर आए ॥१॥

स तु संहृष्टसर्वाङ्गः प्राकारस्थो महाकपिः ।

पुष्पिताग्रान्वसन्तादौ ददर्श विविधान्द्रुमान् ॥२॥

अशोकवाटिका के परकोटे की भीत पर बैठ कर, वसन्त भादि सब ऋतुओं में सदा फूलने वाले विविध वृक्षों को देख, महाकपि हनुमान का शरीर पुलकित हो गया ॥२॥

सालानशोकान्भव्यांश्च चम्पकांश्च सुपुष्पितान् ।

उद्दालकान्नागवृक्षांश्चूतान् कपिमुखानपि ॥३॥

उन वृक्षों में सुन्दर साल और अगोरु के पेड़ तथा भसी भाँति फूले हुए चम्पा के पेड़, ससोड़ा, नागकेसर और कपि के मुख की आकृति वाले आम के फलों के वृक्ष ये ॥३॥

अथान्नवनसंघर्षां लताशतसमावृताम् ।

ज्यामुक्त इव नाराचः पुप्लुवे वृक्षवाटिकाम् ॥४॥

आन्न के बन से आच्छादित और सँकड़ा लताया से वेष्टित उस अशोक वाटिका में रोसा से छुंटे हुए तीर की तरह, हनुमानजी उद्वत कर जा पहुँचे ॥४॥

स प्रविश्य विचित्रां तां विहगैरभिनादिताम् ।

राजतं काञ्चनैश्चैव पादपैः सर्वतो वृताम् ॥५॥

वहाँ जाकर हनुमानजी ने देखा कि वह वाटिका बड़ी अद्भुत है। वहाँ पर बड़े अनेक पत्तों कतरव कर रहे हैं और वे चारों ओर चाँदी और सोने के वृक्षों से शोभित हैं ॥५॥

विहगैर्मृगतंघंश्च विचित्रां चित्रकाननाम् ।

उदितादित्यसङ्काशां ददर्श हनुमान्कपिः ॥६॥

उसमें तरह-तरह के जीव-जन्तुओं और पक्षियों के कारण उसकी विचित्र शोभा ही रही थी। हनुमानजी ने वहाँ जाकर देखा कि, उदयकालीन सूर्य की तरह उस वाटिका की शोभा ही रही है ॥६॥

वृतां नानाविधैर्वृक्षैः पुष्पोपगफलोपगैः ।

कोकिलैर्मृङ्गराजैश्च मत्तैर्नित्यनिषेविताम् ॥७॥

उसमें विविध प्रकार के फलों और फूलों के वृक्ष हैं और उन पर मनुष्याणी कोपलें कूक रही हैं तथा और गुजार कर रहे हैं ॥७॥

प्रहृष्टमनुजे काले भृगपक्षिसमाकुले ।

मत्तबहिणसंघुष्टां नानाद्विजगणायुताम् ॥८॥

वहाँ पर जाने से मनुष्य का मन सदा प्रसन्न होता था और उनमें मृग और पक्षी भरे हुए थे । मतवाली मोरों नाचा करती और अनेक पक्षी वहाँ रहते थे ॥८॥

मार्गमाणो वरारोहां राजपुत्रीमनिन्दिताम् ।

सुखप्रसुप्तान्विहगान्वोधग्रामास वानरः ॥९॥

हनुमानजी ने सुन्दरी और अनिन्दिता राजकुमारी सीता को खोजते हुए, सुख की नीद में सोते हुए वहाँ के पक्षियों को जगा दिया ॥९॥

उत्पतद्भिर्द्विजगणं पक्षं सालाः समाहताः ।

अनेकवर्णा विविधा मुमुक्षुः पुष्पवृष्टयः ॥१०॥

जब समस्त पक्षी चोंके और परो को फँसाकर उड़े, तब इनके पक्षों से निकले हुए पवन के झोके से विविध वृक्षों ने रग-विरङ्गे पुष्पों की वर्षा की ॥१०॥

पुष्पावकीर्णः शुशुभे हनुमान्मास्तात्मजः ।

अशोकवनिकामध्ये यथा पुष्पमयो गिरिः ॥११॥

हनुमानजी फूलों के ढर से ढँक कर, उस अशोकवाटिका में उस समय फूलों के पहाड़ की तरह जान पड़ने लगे ॥११॥

दिशः सर्वाः प्रधावन्तं वृक्षघण्डगतं कपिम् ।

दृष्ट्वा सर्वाणि भूतानि वसन्त इति मेनिरे ॥१२॥

जब हनुमानजी वृक्षों ही वृक्षों पर चढ़े हुए उस वाटिका में चारों ओर घूमने लगे, तब उन्हें देख समस्त प्राणियों ने समझा कि, वसन्त ऋतु रूप पारण करके घूम रहा है ॥१२॥

वृक्षेभ्यः पतितैः पुष्परवकीर्णा पृथग्विधैः ।

रराज वसुधा तत्र प्रमदेव विभूयिता ॥१३॥

वृक्षों से गिरे हुए फूलों से ढक कर, वहाँ की भूमि शृङ्गार की हुई स्त्री की तरह शोभायमान जान पड़ने लगी ॥१३॥

तरस्विना ते तरवस्तरसाऽभिप्रकम्पिताः ।

कुसुमानि विचित्राणि ससृजुः कपिना तदा ॥१४॥

बलवान् हनुमानजी के जोर से हिलाने पर उन पेड़ों के रग-बिरगें फूल झड़ कर गिर पड़े ॥१४॥

निर्धूतपत्रशिखराः शीर्णपुष्पफलद्रुमाः ।

निक्षिप्तवस्त्राभरणा धूर्ता इव पराजिताः ॥१५॥

उनके केवल फूल ही नहीं, बल्कि पत्ते, फुनगियाँ और फल सब गिर पड़े । उस समय वे सब वृक्ष ऐसे जान पड़ते थे, जैसे जुझा में कपड़े-गहने हारे हुए जुवारी देख पड़ते हैं ॥१५॥

हनूमता वेगवता कम्पितास्ते नगोत्तमाः ।

पुष्पपर्णफलान्याशु सुमुचुः पुष्पशालिनः ॥१६॥

पवननन्दन द्वारा जोर से हिलाए हुए फूलने-फलने वाले उन उत्तम वृक्षों ने, अपने-अपने फूल-पत्ते तुरन्त गिरा दिये ॥१६॥

विहङ्गसङ्घैर्हीनास्ते स्कन्धमात्राथया द्रुमाः ।

बभ्रुवुरगमाः सर्वे मारुतेनेव निर्धुताः ॥१७॥

पक्षियों से रहिन उन वृक्षों में केवल गुद्दे ही गुद्दे रह गए । हवा द्वारा भट्ट किए हुए वृक्षों की तरह वे वृक्ष, अब किसी पक्षी के बैठने योग्य नहीं रह गए ॥१७॥

निर्धूतकेशी युवतिर्यथा मृदितपर्णका ।

निष्पीतशुभदन्तोष्ठी नखैर्दन्तैश्च विक्षता ॥१८॥

उन समय अशोकवाटिका ऐसी जान पड़ती थी, जैसी वह तरुणी स्त्री जान पड़ती है जिमके सिर के बाल बिखरे हों, तिलक पोछा हुआ हो, ओठों में दाँत से काटने के घाव हों तथा अन्य अंगों में भी दाँतों और नखों के घाव लगे हों ॥१८॥

तथा लाङ्गूलहस्तैश्च चरणाम्भ्यां च मर्दिता ।

वभूवाशोकवनिका प्रभग्नवरपादपा ॥१६॥

हनुमानजी की पूँछ, हाथ और दोनों पैरों से मर्दित होने के कारण, अशोकवाटिका के समस्त उत्तमोत्तम वृक्ष छिन्नभिन्न हो गये ॥ १६ ॥

महालतानां दामानि व्यधमत्तरसा कपिः ।

यथा प्रावृषि विन्ध्यस्य मेघजालानि मारुतः ॥२०॥

जिस प्रकार वर्षा ऋतु में तेज हवा मेघों को छिन्नभिन्न कर देती है; उसी प्रकार हनुमानजी ने बड़ी तेजी से वहाँ की बड़ी-बड़ी लताओं को छिन्नभिन्न कर डाला ॥ २० ॥

स तत्र मणिभूमीश्च राजतीश्च मनोरमाः ।

तथा काञ्चनभूमीश्च ददर्श विचरन्कपिः ॥२१॥

वहाँ घूमने-फिरते हनुमान जी ने रजतमयी, मणिमयी और सुवर्णमयी विविध प्रकार की मनोहर भूमियाँ देखीं ॥ २१ ॥

वापीश्च विविधाकाराः पूर्णाः परमवारिणा ।

महाहर्मणिसोपानैरुपपन्नास्ततस्ततः ॥२२॥

सुस्वादु मीठे जल से भरी विविध आकार प्रकार की बावली वहाँ हनुमानजी ने देखी । इन बावलियों की सीढ़ियों में बड़ी मूल्यवान मणियाँ जड़ी हुई थी ॥ २२ ॥

मुक्ताप्रवालसिकताः स्फाटिकान्तरकुट्टिमाः ।

काञ्चनैस्तर्हिश्चित्रैस्तीरजैरुपशोभिताः ॥२३॥

उनमें मार्ती और भूगे ही बालू की तरह देख पड़ते थे और उनकी तली में स्फटिक पर्यर जडा हुआ था । उसके तीर पर रग-बिरंगे वृक्षों के सुनहले चित्र शोभायमान थे ॥ २३ ॥

फुल्लपद्मोत्पलवनरश्चक्रवाकोपकूजिताः ।

नत्पूहस्तसंघुष्टा हंससारसनादिताः ॥२४॥

उसमें फूल हुए कमलों के वन से देख पड़ते थे और चक्र-बाक पक्षी गूँज रहे थे । वायूह, हंस और क्षारस्य पक्षी बोल रहे थे ॥ २४ ॥

दीर्घाभिर्द्रुमयुक्ताभिः सरिद्भिश्च समन्ततः ।

अमृतोपमतोयाभिः शिवाभिरुपसस्कृताः ॥२५॥

उन बापियों के चारों ओर बड़े बड़े वृक्ष लगे थे और छोटी-छोटी नदियाँ बह रही थीं । उन बापियों में अमृतोपम-स्वादिविष्ट जल भरा हुआ था जो भीतरी स्रोतों से उन बापियों में पहुँचा करता था ॥ २५ ॥

लताशर्तरेवतताः सन्तानकुसुमावृताः ।

नानागुल्मावृतधनाः करवीरकृतान्तराः ॥२६॥

उनके ऊपर लता के मण्डप बने हुए थे और वे कल्पवृक्ष के फूलों से घिरे हुए थे । विविध गुच्छों से उनका जल ढँका हुआ था और करवीर से उनके बीच में छिद्र से बने हुए थे ॥ २६ ॥

ततोऽन्वुधरसङ्काशं प्रवृद्धशिखरं गिरिम् ।

विचित्रकूटं गूर्दंश्च सर्धतः परिवारितम् ॥२७॥

उसके समान उच्च शिखरों वाला एक अद्भुत पर्वत वहाँ चारों ओर फैला हुआ था ॥ २७ ॥

शिलागृहैरवततं नानावृक्षैः सभाकुलम् ।

ददर्श हरिशाईलो रम्यं जगति पर्वतम् ॥२८॥

उस पर्वत में अनेक पत्थर के गुफानुमा घर बने हुए थे, जिनके चारों ओर अनेक वृक्ष थे । ससार भर के पर्वतों में रमणीक इस पर्वत को हनुमानजी ने देखा ॥ २८ ॥

ददर्श च नगात्तस्माद्भर्तुं निपतितां कपिः ।

अङ्गादिव्र समुत्पत्य शिवस्य पतितां प्रियाम् ॥२९॥

१ शिवाभि — सरिद्भिः उपसस्कृता नित्य पूणत्वाय प्रापिता । (शि०)

इस पर्वत से निकल कर एक नदी बह रही थी हनुमानजी को वह ऐसी जान पड़ी मानी, कोई प्रियतमा कामिनी कुपित हो अपने प्रियतम की गोद को त्याग कर, भूमि पर गिर पड़ी हो ॥ २६ ॥

जले निपतिताग्रैश्च पादपैरुपशोभिताम् ।

वार्यमाणामिव ऋद्धां प्रमदां प्रियवन्धुभिः ॥३०॥

जैसे कोई मानी को कामिनी कुपित हो अपने प्रियतम को त्याग अन्यत्र जाना पाहे और उसका प्यारी मुन्नी-महेनियां उन रोक रही हों, वैसे ही उस नदी के तीरवर्ती वृक्षों की डालियां उन में डूबी हुईं इनी भाव को प्रदर्शित कर रही थी ॥ ३० ॥

पुनरावृत्ततोयां च ददर्श स महाकपिः ।

प्रसन्नामिव कान्तस्य कान्तां पुनरुपस्थिताम् ॥३१॥

हनुमानजी ने देखा कि कुछ दूर जा कर नदी का जल पुन पीछे भा रहा है । मानो वह लौट आई कामिनी प्रसन्न होकर लौट कर प्रियतम के समीप आ रही है ॥ ३१ ॥

तस्यादूररुच्च पश्चिन्यो नानाद्विजगणायुताः ।

ददर्श हरिशादूलो हनुमान्मास्तात्मजः ॥३२॥

पवननन्दन हनुमानजी ने देखा कि, उस नदी से कुछ दूर हट कर, प्रनेत्र जाति के पक्षियों से युक्त और कमल के फूलों से घोनित एक पुष्करिणी है ॥ ३२ ॥

कृत्रिमां दीर्घिकां चापि पूर्णां शोभेन वारिणा ।

मणिप्रवरसोपानां मुक्तासिकतशोभिताम् ॥३३॥

छिद्र हनुमान जी ने एक दनावटी और मध्या-बोडा मरुवर जी देखा, जो टटे जल से परिपूर्ण था और त्रिपत्नी नीदियां मणिमयी थीं । वे मुक्तामयी बालू से घोनित थीं ॥ ३३ ॥

विधिर्धर्मगुणैश्च विचित्रां चित्रकाननाम् ।

प्रासादः मुमहृद्भिश्च निर्मितैर्विश्वकर्मणा ॥३४॥

अनेक प्रकार के मृगा से और चित्र विचित्र वनो से पूष तथा अनेक बहुत बड़े-बड़े भवनो से शोभित, उम धाटिका को विश्वकर्मा ने बनाया था ॥ ३४ ॥

कानने कृत्रिमैश्चापि सर्वत समलकृताम् ।

ये केचित्पादपास्तत्र पुष्पोपगफलोपगा ॥ ३५ ॥

नकली वनो से वह धारो और से सजाई गयी थी । यहाँ जितन फूलन और फलन वानि वृक्ष समे थे ॥ ३५ ॥

सच्छत्रा सवितर्वाका सर्वे सौवर्णवेदिका ।

लताप्रतानंत्रंहुभि पर्णैश्च ब्रह्मिवृताम् ॥ ३६ ॥

वे सब छाते की तरह ऊपर से फैल हुए छाया किए हुए थे उनके चारो ओर चबूतर बन हुए थे जिन पर चढ़न के लिए सोन की सीढियाँ थी । वहाँ अनेक लताओं के जाल से छाए हुए थे जिनके पत्तो से वहाँ छाया बनी रहती थी । ३६ ॥

काञ्चनीं शिशुपामेका ददर्श हनुमान्कपि ।

वृता हेममयीभिस्तु वेदिकाभि समन्तत ॥ ३७ ॥

तदनन्तर हनुमानजी न सुनहले रङ्ग का शिशुपा वृक्ष देखा । उसका थेंबला सोने का बना हुआ था ॥ ३७ ॥

सोऽपश्यद्भूमिभागाश्च गर्तप्रलवणानि च ।

सुवर्णवृक्षानपरान्ददर्श शिखिसन्निभान् ॥ ३८ ॥

इनके प्रतिरिक्त हनुमानजी न वहाँ अनेक भूभाग (बयारिया), पहाडी परत तथा अथ अग्नि की तरह कातिमान् सुवर्ण के रङ्ग के वृक्ष भी देखे ॥ ३८ ॥

तेषां द्रुमाणा प्रभया मेरोरिव दिवाकर ।

अमन्यत तथा वीर काञ्चनोस्मीति वानर ॥ ३९ ॥

सुमेरु के मत्स्य से जिस प्रकार मूय भगवान् प्रदीप्त हो जाते हैं उसी प्रकार उन समस्त सुनहल वनो की प्रभा से हनुमानजी ने अपन को सुवर्णमय जाना ॥ ३९ ॥

१ सौवर्णवेदिका — विन्दिकारोहणाथ सुवर्णमयसोपानवेदिकायुक्ता । (गो०)

तां काञ्चनैस्तर्हणमर्हतेन च वीजिताम् ।

किङ्किणीशतनिर्घोषां दृष्ट्वा विस्मयमागमत् ॥४०॥

जब वे पेठ वायु के शोके से हिले, तब उनमें से असह्य घुघुहमो के एक साथ झनकारने का शब्द हुआ । इससे हनुमानजी को बड़ा आश्चर्य हुआ ॥४०॥

स पुष्पिताग्रां रुचिरां तरुणाङ्कुरपल्लवाम् ।

तामारुह्य महाबाहुः शिशुपां पर्णसंवृताम् ॥४१॥

सुन्दर पुष्पो वाले, मदीन अकुरों तथा पत्तों से युक्त, दीप्तिमान् उन वृक्षों में से उस शिशुपा वृक्ष पर हनुमानजी चढ़ गए और उसके पत्तों में अपने को छिपा लिया ॥ ४१ ॥

इतो द्रक्ष्यामि वैदेही रामदर्शनलालसाम् ।

इतश्चेतश्च दुःखार्तां सम्पतन्तीं यदृच्छया ॥४२॥

वहाँ बैठ वे विचारने लगे कि, यहाँ से कदाचित् मैं सीता को देख सकूँ । क्योंकि दुःख से विकल हो, वह श्रीरामचन्द्रजी के दर्शन की लालसा किए हुए, इधर-उधर घमती देवात् इधर आ निकले ॥ ४२ ॥

अशोकवनिका चेयं दृढं रम्या दुरात्मनः ।

चम्पकैश्चन्दनैश्चापि बकुलैश्च विभूषिता ॥४३॥

यह रावण की अशोकवाटिका अति रमणीक है । चन्दन, चपा और मौलसिरी के वृक्ष इसकी शोभा बढा रहे हैं ॥ ४३ ॥

इयं च नलिनी रम्या द्विजसङ्घनिषेविता ।

इमां सा राममहिषी ध्रुवमेष्यति जानकी ॥४४॥

यह पुष्करिणी भी कमलो से पूर्ण है और इसके चारों ओर बैठे हुए पक्षी भी इसकी शोभा बढा रहे हैं । अतः श्रीरामचन्द्रजी की महिषी सीता यहाँ ध्रुवस्य आवेगी ॥ ४४ ॥

सा रामा राममहिषी राघवस्य प्रिया सती ।

वनसञ्चारकुशला ध्रुवमेष्यति जानकी ॥४५॥

श्रीराम की प्यारी जानकी वनों में घूमने में चतुर हैं; अतः वह घूमती-
घामती अवश्य यहाँ आवेंगी ॥ ४५ ॥

अथवा मृगशावाक्षी वनस्यास्य विचक्षणा^१ ।

व नमेप्यति सायँह रामचिन्तासुर्काशिता ॥४६॥

अथवा वनविचरणप्रिया मृगशावकनयनी सीता वन सम्बन्धी ढूँढ-खोज में
चतुर है, सो वह श्रीरामचन्द्रजी की चिन्ता में विकल हो और उस चिन्ता को कम
करने के लिए बहुत सम्भव है, यहाँ आवे ॥ ४६ ॥

रामशोकाभिसन्तप्ता सा देवी वामलोचना ।

वनवासे रता नित्यमेप्यते वनचारिणी ॥४७॥

वह वामलोचना सीता, श्रीरामचन्द्रजी के वियोगजनित शोक से सतप्त है
और वनवास का उसे अभ्यास है, अतः उस वनचारिणी का इधर आना सम्भव
है ॥ ४७ ॥

वनेचराणां सततं नूनं स्पृहयते पुरा ।

रामस्य दयिता भार्या जनकस्य सुता सती ॥४८॥

श्रीरामचन्द्रजी की प्रिय भार्या और सती जनकनन्दिनी, वन के मृगों और
पक्षियों पर अति प्रेम रखती थी ॥ ४८ ॥

सन्ध्याकालमनाः श्यामा ध्रुवमेप्यति जानकी ।

नदीं चेमां शिवजलां सन्ध्यायै वरवर्णिनी ॥४९॥

प्रातः और सन्ध्याकाल में स्नान, जप आदि करने वाली तथा सदा सोलह
वर्ष जैसी देव पढ़ने वाली तथा सुदूर वर्ण वाली जानकी, इस नदी के स्वच्छ
जल में स्नानादि तथा *ईश्वरोपासना करने अवश्य आवेंगी ॥ ४९ ॥

१ वनस्यास्य विचक्षणा — वनसम्बन्धन्यन्वेपणादिकुशला । (गो०)

* "सन्ध्यायै" का अर्थ टीकाकारों ने ईश्वरोपासना इसलिए किया है
कि, धर्मशास्त्रों ने स्त्रियों को, पुरुषों की तरह वैदिक विधि विधान से
सन्ध्योपासन करने का अधिकार नहीं दिया ।

तस्याश्चाप्यनुरुपेयमशोकवनिता शुभा ।

शुभा या पार्थिवेन्द्रस्य पत्नी रामस्य समता ॥५०॥

राजेन्द्र श्रीरामचन्द्र की श्रेष्ठ एव प्यारी भार्या जानकी के भाने के लिए यह उत्तम अशोकवाटिका संवया उपयुक्त भी है ॥ ५० ॥

यदि जीवति सा देवी ताराधिपनिभानता ।

आगमिष्यति साऽवश्यमिमा शिवजला नदीम् ॥५१॥

यदि वह चन्द्राननी जानकी बची जाती है, तो वह शुभ या शुद्ध जल वाली इस नदी के तट पर अवश्य ही आवेगी ॥ ५१ ॥

एव तु मत्वा हनुमान्महात्मा

प्रतीक्षमाणो मनुजेन्द्रपत्नीम् ।

अवेक्षमाणश्च ददर्श सर्व

सुपुष्पिते पत्रघने निलीन ॥५२॥

इस प्रकार महात्मा हनुमानजी उस फूले हुए शिशपावृक्ष के घने पत्तों में छपने को छिपाए, सीता के भाने की प्रतीक्षा करते हुए घोर चारो घोर घ्राँल फँला कर देखते हुए, बैठे रहे ॥ ५२ ॥

सुन्दरकाण्ड का चौदहवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

पञ्चदशः सर्गः

स वीक्षमाणस्तत्रस्थो मार्गमाणश्च मैथिलीम् ।

अवेक्षमाणश्च महीं सर्वा तामन्वैक्षत् ॥१॥

हनुमानजी उस वृक्ष पर बैठे हुए, सीताजी को ढूँढने के लिए पृथिवी पर चारो घोर दृष्टि फँला कर देख रहे थे ॥ १ ॥

सन्तानकलताभिश्च पादपैरुपशोभिताम् ।

दिव्यगन्धरसोपेता सर्वत समलकृताम् ॥२॥

वह बन कलमवृक्षों की लताओं और वृक्षों से शोभित, दिव्य गन्धों और दिव्य रसों से पूण और सबत्र सजा हुआ था ॥ २ ॥

तां स नन्दनसङ्काशां मृगपक्षिभिरावृताम् ।

हर्म्यप्रासादसंवाधां कौकिलाकुलनिःस्वनाम् ॥३॥

वह वन नन्दनवन के तुल्य, मृगों और पक्षियों से पूर्ण अटारियों से युक्त, भवनों से सघन और कौकिल की कूज से कूजित था ॥ ३ ॥

काञ्चनोत्पलपद्माभिर्वापीभिरुपशोभिताम् ।

वह्निासनकुयोपेता बहुभूमिगृहायुताम् ॥४॥

उसमें सुवर्ण के कमलों वाली बाधियाँ थी और वहाँ बैठने के लिए सुन्दर बैठकी बनी हुई थी और उनपर विछीने पड़े हुए थे । उसमें पृथिवी के नीचे अनेक तहखाने भी थे ॥ ४ ॥

सर्वर्तुकुमुभैः रम्यां फलवद्भिश्च पादपैः ।

पुष्पितानामशोकानां श्रिया सूर्योदयप्रभाम् ॥५॥

प्रदीप्तामिव तत्रस्थो हनूमानन्ववैक्षत ।

निष्पन्नशाखा विहगैः क्रियमाणामिवासकृत् ॥६॥

उसमें ऐसे वृक्ष लगे हुए थे, जिनमें सब ऋतुओं में फल और फूल लगे रहते थे । फूले हुए अशोक वृक्ष की कान्ति से मानो वहाँ सूर्योदय की प्रभा फैल रही थी । हनुमानजी ने देखा कि, पेड़ों की डालियों पर अनेक पक्षी अपने दोनों परो को फैलाए और पत्तों को ढँके बैठे थे, जिसमें ऐसा जान पड़ता था, मानों वृक्षों की डालियों में पत्ते हैं ही नहीं ॥ ५ ॥ ६ ॥

विनिष्पतद्भिः शतशश्चित्रैः पुष्पावतंसकैः^१ ।

आमूलपुष्पनिचितैरशोकैः शोकनाशनैः ॥७॥

संकड़ों रंग-विरम पक्षी जो अपनी चोंचों में फूलों को दबाए हुए थे, आमूलपुष्पों से सजे हुए वे जान पड़ते थे । जड़ स लेकर फुनगी तक फूले हुए और मन को हर्षित करने वाले अशोक वृक्ष ॥ ७ ॥

१ पाठान्तरे—मावृति समुदक्षत । २ पुष्पावतंसकै—चञ्चुपुटलग्नपुष्पा-सकृर्त्तित्यर्थ । (शो०)

पुष्पभारातिभारैश्च स्पृशद्भिरिव मेदिनीम् ।

कर्णिकारैः कुसुमितैः किशुकैश्च सुपुष्पितैः ॥८॥

फूलों के बोझ से झुक कर, मानो पृथिवी को छू रहे थे । फूले हुए कर्णिकार और टेंसू के फूलों की ॥ ८ ॥

स देशः प्रभया तेषां प्रदीप्त इव सर्वतः ।

पुंनागाः सप्तपर्णाश्च चम्पकोद्दालकास्तथा ॥९॥

प्रभा से, वह स्थान सर्वत्र प्रदीप्त सा जान पड़ता था अर्थात् उन लाल लाल फूलों से ऐसा जान पड़ता था मानो, चारों ओर प्राग सगी हुई है । नागनेसर द्वितिक्रम, चपा, लसोडा ॥ ९ ॥

विवृद्धमूला बहवः शोभन्ते स्म सुपुष्पिताः ।

शातकुम्भनिभाः केचित्केचिदग्निशिखोपमाः ॥१०॥

आदि बड़ी-बड़ी जड़ों वाले फूले हुए वृक्ष वहाँ की शोभा बढ़ा रहे थे । इन वृक्षों में कोई तो मुनहले रंग के, कोई अग्नि की तरह लाल रंग के ॥ १० ॥

नीलाञ्जननिभाः केचित्त्राशोकाः सहस्रशः ।

नन्दनं विवृधोद्यानं चित्रं चैत्ररथं यथा ॥११॥

अतिवृत्तमिवाचिन्त्यं दिव्यं रम्यं श्रिया वृत्तम् ।

द्वितीयमिव चाकाशं पुष्पज्योतिर्गणायुतम् ॥१२॥

और कोई काजल का तरह लाल रंग के थे । इस प्रकार के रंग-विरणों हजारों अशोक वृक्ष वहाँ थे । यह अशोकवाटिका इन्द्र के नन्दनकानन और कुबेर के चैत्ररथ नामक उद्यान से भी उत्तमता, रमणीयता और सौन्दर्य में बढ़ी-बढ़ी थी । इससे सौन्दर्य की कल्पना भी करना सम्भव नहीं है । वहाँ तो कह सकते हैं कि, रावण का अशोक उद्यान पुष्परूपी तारागण से युक्त दूधर आकाश के समान था ॥ ११ ॥ १२ ॥

पुष्परत्नशतैश्चित्रं पञ्चमं सागरं यथा ।

सर्वतुपुष्पैर्नित्तं पादपमंघगन्धिभिः ॥१३॥

प्रयथा पुष्परूपी संकटो रग-विरंगे रत्नों से भरा पांचवाँ सागर था । सब ऋतुओं में इसमें फूलों के ढेर लगे रहते थे और मधुर गन्धयुक्त वृक्षों से यह सँवारा हुआ था ॥ १३ ॥

नानानिनादैरुद्यानं रम्यं मृगणर्णैर्द्विजैः ।

अनेकगन्धप्रयहं पुण्यगन्धं मनोरमम् ॥१४॥

शैलेन्द्रमिव गन्धाढ्यं द्वितीयं गन्धमादनम् ।

अशोकवनिकायां तु तस्यां वानरपुङ्गवः ॥१५॥

इसमें विविध प्रकार के पक्षी कूजा करते और तरह-तरह के पक्षी और मृग रहा करते थे । विविध प्रकार की मनोहर सुगंधों से सुवासित मानो यह दुसरा गिरिश्येष्ठ गन्धमादन था । इस अशोकवाटिका में हनुमानजी ने ॥ १४ ॥ १५ ॥

स ददर्शाविदूरस्थ चैत्यप्रासादमुच्छ्रितम् ।

मध्ये स्तम्भसहस्रेण स्थितं कैलासपाण्डुरम् ॥१६॥

समीप ही एक ऊँचा और गोलाकार भवन देखा । उसके बीच में एक हजार स्तम्भों में और उसका रंग कैलास पर्वत की तरह सफेद था ॥ १६ ॥

प्रवालकृतसोपानं तप्तकाञ्चनवेदिकम् :

मुष्णन्तमिव चक्षूषि द्योतमानमिदं श्रिया ॥१७॥

उसकी सीढियाँ मूँगे की और उसके चबूतरे सोने के थे । वह भवन ऐसा चमक रहा था कि उसकी ओर देखने से आँखें चोंधिया जाती थीं ॥ १७ ॥

विमलं प्रांशुभावत्वाद्बुल्लिखन्तमिवाम्बरम् ।

ततो मलिनसंवीतां राक्षसीभिः समावृताम् ॥१८॥

उपवासकृशां दीनां निःश्वसन्तीं पुनः पुनः ।

ददर्श शुक्लपक्षादौ चन्द्ररेखामिवामलाम् ॥१९॥

वह भवन बहुत साफ-स्वच्छ था और ऊँचाई में आकाश से बाने करता था । उसमें मैंने कपड पहिन हुए और राक्षसियों से धिरी, उपवास से क्रुश, उदास और बार-बार लबी साँस लेती ई और शुक्लवश के आरम्भ की चन्द्ररेखा की तरह निमल, एक स्त्री को हनुमानजी ने देखा ॥ १५ ॥ १६ ॥

मन्दं प्रहयायमानेन रूपेण रुचिरप्रभाम् ।

पिनद्धां धूमजालेन शिखामिव विभावसोः ॥२०॥

मनोहर कान्तियुक्त सीमा जो का रूप, जो घुमें ने ढँकी हुई अग्निशिखा की तरह बडो कठिनाई में देखने में आता था, हनुमानजी ने देखा ॥ २० ॥

पीतेनैकेन संवीतां क्लिष्टेनोत्तमवाससा ।

सपञ्चामनलंकारां विपद्यामिव पद्मिनीम् ॥२१॥

वह एक पुरानी पीले रंग को उत्तम साडी पहिने हुए और आभूषण रहित होने से पुष्पहीन कमलिनी की तरह शोभाहीन जान पडती थी ॥ २१ ॥

'पीडितां दुःखसन्तप्तां परिम्लानां तपस्विनीम् ।

ग्रहेणाङ्गारकेणेव पीडितामिव ५रोहिणीम् ॥२२॥

पीडित और दु ख से सन्तप्त, अत्यन्त दुबल तपस्विनी जानकी—मङ्गलग्रह से सताई हुई रोहिणी की तरह, उदास घान पडती थी ॥ २२ ॥

अश्रुपूर्णमुखीं दीनां कृशामनशनेन च ।

शोकध्यानपरां दीनां नित्यं दुःखपरायणाम् ॥२३॥

सदा शोकान्वित और चिन्तित और उदास रहने और उपवास करने के कारण, वह दुबली हो गई थी और उनको भालो से आँसुओं की पारा बह रही थी ॥ २३ ॥

स्त्रियं जनमपश्यन्ती पश्यन्तीं राक्षसीगणम् ।

स्वगणेन मृगों हीनां श्वगणाभिवृतामिव ॥२४॥

उनके नेत्रों के सामने सदा राक्षसियां रहा करती थीं । वह अपने प्रियजन श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण को न देखने के कारण, झुंड से बिछड़ी और शिकारी कुत्तों से घिरी हिरनी की तरह व्रस्त और घबड़ाई हुई थी ॥ २४ ॥

नीलनागाभया वेण्या जघनं गतयंकया ।

नीलया नीरदापाये वनराज्या महोमिव ॥२५॥

काले साँप की तरह जो चोटी उनकी जाँघ पर पड़ी थी वह ऐसी जानू पड़ती थी जैसे घरद ऋतु में नील वर्ण वाली वनपक्षि से पृथिवी-जान पड़ती है ॥ २५ ॥

सुखार्हा दुःखसन्तप्तां व्यसनानामकोविदाम् ।

तां समीक्ष्य विशालाक्षीमधिकं मलिनां कृशाम् ॥२६॥

तर्कयामास सीतेति कारणरूपपादिभिः ।

ह्लियमाणा तदा तेन रक्षसा कामरूपिणा ॥२७॥

सुख भोगने योग्य और कभी दुःख न भोगे हुए, किन्तु अब दुःखसन्तप्त, मलिन वेश बनाए और दुबली-मटली उस विशाल नयनी को देख, हनुमानजी ने तर्क-वितर्क द्वारा अनेक कारणों से अपने मन में निश्चय किया कि, यही सीता है । वह मन ही मन कहने लगे कि, कामरूपी रावण जब इनको हर कर लिये माता था ॥ २६ ॥ २७ ॥

ययारूपा हि दृष्टा वै तथारूपेयमङ्गना ।

पूर्णचन्द्राननां सुभ्रूं चारुवृत्तपयोधराम् ॥२८॥

तब मैंने जैसी रूप वाली स्त्री देखी थी, वैसा ही रूप इस स्त्री का है । क्योंकि उसी की तरह यह पूर्णचन्द्रवदनी है, इसकी सुन्दर भौंहें हैं तथा इसके गोल पयोधर हैं ॥ २८ ॥

दुष्प्रेतदुष्प्रेतं मीमांसां हनुमान्मन्त्रद्वयम् ।

सुष्प्रेतानि च शशां हनुमां ब्रह्मन्मन्त्रैर्गताम् ॥१७॥

इत्युक्तं च मीमांसां च सुष्प्रेतानि चैव च ॥ १७ ॥

मीमांसा के मीमांसा की मन्त्र, बड़े मीमांसा के मन्त्र ॥ १७ ॥

नां कर्मोद्धार विद्यायाश्चैव राजपुत्रीमनिन्दितान् ।

सर्वप्रामाण्यं मीमांसि ब्रह्मन्मन्त्रादिभिः ॥१८॥

मीमांसि, विद्यायाश्चैव राजपुत्री मीमांसा की देव कर, हनुमा
कायों के मीमांसा पर मीमांसि विद्या और विद्या के मीमांसि
मीमांसा ॥ १८ ॥

यदेह्या यानि चाङ्गेषु तदा रामोऽन्वकीर्तयत् ।

नान्याभरणजानानि शास्त्रागोमन्थितक्षयत् ॥१९॥

मीमांसा की वद्विधाने का मुख्य कारण यह था कि, मीमांसा
की मीमांसा पर दिन कामुपणों का होना बड़ा दिना था, मीमांसा
के कामुपण हनुमानजी ने मीमांसा के मीमांसा पर देते ॥१९॥

गुफुनो फर्णवेष्टो च मयदंष्ट्री च सुसंस्थितौ ॥

मणिधिद्रुमचित्राणि हस्तेष्वभरणानि च ॥२०॥

श्यामानि चिरयुषतत्त्वात्तथा संस्थानवन्ति च ।

तान्येयैतानि मन्येऽहं यानि रामोऽन्वकीर्तयत् ॥२१॥

गानों में बहुत अच्छे बने हुए कृष्ण और बुद्धि के दाँतों के दाँत ।
गानों की लकड़ों और हाथों में मूँगा तथा मणियों के बड़ाक काम ।
महान् दाँतों से गानों न करने के कारण काले ही गए थे, किन्तु वे
(इसमें देख हनुमानजी ने मन ही मन कहा कि) वे मे ही मूषण ह
कीरामपात्री ने यतलाया था ॥२०॥२१॥

तत्र यान्यवहीनानि तान्यहं नोपलक्षये ।

यान्यस्या नावहीनानि तानीमानि न संशयः ॥२४॥

सोपसर्गा यथा सिद्धिं बुद्धिं सकलुषामिव ।

अभूतेनापवादेन कीर्तिं निपतितामिव ॥३४॥

अथवा विघ्ननुक्त सिद्धि की तरह, अथवा क्लृप्त (विगड़ी हुई) बुद्धि की तरह, अथवा असत्य अनुवाद की तरह, अथवा लुप्तप्राय नीति की तरह ॥ ३४ ॥

रामोपरोधव्यथितां रक्षोहरणकशिताम् ।

अबलां भृगुशावाक्षीं वीक्षमाणां समन्ततः^१ ॥३५॥

राक्षस द्वारा हरी जाने पर तथा श्रीरामचन्द्रजी से मिलने में बाधा पड़ने के कारण, शोक से विकल भृगुशास्त्रिणपत्नी यह अबला, घबड़ा कर चारों ओर देख रही है ॥ ३५ ॥

वाष्पाम्बुपरिपूर्णं कृष्णवक्राक्षिपद्मणा ।

वदनेनाप्रसन्नेन निःश्वसन्तो पुनः पुनः ॥३६॥

काली बरीनिया से मुक्त आनु-भरे नेना और उदास मुह्र वालो वह अबला बार-बार साँसें ले रही है ॥३६॥

मलपङ्कधरां दीनां मण्डनार्हामिमण्डिताम् ।

प्रभां नक्षत्रराजस्य कालनेर्घरिवावृताम् ॥३७॥

यह आभूषण धारण करने योग्य होने पर भी आनन्द शून्य सी हो रही है और इसके शरीर में मैन लगा हुए हैं तथा यह अत्यन्त उदास हो रही है; मानो प्रलदकान्तिन नेपो ने देखी चन्द्रमा की प्रभा हो ॥३७॥

तस्य सन्दिदिहे बुद्धिर्मुहुः सीतां निरीक्ष्य तु ।

आम्नायानामयोगेन विद्यां प्रशिक्षिलामिव ॥३८॥

इस प्रकार सीता को देख, हनुमानजी की बुद्धि बँन हो चक्कर में पड़ गई, जैसे अनन्यन्त विद्या, क्षिप्त पड़ जाती है ॥३८॥

१ पाठान्तरे—"तवल्लत. ।"

दुःखेन बुबुधे सीतां हनुमाननलङ्कृताम् ।

संस्कारेण यथा हीनां वाचमर्थान्तरं गताम् ॥३६॥

हनुमानजी ने सीता को अलंकारहीन देख कर, शब्दव्युत्पत्तिहीन ** प्रतिपादक किसी वाक्य की तरह, बड़ी कठिनाई से पहचाना ॥३६॥

तां समीक्ष्य विशात्ताक्षीं राजपुत्रीमनिन्दिताम् ।

तर्कयामास सीतेति कारणरूपपादिभिः ॥४०॥

अनिन्दिता, विशात्ताक्षी राजपुत्री सीता को देख कर, हनुमानजी ने कारणों के आधार पर तर्क वितर्क किया और विचारने लगे कि, सीता है ? ॥४०॥

वन्देह्या यानि चाङ्गेषु तदा रामोऽन्वकीर्तयत् ।

तान्याभरणजालानि शाखाशोभीन्यलक्षयत् ॥४१॥

सीताजी को पहिचानने का मुख्य कारण यह था कि, श्रीरामचन्द्र सीता के शरीर पर जिन आभूषणों का होना बतला दिया था, उनमें से आभूषण हनुमानजी ने सीता के शरीर पर देखे ॥४१॥

सुकृतौ कर्णवेष्टी च श्वदष्टौ च सुसंस्थितौ ॥

मणिविद्रुमचित्राणि हस्तेष्वाभरणानि च ॥४२॥

श्यामानि चिरयुक्तत्वात्तथा संस्थानवन्ति च ।

तान्येवेतानि मन्येऽहं यानि रामोऽन्वकीर्तयत् ॥४३॥

कानों में बहुत अच्छे बने हुए कुण्डल और कुत्ते के दाँतों के आकार के बडनी की तर्कियाँ और हाथों में भूंगा तथा मणियों के जड़ाल कगन, जो बहुत दिनों से साफ न करने के कारण काले हो गए थे, किन्तु ये यथास्मात् (इन्हें देख हनुमानजी ने मन ही मन कहा कि) वे ये ही भूषण हैं जिनके श्रीरामचन्द्रजी ने बतलाया था ॥४२॥४३॥

तत्र यान्यवहीनानि तान्यहं नोपलक्षये ।

यान्यस्या नावहीनानि तानीमानि न संशयः ॥४४॥ १

किन्तु उन बतलाए हुआ में कई नहीं देख पड़ते हैं । सो वे गिर गए हैं ।
 (या सो गए हैं) । परंतु जो मौजूद है, वे निस्तन्द्हे वे ही हैं ॥४४॥

पीतं कनकपट्टाभं त्वस्तं तद्वसनं शुभम् ।

उत्तरीयं नगासवतं तदा दृष्टं प्लवङ्गमैः ॥४५॥

उनमें से ज़रदोजी का पीला दुपट्टा जो पर्वत पर खसक कर गिर पड़ा
 था, उसे तो हम सब वानरो ने देखा ही था ॥४५॥

भूषणानि विचित्राणि दृष्टानि धरणीतले ।

अनयैवापविद्वानि स्वनवन्ति महान्ति च ॥४६॥

अथवा कई एक उत्तम (अथवा अद्भुत) मामूषण जो पृथिवी पर पड़े
 हुए देखें ये और जिनके गिरने पर बड़ा शन-शन शब्द हुआ था, इन्हीं के
 गिराए हुए ये ॥४६॥

इदं चिरगृहीतत्वाद्दसनं विलटवत्तरम् ।

तथापि नूनं तद्वर्णं तथा श्रीमद्यथेतरत् ॥४७॥

यद्यपि बहुत दिनों की पहिनी हुई होने के कारण इनकी ओढ़नी मसली
 हुई सी और मंली हो गई है, तो भी उसकी रङ्गत नही उठी है और जो
 वस्त्र हमें वहाँ मिला था उसी को तरहू यह चटकदार बनी हुई है ॥४७॥

इयं कनकवर्णाङ्गी रामस्य महिषी प्रिया ।

प्रनष्टाऽपि सती याऽस्य मनसो न प्रणश्यति ॥४८॥

यह सुवर्णाङ्गी श्रीरामजी की प्यारी पटरानी पतिव्रता सीता, यद्यपि
 श्रीरामचन्द्र के निकट नहीं है, तो भी श्रीरामजी के मन से दूर नहीं
 हुई है ॥४८॥

इयं सा यत्कृते रामश्चतुभिः परितप्यते ।

कारुण्येनानृशंस्येन शोकेन मदनेन च ॥४९॥

यह वही है, जिसके लिए श्रीरामचन्द्रजी चार प्रकार से सन्तप्त हो रहे
 हैं । अर्थात् कारुण्य, भ्रानृशस्य, शोक और मदन से ॥४९॥

१ पाठान्तरे—“मुख्यानि ।”

स्त्री प्रनष्टेति कारुण्यादाश्रितेत्यानृशंस्यतः ।

पत्नी नष्टेति शोकेन प्रियेति मदनेन च ॥५०॥

स्त्री हरण हो गई इस कारण कष्ट, आश्रितजन की रक्षा न कर पाई इसलिए दयालुता, भार्या का पता नहीं चलना इसका शोक और प्रिया का वियोग होने से कामदेव की पीडा । ये चार प्रकार के शोक श्रीरामचन्द्रजी को सता रहे हैं ॥५०॥

अस्या देव्या यथा रूपमङ्गप्रत्यङ्गसौष्ठवम् ।

रामस्य च यथा रूपं तस्येयमसितेक्षणा ॥५१॥

इस देवी का जैसा रूप लावण्य और अंग प्रत्यंग का सौंदर्य है, वंता ही श्रीरामचन्द्रजी का भी है । अब इससे तो यह श्रीरामचन्द्रजी ही की प्यारी सीता जान पड़ती है ॥५१॥

अस्या देव्या मनस्तस्मिस्तस्य चास्यां प्रतिष्ठितम् ।

तेनेय स च धर्मात्मा मुहूर्तमपि जीवति ॥५२॥

इस देवी का मन श्रीरामचन्द्रजी में है और श्रीरामचन्द्रजी का मन इसमें है, इसलिए ये सीता देवी और वे धर्मात्मा श्रीरामचन्द्रजी, अब तक जी रहे हैं । नहीं तो (ये दोनों) एक क्षण भी नहीं जी सकते थे ॥५२॥

दुष्करं कृतवान् रामो हीनो यदनया प्रभुः ।

धारयत्यात्मनो देहं न शोकेनावसोदति ॥५३॥

इनके विरह में श्रीरामचन्द्रजी का जीते रहना बड़ा ही दुष्कर कार्य है । आश्चर्य है, सीताजी के विरह-ज्वल-शोक में पीड़ित होकर भी, श्रीरामचन्द्रजी अब तक जीवित हैं, नहीं तो इनको विरह में शोक से उनका (श्रीरामचन्द्रजी का) नष्ट हो जाना कोई आश्चर्य की बात न थी ॥५३॥

दुष्करं कुरुते रामो य इमां मत्तकाशिनीम् ।

विना सीता महाबाहुर्मुहूर्तमपि जीवति ॥५४॥

जेरी समझें तो महाबाहु श्रीरामचन्द्रजी यह बड़ा ही दुष्कर कार्य कर

रहे हैं कि, सीता जैसी अनुरागवती पत्नी के बिना वे मुहूर्त भर भी जीवित रह रहे हैं ॥५४॥

एवं सीतां तदा दृष्ट्वा हृष्टः पवनसम्भवः ।

जगाम मनसा रामं प्रशशंस च तं प्रभुम् ॥५५॥

इति पञ्चदशः सर्गः ॥

पवननन्दन ने इस प्रकार सीता को देखा और वे बहुत प्रसन्न हुए और मनसा श्रीरामचन्द्रजी के सपीप जा, उनको प्रशसा अथवा स्तुति करने लगे ॥५५॥

सुन्दरकाण्ड का पन्द्रहवाँ सर्ग पूरा हुआ ।



षोडशः सर्गः

प्रशस्य तु प्रशस्तव्यां सीतां तां हरिपुङ्गवः ।

गुणाभिरामं रामं च पुनश्चिन्तापरोऽभवत् ॥१॥

प्रशसा करने योग्य सीताजी को प्रशसा कर और गुणाभिराम श्रीरामचन्द्रजी के गुणानुवाद कर, हनुमानजी फिर सोचने-विचारने लगे ॥१॥

स मुहूर्तमिव ध्यात्वा वाप्यपर्याकुलेक्षणः ।

सीतामाश्रित्य तेजस्वी हनुमान्विललाप ह ॥२॥

एक मुहूर्त भर कुछ सोच कर तेजस्वी हनुमानजी नेत्रों में आँसू भर और सीता के लिए विलाप कर, मन ही मन कहने लगे ॥२॥

मान्या गुरुविनीतस्य लक्ष्मणस्य गुरुप्रिया ।

यदि सीताऽपि दुःखार्ता कालो हि दुरतिक्रमः ॥३॥

गुरग्रो द्वारा मुशिक्षित श्रीलक्ष्मण के ज्येष्ठभ्राता श्रीरामचन्द्रजी की पत्नी सीता, जब ऐसे कष्ट में रही हैं, तब हमरो का कहना ही क्या है ? हा । काल के प्रभाव को उल्लघन करना (अथवा बाल के प्रभाव से बचना) सर्वथा दुस्साध्य है ॥३॥

रामस्य व्यवसायज्ञा^१ लक्ष्मणस्य च धीमतः ।

नात्यर्थं क्षुम्यते देवी गङ्गा^२ जलदागमे ॥४॥

सीताजी, वृद्धिमान श्रीरामचन्द्रजी और लक्ष्मणजी को प्रथमसीता या पराक्रम को मली भाँति जानती है। तभी तो वर्षाकालीन गङ्गा की तरह, मग्न्य तदियो का जल घाने पर भी यह क्षीम को प्राप्त नहीं हो रही हैं ॥४॥

तुल्यशीलवयोवृत्तां तुल्याभिजनलक्षणाम् ।

राघवोऽहंति वैदेहीं तं चैयमसितेक्षणा ॥५॥

सचमुच स्वाभाव, वय, चरित्र, कुल और शुभलक्षणों में सीताजी श्रीरामचन्द्रजी की भार्या होने ही योग्य हैं और वे इनके ही योग्य पति हैं ॥५॥

तां दृष्ट्वा नवहेमाभां लोककान्तामिव श्रियम् ।

जगाम मनसा रामं वचनं^३ चेदमब्रवीत् ॥६॥

तदनन्तर सुवर्णाङ्गी लक्ष्मीजी की तरह लोकानन्ददायिनी उन जानकीजी के दर्शन कर, हनुमानजी मन से श्रीरामचन्द्रजी के पास जा कहने लगे ॥६॥

अस्या हेतोर्विशालाक्ष्या हतो वाली महाबलः ।

रावणप्रतिमो वीर्ये कवन्धश्च निपातितः ॥७॥

इन विशालाक्षी सीता के लिए ही तो श्रीरामचन्द्रजी ने महाबली बालि को और रावण की तरह पराक्रमी कवन्ध को मारा था ॥७॥

विराधश्च हतः संलये राक्षसो भीमविक्रमः ।

वने रामेण विक्रम्य महेन्द्रेणेव^४ शम्बरः ॥८॥

श्री रामचन्द्रजी ने इन्ही के लिए युद्ध में भयकर पराक्रमी विराध को उसी प्रकार मारा था, जिस प्रकार इन्द्र ने शबरामुर को ॥८॥

१ व्यवसायज्ञा—पराक्रमज्ञा । (रा०)

चतुर्दश सहस्राणि रक्षसां भीमकर्मणाम् ।

निहतानि जनस्थाने शरैरग्निशिखोपमैः ॥६॥

इन्हीं के लिए श्रीरामचंद्रजी ने अग्निशिखा की तरह चमचमाते बाणों से जनस्थान-निवासी भयकर कर्म करने वाले चौदह हजार राक्षसों को मारा था ॥६॥

खरश्च निहतः संख्ये त्रिशिराश्च निपातितः ।

दूषणश्च महातेजा रामेण विदितात्मना ॥१०॥

युद्ध में खर, त्रिशिरा और महातेजस्वी दूषण को प्रसिद्ध श्रीरामचंद्रजी ने मारा था ॥१०॥

ऐश्वर्यं वानराणां च दुर्लभं वालिपालितम् ।

अस्या निमित्ते सुग्रीवः प्राप्तवाँल्लोकसत्कृतम् ॥११॥

इन्हीं के पीछे दुर्लभ वानरों का राज्य, जिसका पालन वालि करता था, लोकमान्य सुग्रीव को मिला ॥११॥

सागरश्च मया क्रान्तः श्रीमान्नवनदीपतिः ।

अस्या हेतोर्विशालाक्ष्याः पुरी चेर्यं निरीक्षिता ॥१२॥

मंने भी इन्ही विशालाक्षी जानकी के लिए समुद्र फाँदा और यह लकापुरी देखी ॥१२॥

यदि रामः समुद्रान्तां मेदिनीं परिवर्तयेत् ।

अस्याः कृते जगन्त्रापि युक्तमित्येव मे मतिः ॥१३॥

मेरी समझ में तो यदि श्रीरामचंद्रजी इस देवी के लिए, केवल यह पृथ्वी ही नहीं, बल्कि समस्त लोको को भी उलट दें तो भी उनका ऐसा करना उचित ही होगा ॥१३॥

राज्यं वा त्रिषु लोकेषु सीता वा जनकात्मजा ।

त्रैलोक्यराज्यं सकलं सीताया नाप्नुयात्कलाम् ॥१४॥

यदि त्रिलोकी के राज्य और जनकनन्दिनी की तुलना की जाय, तो त्रिलोकी का राज्य, सीता की एक कला के बराबर भी तो नहीं हो सकता ॥१४॥

इयं सा धर्मशीलस्य मंथिलस्य महात्मनः ।

सुता जनकराजस्य सीता भर्तृदृढव्रता ॥१५॥

क्योंकि धर्मात्मा महात्मा जनक की यह सुता सीता, पातिव्रत धर्म का निवाह करने में पूर्ण रूप से दृढ है ॥१५॥

उत्थिता मेदिनीं भित्वा क्षेत्रे हलमुखक्षते ।

पद्मरेणुनिभं. कीर्णा शुभैः केदारपांसुभिः ॥१६॥

पद्मरेणु का तरह खेतों की धूल से धूमरित, हल की नोक से जुते हुए खेत से यह पृथिवी को फोड़ कर निकली थी ॥१६॥

विक्रान्तस्यार्यशीलस्य संयुगेष्वनिवर्तिनः ।

स्नुपा दशरथस्यैषा ज्येष्ठा राज्ञो यशस्विनी ॥१७॥

और बड़े पराक्रमी श्रेष्ठस्वभाव वाले और युद्ध में कभी पीठ न दिखाने वाले महाराज दशरथ की महायशस्विनी जेठी पुत्रबधू है ॥१७॥

धर्मज्ञस्य कृतज्ञस्य रामस्य विदितात्मनः ।

इयं सा दयिता भार्या राक्षसीवशमागता ॥१८॥

और धर्मात्मा, कृतज्ञ तथा प्रसिद्ध पुरुष श्रीरामचन्द्रजी की यह प्यारी पत्नी है । सो इस समय यह बेचारी, राक्षसिया के वश में घा पड़ी है ॥१८॥

सर्वान्भोगान्परित्यज्य भर्तृस्नेहबलात्कृता ।

अचिन्तयित्वा दुःखानि प्रविष्टा निर्जनं वनम् ॥१९॥

अपने पति के प्रेम का वशवर्तिनी हो यह घर के समस्त सुखा और भोगों को त्याग कर और वन के दुर्लों का रंगी भर भी परवाह न कर, निर्जन वन में चली आई ॥१९॥

सन्तुष्टा फलमूलेन भर्तृशुश्रूषणे रता ।

या परां भजते प्रीतिं घनेऽपि भवने यथा ॥२०॥

और फल फूल खा कर सन्तुष्ट हो, अपने पति की सेवा करती हुई, वन की तरह वन में भी प्रसन्न हो रही थीं ॥२०॥

सेयं कनकवर्णाङ्गा नित्यं सुस्मितभाषिणी ।

सहते यातनामेतामनर्थानामभागिनी ॥२१॥

जिसने कमी कोई विपत्ति नहीं झेली, जो सदा हँसमुख बनी रहती थी, वही यह सुवर्ण सदृश वर्ण वाली सीता, कष्टों और अनर्थों को भोग रही है ॥२१॥

इमां तु शीलसम्पन्नां द्रष्टुमर्हति राघवः ।

रावणेन प्रमथितां प्रपामिव पिपासितः ॥२२॥

रावण द्वारा सताई हुई इस सुशीला जानकी को देखने के लिए श्री रामचन्द्रजी उसी तरह उत्सुक हैं जिस तरह पीछाला देखने को प्यासा उत्सुक हुआ करता है ॥२२॥

अस्या नूनं पुनर्लाभाद्राघवः प्रीतिमेप्यति ।

राजा राज्यात्परिभ्रष्टः पुनः प्राप्येव मेदिनीम् ॥२३॥

निश्चय ही इसको पुन पाकर श्रीरामचन्द्रजी वैसे ही प्रसन्न होंगे; जैसे खोये हुए राज्य को प्राप्त कर राजा प्रसन्न होता है ॥२३॥

कामभोगैः परित्यक्ता हीना बन्धुजनेन च ।

धारयत्यात्मनो देहं १तत्समागमलालसा ॥२४॥

माला चन्दनादि सुख-भोगों से वञ्चित और बन्धुबान्धवों से रहित यह जानकी श्रीरामचन्द्रजी से मिलने की आशा ही से प्राण धारण किए हुए है ॥२४॥

नैषा पश्यति राक्षस्यो नेमान्पुष्पफलद्रुमान् ।

एकस्थहृदया नूनं राममेवानुपश्यति ॥२५॥

न तो ये राक्षसियों को और न फले-फूल इन वृक्षों की और देखती है । यह तो एकाग्र मन से केवल श्रीरामचन्द्र जी के ध्यान ही में मग्न है ॥२५॥

भर्ता नाम परं नार्या भूषणं भूषणादपि ।

एषा 'विरहिता तेन भूषणार्हा न शोभते ॥२६॥

क्योंकि स्त्रियों के लिए उनका पति ही भूषण है, बल्कि भूषण से भी बढ़ कर ही है । घत यह पतिवियोग के कारण, शोभा योग्य होने पर भी, शोभायमान नहीं हो रही है ॥२६॥

दुष्करं कुरुते रामो हीनो यदनया प्रभुः ।

धारयत्यात्मनो देहं न दुःखेनावसीदति ॥२७॥

इसके पति श्रीरामचन्द्रजी इसके विमोग में भी जीते हैं; सो] सचमुच वे यह बड़ा दुष्कर कार्य कर रहे हैं ॥२७॥

इमामसितकेशान्तां शतपत्रनिभेक्षणाम् ।

सुखार्हा दुःखितां दृष्ट्वा ममापि व्यथितं मनः ॥२८॥

काले केशवाली, कमलनयनी और सुख भोगने योग्य इस जानकी को दुःखी देख, मेरा भी कलेजा मारे दुःख के फटा जाता है ॥२८॥

क्षितिक्षमा पुष्करसन्निभाक्षी

या रक्षिता राघवलक्ष्मणाम्याम् ।

सा राक्षसीभिर्विकृतेशणाभिः

संरक्ष्यते सम्प्रति वृक्षमूले ॥२९॥

हा ! जो पृथिवी के समान क्षमा करने वाली है और जिसकी रक्षा स्वयं श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण करते थे, आज बही कमलनयनी सीता विकट नेत्रों वाली राक्षसियों के पहरे में एक वृक्ष के नीचे बंठी है ॥२९॥

हिमहतनलिनीव नष्टशोभा

व्यसनपरम्परयातिपीडयमाना ।

सहचररहितेव चक्रवाकी

जनकसुता कृपणां दशां प्रपन्ना ॥३०॥

१ "पाठान्तरे--"एषा तु रहिता ।"

सीता, पाले की मारी कमलिनी की तरह, दुःखों से उत्पीडित हो तथा चकवा से रहित चकवी की तरह, शोच्य दशा को प्राप्त हुई है ॥३०॥

अस्या हि पुष्पावनताग्रशाखाः

शोकं दृढं वै जनयन्त्यशोकाः ।

हिमव्यपायेन च मन्दरश्मि-

रभ्युत्थितो नैकसहस्ररश्मिः ॥३१॥

फलों के भार से झुकी हुई अशोक-वृक्ष की ये डालियाँ और वसन्त-कालीन यह निर्मल और सूर्य की अपेक्षा मन्द किरणों वाला यह चन्द्रमा, इस देवी के शोक को और भी अधिक बढ़ा रहे हैं ॥३१॥

इत्येवमर्थं कपिरन्ववेक्ष्य

सीतेयमित्येव निविष्टबुद्धिः ।

संश्रित्य तस्मिन्नपि साद् वृक्षे

बली हरीणामृषभस्तरस्वी ॥३२॥

इति षोडश सर्गः ॥

महावीर कपिश्रेष्ठ हनुमान इस प्रकार मन ही मन भली भाँति निश्चय कर कि, यही सीता है और अपना प्रयोजन सिद्ध हुआ देख, उसी वृक्ष पर झुकी तरह बैठ गए ॥३२॥

मुन्दरकाण्ड का सोलहवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

सप्तदशः सर्गः

ततः कुमुदपण्डाभो निर्मलो निर्मलं स्वयम् ।

प्रजगाम नभश्चन्द्रो हंसो नीलमिवोदकम् ॥१॥

उस समय कुमुद पुष्पो की तरह निर्मल चन्द्रमा निर्मल आकाश में, कुछ ऊपर चढ़, वैसे ही शोभित हुआ, जैसे नील जल वाली झील में हंस शोभित होता है ॥१॥

साचिद्व्यमिव कुर्वन्स प्रभया निर्मलप्रभः ।

चन्द्रमा रश्मिभिः शीतैः स्तिषेवे पवनात्मजम् ॥२॥

निर्मल प्रभा वाले चन्द्रदेव, अपनी चाँदनी में हनुमानजी को सहायता करते हुए, उनको अपनी शीतल किरणों से हर्षित करने लगे ॥२॥

स ददर्श ततः सीतां पूर्णचन्द्रनिभाननाम् ।

शोकभारैरिव न्यस्तां भारैर्नावमिवाम्भसि ॥३॥

हनुमानजी ने चाँदनी के सहारे चन्द्रमुखी सीता को देखा उस समय सीता को दशा भारों शोक के बँसी ही हो रही थी; जैसी कि, अधिक बोझ से लदी हुई नाव की जल में होती है ॥३॥

दिदृक्षमाणौ वंदेहौ हनुमान्पवनात्मजः ।

स ददर्शाविद्वारस्था राक्षसीर्घोरदर्शनाः ॥४॥

जानकी को देखते-देखते पवनमन्दन हनुमानजी की दृष्टि उन भयङ्कर रूपों वाली राक्षसियों पर पड़ी जो सीताजी के समीप ही बैठी हुई थीं ॥४॥

एकाक्षीमेककर्णा च कर्णप्रावरणां तथा

अकर्णां शङ्कुकर्णां च मस्तकोच्छ्वासनासिकाम् ॥५॥

अतिकायोत्तमाङ्गौ च तनुदीर्घशिरोधराम् ।

ध्वस्तकेशीं^१ तथाऽकेशीं^२ केशकम्बलधारिणीम् ॥६॥

उन राक्षसियों में कोई कानी, कोई बूँची, कोई बहुत बड़े कानों वाली, कोई दोनो कानों से रहित, कोई कील की तरह कानों वाली तथा कोई भरतक पर नाक वाली और नाक से साँस लेती हुई वहाँ बैठी थीं । उनमें से किसी के शरीर का ऊपरी भाग बहुत बड़ा या किसी की गर्दन पतली और सम्बो थी, किसी के सिर पर घोड़े बाल थे और किसी की घाँट पर बाल

१ ध्वस्तकेशी—स्वल्पकेशी । (गो०) २ अकेशी—अनुत्पन्नकेशी । (गो०)

उगे ही न थे । किसी के शरीर पर इतने रोम थे कि, वह ऐसी जान पड़ती थी, माती वाला कम्बल मोटे हुए है ॥५॥६॥

लम्बकर्णललाटां च लम्बोदरपयोधराम् ।

लम्बोष्ठौ चिदुकोष्ठौ च लम्बास्यां लम्बजानुकाम् ॥७॥

किसी के लम्बे-लम्बे कान और लम्बा कपाल या और किसी का लम्बा पेट और लम्बे पयोधर (स्तन) थे, किसी के लम्बे ओठ, किसी के ओठ ठुड्डी तक लटक रहे थे, कोई लम्बे मुख वाली थी और कोई लम्बी जाँघो वाली थी ॥७॥

ह्रस्वां दीर्घां तथा कुब्जां विकटां वामनां तथा ।

करालां भुग्नवक्त्रां च पिङ्गाक्षीं विकृताननाम् ॥८॥

कोई नाटी, कोई लम्बी, कोई कुबड़ी, कोई विकटाकार, कोई वीनी, कोई भयङ्कर रूप वाली, कोई टेढ़े मुख वाली, कोई पीले नेत्रों वाली और कोई विकृत मुख वाली थी ॥८॥

विकृता पिङ्गला काली क्रोधना कलहप्रिया ।

कालायसमहाशूलकूटमुद्गरधारिणी ॥९॥

कोई टेढ़े-मेढ़े अङ्गो वाली, कोई पीली, कोई काली, कोई सदा क्रुद्ध रहने वाली और कोई कलहप्रिया थी । उनमें कोई लोहे का बड़ा शूल और कोई कांटेदार मुद्गर हाथ में लिये हुए थी ॥९॥

धराहमृगशार्दूलमहिषाजशिवामुखी ।

गजोष्ट्रहयपादाश्च निखातशिरसोऽपराः ॥१०॥

किसी का मुख सूकर जैसा, किसी का हिरन जैसा, किसी का शार्दूल जैसा, किसी का भैंसा जैसा, किसी का धकरी जैसा और किसी का स्यारिन जैसा था । किसी के पैर हाथी जैसे, किसी के ऊँट जैसे और किसी के घोड़े जैसे थे । किसी किसी का सिर माथे में घुसा हुआ था ॥१०॥

१ पाठान्तरे—“चिदुकोष्ठो” । २ पाठान्तरे—“ह्रस्वदीर्घा”

एकहस्तैकपादाश्च खरकर्ण्यश्वकर्णिकाः ।

गोकर्गोर्हस्तिकर्गोश्च हरिकर्णोस्तथापराः ॥११॥

कोई एक हाथ और कोई एक पैर वाली थी । किमी के कान गवे जैसे, किमी के घोड़े जैसे, किमी के गाय जैसे, किमी के हाथी जैसे तथा किसी के बन्दर जैसे थे ॥११॥

अनासा अतिनासाश्च तिर्यङ्गनासा विनासिकाः ।

गजसन्निभनासाश्च ललाटोच्छ्वासनासिकाः ॥१२॥

किमी के नाक थी ही नहीं किमी के नाक तो थी किन्तु वह बहुत बड़ी थी । किमी की नाक टेढ़ी थी और किमी की नाभिका की बनावट विशेष तरह की थी । किमी की नाक हाथी की मूँड जैनी और किसी की नाक ललाट में थी जिसे वह साँस लेती थी ॥१२॥

हस्तिपादा महापादा गोपादाः पादचूलिकाः ।

अतिमात्रशिरोग्रीवा अतिमात्रकुचोदरीः ॥१३॥

किमी के हाथी जैसे पैर, किमी के महाभारी पैर किसी के बंला जैसे पैर और किमी के पैरों पर बाटो जैसे केशों का समूह था । किमी की केवल गर्दन और फिर और किमी के केवल पेट और स्तन ही स्तन देख पड़ते थे ॥१३॥

अतिमात्रास्यनेत्राश्च दीर्घजिह्वानखास्तथा ।

अजामुखीर्हस्तिमुखीर्गोमुखी सूकरीमुखी ॥१४॥

किमी के त्र्यम्बु और किमी के बड़े बड़ नेत्र थे और किसी के लम्बी जीभ और नख थे । कोई बकरे के मुख वाली, कोई हाथी के मुख वाली, कोई गौ के मुख वाली और कोई सूकरी जैसे मुखवाली थी ॥१४॥

हृषोष्ठखरवकाश्च १ राक्षसीर्धोरदर्शना ।

शूलमुद्गरहस्ताश्च क्रोधना कलहप्रिया ॥१५॥

किसी का मुख घोडे जैसा, किसी का जूँट जैसा और किसी का गधे जैसा था । वे सब राक्षसी भयङ्कर रूपवाली थी । उनके हाथों में शूल और मुद्गर थे तथा वे बड़ी गुस्मैल और झगडा करने वाली थी ॥१५॥

कराला धूम्रकेशीश्च राक्षसीवि कृतानना ।

पिबन्ती सतत पान सदा माससुराप्रिया ॥१६॥

वे भयङ्कर और धुएँ क तुल्य केशवाली तथा भयङ्कर मुखा वाली राक्षसियाँ थी । वे सदा शराब पिया करती थीं क्योंकि उनको शराब पीना और मास खाना बहुत प्रिय लगता था ॥१६॥

मासशोणितदिग्धाङ्गीर्मासशोणितभोजना ।

ता ददर्श कपिश्रेष्ठो रोमहर्षणदर्शना ॥१७॥

उनके शरीर में मास और रुधिर सना हुआ था, क्योंकि वे रुधिर पीती और मास खाया करती थी । उनको देखने से देखने वाले के शरीर के रोगटे लड़े हो जाते थे । ऐसी राक्षसियों को हनुमानजी ने वहाँ देखा ॥१७॥

स्कन्धवन्तमुपासीनाः परिवार्य वनस्पतिम् ।

तस्याधस्ताच्च ता देवीं राजपुत्रीमनिन्दिताम् ॥१८॥

वे सब की सब, उम सघन वृक्ष को घेरे हुए थी जिसके नीचे मुन्दरी राजपुत्री सीताजी बैठी हुई थी ॥१८॥

लक्षयामास लक्ष्मीवान्हनुमाञ्जनकात्मजाम् ।

निष्प्रभां शोकसन्तप्तां मलसङ्कुलमूर्धजाम् ॥१९॥

हनुमानजी ने जनकनन्दिनी को देखा कि वे प्रभाहीन हो रही हैं और शोक से सन्तप्त हैं तथा उनके सिर के बाल मँल से चीकट हो रहे हैं ॥१९॥

क्षीणपुण्यां च्युतां भूमौ तारां निपतितामिव ।

'चारित्र्यपदेशाढ्यां भर्तृ दर्शनदुर्गताम् ॥२०॥

१ चारित्र्यपदेशाढ्या-पतिव्रताधर्माचरणव्यातिसम्पत्ताम् । (गो०)

मानो क्षीणपुण्य कोई तारा पथिवी पर गिरा पड़ा है । सीताजी एक प्रसिद्ध पतिव्रता स्त्री ह । परन्तु इस समय इनको अपने पति का दगन दुलभ हो रहा है ॥२०॥

भूषणैरुत्तमैर्होना भर्तृवात्सल्यभूषणाम् ।

राक्षसाधिपसरुद्धा बन्धुभिश्च विनाकृताम् ॥२१॥

यद्यपि उनके धर्मों में बढ़िया गहन नहीं ह तथापि व पतिप्रम रूपी भूषण से भूषित ह और बन्धुजनों से रहित व रावण के यहाँ मजरबंद हैं ॥२१॥

वियूथा सिंहसरुद्धा बद्धा गजबधूमिव ।

चन्द्ररेखा पयोदान्ते शारदाभ्रैरिवावृताम् ॥२२॥

उस समय जानकीजी एसी जान पड़ती थीं मानो अपने झुड़ से छूटी और बँधी हुई कोई हथिनी सिंह के घगुल में फस गई हो । अथवा वर्षाऋतु के अंत में मानो चंद्र की चाँदनी शारदीय मेघों में छिप रही हो ॥२२॥

क्लिष्टरूपामसस्पर्शाद्युवतामिव वल्लकीम् ।

सीता भर्तृवशे युक्तामयुक्ता 'राक्षसीवशे ॥२३॥

उबटनादि न लगान से व मानो बहुत दिना से बिना बजाई वीणा की तरह मलिन हो रही हैं । जो सीताजी अपने पति के पास रहन योग्य हैं व आज राक्षसियों के क्रूरकटाक्ष की लक्ष्य बनी हुई ह अथवा राक्षसियों के पहरे में हैं ॥२३॥

अशोकवनिकामध्ये शोकसागरमाप्लुताम् ।

ताभि परिवृता तत्र सप्रहामिव रोहिणीम् ॥२४॥

अशोकवाटिका में सीता मानो शोकसागर में डबती और उतराती हैं अथवा मङ्गल ग्रह से घेरित रोहिणी की तरह उन राक्षसियों से घिरी हुई ह ॥२४॥

१ राक्षसीवशे अयुक्ता—तद्वचनायस्पृश्वन्तीमित्यय । (गो०)

ददर्श हनुमान्देवीं ^१लतामकुसुमामिव ।

सा मलेन च दिग्धाङ्गी वपुषा चाप्यलंकृता ॥२५॥

हनुमान्देवी ने अशोकवाटिका में पुष्पहीन लता की तरह, मीठाजी को शरीर में बँध लीं और शृङ्गाररत्न देखा ॥२५॥

मृणाली पङ्कदिग्धेव विभाति न विभाति च ।

मलिनेन तु वस्त्रेण परिविलष्टेन भामिनीम् ॥२६॥

संवृता मृगशावाक्षीं ददर्श हनुमान्कपिः ।

तां देवीं दीनवदनामदीना भर्तृतेजसा ॥२७॥

सुन्दर हान पर भा सीताजी कीचढ़ में र्ना हुई मलिनी की तरह शोभाहीन हा रहीं थीं । हनुमान्देवी ने देखा कि, मानवनी मानवा अरने शरीर का एक बीमं और मने कुर्वन वस्त्र से ढँक हुए हैं । अरने मीठाजी इस समय उदास थीं तथा वे श्यामवन्धु का के अन्तर पराङ्गन का स्मरण कर, उदास नयीं बात पडती थी ॥२६॥२७॥

रक्षितां स्वेन शीलेन सीताममितलोचनाम् ।

तां दृष्ट्वा हनुमान्सीता मृगशावकेनिभेक्षणाम् ॥२८॥

काने-काने नेत्रों वाली मीठा जी अरने शीत स्वभाव ने स्वयं अरने पतिव्रत धर्म को रक्षा कर रहीं थीं । उन मृगशावकनयीं मीठाजी का हनुमान्देवी ने देखा ॥२८॥

मृगकन्यामिव त्रस्तां बीक्षमाणां समन्ततः ।

दहन्तीमिव निःश्वानैर्बृक्षान्पल्लवधारिणः ॥२९॥

वे मृगशौरी की तरह मयमौन हा, चारों ओर देख रहीं थीं और अरने निःशवा ने माली प्राणराम के पन्धरवारी दृशों का मन्त्र दिग् हानती थीं ॥२९॥

१ पाञ्चतरे—“लता कुसुमिनिव” ।

२ भर्तृतेजसा--उरनेव स्वरगेन । (दि०)

सङ्घातमिव शोकानां दुःखस्योर्मिमिवोत्थिताम् ।
 ता क्षमा सुविभक्ताङ्गीं विनाभरणशोभिनीम् ॥३०॥
 प्रहर्षमतुललेभे मारुति प्रेक्ष्य मैथिलीम् ।
 हर्षजानि च सोऽश्रूणि ता दृष्ट्वा मदिरेक्षणाम् ॥
 मुमोच हनुमास्तत्र नमश्चक्रे च राघवम् ॥३१॥

(उस समय हनुमानजी को एसा जान पडा) मानो गोकसागर से दुःख
 रूपी गहरे उठ रही हो । क्षमा की साभान मति सुन्दर अङ्गी वाली तथा
 विना आभूषण के भी शोभायमान जानकीजी को देख हनुमानजी बहुत
 प्रसन्न हुए । श्रुष्ट नचो वाली जानकाजी को देख हनुमानजा मानव के झूसू
 बहान लग और उहान मनसा श्रीरामचन्द्र जी का प्रणाम किया ॥३०॥३१॥

नमस्त्वृत्वा स रामाय लक्ष्मणाय च वीर्यवान् ।
 सीतादर्शनसहृष्टो हनमान्सवृतोऽभवत् ॥३२॥

इति सप्तदश सर्गः ॥

महावली हनुमानजी न श्रीरामचन्द्रजा और लक्ष्मण जी को मन से
 प्रणाम किया और सीता के दर्शन पान से अत्यन्त प्रसन्न हो व उसी वृक्ष के
 पत्ता में छिप कर बैठ गए ॥३२॥

सुन्दरकाण्ड का सत्रहवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

— ० —

अष्टादश सर्ग

तथा विप्रेक्षमाणस्य वन पुष्पितपादपम् ।
 विचिन्वतश्च वैदेहीं किञ्चिच्छ्रेया निशाभवत् ॥१॥

पुष्पित वक्षा से युक्त अगोकवाटिका को देखते देखते और सीता को खोजते
 खोजते अब थोड़ी ही रात शयन रह गई थी ॥१॥

पडङ्गवेदविदुषां ऋतुप्रवरयाजिनाम् ।
शुश्राव ब्रह्मघोषांश्च विरात्रे ब्रह्मरक्षसाम् ॥२॥

रात बीतने पर पडङ्गवेदो के ज्ञाता और उत्तमोत्तम यज्ञों के करने वाले ब्राह्मण राक्षसों के वेदपाठ की ध्वनि, हनुमानजी ने सुनी ॥२॥

[नोट—इससे जान पड़ता है कि लका म चारों वर्णों के राक्षस थे और यज्ञ करने और पडङ्गवेदाध्ययन करने वाले ब्राह्मण राक्षस भी वहाँ रहा करते थे। “ब्रह्मरक्षसाम्” का अर्थ गोविन्दराज जी ने ‘ब्राह्मणत्वविशिष्टरक्षसाम्’ किया है। यहाँ अर्थ युक्तियुक्त जान पड़ता है। ब्राह्मण और राक्षस ये दोनों बातें परस्पर विरोध रखने वाली हैं। हाँ कोई कोई जीव राक्षस योनि में जन्म लेकर भी पूर्व जन्म के सत्कारवश ब्राह्मणत्वयुक्त हो सकता है। यह भी सम्भव है कि रावण, पुनस्त्य वसी ऋषि सन्तान था, किन्तु कर्म राक्षसों जैसे किया करता था तो भी अपने वश की मर्यादा की रक्षा के हेतु उसे ब्राह्मणों की आवश्यकता पड़ती थी—अतः राजपौरोहित्य के प्रलोभन में पड, कतिपय राक्षसों ने ब्राह्मण वृत्ति स्वीकार कर ली हो—अतः उनको ही आदि कवि ने “ब्रह्मरक्षसाम्” लिखा है।]

अथ मङ्गलवादित्रैः शब्दैः श्रोत्रमनोहरैः ।

प्राबुध्यत महाबाहुर्दशप्रोवो महाबलः ॥३॥

तदनन्तर मङ्गलसूचक वाजों की कर्णमधुर ध्वनि के साथ महाबली एवं महावीर रावण जगाया गया ॥३॥

विवुध्य तु यथाकालं राक्षसेन्द्रः प्रतापवान् ।

स्वस्तमाल्याम्बरधरो वंदेहीमन्वचिन्तयत् ॥४॥

यथासमय प्रतापी रावण सो कर उठ बैठा और सोते में खराकी हुई मालाओं और वस्त्रों को सम्हालता हुआ वह सोता के विषय में सोचने विचारने लगा ॥४॥

१ विरात्रे—राज्यावसाने । (शि०) २ ब्रह्मरक्षसाम् ब्राह्मणत्वविशिष्टरक्षसाम् (गो०), ब्राह्मणराक्षसानाम् । (गो०)

भृशं नियुक्तस्तस्या च मदनेन मदोत्कटः ।

न स तं राक्षसः कामं शशाकात्मनि गूहितुम् ॥५॥

क्योकि वह रावण अत्यन्त कामासक्त था अतः उसकी सीता में अत्यन्त आसक्ति थी । साथ ही वह अपने काम-वेग को रोकने में सर्वथा असमर्थ था ॥५॥

स सर्वाभरणैर्युक्तो विभ्रच्छिद्यमनुत्तमाम् ।

ता नगैर्वहुभिर्जुष्टा सर्वपुष्पफलोपगैः ॥६॥

रावण समस्त धामूषणा को पहिने के कारण अपूर्व शोभा धारण कर, सर्वशुद्धि में फलने फूलने वाले वृक्षों से युक्त ॥६॥

वृता पुष्करिणीभिश्च नानापुष्पोपशोभिताम् ।

सवामदंश्च विहगैर्विचित्रा परमाद्भुतः ॥७॥

तथा अनेक पुष्करिणियों से तथा विविध प्रकार के पुष्पों से शोभित तथा परम अद्भुत एवं मत्वाले पक्षियों से कूजित ॥७॥

ईहामृगंश्च विविधैर्जुष्टा दृष्टिमनोहरैः ।

वीथी. सम्प्रेक्षमाणश्च मणिकाञ्चनतोरणाम् ॥८॥

तथा देखने में सुन्दर अनेक प्रकार के वनावटी मृगों (खिलीनों) से सुसज्जित तथा मणि और काञ्चन के तोरणों तथा उद्यान-वीथियों की देखता हुआ ॥८॥

नानामृगगणाकीर्णा फलैः प्रपतितैर्वृताम् ।

अशोकवनिकाभेन प्राविशत्सन्ततद्रुमाम् ॥९॥

तथा अनेक प्रकार के बनैले जन्तुओं से युक्त हुए हुए पके फलों से भरे पूरे और सघन वृक्षों से पूर्ण, उस अशोकवाटिका में पहुँचा ॥९॥

अङ्गनाशतमात्र तु तं व्रजन्तमनुव्रजत् ।

महेन्द्रमिव पौलस्त्य देवगन्धर्वयोषितः ॥१०॥

१ पाठान्तरे—“परमाद्भुताम्” । २ पाठान्तरे—“मणिकाञ्चनतोरणा” ।

उसके पीछे-पीछे मकड़ों स्त्रियाँ भी वैसे ही चली जाती थी जैसे देवता और गन्वों की स्त्रियाँ इन्द्र के पीछे चलती हैं ॥१०॥

दीपिकाः काञ्चनीः काश्चिज्जगृहुस्तत्र योषितः ।

बालव्यजनहस्ताश्च तालवृन्तानि चापराः ॥११॥

किसी-किसी स्त्री के हाथ में मुवर्ण के दीपक (अर्थात् तालटैन) किसी के हाथ में चँवर और किसी के हाथ में ताड के पखे थे ॥११॥

काञ्चनैरपि भृङ्गारैर्जह्लः सलिलमग्रतः ।

मण्डलाग्रान्बृसींश्चैव गृह्यान्याः पृष्ठतो ययुः ॥१२॥

कोई-कोई जल से भरी मुवर्ण की शारी हाथ में लिये हुए आगे चलती थीं और कोई गोल आसन लिए हुए, पीछे चली जाती थीं ॥१२॥

काचिद्रत्नमयीं पार्त्री पूर्णा पानस्य भामिनी ।

दक्षिणा दक्षिणेनैव तदा जग्राह पाणिना ॥१३॥

कोई-कोई चतुर स्त्री दाहिने हाथ में मदिरा से भरी साफ रत्नजटित सुराही लिये हुए चली जाती थी ॥१३॥

राजहंसप्रतीकाशं छत्रं पूर्णंशशिप्रभम् ।

सौवर्णदण्डमपरा गृहीत्वा पृष्ठतो ययी ॥१४॥

कोई राजहंस की तरह सफेद और पूर्णमामी के चन्द्रमा की तरह गोल और सोने की डडी वाला छत्र रावण के ऊपर ताने हुए उसके पीछे जा रही थी ॥१४॥

निद्रामदपरीताक्ष्यो रावणस्योत्तमाः स्त्रियः ।

अनुजग्मुः पतिं वीरं धनं विद्युल्लता इव ॥१५॥

नींद और मदिरा के नशे से झलसाने रावण की सुन्दरी स्त्रियाँ, उसी प्रकार अपने वीर पति के पीछे चली जा रही थी, जिस प्रकार मेघ के पीछे बिजली चमकती है ॥१५॥

व्याविद्धहारकेयूराः समामदितवर्णकाः ।

समागलितकेशान्ताः सस्वेदवदनास्तथा ॥१६॥

उन स्त्रियो की कण्ठमालाएँ और वाजूबद अपने-अपने स्थानों से कुछ कुछ लसक गए थे और उलट-पुलट गए थे । उनमें से अनेक के अगाराग छूट गए थे, उनके सिरो के जूड़े खुल गए थे और उनके मुखों पर पसीने की बूँदें झलक रही थी ॥१६॥

घूर्णन्त्यो मदशेषेण निद्रया च शुभाननाः ।

स्वेदक्लिष्टाङ्गकुसुमाः सुमाल्याकुलमूर्धजाः ॥१७॥

वे मुन्दरी स्त्रियाँ नशे की और नींद की खुमारी से डगमगाती, पसीने से भीगे फूलों को धारण किए तथा जूड़ी में फूल सजाए हुए थी ॥१७॥

प्रयान्तं नैश्र्चतपति नार्यो मदिरलोचनाः ।

बहुमानाच्च कामाच्च प्रिया भार्यास्तमन्वयुः ॥१८॥

इस प्रकार मदमाते नैनो वाली वे सब स्त्रियाँ, प्रति आदर के साथ और कामपीडित हो, अपने पति के पीछे पीछे चली जाती थी ॥१८॥

स च कामपराधीनः पतिस्तासां महाबलः ।

सीतासक्तमना मन्दो मदाञ्चितगतिर्दम्भौ ॥१९॥

उनका वह महाबली और कामासक्त पति रावण, सीता पर लट्टू था तथा नशे में चूर, झूमता हुआ, धीरे-धीरे चला जाता था ॥१९॥

ततः काञ्चीनिनादं च नूपुराणां च निःस्वनम् ।

शुश्राव परमस्त्रीणां स कपिर्मरुतात्मजः ॥२०॥

पवननन्दन हनुमानजी ने उन मुन्दरी स्त्रियो की करधनियो और नूपुरों की शकार को सुना ॥२०॥

तं चाप्रतिमकर्माणमचिन्त्यबलपीठपम् ।

द्वारदेशमनुप्राप्तं ददर्श हनुमान्कपिः ॥२१॥

हनुमानजी ने देखा कि, वह अनुपम कर्मा, अचिन्त्य एवं असाधारण बल और पुण्यार्थ से युक्त रावण, उस बाटिका के द्वार पर आ पहुँचा है ॥२१॥

दोपिकाभिरनेकाभिः समन्तादवभासितम् ।

गन्धतैलावसिक्ताभिध्रियमाणाभिरग्रतः ॥२२॥

आगे आगे सुगन्धित तेल से पूर्ण अनेक लालटेनो या मशालो के प्रकाश में रावण का समस्त शरीर भली भाँति दिखलाई पड़ रहा था ॥२२॥

कामदर्पमर्दयुक्तं जिह्मताम्रायतेक्षणम् ।

समक्षमिव कन्दर्पमपविद्ध^१ शरासनम् ॥२३॥

उस समय रावण नश में चूर था और कामद से पीड़ित था । उसके विशाल तिरझीहे नेत्र लाल हो रहे थे । उस समय वह ऐसा जान पड़ता था मानो साक्षात् कामदेव धनुष को दूर फेंक कर, सामने चला आता है ॥२३॥

मथितामृतफेनाभमरजो वस्त्रमुत्तमम् ।

सलीलमनुकर्पन्तं विमुक्तं सवतमङ्गदे ॥२४॥

मथे हुए अमृत के झागा की तरह अति उजला तथा अति उत्तम वस्त्र, जो खसक कर उसके बाजूबन्द में अटक गया था, उसे साधारणतया खींच कर यथास्थान उसने रख लिया ॥२४॥

तं पत्रविटपे लीनः पत्रपुष्पघनावृतः ।

समीपमुपसंक्रान्तं निध्यातुमुपचक्रमे ॥२५॥

रावण ज्यो-ज्यो समीप आता जाता था, त्यो-त्या हनुमानजी उस सघन पेड़ के फूल-पत्तों में अपने शरीर को छिपाते जाते थे और छिपे छिपे ही वह यह भी जानना चाहते थे कि, सामने आता हुआ व्यक्ति कौन है ॥२५॥

अवेक्षमाणस्तु ततो ददर्श कपिकुञ्जरः ।

रूपयोवनसम्पन्ना रावणस्य वरस्त्रियः ॥२६॥

१ अपविद्ध—घबृत । (गो०)

देखते-देखते हनुमान जी ने प्रथम रावण की थेंठ और रूपवती युवती स्त्रियो को देखा ॥२६॥

ताभिः परिवृतो राजा सुरूपाभिर्भहायशाः ।

तन्मृगद्विजसंधुष्टं प्रविष्टः प्रमदावनम् ॥२७॥

उन अत्यन्त रूपवती सुन्दरियो के साथ महायशस्वी राक्षसराज, मृगों और पक्षियो से भरे उस अपने प्रमोदवन में (अशोक-वन में) पहुँचा ॥२७॥

क्षीबो विचित्राभरणः शङ्ख 'कर्णो महाबलः ।

तेन विश्रवसः पुत्रः स दृष्टो राक्षसाधिपः ॥२८॥

उस समय महाबली, उन्मत्त, भूल्यवान गहना को धारण किए हुए और गर्व से काना को स्तब्ध किए हुए, विश्रवा के पुत्र राक्षसराज रावण को हनुमानजी ने देखा ॥२८॥

वृतः परमनारीभिस्ताराभिरिव चन्द्रमाः ।

तं ददर्श महातेजास्तेजोवन्तं महाकपिः ॥२९॥

रावणोऽयं महाबाहुरिति संचिन्त्य वानरः ।

अवप्लुतो महातेजा हनुमान्मारुतात्मजः ॥३०॥

परम रूपवती स्त्रियों से घिरे हुए उस महातेजस्वी राक्षस-राज रावण को, ताराओं से घिरे चन्द्रमा की तरह शोभित देख वृक्ष पर बैठे हुए पवननन्दन हनुमानजी ने सोचा कि, यह महाबाहु रावण ही है ॥२९॥३०॥

स तथाप्युप्रतेजाः सन्निर्धूतस्तस्य तेजसा ।

पत्रगुह्यान्तरे सक्तो हनुमान्संवृतोऽभवत् ॥३१॥

यद्यपि हनुमानजी स्वयं भी अत्यन्त तेजस्वी थे, तथापि रावण के तेज के सामने वे दब गए और वृक्ष की एक डाली पर, उसके सघन पत्तों में अपने को छिपा लिया ॥३१॥

'सीतामसितकेशान्तां सुश्रोणीं संहतस्तनीम् ।

दिदक्षुरसितापाङ्गीमुपावर्तत . रावणः ॥३२॥

इति अष्टादशः सर्गः ॥

काले केशो वाली, पतली कमर वाली, कठिन स्तन वाली और काले नेत्रों वाली जानकी को देखने के लिए रावण सीता के समीप गया ॥३२॥

सुन्दरकाण्ड का अष्टादशवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

— * : —

एकोनविंशः सर्गः

तस्मिन्नेव ततः काले राजपुत्री त्वनिन्दिता ।

रूपयौवनसम्पन्नं भूषणोत्तमभूषितम् ॥१॥

ततो दृष्ट्वैव वैदेही रावणां राक्षसाधिपम् ।

प्रावेपत वरारोहा प्रवाते कदली यथा ॥२॥

उस समय सुन्दरी राजपुत्री सीता, रूपयौवनसम्पन्न और उत्तम भूषणों से भूषित राक्षसराज रावण को देख, मारे डर के केले के पत्ते की तरह कांपने लगी ॥१॥२॥

आच्छाद्योदरमूरुभ्यां बाहुभ्यां च पयोधरौ ।

उपविष्टा विशालाक्षी रुदन्ती वरवर्णिनी ॥३॥

विशालाक्षी और सुन्दर रंग वाली सीता, दोनों जाँघों से अपने पेट को तथा बाँहों से अपने स्तनों को ढाँपे हुए बैठ कर, रोने लगी ॥३॥

दशग्रीवस्तु वैदेहीं रक्षितां राक्षसीगणैः ।

ददर्श सीतां दुःखार्ता नावं सन्नामिवाणवे ॥४॥

रावण ने देखा कि, राक्षसियों के पहरे में सीता अत्यन्त दुःखी है और समुद्र की लहरों के झकोरों से डगमगाती नाव की तरह काँप रही है ॥४॥

१ पाठान्तरे—“स तामसितकेशान्ता” । २ पाठान्तरे—“रुदन्ती” ।

असंवृतायाभासीनां धरण्यां संशितव्रताम् ।

द्विन्नां प्रपतितां भूमौ शाखामिव वनस्पतेः ॥५॥

भूमि पर बिना विद्धोना विद्याए बैठी हुई तथा दृढ़व्रत धारण किए हुए सीता, भूमि पर पड़ी वृक्ष को कटी डाली की तरह, जान पड़ती थी ॥५॥

मलमण्डनचित्राङ्गीं मण्डनार्हाममण्डिताम् ।

मृणाली पङ्कदिग्धेव विभाति न विभाति च ॥६॥

सीता के अंग, जो भूषणों से भूषित होने योग्य थे, उन सब अंगों पर मल चढ़ा हुआ था । वह इस समय कीचड़ में सनी कुमुदनी की तरह जान पड़ती थी ॥६॥

समीपं राजसिंहस्य रामस्य विदितात्मनः ।

सङ्कल्पहयसंयुक्तैर्यन्तीमिव मनोरथः ॥७॥

मानो उस समय वह मनोरथों के सङ्कलरूपी घोड़ों पर सवार हो, प्रसिद्ध राजसिंह श्रीरामचन्द्रजी के पास जा रही थी ॥७॥

शुष्यन्ती रुदतीमेकां ध्यानशोकपरायणाम् ।

दुःखस्यान्तमपश्यन्ती रामां राममनुव्रताम् ॥८॥

श्रीरामचन्द्रजी का ध्यान करते करते श्रीर शोक से विकल होने के कारण, उसका शरीर सूख कर काँटा हो गया था । वह बराबर रो रही थी । उसको दु खरूपी सागर का भीर-खोर नहीं देख पड़ता था । वह केवल राम ही की श्रीर ध्यान लगाये हुए थी ॥८॥

व्रेष्टमानां तथाऽऽविष्टां पद्मगेन्द्रवधूमिव ।

धूम्यमानां ग्रहेणेव रोहिणीं धूमकेतुना ॥९॥

वह मन्त्रमुग्धा सर्पिणी की तरह छटपटा रही थी, मग्नो रोहिणी धूमकेतु के ताप से सन्तप्त हो रही थी ॥९॥

वृत्तशीलकुले जातामाचारवति धार्मिके ।

पुनःसंस्कारमापन्नां जातामिव च दुष्कुले ॥१०॥

दुःस्वभाव-सम्पन्न, समयानुकूल-आचारवान् और यज्ञादि धर्मानुष्ठान प्रधान-कुल में उत्पन्न हो कर तथा उस कुल के योग्य ही विवाहसंस्कार से संस्कारित हो कर भी, इस समय सीता लङ्कापुरी में रहने के कारण, राक्षसकुलोत्पन्न जैसी जान पड़ रही थी ॥१०॥

सन्नामिव महाकीर्ति श्रद्धामिव विमानिताम् ।

प्रज्ञामिव परिक्षीणामाशां प्रतिहतामिव ॥११॥

उस समय सीता ऐसी जान पड़ती थी, मानो निन्दित कीर्ति, अनादृत विश्वास, क्षीण बुद्धि, अथवा टूटी हुई आशा हो ॥११॥

आप्रतीमिव विध्वस्तामाज्ञां प्रतिहतामिव ।

दीप्तामिव दिश काले पूजामपहतामिव ॥१२॥

अथवा घटो हुई आमदनी, उल्लङ्घन की हुई आज्ञा, उल्कापात के समय जलनी हुई दिगाएँ, अथवा पूजा को नष्ट हुई सामग्री ॥१२॥

पद्मिनीमिव विध्वस्तां हतशूरां चमूमिव ।

प्रभामिव तमोध्वस्तामुपक्षीणामिवापगाम् ॥१३॥

अथवा मसली हुई कुमुदनी, शूरां की पराजित सेना, अन्धकारच्छन्न प्रभा, सूखी हुई नदी ॥१३॥

वेदीमिव परामृष्टां शान्तामग्निशिखामिव ।

पौर्णमासीमिव निशां राहुग्रस्तेन्दुमण्डलाम् ॥१४॥

अथवा भस्वृस्यो के स्पर्श द्वारा भ्रष्ट हुई यज्ञवेदी, बुझी हुई आग, राहु-ग्रहित चन्द्रमण्डल से युक्त पूर्णमासी की रात ॥१४॥

उत्कृष्टपर्णकमलां वित्रासितविहङ्गमाम् ।

हस्तिहस्तपरामृष्टामाकुला पद्मिनीमिव ॥१५॥

अथवा टूटी हुई पल्लवियों का कमल, भयभीत पक्षी और हाथी की सूँड से मलबवाई हुई कमलयुक्त पुष्करिणी ॥१५॥

१ पाठान्तरे—'पूजामिव ।'

पतिशोकातुरां शुष्कां नदीं विस्त्रावितामिव ।

परया मृजया हीनां कृष्णपक्षनिशामिव ॥१६॥

सीता, श्रीरामचन्द्रजी के वियोग-जन्य शोक से भातुर हो, ऐसी सूख गई थीं, जैसे सूखे हुए बाँध की नदी, जल के इधर-उधर बह जाने से सूख जाती है । शरीर में उबटन आदि न लगाने से जानकी कृष्णपक्ष की रात की तरह कालीकलूटी से जान पड़ती थी ॥१६॥

सुकुमारीं सुजाताङ्गीं रत्नगर्भगृहोचिताम् ।

तप्यमानामिवोष्णेन मृणालीमचिरोद्धताम् ॥१७॥

सुकुमारी, सुन्दर भ्रगोवाली एव रत्नजटित घर में रहने योग्य जानकी, इस समय दुःख से सन्तप्त ऐसी उदास थी मानो हाल की उसड़ी हुई कमलिनी घाम से ताप से तप्त हो, कुम्हला गई हो ॥१७॥

गृहीता लाडितां स्तम्भे यूथपेन विनाकृताम् ।

निःश्वसन्तीं सुदुःखार्तां गजराजवधूमिव ॥१८॥

जिस प्रकार हथिनी पकड़ कर सूँटे में बाँध दी जाती है और वह अपने यूथपति के वियोग में अत्यन्त दुःखी हो, बारबार उसाँसे लेती है, उसी प्रकार सीता उस समय अत्यन्त विकल हो, लम्बी साँसें ले रही थीं ॥१८॥

एकया दीर्घया वेण्या शोभमानामयत्नतः ।

नीलया नीरदापाये वनराज्या महोमिव ॥१९॥

बिना सम्हाली एक बेणी (चोटी) उनकी पीठ पर बँसे ही प्रनायास शोभायमान थी जैसे वर्षाकाल में नीले रंग की वनश्रेणी से पृथिवी शोभित हो ॥१९॥

उपवासेन शोकेन ध्यानेन च भयेन च ।

परिक्षीणां कृशां दीनामल्पाहारं तपोधनाम् ॥२०॥

१ पाठान्तरे—“गृहिता मालिता” । २ अल्पाहारा—तोयमात्राहास-मित्यर्थ । (गो०)

उपवास, शोक, चिन्ता और भय के कारण सीता का शरीर अत्यन्त दुबला-पतला हो रहा था । यह केवल जलमात्र पी कर शरीर को तपा रही थी, अर्थात् कष्ट दे रही थी ॥२०॥

आयाचमानां दुःखार्ता प्राञ्जलिं देवतामिव ।

भावेन रघुमुख्यस्य दशग्रीवपराभवम् ॥२१॥

और दुःख से विकल हो इष्टदेवता की तरह हाथ जोड़ कर, मानो रघुवशिया में प्रधान श्रीरामचन्द्रजी से रावण के पराजय की प्रार्थना कर रही थी ॥२१॥

समीक्षमाणां रुदतीमनिन्दिता

सुपक्षमताम्रायतशुक्ललोचनाम् ।

अनुव्रतां राममतीव मैथिलीं

प्रलोभयामास वधाय रावणः ॥२२॥

इति एकोनविंश सर्गं ॥

निन्दारहित सीताजी रो-रो कर श्रेष्ठ पलको से युक्त अरुणप्रान्त-भूषित, श्वेत विशाल नेत्रों से, अपनी रक्षा के लिए इधर-उधर दृष्टि डालती हुई, अपने रक्षक को देख रही थी और रावण श्रीरामचन्द्रजी की ऐसी पतिव्रता भार्या सीता को लालच दिखला कर, मानो अपने लिए मृत्यु को आमंत्रण दे रहा था ॥२२॥

सुन्दरकाण्ड का उन्नीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

— * —

विंशः सर्गः

स तां पतिव्रता दीनां निरानन्दां तपस्विनीम् ।

साकारं मधुरैर्वाक्यैर्न्यदर्शयत् रावणः ॥१॥

राक्षसिया से घिरी हुई दीनभाव को प्राप्त दुःखिनी और तपस्विनी सीता को रावण सकेता और मधुर वचनों से लुभाने लगा ॥१॥

१ समीक्षमाणा—रक्षक समीक्षमाणा । (गो०)

मां दृष्ट्वा नागनासोरु गूहमाना स्तनोदरम् ।

अदर्शनमिवात्मानं भयात्नेतुं त्वमिच्छसि ॥२॥

रावण ने कहा—हे मुन्दरी ! तू मुझे देख कर अपने उदर और स्तनों को ढंक कर, भयभीत हो, अपने मार शरीर को छिपाना चाहती है ॥२॥

कामये त्वां विशालाक्षि बहुमन्यस्व मां प्रिये ।

सर्वाङ्गगुणसम्पन्ने सर्वलोकमनोहरे ॥३॥

हे विशालाक्षी ! हे प्रिये ! मैं तुझे चाहता हूँ, अतः तू भी मुझे अच्छी तरह मन्नि । तेरे सब अङ्ग मुन्दर हैं, अतः तू सब का मन हरने वाली है ॥३॥

नेह केचिन्मनुष्या वा राक्षसाः कामरूपिणः ।

व्यपसर्पन्तु ते सीते भयं मत्तः समुत्थितम् ॥४॥

ह सीते ! इस समय यहाँ न तो कोई मनुष्य है और न कामरूपी कोई राक्षस ही है । (फिर तू डरती किससे है ?) यदि मुझसे डर लगता हो तो, इस भय को तू त्याग दे ॥४॥

स्वधर्मो रक्षसां भोरु सर्वयैव न संशयः ।

गमनं वा परस्त्रीणां हरणं सम्प्रमथ्य वा ॥५॥

हे भोरु ! निस्सन्देह पराई स्त्री से सम्मोग करना अथवा पराई स्त्री को बरजोरी हर नाना राक्षसों का सदा का धर्म है ॥५॥

एवं चैतदकामां तु न त्वा स्प्रक्षयामि मैथिलि ।

कामं कामः शरीरे मे यथाकामं प्रवर्तताम् ॥६॥

तिस पर भी यदि तू न चाहेगी तो मैं तुझे न छुड़ूँगा । भले ही कामदेव मुझे खूब मनावे ॥६॥

देवि नेह भय कार्य मयि विश्रसिहि प्रिये ।

प्रणयस्व च तत्त्वेन मैवं भू. शोकचालसा ॥७॥

हे देवि ! यहाँ तू डरे मत और मुझमें विश्वास कर । हे प्रिये ! मुझसे तू ठीक-ठीक [यथायं] प्रेम कर और इस प्रकार तू शोक से विकल मत हो ॥७॥

एकवेणी धरा शय्या ध्यानं मलिनमम्बरम् ।

अस्थानेऽप्युपवासश्च नैतान्यौषधिकानि ते ॥५॥

एक बेगो धारण करना, बिना बिंदो की भूमि पर सोना, मंते कपड़े पहिना और अनावश्यक उरवास करना, तुमको गोमा नहीं देता ॥५॥

विचित्राणि च माल्यानि चन्दनान्यगह्णि च ।

विविधानि च वासांसि दिव्यान्याभरणानि च ॥६॥

महार्हाणि च पानानि शयनान्यासनानि च ।

गोतं नृत्यं च वाद्यं च लभ मां प्राप्य मंथिलि ॥१०॥

हे मंथिली! मेरे पास रह कर, रगविरंगे फूलों की मालाएँ पहिन, चन्दन और अगर शरीर में लगा विविध प्रकार के सुन्दर कपड़े और गहने पहिन, बडिया शराबें पी, बहुमूल्य सेबों पर नो, बडिया भासनो पर बैठ कर गाना-बजाना सुन और नाचना देख ॥६॥ १०॥

स्त्रोरत्नमसि मैवं भूः कुरु गात्रेषु भूषणम् ।

मां प्राप्य हि कथं नु स्यास्त्वमनर्हा सुविग्रहे ॥११॥

तू तो स्त्रियो में एक रत्न है । अतएव ऐसा शृङ्गारहीन बेष मत बना; बल्कि अपने शरीर को अलङ्कृत कर । हे सुन्दरी! मुझे पाकर भी तू क्यों अपने शृङ्गार करने योग्य शरीर की ऐसी खराबी कर रही है ॥११॥

इदं ते चारु सञ्जातं यौवनं व्यतिवर्तते ।

यदतीतं पुनर्नैति स्रोतः शीघ्रमपामिव ॥१२॥

यह तेरी सुन्दर उठती हुई जवानी बीती जा रही है ! यह जवानी नदी की धार की तरह है, जो एक क्षण बह गई, वह फिर लौट कर नहीं आ सकती ॥१२॥

त्वां कृत्वोपरतो मन्ये रूपकर्ता स विश्वसूक् ।

न हि रूपोपमा त्वन्या तवास्ति शुभदर्शने ॥१३॥

हे सुन्दरी ! जान पड़ता है, रूप रचने वाले ब्रह्मा ने तुमको रचकर, फिर रचना करता ही बंद कर दिया है । क्योंकि तेरे समान रूपवती स्त्री और कोई नहीं दिखाई पड़ती ॥१३॥

त्वां समासाद्य वंदेहि रूपयौवनशालिनीम् ।

कः पुमानतिवर्तेत साक्षादपि पितामहः ॥१४॥

हे वंदेही ! तेरी जैसी सुन्दरी युवती को पा कर कौन ऐसा होगा, जिसका मन कुमार्ग में न जाय । और की बात ही क्या, (तुझे देख) ब्रह्मा जी भी कुपपगामी होने से अपने को नहीं रोक सकते ॥१४॥

यद्यत्पश्यामि ते गात्रं शीतांशुसदृशानने ।

तस्मिस्तस्मिन्पृथुश्रोणि चक्षुर्मम निबध्यते ॥१५॥

हे चन्द्रमुखी ! मैं तेरे शरीर के जिस जिस अङ्ग पर दृष्टि ठासता हूँ, उसी उसी अङ्ग में मेरी धाँस जाकर अटक जाती है ॥१५॥

भव मैथिलि भार्या मे भोहृग्नेन विसर्जय ।

बह्वीनामुत्तमस्त्रीणामाहृतानामितस्ततः ॥१६॥

सर्वास्तामेव भद्रं ते ममाग्रमहिषी भव ।

लोकेभ्यो यानि रत्नानि सम्प्रमध्याहृतानि वै ॥१७॥

तानि मे भीरु सर्वाणि राज्यं चैतदहं च ते ।

विजित्य पृथिवीं सर्वा नानानगरमालिनीम् ॥१८॥

जनकाय प्रदास्यामि तव हेतोर्विलासिनि ।

नेह पश्यामि लोकैऽन्तं यो मे प्रतिबलो भवेत् ॥१९॥

हे मैथिली ! तू अब मेरी पत्नी बन जा । मैं जो इधर से उधर अनेक उत्तमोत्तम स्त्रियाँ ले आया हूँ, तू उन सब की मुख्य पटरानी बन जा । अब अपनी इस भूलंता को त्याग दे । मैं अनेक लोको को जीत कर जो रत्न-राशि लाया हूँ, उन सब रत्नों को तथा अपने समस्त राज्य को मैं तुझे देता हूँ । हे विलासिनी ! मैं तेरे लिए नाना नगरो से भरी यह अलिल पृथिवी जीत कर,

तेरे पिता जनक को दे दूँगा । मैं इस अगत में किसी को ऐसा नहीं देखता,
जो मेरा सामना कर सके ॥१६॥१७॥१८॥१९॥

पश्य मे सुमहद्वीर्यमप्रतिद्वन्द्वमाहवे ।

असकृत्संयुगे भग्ना मया विमृदितध्वजाः ॥२०॥

अशक्ताः प्रत्यनीकेषु स्थातुं मम सुरासुराः ।

'इच्छ मां क्रियतामद्य' प्रतिकर्म तदोत्तमम् ॥२१॥

युद्ध सम्बन्धी मेरे अत्यन्त बल पराक्रम को देख । युद्ध में मैंने सुर-असुरो
को बारबार पराजित कर, उनकी ध्वजाएँ तोड़ गिराई हैं । सुर और असुरो
की सेना में मेरे सामने जो खड़ा रह सके, ऐसा कोई भी नहीं है । तू मुझे
अब झुकीकार कर, जिससे तेरा भली भाँति शृङ्गार कराया जाय
॥२०॥२१॥

सप्रभाण्यवसज्यन्तां तवाङ्गे भूषणानि च ।

साधु पश्यामि ते रूपं संयुक्तं प्रतिकर्मणा ॥२२॥

और सुन्दर चमकीले गहनो से तेरे अंग सजाएँ जायें । मेरी इच्छा है कि, मैं
तेरे शृंगार किए हुए रूप को देखूँ ॥२२॥

प्रतिकर्माभिसंयुक्ता दाक्षिण्येन वरानने ।

भुङ्क्ष्व भोगान्यथाकामं पिब भीरु रमस्व च ॥२३॥

हे सुन्दरी ! तू अपने शरीर को बहुत अच्छी तरह भूषित कर । हे
भीरु ! इच्छानुसार भोगों को भोग; मदिरा पान कर और मेरे साथ रमण
कर ॥२३॥

यथेष्टं च प्रयच्छ त्वं पृथिवीं वा धनानि च ।

'रमस्व मयि विस्रब्धा धृष्टमाज्ञापयस्व च ॥२४॥

१ पाठान्तरे—“इच्छया” । २ प्रतिकर्म—फलद्वारः । (गा०)

३ पाठान्तरे—“तलस्व” ।

तू जितना चाहे उतना धन या पृथिवी जिसकी चाहे उसको दे डाल । मेरा विश्वास कर, मेरे साथ विहार कर और तू सख्खु न भाव से मुझे आज्ञा दिया कर ॥२४॥

मत्प्रसादाल्ललन्त्याश्च ललन्तां वान्धवास्तव ।

ऋद्धि ममानुषश्य त्वं श्रिय भद्रे यशश्च मे ॥२५॥

मुझे प्रसन्न करने से केवल तेरी ही अभीष्ट सिद्ध न होगी, बल्कि तेरे बन्धुजना की इच्छाएँ पूरी होती रहेंगी । हे भद्रे ! तू मेरी ऋद्धि, धन और कीर्ति को देख ॥२५॥

किं करिष्यसि रामेण सुभगे चीरवाससा ।

निक्षिप्तविजयो रामो गतश्रीर्वनगोचरः ॥२६॥

हे सुभगे ! चीर बल्कल घारी राम को ले कर तू क्या करेगी ? राम तो हारा हुआ है, श्रीभ्रष्ट है और वन में रहा करता है ॥२६॥

व्रतो स्थण्डिलशायी च शङ्को जीवति वा न वा ।

न हि वंदेहि रामस्त्वां द्रष्टुं वाप्युपलप्स्यते ॥२७॥

वह केवल व्रतधारी है और जमीन पर सोया करता है । मृगों उसके अब तक जीवित रहने में भी सन्देह है । हे वंदेहि ! राम से तेरा मिलना तो बात ही और है, तू अब उसे देख भी नहीं सकती ॥२७॥

पुरोबलाकैरसितैर्मधैर्ज्योत्स्नामिवावृताम् ।

न चापि मम हस्तात्त्वां प्राप्तुमर्हति राघवः ॥२८॥

हे वंदही ! जिस प्रकार बगलों की पवित्र मेघाच्छादित चाँदनी को नहीं देख सकती, उसी प्रकार रामचन्द्र भी अब तुझको नहीं देख सकते, रामचन्द्र मेरे हाथ से तुझको वंसे ही अब नहीं ले सकते, ॥२८॥

हिरण्यकशिपुः कीर्तिमिन्द्रहस्तगतामिव ।

चारुस्मिते चारुदति चारुनेत्रे विलासिनि ॥२९॥

जैसे हिरण्यकशिपु इन्द्र के हाथ से गई कीर्ति को नहीं पा सका । हे सुन्दर दाँतो वाली ! हे चारुहासिनी ! हे सुन्दरनयनी ! हे विलासिनी ! ॥२९॥

मनो हरसि मे भीरु सुपर्णः पन्नगं यथा ।

विलष्टकौशेयवसनां तन्वीमप्यनलंकृताम् ॥३०॥

हे भीरु ! तू मेरे मन को उसी प्रकार हर रही है जिस प्रकार गरुड साँप को हरता है । मद्यपि तू केवल एक पुरानी रेशमी साड़ी पहिने हुए है, शरीर से मत्पन्त दुबली है और तेरे शरीर पर गहने भी नहीं हैं ॥३०॥

त्वां दृष्ट्वा स्वेषु दारेषु रतिं नोपलभाम्यहम् ।

अन्तःपुरनिवासिन्यः स्त्रियः सर्वगुणान्विताः ॥३१॥

यावन्त्यो मम सर्वासामंश्वर्यं कुरु जानकि ।

मम ह्यासितकेशान्ते त्रैलोक्यप्रवराः स्त्रियः ॥३२॥

तथापि तुझे देख कर, अपनी सुन्दरी स्त्रियो में प्रेम करने को मेरा मन नहीं करता । सर्वगुणभागरी मेरे रनवास की जितनी स्त्रियाँ हैं तू उन सब की स्वामिनी बन जा । हे काले काले केशो वाली ! मेरे रनवास में तीनी लोको की सुन्दरी स्त्रियाँ हैं ॥३१॥३२॥

तास्त्वां परिचरिष्यन्ति श्रियमप्सरसो यथा ।

यानि वैश्रवणे सुभ्रु रत्नानि च धनानि च ।

तानि लोकांश्च सुश्रोणि मां च भुङ्क्ष्व यथासुखम् ॥३३॥

वे सब तेरी वैसे ही टहल करेंगी, जैसे लक्ष्मी जी की अप्सराएँ टहल किया करती हैं । हे सुभ्रु ! कुबेर का जो धन और रत्न है, उन सब को तथा समस्त लोको के सुख को मेरे साथ इच्छानुसार भोग ॥३३॥

न रामस्तपसा देवि न बलेन न विक्रमैः ।

न धनेन मया तुल्यस्तेजसा यशसाऽपि वा ॥३४॥

हे देवी ! तप, बल, पराक्रम, धन, तेज और यश में, राम मेरी बराबरी नहीं कर सकता ॥३४॥

पिब विहर रमस्व भुङ्क्ष्व भोगान्-
 घननिचयं प्रदिशामि मेदिनीं च ।
 मयि लल ललने ययासुखं त्वं
 त्वयि च समेत्य ललन्तु बान्धवास्ते ॥३५॥

तू मजे में शराब पी, बिहार कर जोडा कर, तथा सुखों का उरनोष कर । डेर का डेर घन घोर यह पृथिवी में तुने देजा हूँ । हे ललने ! तू भी मेरे साथ मतमाना सुख भोग और तेरे साथ साथ तेरे बन्धुजन भी सुख भोगें ॥३५॥

कुसुमितनखजालसन्ततानि
 भ्रमरयुतानि समुद्रतीरजानि ।
 कनकविमलहारभूषिताङ्गी
 विहर मया सह भीरु काननानि ॥३६॥
 इति विशा सर्गं ॥

हे सुन्दर सुवर्ण हार से भूषित झङ्ग वाली ! हे भीरु ! तू मेरे साथ, पुष्पित वृक्षों से भरे हुए तथा भीरों से युक्त समुद्र-तीरवर्ती वनों में बिहार कर ॥३६॥

सुन्दरकाण्ड का बीसवाँ सर्ग पूर्ण हुआ ।

— * —

एकविंशः सर्गः

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा सीता रौद्रस्य रक्षसः ।
 आर्ता दीनस्वरा दीनं प्रत्युवाच शनैर्दध. ॥१॥
 उस भयकर रावण के यह वचन सुन कर, बिबल घोर दीन हो कर सीता ने, रावण की कही बातों के उत्तर में उससे धीरे धीरे यह कहा ॥१॥
 दुःखार्ता रुदती सीता वेपमाना तपस्विनी ।
 चिन्तयन्ती वरारोहा पतिमेव पतिव्रता ॥२॥

दुःख से विकल रोती हुई तथा धरधराती हुई सुन्दरी तपस्विनी सीता अपने पातिव्रतधर्म की रक्षा के लिए चिन्तित और श्रीरामचन्द्रजी का स्मरण कर ॥२॥

तूणमन्तरत कृत्वा प्रत्युवाच शुचिस्मिता ।

निवर्तय मनो मत्त स्वजने त्रिपता मन ॥३॥

अपने और रावण के बीच मैं तिनके को भ्राड कर और मुमुकुराती सी जान पडती हुई रावण से बोली । हे रावण ! मरी और से अपने मन को फेर कर, अपनी स्त्रियो में उसे लगा ॥३॥

न मा प्रार्थयितु युक्त सुसिद्धिमिव पापकृत् ।

अकार्यं न मया कार्यमेकपत्न्या विगर्हितम् ॥४॥

क्योकि मैं तरे चाहन योग्य बंसे ही नहीं हूँ, जैसे सिद्धि, पापिष्ट जन द्वारा चाहने योग्य नहीं होती । मैं पातिव्रतधर्म पालन करने वाली हूँ । अत मैं ऐसा कार्य नहीं कर सकती ॥४॥

कुल सम्प्राप्तया पुण्य कुले महति जातया ।

एवमुक्त्वा तु वैदेही रावण त यशस्विनी ॥५॥

मैं उच्च कुल में उत्पन्न हो कर पवित्र कुल में व्याही गई हूँ । अत मैं ऐसा गर्हित कार्य नहीं कर सकती । उम यशस्विनी न रावण स इस प्रकार कहा ॥५॥

राक्षस पृष्ठतः कृत्वा भूयो वचनमब्रवीत् ।

नाहमौपयिकी भार्या परभार्या सती तव ॥६॥

और उसकी और पीठ फेर वह कहने लगी हे रावण ! मैं एक मनी स्त्री हूँ, मैं तेरी उपयुक्त भार्या नहीं बन सकती ॥६॥

साधुधर्ममवेक्षस्व साधु साधुव्रत चर ।

यथा तव तथाऽन्येषा दारा रक्ष्या निशाचर ॥७॥

तुझे उचित है कि, तू सद्धर्म और सद्ब्रत के अनुकूल भावण करे । जिस

प्रकार अपनी स्त्री की रक्षा करनी चाहिए, वैसे ही पराई स्त्री की भी रक्षा करनी उचित है ॥७॥

आत्मानमुपमां कृत्वा स्वेषु दारेषु रम्यताम् ।

अनुष्टुप् स्वेषु दारेषु चपलं चलितेन्द्रियम् ॥८॥

अतः अपने दृष्टान्त का आगे रख, तू अपनी ही स्त्रियों में रमण कर । क्योंकि जो चञ्चल मन करके और अपनी इन्द्रियों को चलायमान कर, अपनी स्त्रियाँ के साथ रमण कर, अनुष्टुप् नहीं होता ॥८॥

नयन्ति निकृतिप्रस परदाराः पराभवम् ।

इह सन्तो न वा सन्ति सतो वा नानुवर्तसे ॥९॥

ऐसी खोटी नीति पर चलने वाले मनुष्य को पराई स्त्रियाँ नष्ट कर दासती हैं । क्या यहाँ सज्जनजन नहीं रहते अथवा तू सज्जनों के सहवास को ही पसंद नहीं करता ॥९॥

तथा हि विपरीता ते बुद्धिराचारवर्जिता ।

वचो मिथ्याप्रणीतात्मा पथ्यमुक्तं विचक्षणः ॥१०॥

क्योंकि यदि उनके साथ तेरा संसर्ग हुआ होता, तो तेरी ऐसी सदाचारहीन बुद्धि कभी न होती या सज्जनों के हितकर वचनों को मिथ्या समझ ॥१०॥

राक्षसानामभावाय त्वं चा न प्रतिपद्यसे ।

अकृतात्मानमासाद्य राजानमनये रतम् ॥११॥

तू कहीं राक्षसों का नाश करने पर तो नहीं मुला हुआ है । हितोपदेश को न सुनने वाले तथा अनीतिरत राजा के होने से ॥११॥

समृद्धानि विनश्यन्ति राष्ट्राणि नगराणि च ।

तथैव त्वा समासाद्य लङ्का रत्नौघसङ्कुला ॥१२॥

भरे-पूरे राज्याँ और नगरों का नाश हो जाता है । अतः जान पड़ता है कि, रत्नों से भरी-पूरी इस लका का ॥१२॥

अपराधात्तवैकस्य न चिराद्विनशिष्यति ।

स्वकृतं हन्यमानस्य रावणादीर्घदर्शिनः ॥१३॥

अभिनन्दन्ति भूतानि विनाशे पापकर्मणः ।

एवं त्वां पापकर्माणं वक्ष्यन्ति निकृता^१ जनाः ॥१४॥

तेरे अकेले के दोष से नाश होने वाला है । हे रावण ! दूरदर्शिता के अभाव से किए हुए अपने पापों से जो पापी नष्ट होता है, उसका नाश देख कर प्राणी मात्र प्रसन्न होते हैं । इसी तरह तुझ पापी को मरा देख, वे लोग, जिनको तूने घोखा दिया है, यह कहेंगे ॥१३॥१४॥

दिष्ट्यैतद्व्यसनं प्राप्तो रौद्र इत्येव हर्षिताः ।

शक्या लोभयितुं नाहमैश्वर्येण धनेन वा ॥१५॥

कि, बड़े हर्ष की बात है जो यह दुष्ट रावण ऐसी विपत्ति में पडा है । हे रावण, तू यदि मुझे अपना ऐश्वर्य या धन का लालच दिखला लुमाना चाहे, तो मैं लालच में फँसने वाली नहीं ॥१५॥

अनन्या राघवेणाहं भास्करेण प्रभा यथा ।

उपधाय भुजं तस्य लोकनाथस्य सत्कृतम् ॥१६॥

कथं नामोपधास्यामि भुजमन्यस्य कस्यचित् ।

अहमौपयिकी भार्या तस्यैव वसुधापतेः ॥१७॥

जिस प्रकार सूर्य की प्रभा सूर्य को छोड़ कर, अन्य किसी की अनुगामिनी नहीं हो सकती, उसी प्रकार मैं भी श्रीरामचन्द्रजी को छोड़ कर और किसी की नहीं हो सकती । उन लोवनाय श्रीरामचन्द्रजी की भुजा को आदर-पूर्वक अपने सिर के नीचे रख, मैं अब क्योंकर किसी अन्य पुरुष की भुजा को तविया बना सकती हूँ । मैं तो उन्ही महाराज श्रीरामचन्द्रजी की उपयुक्त भार्या हूँ ॥१६॥१७॥

१ निकृताः—त्वया वञ्चिता । (गो०) २ औपयिकी—उचिता । (गो०)

व्रतस्नातस्य धीरस्य विद्येव विदितात्मनः ।

साधु रावण रामेण मां समानय दुःखिताम् ॥१८॥

जिस प्रकार ब्रह्म-विद्या, व्रत-स्नायी ब्राह्मण ही के योग्य हो सकती है, उसी प्रकार मैं भी उन जगत्प्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी की ही पत्नी हो सकती हूँ । हे रावण ! यदि तू अपना भला चाहता हो तो तू मुझे दुखिया को भव श्रीरामचन्द्रजी से मिला दे ॥१८॥

वने वासितया सार्धं करेष्वेव गजाधिपम् ।

मित्रमौषधिकं कर्तुं राम. स्थानं परीप्सता ॥१९॥

वध चानिच्छता घोर त्वयाऽसौ पुरुषर्षभ ।

'विदितं स हि 'धर्मात्मा शरणागतवत्सलः ॥२०॥

क्योंकि जैसे वन में बिछड़ी हुई हथिनी हाथी को पा कर ही आनन्दित होती है । [वैसे ही मैं श्रीराम को पा कर ही प्रसन्न हो सकती हूँ ।] हे रावण ! यदि तू लका बचाना चाहता है और यदि तुझे अपना भरण अभीष्ट नहीं है तो तुझे चाहिए कि, तू श्रीरामचन्द्रजी को अपना मित्र बना ले । देख, श्रीरामचन्द्रजी धर्मात्मा और शरणागतवत्सल के नाम से प्रसिद्ध हैं ॥१९॥२०॥

तेन मंत्रो भवतु ते यदि जीवितुमिच्छसि ।

प्रसादयस्व त्वं चैनं शरणागतवत्सलम् ॥२१॥

[मैं चाहती हूँ कि] तेरी उनके साथ मैत्री हो जाय । यदि तुझे अपने प्राण प्यारे हैं तो उन शरणागतवत्सल श्रीरामचन्द्रजी को तू मना ले ॥२१॥

मा चास्मै प्रयतो भूत्वा निर्यातयितुमर्हसि ।

एव हि ते भवेत्स्वस्ति सम्प्रदाय रघूत्तमे ॥२२॥

और विनयपूर्वक मुझ आपको सौंप दे । श्रीरामचन्द्रजी को मुझे दे देने ही से तेरा कल्याण होगा ॥२२॥

१ पाठान्तरे—'विदतस्त तव धर्मात्मा ।' २ पाठान्तरे—'धर्मन ।'

अन्यथा त्वं हि कुर्वाणो वधं प्राप्स्यसि रावण ।

वर्जयेद्वज्रमुत्सृष्टं वर्जयेदन्तकश्चिरम् ॥२३॥

त्वद्विधं तु न संक्रुद्धो लोकनाथः स राघवः ।

रामस्य धनुषः शब्दं श्रोष्यसि त्वं महास्वनम् ॥२४॥

शतक्रतुविसृष्टस्य निर्घोपमशनेरिव ।

इह शीघ्रं सुपर्वाणो ज्वलितास्या इवोरगाः ॥२५॥

यदि तूने ऐसा न किया तो हे रावण ! तू मारा जायगा । क्योंकि तुझ जैसा पापी, इन्द्र के चलाए हुए वज्र से भले ही बच जाय और भले ही मृत्यु भी बहुत काल तक तुझे जीता छोड़ दे, किन्तु लोकनाथ श्रीरामचन्द्रजी तुझे बिना मारे नहीं छोड़ेंगे । हे रावण ! तू शीघ्र ही इन्द्र के वज्र के समान, श्रीरामचन्द्रजी के धनुष की टकार का महाशब्द सुनेगा । बड़े फन वाले ज्वलितमुख सर्पों की तरह, ॥२३॥२४॥२५॥

इषवो निपतिष्यन्ति रामलक्ष्मणलक्षिताः ।

रक्षांसि निहनिष्यन्तः पुर्यामस्यां न संशयः ॥२६॥

श्रीराम और लक्ष्मण के लक्ष्य किये हुए बाण, इस लकापुरी में चारों ओर गिरेंगे और राक्षसों को मारेगे इसमें संशय नहीं है । ॥२६॥

असम्पातं करिष्यन्ति पतन्तः कङ्कवांससः ।

राक्षसेन्द्रमहासर्पान्स रामगरुडो महान् ॥२७॥

वे ककपक्षी से भूषित बाण जब यहाँ गिरेंगे, तब लका में तिल बराबर भी जगह बाणों से शून्य न रह जायगी । हे रावण ! राक्षसरूपी महासर्पों को श्रीराम रूपी महागरुड ॥२७॥

उद्धरिष्यति वेगेन चैततेय इवोरगान् ।

अपनेष्यति मां भर्ता त्वत्तः शीघ्रमरिन्दमः ॥२८॥

उसी प्रकार बगभूषक नष्ट कर डालेंगे, जैसे गरुड सर्पों को । शत्रुओं को हमन करने वाले मेरे पति, प्रविलम्ब मुझे तेरे हाथ से वैसे ही छुड़ा ले जायेंगे ॥२८॥

असुरेभ्यः श्रिय दीप्ता विष्णुस्त्रिभिरिव क्रमैः ।

जनस्थाने हतस्थाने निहते रक्षसा बले ॥२६॥

जैसे त्रिविक्रम भगवान ने तीन पेट से नाश कर, दैत्यों के हाथ से देवताओं की राजलक्ष्मी को छुड़ाया था, हे रावण ! तेरे उस जनस्थान में, जिसका प्रब नाम निशान तक नहीं रह गया, जब श्रीराम ने तेरी राजसी सेना को नाश किया था ॥२६॥

अशक्तेन त्वया रक्ष कृतमेतदसाधु वै ।

आश्रम तु तयो शून्य प्रविश्य नरसिंहयो ॥३०॥

गोचर गतयोभ्रात्रोरपनीता त्वयाऽधम ।

न हि गन्धमुपाध्राय रामलक्ष्मणयोस्त्वया ॥३१॥

शक्य सन्दर्शने स्थातु शुना शार्दूलयोरिव ।

तस्य ते विग्रहे ताभ्या 'युगग्रहणमस्थिरम्' ॥३२॥

तब तुझसे कुछ भी करते घरते न बन पडा । किन्तु पीछे उन नरसिंहों की अनुपस्थिति में शून्य आश्रम में जा तू मुझे चुरा लाया । जिस प्रकार कुत्ता, सिंह की गंध पाकर, उसके सम्मुख खडा नहीं रह सकता उसी प्रकार तू भी श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण के सामने नहीं ठहर सकता । उनसे युद्ध छिड़ने पर तेरा उनसे जोतना असम्भव है ॥३०॥३१॥३२॥

वृत्रस्पेवेन्द्रबाहुभ्या बाहोरेकस्य निग्रह ।

क्षिप्र तव स नाथो मे राम सौमित्रिणा सह ।

तोयमल्पमिवादित्य प्राणानादास्यते शरं ॥३३॥

जिस तरह एक भुजा वाले वृत्रासुर को जीतने में इंद्र को कुछ भी कठिनाई नहीं हुई था उसी तरह मेरे स्वामी श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मण सहित, गोघ्न

१ युगग्रहण—भुजग्रहण । (गो०) २ अस्थिर—मसभावित । (गो०)

ही अपने बाणों से तेरे प्राणों को बँसे ही हर लेंगे, जैसे सूर्य को थोड़ा सा पानी सोखने में देर नहीं लगती ॥३३॥

‘गिरि कुबेरस्य गतोऽथ वालयं

सभां गतो वा वरुणस्य राज्ञः ।

असंशयं दाशरथेर्न मोक्ष्यसे

महाद्रुमः कालहतोऽशनेरिव ॥३४॥

इति एकविंश सर्गः ॥

हे रावण ! चाहे तू कुबेर के पर्वत पर, (मानी कैलास) भ्रमवा उसके घर में भ्रमवा वरुण की सभा ही में क्या न जा छिपे, तो भी तू अब श्रीरामचन्द्र जी के बाणों से उभी प्रकार नहीं बच सकता जिस प्रकार काल को प्राप्त महाद्रुम, इन्द्र के वध से नहीं बच सकता ॥३४॥

सुन्दरकाण्ड का इक्कीसवाँ सर्ग पूर्ण हुआ ।

द्वाविंशः सर्गः

सीताया वचनं श्रुत्वा परुषं राक्षसाधिपः ।

प्रत्युवाच ततः सीतां विप्रियं प्रियदर्शनाम् ॥१॥

सीताजी के इन कठोर वचनों को सुन, राक्षसराज ने सुन्दरी सीता से उत्तर में ये अप्रिय वचन कहे ॥१॥

यथा यथा सान्त्वयिता वश्यः स्त्रीणां तथा तथा ।

यथा यथा प्रियं वक्ता परिभूतस्तथा तथा ॥२॥

हे सीते ! जैसे-जैसे पुरुष स्त्री को समझाता है, वैसे ही वैसे स्त्री उस समझाने वाले पुरुष के वश में हो जाती है । किन्तु मैंने प्रिय वचनों द्वारा बितना तुझे समझाया, तूने उतना ही मेरा तिरस्कार किया ॥२॥

सन्नियच्छति मे क्रोधं त्वयि कामः समुत्थितः ।

द्रवतोऽन्तर्गमासाद्य ह्यानिव सुसारथिः ॥३॥

१ कुबेरस्य गिरि—कैलास । (गो०) २ पाठान्तरे—‘गतोपधाय वा सभा ।’

क्या कहूँ, मैं तेरे ऊपर आसक्त हूँ, यह आसक्ति ही क्रोध को वैसे ही रोके हुए है जैसे कुमार्ग की ओर दौड़ते हुए घोड़ो को सारथी रोकता है ॥३॥

वाम १ कामो मनुष्याणा यस्मिन्किल निबध्यते ।

जने तस्मिन्स्त्वनुक्रोश स्नेहश्च किल जायते ॥४॥

मनुष्या क लिए काम सचमुच बड़ा बन्धन है क्योंकि जिसके प्रति काम उभर आता है निश्चय ही उसके ऊपर स्नेह और दया उत्पन्न कर देता है ॥४॥

एतस्मात्कारणान्न त्वा घातयामि वरानने ।

यद्यार्हामवमानार्हा मिथ्याप्रव्रजिते रताम् ॥५॥

हे वरानन ! यही कारण है कि मैं त्वा घात नहीं करता। नहीं तो तू मार डालना और तिरस्कार करने का योग्य है। उस तपस्वी राम में तेरी प्रीति निपट झूठी है ॥५॥

परुषाणीह वाक्यानि यानि यानि ब्रवीषि माम् ।

तेषु तेषु वधो युवतस्तत्र मैथिलि दारुणः ॥६॥

तूने मुझसे जो कठोर वचन कहे हैं उनके लिए तो तुझे मार डालना ही ठीक है ॥६॥

एवमुक्त्वा तु वंदेहीं रावणो राक्षसाधिप ।

क्रोधसरम्भसयुक्त सीतामुत्तरमब्रवीत् ॥७॥

सीता के ऐसा कहने पर, क्रोधाविष्ट रावण सीता की बातों का उत्तर देने लगा ॥७॥

द्वौ मासौ रक्षितव्यौ मे योऽवधिस्ते मया कृत ।

तत शयनमारोह मम त्व वरवर्णिनि ॥८॥

मन जो अवधि निश्चित कर दी है उसमें दो मास अभी शय हैं तब तक तो मुझे तेरी रक्षा करनी ही उचित है। अधिक बीतने पर तुझे मरी सेज पर आना ही पडगा ॥८॥

१ वाम --प्रतिकूल । (गो०)

‘द्वाभ्यामूर्ध्वं तु मासान्यां भर्तारं भामनिच्छतीम् ।

मम त्वां प्रातराशायं सूदाशद्येत्स्यन्ति खण्डशः ॥६॥

यदि दो मास बीतने पर भी तूने मुझे धपना पति न बनाया, तो मेरे पाचक (बावर्ची) मेरे कलेबे के लिए तेरे शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर डालेंगे ॥६॥

तां भत्स्यमाना संप्रेक्ष्य राक्षसेन्द्रेण जानकीम् ।

देवगन्धर्वकन्यास्ता विपेदुर्विकृतेक्षणाः ॥१०॥

रावण द्वारा सीता को इस प्रकार धमलाई जाना देख, वे सब देव और गन्धर्व कन्याएँ, जो रावण के साप घाई थी, सीता को बनसियों से देख-देख, बहुत दुःखी हुईं ॥१०॥

श्रोष्ठप्रकारैरपरा 'वक्त्रेनैत्रंस्तथाऽपराः ।

सीतामाश्वासयामासुस्तजितां तेन रक्षसा ॥११॥

और कोई भय, कोई नेत्र और कोई मख चला कर, रावण से पीड़ित जानकी को घोरज बंधाने लगीं ॥११॥

ताभिराश्वासिता सीता रावणं राक्षसाधिपम् ।

उवाचात्महितं वाक्यं 'वृत्तरौण्डीर्यगवितम् ॥१२॥

उन्हे आश्वासिता सीता, अपने पातिद्वन्द्वल से बलान्वित हो, अपने हित की बात रावण से कहते लगी ॥१२॥

नूनं न ते जनः कश्चिदस्ति निःश्रेयसे स्थितः ।

निवारयति यो न त्वां कर्मणोऽस्माद्विगहितात् ॥१३॥

हे रावण ! मुझे विश्वास हो गया कि, इस लकापुर' में तेरा हितैषी कोई नहीं है, जो तुझे इस गहित कर्म करने से रोके ॥१३॥

१ पाठान्तरे—“ऊर्ध्वं द्वाभ्याम् ।” २ पाठान्तरे—“वक्त्रेनै ।” (गो०)

३ वृत्त-रातिप्रत्य, सदाचारः शौण्डीर्य-बल ।

वा० रा० सु०—१४

मां हि धर्मात्मनः पत्नीं शचीमिव शचीपतेः ।

त्वदन्यस्त्रिषु लोकेषु प्रार्थयेन्मनसाऽपि कः ॥१४॥

क्योंकि तीनों लोकों में तेरे सिवाय दूसरा कोई भी ऐसा पुण्य न होगा, जो इन्द्र की पत्नी शची की तरह धर्मात्मा श्रीरामचन्द्रजी की पत्नी मुझको चाहने की मन में कल्पना भी कर सके ॥१४॥

राक्षसाधम रामस्य भार्यामिततेजसः ।

उक्तवानसि यत्पापं क्व गतस्तस्य मोक्ष्यसे ॥१५॥

हे राक्षसाधम ! प्रमित तेजस्वी श्रीरामचन्द्रजी की भार्या से तूने जैसी बुरी बातें कही हैं, सो तू अब कहाँ जा कर, श्रीरामचन्द्रजी के बाणों से अपनी रक्षा कर सकेगा ॥१५॥

यथा दृप्तश्च मातङ्गः शशश्च सहितो वने ।

तथा द्विरदवद्रामस्त्वं नीच शशवत्स्मृतः ॥१६॥

यद्यपि दमित हाथी और खरगोश वन में एक साथ ही रहते हैं तथापि जैसे वे बराबर नहीं हो सकते वैसे ही श्रीरामचन्द्रजी हाथी के समान हैं और तू क्षुद्र खरगोश की तरह है ॥१६॥

स त्वमिक्ष्वाकुनाथं वै क्षिपन्निह न लज्जसे ।

चक्षुषोर्विषयं तस्य न तावदुपगच्छसि ॥१७॥

इक्ष्वाकुनाथ श्रीरामचन्द्र जी को निन्दा करते 'तुझे लाज नहीं आती । जब तक तू उनके सामने नहीं पड़ता, तब तक तू भले ही जो तर्जन चाहे सो कह ले ॥१७॥

इमे ते नयने क्रूरे विरूपे कृष्णपिङ्गले ।

क्षितौ न पतिते कस्मान्मामनार्य निरीक्षतः ॥१८॥

मरे तेरी ये क्रूर और टेढ़ी-मेढ़ी कान्नी पीली आँखें, जिनसे तूने मुझे बुरी निगाह से देखा है, निकल कर पृथिवी पर क्यों नहीं गिर पड़ती ॥१८॥

तस्य धर्मात्मनः पत्नीं स्नुषां दशरथस्य च ।

कथं व्याहरतो मां ते जिह्वा पाप न शीर्यते ॥१६॥

- उन धर्मात्मा श्रीरामचन्द्रजी की पत्नी और महाराज दशरथ की बधु से तूने जिस जीम से ऐसी बुरी बातें कही हैं वह जीम तेरी क्यों गल कर नहीं गिर पड़ती ॥१६॥

असंदेशात्तु रामस्य तपसश्चानुपालनात् ।

न त्वां कुर्मि दशग्रीव भस्म भस्मार्हतेजसा ॥२०॥

हे रावण ! मैं चाहूँ तो तुझको अपने पातिव्रत धर्म के प्रभाव से धमी जला कर भस्म कर डालूँ, परन्तु इसके लिए मुझे श्रीरामचन्द्रजी की आज्ञा नहीं है और मैं पातिव्रत धर्म पालन में तत्पर हूँ ॥२०॥

नापहर्तुमहं शक्या तस्य रामस्य धीमतः ।

विधिस्तव वधार्थाय विहितो नात्र संशयः ॥२१॥

तेरी यह शक्ति (मजाल) न थी कि, उन श्रीमान् रामचन्द्रजी के रहते, तू मुझे हर लाता । निश्चय जान ले कि तेरे द्वारा मेरे हरे बाने का विधान विघाता ने तेरे नाश के लिए ही रचा है ॥२१॥

शूरेण धनदभ्रात्रा बलैः समुदितेन च ।

अपोह्य रामं कस्माद्धि दारक्षीर्यं त्वया कृतम् ॥२२॥

तू तो अपने को बड़ा शूरवीर लगाता है, कुबेर का भाई बनता है और सब से बड़ कर अपने को बलवान् समझ रहा है । फिर श्रीरामचन्द्रजी को घोला दे, तूने उनकी स्त्री को क्यों चुराया ? ॥२२॥

सीताया वचनं श्रुत्वा रावणो राक्षसाधिपः ।

विवृत्य नयने क्रूरे जानकीमन्वर्षक्षत ॥२३॥

राक्षसराज रावण सीता के ऐसे वचन सुन और त्योरी बदल कर, क्रूर कटाक्ष से सीता को घूरने लगा ॥२३॥

नीलजीमूतसङ्काशो महाभुजशिरोधरः ।

सिंहसत्त्वगतिः श्रीमान्दीप्तजिह्वोप्रलोचनः ॥२४॥

उस समय रावण नीलवर्ण वाले बादल की तरह जान पड़ता था । उसकी भुजाएँ बड़ी-बड़ी थीं और गर्दन लंबी थी । वह बसवान् सिंह के समान शकट कर चला करता था । उसकी जीभ और शक्ति बड़ी चमकीली थीं ॥२४॥

चलाग्रमुकुटप्रांशुशिचित्रमाल्यानुलेपनः ।

रवतमाल्याम्बरधरस्तप्ताङ्गद्विभूषणः ॥२५॥

उसके सिर का मुकुट कुछ खसका हुआ था, गले में रंग बिरंगे फूलों की माला पहिने हुए था और भ्रमों में लाल चदन लगाए हुए था । वह लाल ही मालाएँ, लाल ही कपड़े और सोने के बाजूबंद भुजाओं में पहिने हुए था ॥२५॥

श्रोणीसूत्रेण महता मेचकेन सुसंवृतः ।

अमृतोत्पादनद्वेन भुजगेनेव मन्दरः ॥२६॥

उसकी कमर में काले रंग का कटिमूत्र लपटा हुआ था, जो समुद्रमयन के समय मेरुपर्वत से लपटे हुए काले सर्प की तरह जान पड़ता था ॥२६॥

‘द्वाम्यां स परिपूर्णाभ्यां भुजाभ्यां राक्षसेश्वरः ।

शुशुभेऽचलसङ्काशः शृङ्गाभ्यामिव मन्दरः ॥२७॥

पर्वत की तरह सबे झीलझील के राक्षसराज रावण की दोनों भुजाएँ, दो शिखरों से शोभित मदराचल की तरह जान पड़ती थीं ॥२७॥

तरुणादित्यवर्णाभ्यां कुण्डलाभ्यां विभूषितः ।

रवतपल्लवपुष्पाभ्यामशोकाभ्यामिवाचलः ॥२८॥

मध्याह्नकालीन सूर्य की तरह चमकीले कुण्डलों से बहु विभूषित था— मानो एक पर्वत लाल पत्तों और लाल पुष्पों से युक्त मसूरक बूटों से शोभामान हो रहा हो ॥२८॥

१ पाठान्तरे—“ताभ्या ।”

स कल्पवृक्षप्रतिमो वसन्त इव मूर्तिमान् ।

श्मशानचैत्यप्रतिमो भूपितोऽपि भयङ्करः ॥२६॥

यद्यपि रावण कल्पवृक्ष की तरह और मूर्तिमान वसंत की तरह सुशोभित हो रहा था, तथापि वह श्मशान घाट के चैत्य वृक्ष की तरह भयकर ही जान पड़ता था ॥२६॥

अवेक्षमाणो वंदेहीं कोपसंरक्तलोचनः ।

उवाच रावणः सीतां भुजङ्ग इव निःश्वसन् ॥३०॥

वह क्रोध के मारे लाल लाल नेत्रों से सीता को देखना हुआ और सर्व की तरह फुंफकारता हुआ, बोला ॥३०॥

अनयेनाभिसम्पन्नमर्यहीनमनुव्रते ।

नाशयाम्यहमद्य त्वां सूर्यः सन्ध्यामिवीजसा ॥३१॥

नीति और धर्म से शून्य श्रीरामचन्द्र को मानने वालों, तुम्हें मैं अभी उसी प्रकार समाप्त किए देना हूँ, जैसे सूर्य सन्ध्याकालीन अन्धकार का नाश करते हैं ॥३१॥

इत्युक्त्वा मैथिलीं राजा रावणः शत्रुरावणः ।

सन्दिदेश ततः सर्वा राक्षसीर्वीरदर्शना ॥३२॥

शत्रुओं को खलाने वाले रावण ने सीता से इस प्रकार कहा, उन भयकर समस्त राक्षसियों को आज्ञा दी ॥३२॥

एकाक्षीमेककर्णा च कर्णप्रावरणां तथा ।

गोकर्णो हस्तिकर्णो च लम्बकर्णोमर्कणिकाम् ॥३३॥

उस समय वहाँ उपस्थित उन राक्षसियों में कोई एक भ्रूण की, कोई एक कान की, कोई बड़े-बड़े कानों की, कोई गी जैसे कानों की, कोई हाथी जैसे कानों की, कोई बड़े-सबे लंबे कानों कानों और कोई बूची थी ॥३३॥

हस्तिपाद्यश्वपाद्यौ च गोपादीं पादचूलिकाम् ।

एकाक्षीमेकपादीं च पृथुपादीमपादिकाम् ॥३४॥

कोई हाथी, कोई घोडा, कोई बैल जैसे पँरो वाली और कोई पावों में बड़े-बड़े बेशों वाली थी । कोई एक बड़ी और एक छोटी घाँसों वाली, कोई एक बड़े और एक छोटे पँरो वाली, कोई मोटे पँरो वाली, कोई बिना पँर की थी ॥३४॥

अतिमात्रशिरोग्रीवामतिमात्रकुचोदरीम् ।

अतिमात्रास्यनेत्रा च दीर्घजिह्वामजिह्विकाम् ॥३५॥

किसी की गरदन और सिर, किसी के स्तन और उदर बहुत बड़े थे । किसी की आँखें बहुत बड़ी थीं और किसी की जीभ बड़ी लची थी और किसी के जीभ भी ही नहीं ॥३५॥

अनासिकां सिंहमुखीं गोमुखीं सूकरीमुखीम् ।

यथा मद्रशगा सीता क्षिप्रं भवति जानकी ॥३६॥

कोई नासिकारहित, कोई सिंहमुखी, कोई गोमुखी और कोई सूकरीमुखी थी । इन सब को सम्बोधन कर, रावण बोला कि, जिस तरह यह जानकी सीता क्षिप्र मेरे वश में हो ॥३६॥

तथा कुरुत राक्षस्यः सर्वाः क्षिप्रं समेत्य च ।

'प्रतिलोमानुलोमेश्च सामदानादिभेदनः ॥३७॥

उस तरह तुम सब मिल कर क्षिप्र प्रयत्न करो । साम, दान, भेदादि से अनुकूल प्रतिकूल (उल्टी सीधी बातें कह कर) उपायों से ॥३७॥

आवर्जयत वैदेहीं दण्डस्योद्यमनेन च ।

इति प्रतिसमादिश्य राक्षसेन्द्रः पुनः पुनः ॥३८॥

अथवा दश प्रभवा कर जैसे हों सबे वैसे ही, तुम भीता को मेरे कावू में कर दो । इस प्रकार रावण उन राक्षसियों को बार-बार आज्ञा दे ॥३८॥

काममन्युपरीतात्मा जानकीं पर्यतर्जयत् ।

उपगम्य ततः क्षिप्रं राक्षसी धान्यमालिनी ॥३९॥

१ प्रतिलोमानुलोमेश्च—प्रतिकूलानुकूलचरणे । (गो०)

जब काम से पीड़ित रावण सीता को घुड़कने लगा, तब तुरन्त धान्य-
मालिनी राक्षसी रावण के पास जा ॥३६॥

परिष्वज्य दशग्रीवमिदं वचनमब्रवीत् ।

मया क्रीड महाराज सीतया किं तवानया ॥४०॥

श्रीर रावण से लिपट उससे कहने लगी । हे महाराज ! आप मेरे साथ
बिहार कीजिये । यह सीता आपके किस काम की है ॥४०॥

विवर्णया कृपणया मानुष्या राक्षसेश्वर ।

नूनमस्यां महाराज न दिव्यान्भोगसत्तमान् ॥४१॥

विदधात्यमरश्रेष्ठस्तव बाहुबलार्जितान् ।

अकामां कामयानस्य शरीरमुपतप्यते ॥४२॥

क्योंकि हे रावण ! यह सीता तो बुरे रंग की, दुखिया और मानुषी है ।
निश्चय ही इसके भाग्य में विधाताने आपके बाहुबल से उपाजित दुर्लभ
भोगों को भोगना लिखा ही नहीं । फिर जो स्त्री अपने को नहीं चाहती;
उसकी चाह करने वाले पुरुष का शरीर सदा सन्तप्त रहता है ॥४१॥४२॥

इच्छन्तीं कामयानस्य प्रीतिर्भवति शोभना ।

एवमुवतस्तु राक्षस्या समुत्क्षिप्तस्ततो बली ॥४३॥

श्रीर जो स्त्री अपने को चाहती है, उसकी चाह ही से, चाहने का सुख
प्राप्त होता है । यह कह वह राक्षसी बलवान रावण को वहाँ से हटा कर ले
गई ॥४३॥

प्रहसन्मेघसङ्काशो राक्षसः स न्यवर्तत ।

प्रस्थितः स दशग्रीवः कम्पयन्निव मेदिनीम् ॥

ज्वलद्भ्रास्करवर्णाभं प्रविवेश निवेशनम् ॥४४॥

मेघ के समान लबा चीटा वह राक्षस रावण, मुसवयाता हुआ वहाँ से
फिरा । पृथिवी को मानो कपायमान करता हुआ रावण, चमचमाते सूर्य की
तरह अपने घर को चला गया ॥४४॥

देवगन्धर्वकन्याश्च नागकन्याश्च सर्वत ।

परिवार्य दशग्रीव विविशुस्तद्गूहोत्तमम् ॥४५॥

उस समय देव गन्धर्व और नागकन्याएँ भी उसके साथ ही उस थलभवन में चली गई ॥४५॥

स मैथिलीं धर्मपरामवस्थितां

प्रदेषमाना परिभर्त्स्य रावण ।

विहाय सीता मदननेन मोहित

स्वमेव वेश्म प्रविवेश भास्वरम् ॥४६॥

इति द्वाविंशः सर्गः ॥

कामासक्त रावण तांत्रिक धर्मपालन में तब पर और डर से थरथराती हुई जानकी को डाट डपट कर और उनको त्याग कर स्वयं अपने घर चला गया ॥४६॥

सुन्दरकाण्ड का वाङ्मय समाप्त हुआ ।

—*—

त्रयोविंशः सर्गः

इत्युक्त्वा मैथिलीं राजा रावण शत्रुरावण ।

सन्दिश्य च ततः सर्वा राक्षसीर्निर्जगाम ह ॥१॥

सीताजी को इस प्रकार डरा घमका कर शत्रुओं को हलाने वाला राक्षसराज रावण उन सब राक्षसियों को सीता को शीघ्र बश में करने की आज्ञा दे अगोकवाटिका से निकल कर चला गया ॥१॥

निष्क्रान्ते राक्षसेन्द्रे तु पुनरन्तपुर गते ।

राक्षस्यो भीमरूपास्ता सीता समभिदुद्रुवु ॥२॥

जब राक्षसेन्द्र वहाँ से निकल कर अपने अन्तपुर में पहुँच गया तब वे भयकर रूपधारिणी राक्षसिया सीता की ओर लपकी ॥२॥

१ पाठांतरे— प्रतिपद्यवीयवान् । 'प्रविवेशवीयवान् । प्रविवेश रावण ।

ततः सीतामुपागम्य राक्षस्यः क्रोधमूर्च्छिताः ।
परं परुषया वाचा वैदेहीमिदमब्रुवन् ॥३॥

और सीता के निकट पहुँच क्रुद्ध हो उनसे बड़े कठोर यह बचन बोलीं ॥३॥

पौलस्त्यस्य वरिष्ठस्य रावणस्य महात्मनः ।
दशग्रीवस्य भार्यात्वं सीते न बहु मन्यसे ॥४॥

हे सीते ! श्रेष्ठ पुलस्त्य ऋषि के पुत्र महाबली दशग्रीव रावण की पत्नी बनना क्या तू बड़ी बात नहीं समझती ॥४॥

ततस्त्वेकजटा नाम राक्षसी वाक्यमब्रवीत् ।
श्रामन्त्र्य क्रोधताम्राक्षी सीतां करतलोदरीम् ॥५॥

तदनन्तर छोटे पेट वाली एकजटा नाम की राक्षसी क्रोध में भर और झाँझें लाल-लाल कर और सीता को सम्बोधन कर, कहने लगी ॥५॥

प्रजापतीनां यणां तु चतुर्थो यः प्रजापतिः ।
मानसो ब्रह्मणः पुत्रः पुलस्त्य इति विश्रुतः ॥६॥

छ. प्रजापतियों में जो चतुर्थ प्रजापति हैं और जो ब्रह्मा के मानसपुत्र हैं और जो पुलस्त्य के नाम से प्रसिद्ध हैं ॥६॥

[नोट—१ मरीचि, २ षत्रि, ३ अङ्गिरस, ४ पुलस्त्य, ५ पुलह और ६ ऋतु—ये छः प्रजापति हैं ।]

पुलस्त्यस्य तु तेजस्वी महर्षिर्मनसः सुतः ।
नाम्ना स विश्रवा नाम प्रजापतिसमप्रभः ॥७॥

उन महर्षि पुलस्त्य के बड़े तेजस्वी मानसपुत्र विश्रवा जी हैं, जो प्रजापति के समान प्रभावान् हैं ॥७॥

१ पाठान्तरे—“परुष परुषा वाचा ।” २ करतलोदरीम्—सूक्ष्मोदर-विशिष्टां । (धि०)

तस्य पुत्रो विशालाक्षि रावणः शत्रुरावणः ।

तस्य त्वं राक्षसेन्द्रस्य भार्या भवितुमर्हसि ॥८॥

हे विशालाक्षी ! उन्हीं विश्वनाथी का पुत्र रावण है, जो शत्रुओं को खलाने वाला है । तुझको उसी राक्षसराज की पत्नी बन जाना चाहिए ॥८॥

मयोक्तं चारुसर्वाङ्गि वाक्यं किं नानुमन्यसे ।

ततो हरिजटा नाम राक्षसी वाक्यमब्रवीत् ॥९॥

हे सर्वाङ्गमुन्दरी ! मैं जा वह रही हूँ, उसे तू क्यों नहीं मानती ? तदनन्तर हरिजटा नाम की राक्षसी वाली ॥९॥

विवृत्य नयने कोपान्मार्जारमदृशेक्षणा ।

येन देवास्त्रयस्त्रिशद्देवराजश्च निर्जितः ॥१०॥

वह बिल्ली जैसी आँखा वाला हरिजटा कुपित हो घोर त्वोरी चढ़ा कहने लगी—जिसने तैंतीसों देवताओं को और उनके राजा इन्द्र तक को हरा दिया ॥१०॥

[नोट—यहाँ देवताओं की सत्त्वावाचक शब्द त्रय त्रिशत् “(प्रयात् ३३)” आया है । धारम्भ में या वैदिक काल में देवता ३३ ही थे । किन्तु पीछे पुण्य करने वाले मानवी ने स्वर्ग में प्रवेश कर, स्वर्गवासी होने के कारण, स्वर्गवासियों की संख्या अत्यधिक बढ़ा दी । वह संख्या बढ़ती-बढ़ती ३३ से तैंतीस बरोह हो गई है । स्मरण रहे मूल तैंतीस देवताओं को छोड़, शेष समस्त स्वर्गवासी जीव, देवता सरास्र होने पर भी—उन तैंतीस मूल देवताओं की तरह, अजर अमर नहीं हैं । शेष सब पुण्य क्षीण होने पर पुन भूलोक में आते हैं । मूल तैंतीस देवता भी कभी कभी आपवण पृथिवी पर आते हैं और शाप का फल भाग पुन अपने देवता रूप को प्राप्त होते हैं । यथा भीष्म, विदुर आदि की कथा पढ़ो ।]

तस्य त्वं राक्षसेन्द्रस्य भार्या भवितुमर्हसि ।

ततस्तु प्रथसा नाम राक्षसी क्रोधमूर्च्छिता ॥११॥

उस राक्षसराज की भार्या तुझको बन जाना चाहिए । तदनन्तर कुपितः
हो प्रथमा नाम राक्षसी ॥११॥

भत्संयन्तो तदा घोरमिदं वचनमब्रवीत् ।

वीर्योत्सिक्तस्य शूरस्य संग्रामेष्वनिवर्तितः ॥१२॥

सीताजी को बुरी तरह डाँटती डपटती हुई कहने लगी—देख, बड़े
पराक्रमी, शूर तथा युद्धक्षेत्र में कभी शत्रु को पीठ न दिसलाने वाले ॥१२॥

बलिनी वीर्ययुक्तस्य भार्यात्वं किं न लिप्ससे ।

प्रियां बहुमतां भार्या त्यक्त्वा राजा महाबलः ॥१३॥

बनवान और पराक्रम युक्त रावण की भार्या बनना क्या तू पसन्द नहीं
करती ? देख, वह महाबली राक्षसराज, अपनी प्यारी और कृपापात्र ॥१३॥

सर्वासां च महाभागां त्वामुपैष्यति रावणः ।

समृद्धं स्त्रीसहस्रेण नानारत्नोपशोभितम् ॥१४॥

और सब स्त्रियों से बढ कर भाग्यवती मन्दोदरी को भी त्याग कर, तेरे
ही साथ रहा करेगा । फिर हजारों स्त्री रत्नों से भरे पूरे और नाना रत्नों से
शोभित ॥१४॥

अन्तःपुरं समुत्सृज्य त्वामुपैष्यति रावणः ।

अन्या तु विकटा नाम राक्षसी वाक्पमब्रवीत् ॥१५॥

अपने अन्तःपुर को त्याग, रावण तेरे पास ही जायगा । तदनन्तर एक
दूसरी राक्षसी जिसका नाम विकटा था, कहने लगी ॥१५॥

असकृद्देवता युद्धे नागगन्धर्वदानवाः ।

निर्जिताः समरे येन स ते पार्श्वमुपागतः ॥१६॥

जिस रावण ने अनेक बार देवताओं, नागों, गन्धर्वों और दानवों को युद्ध
में परास्त किया, वह तेरे पास आया था ॥१६॥

तस्य सर्वमृद्धस्य रावणस्य महात्मनः ।

किमद्य राक्षसेन्द्रस्य भार्यात्वं नेच्छसेऽधमे ॥१७॥

हे अधमे ! ऐसे सब प्रकार स समृद्धशाली महाबली राक्षसराज रावण की पत्नी भव तू क्यों बनना नहीं चाहती ? ॥१७॥

ततस्तु दुर्मुखी नाम राक्षसी वाक्यमब्रवीत् ।

यस्य सूर्यो न तपति भीतो यस्य च मास्तः ॥१८॥

न वाति चासितापाङ्गे किं त्व तस्य न तिष्ठसि ।

पुष्पवृष्टि च तरवो मुमुचुर्यस्य वं भयात् ॥१९॥

तदनन्तर दुर्मुखी नाम की राक्षसी कहने लगी । जिसके डर से न तो सूर्य (अधिक) तपता और न वायु ही (बहुत तेजी के साथ) बहता है, उसके वश में तू क्यों नहीं हो जाती ? जिसके भय से पेड़ फूलों की वृष्टि किया करते हैं ॥१९॥

शैलाश्च सुभ्रू पानीयं जलदाश्च यदेच्छति ।

तस्य नैर्ऋतराजस्य राजराजस्य भामिनी ।

किं त्व न कुरुषे वृद्धि भार्यार्थे रावणस्य हि ॥२०॥

और पर्वत पानी बहाया करते हैं और जब रावण चाहता है तब मेघ पानी बरसाया करते हैं उस राक्षसराज रावण की पत्नी बनना तू क्यों पसंद नहीं करती ? ॥२०॥

साधु ते तत्त्वतो देवि कथितं साधु भामिनि ।

गृहाण सुस्मिते वाक्यमन्यथा न भविष्यसि ॥२१॥

इति त्रयोविंश सर्गं ॥

हे भामिनी ! हे मन्द मुसकयाने वाली ! मैंने तो तुझसे जो ठीक बात थी वही कही है । तू इसे मान ले तो अच्छी बात है नहीं तो तेरे लिए अच्छा न होगा ॥२१॥

सुन्दरकाण्ड का तेइसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

चतुर्विंशः सर्गः

ततः सीताः समस्तास्ता राक्षस्यो विकृताननाः ।

परुषं परुषा नार्य ऊचुस्तां वाक्यमप्रियम् ॥१॥

तदनन्तर वे विकराल आकृति वाली राक्षसियाँ मिल कर सीता से कठोर वचन कहने लगीं ॥१॥

किं त्वमन्तःपुरे सीते सर्वभूतमनोहरे ।

महार्हशयनोपेते न वासमनुमन्यसे ॥२॥

हे सीते ! क्या तू प्राणिमात्र का मन मोहने वाले और उत्तमोत्तम सेजों से युक्त (रावण के) रनवाम में रहना पसन्द नहीं करती ? ॥२॥

मानुषी मानुषस्यैव भार्यात्वं बहु मन्यसे ।

प्रत्याहर मनो रामान्न त्वं जातु भविष्यसि ॥३॥

हे मानुषी ! मनुष्य की पत्नी होना ता तू बड़ी बात समझती है, पर भ्रव तू श्रीरामचन्द्र की और से अपना मन हटा ले, क्योंकि भ्रव तू श्रीरामचन्द्र से कदापि न मिल सकेगी ॥३॥

त्रैलोक्यवसुभोक्तारं रावणं राक्षसेश्वरम् ।

भर्तारमुपसंगम्य विहरस्व यथासुखम् ॥४॥

त्रैलोक्य की समृद्धि को भोगने वाले राक्षसराज रावण को अपना पति बना, तू मनमानी मोज उठा ॥४॥

मानुषी मानुषं तं तु राममिच्छसि शोभने ।

राज्याद्भ्रष्टमसिद्धार्थं विवर्त्तवं त्वमनिन्दिते ॥५॥

हे अनिन्दित ! हे सुन्दरी ! तू मानुषी है, इसी से तू उस राज्य-भ्रष्ट, असफल-मनोरथ और कादर राम को चाहती है ॥५॥

१ पाठान्तरे—“उपागम्य” वा ‘सीता समस्तास्ता ।’

राक्षसीनां वचः श्रुत्वा सीता पद्मनिभेक्षणा ।

नेत्राभ्यामश्रुपूर्णाभ्यामिदं वचनमब्रवीत् ॥६॥

राक्षसियों के वचन सुन कर, कमलनयनी सीता नेत्रों में घ्रांसू भर, यह कहने लगी ॥६॥

यदिद लोकविद्विष्टमुदाहरथ सङ्गताः ।

नैतन्मनसि वाक्य मे किलिवयं प्रतिभाति वः ॥७॥

तुम सब मिल कर मुझे जो पाठ पढा रही हो, वह लोकविद्विष्ट है । तुम्हारी ये पापपूर्ण बातें मेरे कण्ठ में नहीं उतरती ॥७॥

न मानुषी राक्षसस्य भार्या भवितुमर्हति ।

कामं खादत मां सर्वा न करिष्यामि वो वचः ॥८॥

मैं मानुषी हो कर कभी राक्षस की पत्नी नहीं बन सकती । तुम सब भले ही मुझे मार कर खा डालो, किन्तु मैं तुम्हारा कहना नहीं मान सकती ॥८॥

दीनो वा राज्यहीनो वा यो मे भर्ता स मे गुरुः ।

तं नित्यमनुरक्तास्मि यथा सूर्यं सुवर्चला ॥९॥

भले ही मेरे स्वामी दीन दुःखिया हों और राज्यभ्रष्ट ही बनें न हों, किन्तु मेरे लिए तो वे ही मेरे पूज्य हैं । मैं उनमें सदा वैसी ही प्रीति रखती हूँ, जैसी सुवर्चला सूर्य में, ॥९॥

यथा शची महाभागा शक्रं समुपतिष्ठति ।

अरुन्धती वसिष्ठं च रोहिणी शशिनं यथा ॥१०॥

महाभागा शची इन्द्र में, अरुन्धती वसिष्ठ में, रोहिणी चन्द्र में ॥१०॥

लोपामुद्रा यथाऽगस्त्यं सुकन्या च्यवन यथा ।

सावित्री सत्यवन्तं च कपिलं श्रीमती यथा ॥११॥

लोपामुद्रा अगस्त्य में, सुकन्या च्यवन में, सावित्री सत्यवान् में, श्रीमती कपिल में, ॥११॥

सौदासं मदयन्तीव केशिनी सगरं यथा ।

नैपथं दमयन्तीव भैमी पतिमनुव्रता ॥१२॥

मदयन्ती सौदास में, केशिनी सगर में और भीमकुमारी दमयन्ती नल में ॥१२॥

तथाऽहमिक्ष्वाकुवरं रामं पतिमनुव्रता ।

सीताया वचनं श्रुत्वा राक्षस्यः क्रोधमूर्च्छिताः ॥१३॥

इन सब की तरह मैं इक्ष्वाकुश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जो को अपना पति समझ उनकी अनुपायिनी हूँ । सीताजी के ये वचन सुन कर, वे सब राक्षसियाँ बहुत क्रुद्ध हुईं ॥१३॥

भर्त्सयन्ति स्म परुषैर्वाक्यै रावणचोदिताः ।

अवलीनः स निर्वाक्यो हनुमाञ्जिशशपाद्रुमे ॥१४॥

सीतां सन्तर्जयन्तीस्ता राक्षसीरशृणोत्कपिः ।

तामभिक्रम्य संक्रुद्धा वेपमानां समन्ततः ॥१५॥

रावण से आदिष्ट वे राक्षसियाँ सीताजी को बुरे बुरे शब्द कह, डाँटने डपटने लगीं । उधर हनुमानजी, उस शिक्षापा वृक्ष पर छिपे छिपे, चुपचाप सीता को डपटती हुई उन सब राक्षसियों की बातें सुन रहे थे । वे सब सीता को डराती धमकाती हुईं उनको चारों ओर से घेर कर, ॥१४॥१५॥

भृशं संलिलहुर्दोप्तान्प्रलम्बान्दशनच्छदान् ।

ऊचुश्च परमक्रुद्धाः प्रगृह्याशु परश्वधान् ॥१६॥

बार बार अपने लंबे लंबे होठ जीभ से चाटने लगी और अत्यन्त क्रुद्ध हो तथा हाथों में फरसों को ले कर बोली ॥१६॥

नेयमर्हति भर्तारं रावणं राक्षसाधिपम् ।

संभर्त्स्यमाना भीमाभी राक्षसीभिर्वरानना ॥१७॥

तू इस राक्षसराज रावण को अपने योग्य पति नहीं समझती ! (तो क्या तू अपने को हम लोगों के द्वारा खाने योग्य समझती है ।) उन भयङ्कर

आकृति वाली राक्षसियों द्वारा इस प्रकार डराई घमकाई गई सुन्दरमूखी सीता ॥१७॥

स बाष्पमयमार्जन्ती शिशपां तामुपागमत् ।

ततस्तां शिशपां सीता राक्षसीभिः समावृता ॥१८॥

आँखों से आँसू पोछती हुई उस शीशम के पेड़ के निकट चली गई । वहाँ भी उन राक्षसियों ने सीता का पिंड न छोड़ा और उन लोगों ने वहाँ भी सीता को घेर लिया ॥१८॥

अभिगम्य विशालाक्षी तस्थौ शोकपरिप्लुता ।

तां कृशां दीनवदनां मलिनाम्बरवासिनीम् ॥१९॥

वे राक्षसी उन मलिनवस्त्रधारिणी, दुर्बला, दीना, शोकसागर में निमग्ना, विशालाक्षी सीता के निकट जा कर ॥१९॥

भर्त्सयांचक्रिरे सीतां राक्षस्यस्तां समन्ततः ।

ततस्तां विनता नाम राक्षसी भीमदर्शना ॥२०॥

चारों ओर से घेर कर सीता को घमकाने लगी । उनमें भयानक आकृति वाली विनता नाम की एक राक्षसी थी ॥२०॥

अब्रवीत्कुपिताकारा कराला निर्णतोदरी ।

सीते पर्याप्तमेतावद्भूतुः स्नेहो निर्दाशितः ॥२१॥

वह करालवदना और बड़े पेट वाली राक्षसी, अत्यन्त क्रुद्ध हो कहने लगी — हे सीते ! बस बहुत हुआ । तूने अब तक अपने पति के प्रति जितना प्रेम दिखाया, वह पर्याप्त है ॥२१॥

सर्वत्रातिकृतं भद्रे व्यसनायोपकल्पते ।

परितुष्टास्मि भद्र ते मानुषस्ते कृतो विधिः ॥२२॥

हे भद्रे ! अति किसी बात की अच्छी नहीं होती । क्योंकि, अति का परिणाम दुःखदाई होता है । भगवान् तेरा भला करे मैं तो तेरे ऊपर प्रसन्न हूँ । क्योंकि, मनुष्य का कर्त्तव्य तूने यथाविधि निभाया है ॥२२॥

१ पाठान्तरे—“मलिनाम्बरधारिणीम् ।”

ममापि तु वचः पथ्यं द्रुवन्त्याः कुह मैथिलि ।

रावणं भज भर्तारिं भर्तारिं सर्वरक्षसाम् ॥२३॥

अब मैं भी तुझसे जो तेरे हित की बात कहती हूँ, उसे हे मैथिली ! तू कर । (बह यह है कि,) तू सब राक्षसों के स्वामी रावण को अपना स्वामी (पति) बना ले ॥२३॥

विक्रान्तं रूपवन्तं च सुरेशमिव वासवम् ।

दक्षिणं त्यागशीलं च सर्वस्य प्रियदर्शनम् ॥२४॥

बह बड़ा पराक्रमी, रूपवान और इन्द्र की तरह बतुर, उदार और सब के लिए प्रियदर्शी है ॥२४॥

मानुषं कृपणं रामं त्यक्त्वा रावणमाश्रय ।

दिव्याङ्गरागा वैदेहि दिव्याभरणभूषिता ॥२५॥

तू मनुष्य और दीनदुस्त्रिया श्रीरामचन्द्र को त्याग कर, रावण का पत्ला पकड़ । आज से बढिया-बढिया उबटन लगा और बढिया-बढिया आभूषणों को पहिन कर, अपना शृङ्गार कर ॥२५॥

अद्यप्रभृति सर्वेषां लोकानामीश्वरी भव ।

अग्नेः स्वाहा यथा देवी शचीवेन्द्रस्य शोभने ॥२६॥

और आज ही से प्राणिमात्र की तू स्वामिनी बन जा । जिस प्रकार अग्नि की माया स्वाहा और इन्द्र की शची है, उसी प्रकार हे मुन्दरी ! तू रावण की पत्नी बन कर शोभा को प्राप्त हो ॥२६॥

किं ते रावण वैदेहि कृपणेन गतायुषा ।

एतदुवतं च मे वाक्यं यदि त्वं न करिष्यसि ॥२७॥

श्री साँत ! तू उस दुस्त्रिया और गतायु श्रीरामचन्द्र को लेकर क्या करेगी ? मैंने तुझसे जो बातें कही हैं यदि तू उनका न मानेगी ॥२७॥

अस्मिन्मुहूर्ते सर्वास्त्वां भक्षयिष्यामहे वयम् ।

अन्या तु विकटा नाम लम्बमानपयोधरा ॥२८॥

वा० रा० मु०—१५

तो हम सब मिल कर अभी तुमको, मार कर खा डालेंगी । तदनन्तर लड़े-लड़े स्तनो वाली, विकटा नाम की एक और राक्षसी ॥२८॥

अब्रवीत्कुपिता सीतां मुष्टिमुद्यम्य गर्जती ।
बहून्यप्रियरूपाणि वचनानि सुदुर्मते ॥२९॥
अनुक्रोशान्मृदुत्वाच्च सोढानि तव मैथिलि ।
न च नः कुरुषे वाक्यं हितं कालपुरःसरम् ॥३०॥

क्रोध में भर और घुंसा तान कर सीता से बोली—हे सुदुर्मते ! तेरे बहुत से अप्रिय वचन हम लोगों ने दया और नम्रता वश सहे; किन्तु अब यदि तू हमारे समयानुकूल और हितकारी वचनों को न मानेगी; तो अब तेरे लिए अच्छा न होगा ॥२९॥३०॥

आनीतासि समुद्रस्य पारमन्यर्दुरासदम् ।
रावणान्तःपुरं घोरं प्रविष्टा चासि मैथिलि ॥३१॥

हे सीते ! तू समुद्र के पार लाई गई है, जहाँ और कोई नहीं जा सकता और रावण के दुर्गम अन्तःपुर में तूने केवल प्रवेश ही नहीं किया है ॥३१॥

रावणस्य गृहे रुद्धामस्माभिस्तु सुरक्षिताम् ।
न त्वां शक्तः परित्रातुमपि साक्षात्पुरन्दरः ॥३२॥

बल्कि तू रावण के घर में नजरबन्द है और हम लोग तेरी रखवाली पर नियत हैं । श्रीरामचन्द्र की तो हकीकत ही क्या है, यदि इन्द्र भी तुझे बचाना चाहे, तो वह नहीं बचा सकता ॥३२॥

कुरुष्व हितवादिन्या वचनं मम मैथिलि ।
अलमश्रुप्रपातेन त्यज शोकमनर्थकम् ॥३३॥

अतएव हे मैथिली ! हम जो तुमसे तेरे हित के लिए कहती हैं, उसे तू मान ले । अब रोना बन्द कर और इस व्यर्थ के शोक को छोड़ ॥३३॥

भज प्रीतिं प्रहृष्यं च त्यजेतां नित्यदैव्यताम् ।
सीते राक्षसराजेन सह क्रीड यथासुखम् ॥३४॥

रावण से प्रेम कर और मौन उडा । इस रात दिन की उदासी को दूर भगा दे और हे सीता ! तू राक्षसराज रावण के साथ मजे में बिहार कर ॥३४॥

जानासि हि यथाऽभीष्ट स्त्रीणा यौवनमध्रुवम् ।

यावन्न ते व्यतिक्रामेत्तावत्सुखमवाप्नुहि ॥३५॥

हे भीष्ट ! तुझको यह मालूम ही है कि, स्त्रियों की जवानो का कुछ ठीक ठिकाना नहीं । सो जब तक तेरी जवानो नहीं ढलनी, तब तक तू भी मौन कर ॥३५॥

उद्यानानि च रम्याणि पर्वतोपवनानि च ।

सह राक्षसराजेन चर त्वं मद्विरेक्षणे ॥३६॥

हे मतवाने नयनी वाली ! रमणीय बागों में, पर्वता पर और उपवनों में राक्षसराज रावण के साथ तू घूम फिर ॥३६॥

स्त्रीसहस्राणि ते सप्त वशे स्थास्यन्ति सुन्दरि ।

रावणं भज भर्तारं भर्तारं सर्वरक्षसाम् ॥३७॥

हे सुन्दरी ! सात हजार (सर्वांश्च हजारों) स्त्रियां तेरे कहने में रहेंगी । सो तू सब राक्षसों के स्वामी रावण को अपना पति बना ले ॥३७॥

उत्पाट्य वा ते हृदयं भक्षयिष्यामि मैथिलि ।

यदि मे व्याहृतं वाक्यं न यथावत्करिष्यसि ॥३८॥

और यदि आज तू हमारे कयनानुसार यथावत् (जैसा चाहिए वैसा) न करेगी, तो हम तेरा कलेजा निकाल कर, खा डालेंगी ॥३८॥

ततश्चण्डोदरी नाम राक्षसी क्रोधमूर्च्छिता ।

भ्रामयन्ती महच्छूलमिदं वचनमब्रवीत् ॥३९॥

तदनन्तर क्रुपित हो चण्डोदरी नाम की राक्षसी, एक बड़ा त्रिशूल घुमाती हुई बोली ॥३९॥

इमां हरिणलोलाक्षीं त्रासोत्कम्पिपयोधराम् ।

रावणेन हृतां वृष्ट्वा दीर्हृदो मे महानभूत् ॥४०॥

हे राक्षसियो ! देखो, इस मृगनयनी और भय के मारे कम्पमानस्तनी को जब रावण हर लाया, तब मेरे मन में एक बड़ी इच्छा उत्पन्न हुई थी ॥४०॥

यकृत्प्लीहा मथोत्पीडं हृदयं च सबन्धनम् ।
अन्त्राप्यपि तथा शीर्षं खादेयमिति मे मतिः ॥४१॥

मैंने चाहा कि, मैं इसके उदर के दाहिनी-बाईं कोखों के मांसखण्डों को तथा इनके ऊपर के मांसखण्ड को, हृदय को, हृदय के नीचे के मांस को तथा शीर्षों और सिर को खा जाऊँ ॥४१॥

ततस्तु प्रघसा नाम राक्षसी वाक्यमब्रवीत् ।
कण्ठमस्या नृशंसायाः पीडयाम किमास्यते ॥४२॥

तदनन्तर प्रघसा नाम राक्षसी कहने लगी । हे राक्षसियो ! हम बँठी-बँठी क्या करें । आश्रो इस कताइन का गला घोट डालें ॥४२॥

निवेद्यतां ततो राज्ञे मानुषी सा मृतेति ह ।
नात्र कश्चन सन्देहः खादतेति स वक्ष्यति ॥४३॥

और चल कर रावण को सूचना दे दें कि, वह मानुषी मर गई । यह सुन, वह निरसन्देह हम लोगों को इसके खा डालने की आज्ञा दे ही देंगे ॥४३॥

१ दीर्हृद.—इच्छा । (गो०) २ कुक्षिदक्षिणभागस्थ, कालखण्डाख्यो मांसखण्डो यकृत् । (गो०) ३ प्लीहा—प्लीहा तु गुल्माख्यो वामभागस्थो मांस-
खण्डविशेषः । (गो०) ४ उत्पीड—सस्योपरिस्थित मांस । (गो०) ५
बन्धन—हृदयधारणमधोमांस । (गो०)

ततस्त्वजामुखी नाम राक्षसी वाक्यमब्रवीत् ।
 विशत्येमां ततः सर्वान् समान्कुरुत पीलुकान् ॥४४॥
 विभजाम ततः सर्वा विवादो मे न रोचते ।
 पेयमातीयतां क्षिप्रं माल्यं च विविध बहु ॥४५॥

तदनन्तर अजामुखी नाम की राक्षसी बोली—इसको मार कर इसके मांस के बराबर-बराबर भाग कर डालो । क्योंकि मुझे पीढ़े से झगड़ा करना पसन्द नहीं है । (भयान् हिम्मे के लिए हमने झगड़ा न हो, अतः पहिले ही से बराबर-बराबर टुकड़े कर डालो) अब तुरन्त जा कर शराब और विविध प्रकार की बहून् सी माताएँ ले आओ ॥४४॥४५॥

ततः शूर्पणखा नाम राक्षसी वाक्यमब्रवीत् ।
 अजामुस्या यदुक्तं हि तदेव मम रोचते ॥४६॥
 सुरा चानीयतां क्षिप्रं सर्वशोकविनाशिनी ।
 मानुषं मांसमास्वाद्य नृत्यामोऽयं निकुम्भिलाम् ॥४७॥

तदनन्तर शूर्पणखा नाम की राक्षसी बोली—अजामुखी ने जो बात कही वह मुझे भी पसन्द है । तो सब शोको को नष्ट करने वाली शराब शीघ्र मँगवानी चाहिए । फिर मनुष्य का मांस खन्न कर, हम सब निकुम्भिला के समीप चन्न कर नाचें कूटें ॥४६॥४७॥

एवं संभर्त्स्यमाना सा सीता सुरसुतोपमा ।
 राक्षसीभिः सुघोराभिर्धैर्यमुत्सृज्य रोदिति ॥४८॥

इति चतुर्विंश. सर्गः

जब इस प्रकार एक सुरवाला की तरह सुन्दरी सीता को, उन बचकर राक्षसियों ने घनकाया-डराया; तब वह धैर्य छोड़ रोने लगी ॥४८॥

सुन्दरकाण्ड का चौबीसवाँ सर्ग पूर्य हुआ ।



पञ्चविंशः सर्गः

तथा तासां वदन्तीनां परुषं दारुणं बहु ।

राक्षसीनामसौम्यानां हरोद जनकात्मजा ॥१॥

उन भयङ्कर राक्षसियों के इस प्रकार बहुत से कठोर वचनों के कहने पर, जानकी रो पड़ी ॥१॥

एवमुक्त्वा तु वैदेही राक्षसीभिर्मनस्विनी' ।

उवाच परमत्रस्ता वाष्पगद्गदया गिरा ॥२॥

उन राक्षसियों के इस प्रकार कहने पर पातिव्रतधर्म पालन में दृढ़तापूर्वक उत्पर सीता अत्यन्त त्रस्त हो, गद्गद बाणी से बोली ॥२॥

न मानुषी राक्षसस्य भार्या भवितुमर्हति ।

कामं खादत मां सर्वा न करिष्यामि वो वचः ॥३॥

भला कही मानुषी भी राक्षस की भार्या बन सकती है । तुम सब भले ही मुझे भार कर खा डालो, पर मैं तुम्हारी यह बात नहीं मान सकती ॥३॥

स राक्षसीमध्यगता सीता सुरसुतोपमा ।

न शर्म लेभे दुःखार्ता रावणेन च तर्जिता ॥४॥

उस समय राक्षसियों के बीच फँसी हुई देवकन्यावत् सीता को, दुःख से छुटकारा पाने का कुछ और उपाय नहीं सूझ पड़ता था । क्योंकि एक तो वह दुःख से विवश थी ही, तिस पर रावण ने उन्हें धमकाया भी था ॥४॥

वेपते स्माधिकं सीता विशन्तीधाङ्गमात्मनः ।

वने यूथपरिभ्रष्टा मृगी कोकंरिवादिता ॥५॥

उस समय सीता धरधर काँप रही थी और मारे डर के सिकुड़ कर, अपने शरीर में घुसी जाती थी । मानो अपने झुंड से भ्रमण हुई कोई भकेसी हिरनी भेड़ियों से घिरी हो ॥५॥

१ मनस्विनी—पातिव्रत्ये दृढमना । (गी०)

सा त्वशोकस्य विपुलां शाखामालम्ब्य पुष्पिताम् ।

चिन्तयामास शोकेन भर्तारं भग्नमानसा ॥६॥

वह अत्यन्त शोक से विकल तथा हताश हो, उस वृक्ष की पुष्पित डाली को थाम कर, अपने पति श्रीरामचन्द्र जी का स्मरण करने लगी ॥६॥

सा स्नापयन्ती विपुलौस्तनीं नेत्रजलस्रवैः ।

चिन्तयन्ती न शोकस्य तदाऽन्तमधिगच्छति ॥७॥

उस समय उसके नेत्रों से निकले हुए आंसू छल छल करते उसके बड़े स्तनों को धो रहे थे । वह उस सफट से पार होने के लिए बहुत से उपाय सोचती, पर उसे उस शोक सागर के पार होने का कोई उपाय नहीं सूझता था ॥७॥

सा वेपमाना पतिता प्रवाते कदली यथा ।

राक्षसीनां भयत्रस्ता विषण्णवदनाऽभवत् ॥८॥

अत में वह धरधरा कर वायु के झोंके से गिरे हुए केलों के पेड़ की तरह जमीन पर गिर पड़ी और राक्षसियों के डर से उसका मुख फीका पड़ गया व उदास हो गया ॥८॥

तस्याः सा दीर्घविपुला वेपन्त्या' सीतया तदा ।

ददृशे कम्पिनी वेणी व्यालीव परिसर्पती ॥९॥

शरीर के धरधराने से जानकी की बड़ी लम्बी और घनी चोटी भी धरधराने लगी । उस समय वह हिलती हुई चोटी ऐसी जान पड़ी मानो नागिन लहरा रही हो ॥९॥

सा निःश्वसन्ती दुःखार्ता शोकोपहतचेतना ।

आर्ता व्यसृजदश्रूणि मथिली विलाप ह ॥१०॥

दुखिया जानकी शोक से अचेत हो और श्रीराम के विरह से विकल हो, उसीसे तेती हुई, विलाप करके रोने लगी ॥१०॥

हा रामेति चा दुःखार्ता हा पुनर्लक्ष्मणेति च ।

हा श्वश्रु मम कौसल्ये हा सुमित्रेति भामिनि ॥११॥

जातकी विनाप करती हुई कहने लगी—हा राम ! हा लक्ष्मण ! हा मेरी सास कौसल्ये ! हा भामिनी सुमित्रे ! ॥११॥

लोकप्रवादः सत्योऽयं पण्डितैः समुदाहृतः ।

अकाले दुर्लभो मृत्युः स्त्रिया वा पुरुषस्य वा ॥१२॥

संसार में पण्डितों की कही हुई यह कहावत ठीक है कि बिना समय आए, स्त्री हो या पुरुष, कोई नहीं मरता ॥१२॥

यत्राहमेवं क्रूराभि राक्षसीभिरिहादिता ।

जीवामि हीना रामेण मुहूर्तमपि दुःखिता ॥१३॥

नहीं तो क्या, यह सम्भव था कि, जैसा कि ये दुष्ट राक्षसी मुझको सता रही हैं, दुखिया मैं, श्रीरामचन्द्रजी बिना एक मुहूर्त भी जीवी रहनी ॥१३॥

एषाऽल्पपुण्या कृपणा विनशिष्याम्यनायवत् ।

नमुद्रमध्ये नौः पूर्णा वायुवेगैरिवाहता ॥१४॥

मैं अल्पपुण्या और दुखिशारी एक अनाथिनी की तरह बैसे ही नष्ट हो जाऊँगी, जैसे बोल से लदी नाव समुद्र में वायु के झोंकों से नष्ट हो जाती है ॥१४॥

भर्तारं तमपश्यन्ती राक्षसीवशमागता ।

सीदामि ननु शोकेन कूलं तोषहतं यया ॥१५॥

मैं अपने पति की अनुपस्थिति में इन राक्षसियों के पल्ले पड गई हूँ और उसी प्रकार निश्चय ही नष्ट हो रही हूँ, जिस प्रकार पानी के धक्कों से नदी-नट नष्ट होता है ॥१५॥

तं पद्मदलपत्राक्षं सिंहविक्रान्तगामिनम् ।

धन्याः पश्यन्ति मे नाथं कृतज्ञं प्रियवादिनम् ॥१६॥

जो उन कमलनयन, सिंहविक्रान्तगामी, कृतज्ञ और मधुरभाषी मेरे स्वामी के दर्शन करते हैं, वे धन्य हैं ॥१६॥

सर्वथा तेन हीनाया रामेण विदितात्मना ।

तीक्ष्णं विषमिवास्वाद्य दुर्लभं मम जीवितम् ॥१७॥

उन प्रसिद्ध (भ्रषवा आत्मज्ञानी) श्रीरामचन्द्रजी के बिना मेरा जीना सर्वथा बँसे ही कठिन है, जैसे हलाहल विष को पी कर पीने वाले का जीना कठिन होता है ॥१७॥

कीदृशं तु मया पापं पुरा जन्मान्तरे कृतम् ।

येनेदं प्राप्यते दुःखं मया घोर सुदारुणम् ॥१८॥

नही मालूम मेने पिछले जन्मा में कैसे पापकर्म किए थे, जिनके फल-स्वरूप मुझे यह घोर दारुण दुःख सहना पड़ रहा है ॥१८॥

जीवितं त्यक्तुमिच्छामि शोकेन महता वृता ।

राक्षसीभिश्च रक्ष्यन्त्या रामो नासाद्यते मया ॥१९॥

इस समय मेरे ऊपर जैसी भारी विपत्ति पड़ी हुई है, उससे तो मैं अब मरना ही पसंद करती हूँ । क्योंकि इन राक्षसियों के पहरे में रह कर मैं श्रीरामचन्द्रजी को नहीं पा सकती ॥१९॥

धिगस्तु खलु मानुष्यं धिगस्तु परवश्यताम् ।

न शक्यं यत्परित्यक्तुमात्मच्छन्देन जीवितम् ॥२०॥

इति पञ्चविंश सर्गं

धिवक्कार है मनुष्य होने पर और धिवक्कार है परतत्रता को, जिसके पजे में फँस, (मुझे) अपनी इच्छानुसार प्राण परित्याग भी नहीं किया जा सकता ॥२०॥

सुन्दरकाण्ड का पचीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

षड्विंशः सर्गः

प्रसक्ताश्रुमुखीत्येवं श्रुवन्ती जनकात्मजा ।

श्रधोमुखमुखी बाला विलप्तमुपचक्रमे ॥१॥

इस प्रकार रुदन करती हुई सीता नीचे को सिर झुकाए फिर विलाप करने लगी ॥१॥

उन्मत्तेव प्रमत्तेव भ्रान्तचित्तेव शोचतीः ।

उपावृत्ता किशोरीव विवेष्टन्ती महीतले ॥२॥

थम मिटाने के लिए जमीन पर लोटने वाली घोड़ी की तरह, बेचारी ज्ञानकी पगलो, असावधान अथवा भ्रान्तचित्ता स्त्री की तरह मूमि पर लोटने लगी ॥२॥

राघवस्य प्रमत्तस्य रक्षसा कामरूपिणा ।

रावणेन प्रमथ्याहमानीता क्रोशती बलात् ॥३॥

यह कामरूपी राक्षस श्रीरामचन्द्रजी को भुलावे में डाल, मुझे रोती हुई को बरजोरी हर कर यहाँ ले आया ॥३॥

राक्षसीवशमापन्ना भत्स्यमाना सुदारुणम् ।

चिन्तयन्ती सुदुःखार्ता नाहं जीवितुमुत्सहे ॥४॥

अब यहाँ आकर मैं राक्षसियों के पाले पड़ कर, नित्य बुरी तरह धमकाई बरवाई जाती हूँ । इस प्रकार सोच में पड़ी और अत्यन्त दुःखिणारी मैं, अब जीना नहीं चाहती ॥४॥

न च मे 'जीवितेनार्थो नैवार्थेन च भूषणः ।

वसन्त्या राक्षसीमव्ये विना रामं महारथम् ॥५॥

न तो मुझे अब जीने ही से कुछ प्रयाजन है और न मुझे बनदीलत और जेवर ही से कुछ काम है । क्योंकि राक्षसियों के बीच में रहना और तो भी उन महाबलवान श्रीरामचन्द्रजी के विना ॥५॥

१ पाठान्तरे—“जीवितैरर्थो ।”

अशमसारमिदं नूनमथवाऽप्यजरामरम् ।

हृदयं मम येनेदं न दुःखेनावशीर्यते ॥६॥

जान पडता है, मेरा कलेजा पत्थर का भयवा अजरामर (कभी निकम्मा पा नष्ट न होने वाला) है, तभी तो इतना दुःख पडने पर भी टुकड़े टुकड़े नहीं हो जाता ॥६॥

धिक्क मामनार्यामिसर्तौ याऽहं तेन विनाऽकृता ।

मुहूर्तमपि रक्षामि जीवितं पापजीविता ॥७॥

मुझ दुष्टात्मा और अपतिव्रता की तरह काम करने वाली को धिक्कार है, जो मैं श्रीरामचन्द्र जी के बिना मुहूर्त भर भी जीवित हूँ ॥७॥

चरणेनापि सव्येन न स्पृशेयं निशाचरम् ।

रावणं किं पुनरहं कामयेयं विगर्हितम् ॥८॥

मैं रावण को तो अपने बायं पाद से भी न छर्जगी फिर उस दुष्ट की चाहना करना तो बात ही दूर की है ॥८॥

प्रत्याख्यातं न जानाति नात्मानं नात्मनः कुलम् ।

यो नृशंसस्वभावेन मां प्रार्थयितुमिच्छति ॥९॥

वह न तो मेरे मना करने पर ही कुछ ध्यान देता है, न अपने आपको और न अपने कुल ही को पहचानता है । वह तो अपने क्रूर स्वभाव के बगवर्ती हो, मुझे चाहता है ॥९॥

‘द्विभ्रा’ भिन्ना विभक्ता वा दीप्तेवान्गौ प्रदीपिता ।

रावणं नोपतिष्ठेयं किं प्रलापेन वशिचरम् ॥१०॥

चाहे मेरे शरीर के टुकड़े कर डालो, चाहे मुझे मसल डालो, चाहे मेरे शरीर की बोटी-बोटी घसग कर दो और चाहे मेरे समूचे प्राण को जलती

१ द्विभ्रा—द्विखण्डनया कृता । (गो०) २ भिन्ना—दलिता (गो०)

३ विभक्ता—भयभरा कृतः ।

आम म थॉक दो किन्तु मे रावण की होकर नहीं रहूंगी—तुम लोग क्यों बहुत देर से बकवात कर रही हो ॥१०॥

ख्यात प्राज्ञ ऋतज्ञश्च तानुक्रोशश्च राघव ।

सद्ब्रूतो निरनुक्रोश शब्दे मद्भाग्यसक्षयात् ॥११॥

श्रीरामचन्द्रजी विद्वान् दोषों में भी गुणों को देखन वाले कृपण दयालु और सगुणारी हैं किन्तु नहीं जान पड़ता। इस समय वे क्यों ऐसे निडुर हो गए हैं। हो न हो यह मेरे ही भाग्य का दोष है ॥११॥

राक्षसाना जनस्थाने सहस्राणि चतुर्दश ।

येनैकेन निरस्ताति स मा कि नाभिपद्यते ॥१२॥

जिहोन घनेत जनस्थान में चौह हजार राक्षसों का वध कर डाला, वे क्या मरी रक्षा न करण ॥१२॥

निरुद्धा रावणेनाहमल्पवीर्येण रक्षसा ।

समर्थ खलु मे भर्ता रावण हन्तुमाहवे ॥१३॥

इस अल्पबली रावण ने मुझे यहाँ लाकर बंदी बना कर रखा है, परन्तु निश्चय ही मेरे पति श्रीरामचन्द्र मुझ में रावण का वध करण ॥१३॥

विराघो दण्डकारण्ये येन राक्षसपुङ्गव ।

रणे रामेण निहत स मा कि नाभिपद्यते ॥१४॥

जिन्होन दण्डकवन में रापसोत्तम विराघ को मार डाला वे श्रीरामचन्द्र क्या मर उदार न करण ॥१४॥

काम मध्ये समुद्रस्य लङ्केय दुःप्रघयणा ।

न तु राघवबाणाना गतिरोधीह विद्यते ॥१५॥

यद्यपि लङ्का समुद्र के बीच में होन के कारण इसमें बाहर से किसी का आना सहज नहीं है तथापि श्रीरामचन्द्रजी के बाणों की गति को रोक सकता है ॥१५॥

१ प्राज्ञ —दोषबन्धवि गुणदर्शी । (गो०) २ नाभिपद्यते—न रपति ।

(गो०)

- - किन्तु तत्कारणं येन रामो दृढपराक्रमः ।

रक्षसापहृतां भार्यामिष्टां नाम्यवपद्यते ॥१६॥

श्रीरामचन्द्रजी दृढपराक्रमी हो कर भी, राक्षस द्वारा हरी हुई अपनी प्यारी पत्नी का उद्धार नहीं करते, इसका कारण क्या है ॥१६॥

इहस्थां मां न जानीते शङ्को लक्ष्मणपूर्वजः ।

जानन्नपि हि तेजस्वी धर्षणं मर्षयिष्यति ॥१७॥

इसका कारण यही हो सकता है कि, वदाचित् लक्ष्मण के ज्येष्ठ भाई श्रीरामचन्द्र को अभी यह मालूम नहीं हो पाया कि मैं लका में बंदी हूँ । यदि वे यह जानते होते तो क्या ऐसे तेजस्वी होकर वे इस प्रकार का अपमान कभी सह सकते थे ॥१७॥

हृतेति योऽधिगत्वा मां राघवाय निवेदयेत् ।

गृध्रराजोऽपि सरणे रावणेन निपातितः ॥१८॥

जो जटायु हरे जाने का सवाद श्रीरामचन्द्रजी को दे सकता था; उस गृध्रराज जटायु को भी तो रावण ने युद्ध में मार डाला ॥१८॥

कृतं कर्म महत्तेन मां तथाभ्यवपद्यता ।

तिष्ठता रावणद्वन्द्वे वृद्धेनापि जटायुषा ॥१९॥

जटायु ने बड़ा भारी काम किया । उसने वृद्ध होकर भी मुझे छड़ाने के लिए रावण से द्वन्द्वयुद्ध किया ॥१९॥

यदि मामिह जानीयाद्वर्तमानां स राघवः ।

अद्य बाणैरभिक्रुद्धः कुर्याल्लोकमराक्षसम् ॥२०॥

यदि श्रीरामचन्द्रजी को मेरा यहाँ रहना मालूम पड़ जाय, तो वे आज ही क्रुद्ध हो सारे लोकों को अपने बाणों से राक्षस-शून्य कर डालें ॥२०॥

निदंहेच्च पुरीं लङ्कां शोषयेच्च महोदधिम् ।

रावणस्य च नीचस्य कीर्त्तिं नाम च नाशयेत् ॥२१॥

वे समुद्र को सुखाकर लका को भस्म कर डालें और इस नीच रावण का नाम निशान तक न रहने दें ॥२१॥

ततो निहतनाथानां राक्षसीनां गृहे गृहे ।

तथाहमेवं रुदती तथा भूयो न संशयः ॥२२॥

तब वे राक्षसियाँ त्रिनके पति मारे जायें, लका के प्रत्येक घर में मेरी तरह निःसन्देह रोवे ॥२२॥

अन्विष्य रक्षसां लङ्का कुर्याद्रामः सलक्ष्मणः ।

न हि ताम्या रिपुर्दृष्टो मुहूर्तमपि जीवति ॥२३॥

मुझे विश्वास है कि, लका का पता लगा कर, श्रीरामचन्द्रजी और लक्ष्मणजी शत्रु का नाश अवश्य करेंगे । क्योंकि उनके सामने पड़ने पर उनका शत्रु एक क्षण भी जीता नहीं रह सकता ॥२३॥

विता धूमाकुलपथा गृध्रमण्डलसङ्कुला ।

अचिरेण तु लङ्केयं श्मशानसदृशी भवेत् ॥२४॥

थोड़े ही दिनों के भीतर यह लका विता के घुँए से पूर्ण और गीधों के दलों से युक्त हो कर, श्मशान जैसी बन जायगी ॥२४॥

अचिरेणैव कालेन प्राप्स्याम्येव मनोरथम् ।

दुष्प्रस्थानोऽयमाभाति सर्वेषां चो विपर्ययम् ॥२५॥

थोड़े ही दिनों बाद मेरा यह मनोरथ सफल होगा । क्योंकि जहाँ सब कुमार्गगामी होते हैं, वहाँ नाश होता है ॥२५॥

यादृशानीह दृश्यन्ते लङ्कायामशुभानि वै ।

अचिरेणैव कालेन भविष्यति हतप्रभा ॥२६॥

बिन्तु इस समय लका में जैसे अनाहुन देव पड़ रहे हैं, उनको देखते हुए, अब बहुत सीघ्र यह लकापुरी निस्तेज अर्थात् नष्ट हो जायगी ॥२६॥

१ पाठान्तरे—“दुष्प्रस्थानीयमाख्याति ।”

नूनं लङ्का हते पापे रावणे राक्षसाधमे ।

१ शोषं यास्यति दुर्धर्षा प्रमदा विधवा यथा ॥२७॥

इस पापात्मा रावण के मारे जाने पर निस्सन्देह यह लका दुर्धर्ष होने पर भी विधवा स्त्री की तरह नष्ट हो जायगी ॥२७॥

पुण्योत्सवसमुत्था च नष्टभर्त्रो सराक्षसो ।

भविष्यति पुरी लङ्का नष्टभर्त्रो यथाऽङ्गना ॥२८॥

यद्यपि इस समय लका नगरी में नित्य ही अच्छे-प्रच्छे उत्सव हुआ करते हैं, तथापि जब रावण मारा जायगा तब यह उस स्त्री की तरह देख पड़ेगी, जिसका पति मर गया हो ॥२८॥

नूनं राक्षसकन्यानां रुदन्तीनां गृहे गृहे ।

श्रोप्यामि न चिरादेव दुःखात्तनामिह ध्वनिम् ॥२९॥

निश्चय ही लका के घर-घर राक्षस कन्याएँ रोवेंगी । मैं अब शीघ्र ही उन दुःखारिणों का रोना सुनूँगी ॥२९॥

सान्धकारा हतद्योता हतराक्षसपुङ्गवा ।

भविष्यति पुरी लङ्का निर्दग्धा रामसायकैः ॥३०॥

जब श्रीरामचन्द्रजी के बाण इस लका को भस्म कर डालेंगे, तब यह सन्धकारमय, हतप्रम और वीरराक्षस शून्य हो जायगी ॥३०॥

यदि नाम स शूरो मां रामो रक्तान्तलोचनः ।

जानीयाद्वर्तमानां हि रावणस्य निवेशने ॥३१॥

भ्रमणनयन वीर श्रीरामचन्द्रजी के पास, रावण के घर में मेरे बदी होने का संवाद पहुँचने भर की देर है ॥३१॥

अनेन तु नृशंसेन रावणेनाधमेन मे ।

समयो यस्तु निर्दिष्टस्तस्य कालोऽयमागतः ॥३२॥

हे राक्षसियो ! इस दुष्ट और अधम रावण ने मेरे लिए जो भवधि निश्चित की थी; वह अभी पूरी होने वाली है ॥३२॥

अकार्यं ये न जानन्ति नैर्ऋताः पापकारिणः ।

अधर्मात्तु महोत्पातो भविष्यति हि साम्प्रतम् ॥३३॥

ये पापो राक्षस, धर्म-अधर्म नहीं जानते, सो (मेरे बच ह्यो) महापाप से, अब बड़ा भारी उत्पात होने वाला है ॥३३॥

नैते धर्मं विजानन्ति राक्षसः पिशिताशनाः ।

ध्रुवं मां प्रातराशायं राक्षसः कल्पयिष्यति ॥३४॥

इन मासमक्षी राससो को धर्म का तत्व कुछ भी नहीं मालूम, अतः रावण निश्चय ही (जैसा कि वह कह गया है) अपने कसेवा या जलपान के लिए मेरे शरीर के टुकड़े-टुकड़े करवावेगा ॥३४॥

साऽहं कथं करिष्यामि तं विना प्रियदर्शनम् ।

रामं रवतान्तनयनमपश्यन्ती सुदुःखिता ॥३५॥

मैं विना श्रीरामचन्द्रजी के क्या कर सकूँगी । रवतान्तनयन श्रीरामचन्द्रजी को देखे विना मुझे बड़ा दुःख हो रहा है ॥३५॥

यदि कश्चित्प्रदाता मे विपस्याद्य भवेदिह ।

क्षिप्रं वैवस्वतं देवं पश्येयं पतिना विना ॥३६॥

यदि इस समय कोई मुझे विप दे देता तो मैं अपने पति के वियोग में शीघ्र ही यमराज के दर्शन करती ॥३६॥

नाजानाज्जीवतीं रामः स मां लक्ष्मणपूर्वजः ।

जानन्ती तौ न कुर्यातां नोर्ध्या हि मम मार्गणम् ॥३७॥

हा ! श्री रामचन्द्रजी को यह नहीं मालूम कि, मैं अभी जीवित हूँ, यदि मालूम होता तो वे दोनों माई मेरे लिए सारो पृथिवी ढूँढ़ डालते ॥३७॥

१ पाठान्तरे—“चरिष्यामि ।”

नूनं ममैव शोकेन स वीरो लक्ष्मणाग्रजः ।

देवलोकमितो यातस्त्यक्त्वा देहं महीतले ॥३८॥

मूक्षे तो यह निश्चय जान पड़ता है कि, मेरे वियोगजन्य शोक से पीड़ित हो, इस पृथिवी पर अपना शरीर छोड़, वे लक्ष्मण के बड़े भाई वीर श्रीराम-चन्द्रजी परलोक सिंघार गए ॥३८॥

धन्या देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः ।

मम पश्यन्ति ये नाथ रामं राजीवलोचनम् ॥३९॥

भव तो स्वर्गलोकवासी वे देवता, वे गन्धर्वं वे सिद्ध और वे देवर्षि धन्य हैं, जो मेरे कमलनयन स्वामी श्रीरामचन्द्रजी के दर्शन करते होंगे ॥३९॥

अथवा न हि तस्यार्थो धर्मकामस्य धीमतः ।

मया रामस्य राजर्षेर्भार्यया परमात्मनः ॥४०॥

अथवा केवल धर्म की चाहना रखने वाले, बुद्धिमान, उत्कृष्ट स्वभाव वाले एव राजर्षि श्रीरामचन्द्र जी को मुझ जैसी भार्या से मतलब ही क्या है ॥४०॥

दृश्यमाने भवेत्प्रीतिः सौहृदं नास्त्यपश्यतः ।

नाशयन्ति कृतघ्नास्तु न रामो नाशयिष्यति ॥४१॥

क्योंकि, मुहृद्भाव और प्रीति तो मुँह देखे की हुमा करती है । पीठ-पीछे कौन किसको चाहता है । किन्तु यह रीति तो कृतघ्नों की है । श्रीराम-चन्द्रजी के मन में पीठ-पीछे भी मेरी प्रीति कभी नष्ट नहीं होगी ॥४१॥

किं वा भय्यगुणाः केचित्किं वा भाग्यक्षयो मम ।

या हि सीता वराह्णेन हीना रामेण भामिनी ॥४२॥

हाँ यह हो सकता है कि मुझमें कोई दोष हो या मेरे सौभाग्य का घन्त ही था पहुँचा हो । नहीं तो सीता जैसे श्रेष्ठ पदार्थ को झङ्गीकार करने वाले श्रीरामचन्द्रजी का मुझसे वियोग ही क्या होता ॥४२॥

१ परमात्मन — उत्कृष्टस्वभावस्य । (गो०)

श्रेयो मे जीवितान्मु^० विहीनाया महात्मनः ।

रामादविलष्टचारित्राच्छराच्छत्रुनिबर्हणात् ॥४३॥

श्रेष्ठचरित्र वाले महाबली, शत्रुहन्ता महात्मा श्रीरामचन्द्रजी से जब मेरा वियोग हो गया, तब मेरे लिए ऐसे दुःख भरे जीने से मर जाना ही वहाँ अच्छा है ॥४३॥

अथवा न्यस्तशस्त्री तौ वने मूलफलाशिनी ।

भ्रातरौ हि नरश्रेष्ठौ संवृत्तौ वनगोचरौ ॥४४॥

या यह नौ ही सक्ता है कि, वे दोनों नाईं छत्र त्याग कर फलमूल खाते घोर मुनिवृत्ति धारण कर, वन में घूमते फिरते हों ॥४४॥

अथवा राक्षसेन्द्रेण रावणेन दुरात्मना ।

छद्मना सादितौ शूरो भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥४५॥

अथवा दुष्ट राक्षसराज रावण ने उन दोनों नाईं राम लक्ष्मण को धोखे में मरवा डाला ही ॥४५॥

साऽहमेवं गते काले मर्तु^०मिच्छामि सर्वथा ।

न च मे विहितो मृत्युरस्मिन्दुःखेऽपि वर्तति ॥४६॥

ऐसे सक्क के समय, मैं तो मन से मरना पसन्द करती हूँ किन्तु ऐसे दुःख के समय में भी, मेरी मौत मेरे भाग्य में नहीं लिखी ॥४६॥

घन्याः खलु महात्मानो मुनयस्त्यक्तकिल्बिषाः ।

जितात्मानो महाभागा येषां न स्तः प्रियाप्रिये ॥४७॥

निश्चय ही वे पापरहित जितेन्द्रिय महाभाग मुनिगण घन्य हैं, जिनका न तो कोई प्रिय (मित्र) है घोर न अप्रिय (शत्रु) अर्थात् जो रागद्वेष से परे हैं ॥४७॥

प्रियान्न सम्भवेद्दुःखमप्रियान्नाधिकं भयम् ।

तान्यां हि ये विपुज्यन्ते नमस्तेषां महात्मनाम् ॥४८॥

जिनको अपने किसी प्रियजन के लिए न तो कमी दुःखी होना पड़ता है और न अपने किसी अप्रियजन से किसी तरह का खटका ही रहता है। जो इन दोनों पर्यान् प्रिय अप्रिय—रागद्वेष से छूट गए हैं, उन महात्माओं को मेरा प्रणाम है ॥४८॥

साऽहं त्यक्ता प्रियाह्ण रामेण विदितात्मना ।
प्राणांस्त्यक्ष्यामि पापस्य रावणस्य गता वशम् ॥४९॥

इति पञ्चविंश सर्ग ॥

एक तो उन प्रसिद्ध (अथवा आत्मज्ञानी) प्यारे श्रीराम ने मुझे बिछार दिया, हमारे मैं पापी रावण के पत्रे में आ फँसी अन अथ तो मैं प्राण त्यागती हूँ ॥४९॥

सुन्दरकाण्ड का छन्दोसर्वां सर्ग पूरा हुआ ।

— ० —

सप्तविंशः सर्गः

इत्युक्ता सीतया घोरा राक्षस्यः क्रोधमूर्च्छिताः ।
काश्चिज्जगमुस्तदाख्यातुं रावणस्य तरस्विनः ॥१॥

सीता की ये बातें सुन, वे राक्षसी बहुत क्रुपित हुईं और उनमें से कोई कोई तो इन बातों को कहने के लिए बलवान रावण के पास चली गईं ॥१॥

ततः सीतामुपागम्य राक्षस्यो घोरदर्शनाः ।
पुनः पक्ष्ममेकार्थमनर्थार्थमथाब्रुवन् ॥२॥

और जो रह गईं, वे भयकर रूप वाली राक्षसियाँ, सीता के पास जा, पूर्ववत् कठोर और बुरे-बुरे बचन कहने लगी ॥२॥

अद्येदानीं तवानार्ये सीते पापविनिश्चये ।

राक्षस्यो 'भक्षयिष्यन्ति मासमेतद्यथासुखम् ॥३॥

व बोली हे पापिनी ! हे दुबुद्ध ! आज अभी य सब राक्षसियाँ मज में तेरे मास को खा डालगी ॥३॥

सीता ताभिरनार्याभिर्दृष्ट्वा सन्तर्जिता तदा ।

राक्षसी त्रिजटा वृद्धा शयाना वाक्यमब्रवीत् ॥४॥

इन सब निष्ठुरहृदया राक्षसियों को सीताजी के प्रति तर्जन करते देख त्रिजटा नामक एक बृद्धा राक्षसी सेट सेट ही कहन लगी ॥४॥

आत्मान खादतानार्या न सीता भक्षयिष्यथ ।

जनकस्य सुतामिष्टा स्नुषा दशरथस्य च ॥५॥

भरो दुष्टामो ! तुम अपन भापको खाओ ती भले ही खा डालो, पर जनक की दुसारी और महाराज दशरथ की बहू सीता को नहीं खान पाओगी ॥५॥

स्वप्नो ह्यद्य मया दृष्टो दारुणो रोमहर्षण ।

राक्षसानामभावाय भर्तुरस्या 'जयाय च ॥६॥

क्योकि आज मैं एक बड़ा भयकर और रोमांचकारी स्वप्न देता है जिसका फल है राक्षसों का नाग और इसके पति की विजय ॥६॥

एवमुक्त्वास्त्रिजटया राक्षस्य क्रोधमूर्च्छिता ।

सर्वा एवाद्भुवन्भीतास्त्रिजटा तामिद वच ॥७॥

त्रिजटा के व वचन सुन उन राक्षसियाँ का क्रोध दूर हो गया और व सब की सब भयभीत हो त्रिजटा से यह बोली ॥७॥

कथयस्व त्वया दृष्ट स्वप्नोऽयं कीदृशो निशि ।

तासा तु वचन श्रुत्वा राक्षसीना 'मुखोदगतम् ॥८॥

१ पाठान्तरे— भक्षयिष्यामो । २ त्रिजटा—विभीषणपुत्री । (गो०)
३ पाठान्तरे— भवाय । ४ पाठान्तरे— मुखाद्भुतम् ।

उवाच वचनं काले त्रिजटा स्वप्नसंश्रितम् ।

गजदन्तमयीं दिव्यां शिबिकामन्तरिक्षगाम् ॥६॥

बतला तो रात को तुने कैसा स्वप्न देखा है । जब उन राक्षसियो ने इस प्रकार पूछा तब त्रिजटा उनको अपने स्वप्न का वृत्तान्त बतलाने लगी । वह बोली, मैंने स्वप्न में देखा है कि, हाथीदांत की बनी श्रीर आकाशचारिणी पालकी में, ॥६॥६॥

युक्तां हंससहस्रेण स्वयमास्थाय राघवः ।

शुक्लमाल्याम्बरधरो लक्ष्मणेन सहागतः ॥१०॥

जिसमें सहस्रो हंस जुत हुए हैं; श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मणसहित, सफेद वस्त्र और सफेद पुष्पमालाएं पहिने हुए बैठे हैं और लका में आए हैं ॥१०॥

स्वप्ने चाद्य मया दृष्ट्वा सीता शुक्लाम्बरावृता ।

सागरेण परिक्षिप्त श्वेतं पर्वतमास्थिता ॥११॥

आज स्वप्न में मैंने सीता को सफेद साडी पहिने हुए श्रीर समुद्र से घिरे हुए एक सफेद पर्वत के ऊपर बंठे हुए देखा है ॥११॥

रामेण सङ्गता सीता भास्करेण प्रभा यथा ।

राघवश्च मया दृष्टश्चतुर्दन्तं महागजम् ॥१२॥

आरूढः शैलसङ्काशं चचार सहलक्ष्मणः ।

ततस्तौ नरशार्दूलौ दीप्यमानौ स्वतेजसा ॥१३॥

(उस पर्वत के ऊपर) श्रीरामचन्द्रजी के साथ सीताजी वैसे ही बंठी हैं, जैसे सूर्य के साथ प्रभा । फिर मैंने देखा कि श्रीरामचन्द्रजी चार दांतो वाले श्रीर पर्वत के समान डीलडौल वाले एक बड़े गज की पीठ पर लक्ष्मण सहित सवार हो चले जाते हैं । फिर देखा है कि, वे दोनो नरसिंह, जो तेज से दमक रहे हैं ॥१२॥१३॥

शुक्लमाल्याम्बरधरो जानकीं पर्युपस्थितौ ।

ततस्तस्य नगस्याग्रे ह्याकाशस्थस्य दन्तिनः ॥१४॥

सफेद वस्त्रों और सफेद फूल की मालायों को पहिने हुए जानकी के निकट आए हुए हैं। फिर देखा कि, उस पर्वत के चित्तर पर भाकाश में खड़े हाथी के ऊपर ॥१४॥

भर्त्रा परिगृहीतस्य जानकी स्कन्धमाश्रिता ।

भर्तुरङ्घ्रात्समुत्पत्य ततः कमललोचना ॥१५॥

जानकीजी सवार हुई हैं। उस गज को इनके पति श्रीरामचंद्रजी पकड़े हुए हैं। तदनन्तर कमलनयनी जानकी गोदी से उड़ती हैं। उस समय मैंने देखा कि, ॥१५॥

चन्द्रसूयो मया दृष्टा पाणिना परिमार्जती ।

ततस्ताम्यां कुमाराम्यामास्थितः स गजोत्तमः ॥१६॥

सीतया च विशालाक्ष्या लङ्काया उर्परि स्थितः ।

पाण्डुरपंभयुक्तेन रथेनाट्टयुजा स्वयम् ॥१७॥

जानकी सूर्य और चंद्रमा को अपने दोनों हाथों से पोंछ रही हैं। तदनन्तर विशालाक्षी सीता सहित उन दोनों राजकुमारों को अपनी पीठ पर चढ़ा वह उत्तम गज आकर लका के ऊपर टहर गया है। फिर देखा कि घाठ बैलों से युक्त रथ में स्वयं ॥१६॥१७॥

इहोपयातः काकुत्स्थः सीतया सह भार्यया ।

लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा सीतया सह धीर्यवान् ॥१८॥

श्रीरामचंद्रजी आप बैठे और अपनी भार्या सीता को साथ ले यहाँ आए हैं। फिर बलवान श्रीरामचंद्र, अपने भाई लक्ष्मण और भार्या सीता सहित, ॥१८॥

आरुह्य पुष्पकं दिव्यं विमानं सूर्यसन्निभम् ।

उत्तरां दिशमालोक्य जगाम पुरुषोत्तमः ॥१९॥

सूर्य की तरह दमकते हुए पुष्पक विमान पर सवार हो उत्तर की ओर जाते हुए देस पड़े ॥१९॥

एवं स्वप्ने मया दृष्टो रामो विष्णुपराक्रमः ।

लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा सीतया सह राघवः ॥२०॥

इस प्रकार स्वप्न में मैंने अपनी पत्नी सीता सहित विष्णु भगवान् के सदृश पराक्रमी श्रीरामचन्द्र को तथा उनके भाई लक्ष्मण को देखा है ॥२०॥

न हि रामो महातेजाः शक्यो जेतुं सुरासुरैः ।

राक्षसैर्वाऽपि चान्यैर्वा स्वर्गः पापजनैरिव ॥२१॥

जैसे पापियों के लिए स्वर्ग में जाना असम्भव है, वैसे ही देव दानव अथवा राक्षसों के लिए श्रीरामचन्द्र का जीतना असम्भव है ॥२१॥

रावणश्च मया दृष्टः क्षितौ तैलसमुक्षितः ।

रक्तवासाः पिबन्मत्तः करवीरकृतस्रजः ॥२२॥

मैंने रावण को भी स्वप्न में देखा है कि, वह तेल में डूबा हुआ जमीन पर लोट रहा है । शराब पिए उन्मत्त हुआ, लाल कपड़े और लाल कनेर के फूलों की माला पहिने हुए ॥२२॥

विमानात्पुष्पकादद्य रावणः पतितो भुवि ।

कृप्यमाणः स्त्रिया दृष्टो मुण्डः कृष्णाम्बरः पुनः ॥२३॥

पुष्पक विमान से रावण पृथिवी पर आ गिरा है । फिर देखा है कि उसको पकड़ कर स्त्रियाँ खींच रही हैं । उसका मूँड मूँडा हुआ है और वह काले कपड़े पहिने हुए है ॥२३॥

रथेन खरयुक्तेन रक्तमाल्यानुलेपनः ।

पिबंस्तैलं हसन्नृत्यन्भ्रान्तचित्ताकुलेन्द्रियः ॥२४॥

वह लाल माला पहिने और लालचदन लगाए गधा के रथ में बैठा है । फिर देखा है कि, वह तेल पी रहा है, हँस रहा है, नाच और भ्रात चित्त हो विवकल हो रहा है ॥२४॥

गर्दभेन ययौ शीघ्रं दक्षिणां दिशमास्थितः ।

पुनरेव मया दृष्टो रावणो राक्षसेश्वरः ॥२५॥

घोर गर्भे पर सवार हो जल्दी-जल्दी दक्षिण की ओर जा रहा है । फिर मैंने राक्षसराज रावण को देखा कि, ॥२५॥

पतितोऽवाविद्धरा भूमौ गर्दभाद्भ्रममोहितः ।

सहस्रोत्थाय सम्भ्रान्तो भयार्तो मदविह्वलः ॥२६॥ २

वह गर्भे पर से नीचे मुख कर भूमि पर गिर पड़ा है और भयभीत हो विकल हो रहा है । फिर तुरन्त उठकर विकल होता हुआ, भयभीत और भतवाना ॥२६॥

उन्मत्त इव दिग्वासा दुर्वाक्ये' प्रलपन्मुहुः ।

दुर्गन्धं दुःसहं घोरं तिमिरं नरकोपमम् ॥२७॥

रावण, पागल की तरह नग्न हो बराबर दुर्वाक्य बकता हुआ प्रलाप कर रहा है । दुःसह दुर्गन्ध से युक्त, भयकर भयकार से श्रापित नरक की तरह ॥२७॥

मलयङ्कुं प्रविश्याशु मग्नस्तत्र स रावणः ।

कण्ठे बद्ध्वा दशग्रीवं प्रमदा रक्तवासिनी ॥२८॥

काली कर्दमलिप्ताङ्गी दिशं याम्यां प्रकर्षति ।

एवं तत्र मया दृष्टः कुम्भकर्णो निशाचरः ॥२९॥

मल के कीचड़ में जाकर रावण डूब गया है । फिर देखा कि लाल वस्त्र पहिने हुए विकटाकार कोई स्त्री जिनके शरीर में कीचड़ लिपटी हुई है, गले में गस्ती बांध रावण की दक्षिण की ओर खींच कर लिए जा रही है । इसी प्रकार मैंने निशाचर कुम्भकर्ण को भी देखा है ॥२८॥२९॥

रावणस्य सुताः सर्वे मुण्डास्तैलसमुक्षिताः ।

वराहेण दशग्रीवः शिशुमारेण चेन्द्रजित् ॥३०॥

रावण के समस्त पुत्रों को मूंड मूंडाए घोर तेल में डूबा हुआ देखा है । फिर मैंने रावण की शूकर पर, मेघनाद को सूँस पर ॥३०॥

१ पाठान्तरे—“प्रलपन्बहु ।”

उष्ट्रेण कुम्भकर्णश्च प्रयातो दक्षिणां दिशम् ।

एकस्तत्र मया दृष्टः श्वेतच्छत्रो विभीषणः ॥३१॥

श्रीर कुम्भकर्ण को ऊँट पर सवार हो कर दक्षिण दिशा की ओर जाते हुए देखा है । मैंने केवल विभीषण को सफेद छाना ताने, ॥३१॥

शुक्लमाल्याम्बरधरः शुक्लगन्धानुलेपनः ।

शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषं नृत्तगीतैरलंकृतः ॥३२॥

सफेद फूलों की माला तथा सफेद वस्त्र धारण किए श्रीर सफेद सुगन्धित चदन लगाए हुए देखा है श्रीर देखा है कि, उसके सामने शङ्ख दुन्दुभी बज रही है श्रीर नाचना-गाना हो रहा है ॥३२॥

आरुह्य शैलसङ्काशं मेघस्तनितनिःस्वनम् ।

चतुर्दन्तं गजं दिव्यमास्ते तत्र विभीषणः ॥३३॥

फिर विभीषण पर्वत के समान डोलडोल के मेघ की तरह गर्जने वाले चार दांतों वाले दिव्य हाथी पर सवार है ॥३३॥

चतुर्भिः सचिवैः सार्धं देहायसमुपस्थितः ।

समाजश्च मया दृष्टो गीतदादित्रनिःस्वनः ॥३४॥

उसके साथ उसके चार मंत्री हैं श्रीर वह आकाशमार्ग में स्थित हैं राज सभा में मैंने गाना बजाना देखा है ॥३४॥

पिबतां रक्तमाल्यानां रक्षसां रक्तवाससाम् ।

लङ्का चेयं पुरी रम्या सदाजिरथकुञ्जरा ॥३५॥

श्रीर देखा है कि लकावासी समस्त राजस मद पी रहे हैं, लाल फूलों की मालाएं श्रीर लाल ही रंग के कपड़े पहिने हुए हैं फिर मैंने देखा कि, यह रमणीक लकापुरी घोड़ों, रथों श्रीर हाथियों सहित ॥३५॥

सागरे पतिता दृष्टा भन्नगोपुरतोरणा ।

लङ्का दृष्टा मया स्वप्ने राधणेनाभिरक्षिता ॥३६॥

दग्धा रामस्य दूतेन वानरेण तरस्विना ।

पीत्वा तैलं प्रमृत्ताश्च प्रहसन्त्यो महास्विनाः ॥३७॥

लङ्कायां भस्मरूक्षायां प्रविष्टा राक्षसस्त्रियः ।

कुम्भकर्णाद्वयश्चेमे सर्वे राक्षसपुङ्गवाः ॥३८॥

समुद्र में डूब गई है और उसके गोपुरद्वार और तोरणद्वार टूट-फूट गए हैं । फिर मैंने स्वप्न में देखा कि रावण द्वारा रक्षित लका, श्रीरामचन्द्रजी के किसी बलवान दून वानर ने जला कर भस्म कर डाली है । राक्षसों की स्त्रियो को मैंने देखा है कि, वे शरीर में भस्म लगाए तैल पी रही हैं और मतवाली हो इस लका में बड़े जोर में हंस रही हैं । फिर कुम्भकर्ण आदि यहाँ के प्रधान समस्त राक्षस ॥३६॥३७॥३८॥

रक्तं निवसनं गृह्य प्रविष्टा गोमये हृदे ।

अपगच्छत पश्यध्वं सीतानाप स राघवः ॥३९॥

साल कपड़े पहने हुए गावर भर कुण्ड में गिर पड़े हैं । तो हे राक्षसियो ! तुम सब यहाँ से चली जाओ । देवना, गीता, श्रीरामचन्द्रजी को शीघ्र मिलती है ॥३९॥

घातयेत्परभामर्षी सर्वेः सार्धं हि राक्षसैः ।

प्रियां बहुमतां भार्यां वनवासमनुव्रताम् ॥४०॥

यदि तुम लोगों ने ऐसा न किया, तो कहीं वे परमक्रुद्ध हो राक्षसों के साथ-साथ तुम्हें भी न मार डालें । मेरी समझ में तो यह घाता है कि, अपनी ऐसी प्यारी अत्यन्त कृपापात्र श्रीर वनवास में भी साथ देने वाली भार्या की ॥४०॥

भर्त्सितां तर्जितां वाजपि नानुमंस्पति राघवः ।

तदलं भ्रूवावर्यैर्वः सान्त्वमेवाभिधीयताम् ॥४१॥

तुम्हारे द्वारा दुर्दशा की गई देव, श्रीरामचन्द्रजी तुमका बर्मा क्षमा नहीं करेंगे । अब तुम्हें उचित है कि, अब सीता ने कटोर वचन मत कहो और अब उससे ऐसी बातें कहो, जिससे उसे धीरज बंधे ॥४१॥

अभियाचाम वंदेहोमेतद्धि मम रोचते ।

यस्यामेवंविधः स्वप्नो दुःखितायां प्रदृश्यते ॥४२॥

मेरी तो यह इच्छा है कि, हम सब मिल कर, सीताजी से अनुग्रह की प्रार्थना करें । क्योंकि जिस दुःखियारी स्त्री के बारे में ऐसा स्वप्न देखा जाता है ॥४२॥

सा दुःखैर्विधैर्मुक्तां प्रियं प्राप्नोत्यनुत्तमम् ।

भर्त्सितामपि याचध्वं राक्षस्यः किं विवक्षया ॥४३॥

यह विविध प्रकार के दुःखों से छूट कर अपने प्यारे पति को पाती है ।
हे राक्षसियों ! यद्यपि तुम लोगों ने इसको बहुत डराया धमकाया है तो भी तुम इस बात की चिंता मत करो ॥४३॥

राघवाद्धि भयं धीरं राक्षसानामुपस्थितम् ।

प्रणिपातप्रसन्ना हि मैथिली जनकात्मजा ॥४४॥

भव राक्षसों को श्रीरामचन्द्र से बड़ा भय था पहुँचा है । तब यह जनक-नन्दिनी प्रणाम करने से प्रसन्न हो जायगी ॥४४॥

अलमेया परिव्रातुं 'राक्षस्यो महतो भयात् ।

अपि चास्या विशालाक्ष्या न किञ्चिदुपलक्ष्ये ॥४५॥

विरूपमपि चाङ्गेयु सुसूक्ष्ममपि लक्षणम् ।

छायावैगुण्यमात्रं तु शङ्के दुःखमुपस्थितम् ॥४६॥

तब राक्षसियों को इस महाभय से बचाने में यह समय ही होगी । (तुमने इतना डराया-धमकाया तिस पर भी) इन विशालनयनी सीता के शरीर में दुःख की रेख भी तो नहीं देख पड़ती और न इनके अग विरूप ही देख पड़ते हैं । इनकी मलिन कान्ति देखने से भवदय इनके दुःखी होने का सन्वेह होता है ॥४५॥४६॥

अदुःखार्हामिमां देवीं वैहायसमुपस्थिताम् ।
अर्थसिद्धिं तु वैदेह्याः पश्याम्यहमुपस्थिताम् ॥४७॥

ये देवी दुःख नहीं सह सकती । मैंने स्वप्न में भी इनको विमान में स्थित देखा है । इससे मुझे जान पड़ता है कि, इनके कार्य की सिद्धि निश्चित ही होने वाली है ॥४७॥

राक्षसेन्द्रविनाशं च विजयं राघवस्य च ।
निमित्तभूतमेतत्तु श्रोतुमस्या महत्प्रियम् ॥४८॥

श्रीर रावण का नाश तथा श्रीरामचन्द्र की जीत भी अवश्य होने वाली है । एक और कारण भी है, जिससे इनका शीघ्र एक बड़ा सुखसवाद सुनना निश्चित जान पड़ता है ॥४८॥

दृश्यते च स्फुरच्चक्षुः पद्मपत्रमिवायतम् ।
ईपञ्च हृषितो वास्या दक्षिणाया ह्यदक्षिणः ।
अकस्मादेव वैदेह्या बाहुरेकः प्रकम्पते ॥४९॥

वह यह कि, इनका कमल के तुल्य विशाल वाम नेत्र फरक रहा है और इन परम प्रवीणा जानकीजी की पुलकायमान केवल वामभुजा भी अकस्मात् फरक रही है ॥४९॥

करेणुहस्तप्रतिमः सव्यश्चोरुरनुत्तमः ।
वेपमानः सूचयति राघवं पुरतः स्थितम् ॥५०॥

श्रीर इनकी हाथी की सूँड की तरह उत्तर वाम जाँघ का फरकना यह प्रकट करता है कि, श्रीरामचन्द्र इनके पास ही खड़े हैं ॥५०॥

पक्षी च शाखानिलयं प्रविष्टः
पुनः पुनश्चोत्तमसान्त्ववादी ।
सुस्वागतां वाचमुदीरयानः
पुनः पुनश्चोदयतीव हृष्टः ॥५१॥

इति सप्तविंश सर्गं ॥

१ पक्षी—पिङ्गलिका । (गो०) २ पाठान्तरे—'शखानिलयः ।' ३ पुन-
पुनश्चोत्तमसान्त्ववादी—भूयो भूयो मधुरवादी । (गो०)

वृक्ष की डाली पर बैठा हुआ यह पिङ्गलिका (मादा सारस) जो प्रसन्न हो बारबार मधुर वाणी से बोल रही है, सो मादो श्रीरामचन्द्रजी के आगमन की सूचना दे रही है ॥५१॥

सुन्दरकाण्ड का सत्ताइसवाँ सर्ग पूर्ण हुआ ।

—*—

अष्टविंशः सर्गः

सा राक्षसेन्द्रस्य वचो निशम्य

तद्रावणस्याप्रियमप्रियार्ता ।

सीता वितत्रास यथा वनान्ते

सिंहाभिपन्ना गजराजकन्या ॥१॥

त्रिजटा के ऐसे वचन सुनने पर भी सीताजी को रावण की घमकी की याद आ गई । इसलिए वह वन में सिंह में घिरी हुई गजराजकन्या की तरह भयभीत हो गई ॥१॥

सा राक्षसीमध्यगता च भीरु-

र्वाग्भिर्भृशं रावणतजिता च ।

कान्तारमध्ये विजने विसृष्टा

बालेव कन्या विलाप सीता ॥२॥

राक्षसियों में फँसी और रावण से डराई-घमवाई हुई सीता, निर्जन वन में छोड़ी हुई एक लड़की की तरह विलाप करने लगी ॥२॥

सत्यं बतेदं प्रवदन्ति लोके

नाकालमृत्युर्भवतीति सन्तः ।

यत्राहमेवं परिभत्स्यमाना

जीवामि किञ्चित्क्षणमप्यपुण्या ॥३॥

बड़े दुःख की बात है सज्जनो का यह कथन सत्य ही है कि, बिना समय आए कोई नहीं मरता । क्योंकि यदि ऐसा न होता, तो इतनी डराई-धमकाई और तिरस्कार किए जाने पर, मैं पापिन (क्या) एक क्षण भी जीती, जागती खनी रह सकती थी ॥३॥

सुखाद्विहीनं बहुदुःखपूर्णम्
इदं तु नूनं हृदयं स्थिरं मे ।

विशीयन्ते यत्र सहस्रधाऽद्य
वज्राहतं शृङ्गमिवाचलस्य ॥४॥

सुखरहित और दुःखपूर्ण मेरा हृदय निश्चय ही बड़ा कठोर है । यदि यह ऐसा न होता तो, वज्र से तोड़े गए पर्वत शिखर की तरह यह हजार टुकड़े क्यों नहीं हो गया ? ॥४॥

नैवास्ति दोषो मम नूनमत्र
वध्याहमस्याप्रियदर्शनस्य ।

^१भावं न चास्याहमनुप्रदातु-
मलं द्विजो मन्त्रमिवाद्विजाय ॥५॥

निश्चय ही मुझे आत्मदृष्ट्या का पाप नहीं होगा । क्योंकि भ्रन्त में तो यह भयङ्कर राक्षस मुझे मार ही डालेगा । भ्रन्त- इसके द्वारा मारी जाने की अपेक्षा स्वयं ही मर जाना अच्छा है । फिर जिस प्रकार बाह्यण शूद्र को वेद-मन्त्र नहीं दे सकता, वैसे ही मैं अपना हृदय रावण को नहीं दे सकती (भ्रष्टावृत्ति उसे नहीं चाह सकती) ॥५॥

नोट—भ्रन्त द्विजो मन्त्रमिवाद्विजाय से पता चलता है कि रामायण काल में भी शूद्रों को वेद पढ़ने का अधिकार प्राप्त न था ।

नूनं ममाङ्गान्यचिरादनायः
शस्त्रैः शितं श्येत्स्यति राक्षसेन्द्रः ।

तस्मिन्ननागच्छति लोकनाथे

गर्भस्यजन्तोरिव शल्यकृन्तः ॥६॥

यह मुझे निश्चय मालूम है कि, लोकनाथ श्रीरामचन्द्र के जाने के पूर्व ही यह राक्षसाधिपति शस्त्र से मेरे शरीर की बोटियाँ कर डालेगा, जैसे जर्जरिह गर्भ में रुके हुए बालक को टुकड़े-टुकड़े कर काट डालता है ॥६॥

[नोट—गर्भस्य जन्तोरिव शल्यकृन्तः से जान पड़ता है शस्त्र-चिकित्सा रामायण काल में, भारतवर्ष में थी । Surgery का ज्ञान भारत में अङ्गरेजों के जाने पर हुआ यह वाक्य, इस धारणा को खण्डन करता है ।]

दुःखं बतेदं मम दुःखिताया

मासौ चिरायाधिगमिष्यतो द्वौ ।

बद्धस्य बध्यस्य यथा निशान्ते

राजोपरोधादिव तस्करस्य ॥७॥

भुक्त विरकालीन दुस्त्रियारी के लिए रावण की निदिष्ट की हुई भवधि के दो मास शीघ्र ही पूरे हो जायेंगे, जैसे राजा से फाँसी की आज्ञा पाए हुए कारागृह में रुद्ध चोर की फाँसी का समय शीघ्र पूरा हो जाता है ॥७॥

हा राम हा लक्ष्मण हा सुमित्रे

हा राममातः सह मे जनन्या ।

एषा विषद्याम्यहमल्पभाग्या

महार्णवे नीरिव मूढवाता ॥८॥

हा राम ! हा लक्ष्मण ! हा सुमित्रे ! हा कौसिल्ये ! हा मेरी माता ! मैं अपने मन्दभाग्य के कारण वैसे ही नाश को प्राप्त होने वाली हूँ; जैसे महासागर में तूफान से नाव का नाश होता है ॥८॥

तरस्विनी धारयता मृगत्य
सत्त्वेन रूपं मनुजेन्द्रपुत्रौ ।

नूनं विशस्तौ मम कारणात्तौ
सिहर्षभौ द्वाविव वैद्युतेन ॥६॥

क्या निश्चय ही मृगरूपधारी उस राक्षस ने मेरे पीछे उन तेजस्वी और सिहसम पराश्रमी दोनों राजपुत्रों को बिजली मारे हुए की तरह मार डाला ॥६॥

नूनं स कालो मृगरूपधारी
मानल्पभाग्यां लुलुभे तदानीम् ।

यत्रार्यपुत्रं विससर्ज मूढा
रामानुजं लक्ष्मणपूर्वजं च ॥१०॥

मृगरूपधारी उस काल ने भ्रवश्य ही मुझ मन्दभाग्यवाली की बुद्धि उस समय हर ली थी । तभी तो मुझ मूढ़बुद्धि वाली ने दोनों के दोनों राजकुमारों को--प्रयत्न श्रीराम और लक्ष्मण को, आश्रम के बाहर भेज दिया था ॥१०॥

हा राम सत्यव्रत दीर्घबाहो
हा पूर्णचन्द्रप्रतिमानवक्त्र ।

हा जीवलोकस्य हितः प्रियश्च
वध्यां न मां वेत्ति हि राक्षसानाम् ॥११॥

हा राम ! हा सत्यव्रतधारी ! हा बड़ी बांहों वाले ! हा पूर्णिमा के चन्द्र की तरह मुख वाले ! हा प्राणीमात्र के हितैषी और प्रिय तुम यह बात अभी नहीं जानते कि, मैं राक्षसों के हाथ से मारी जाने वाली हूँ ॥११॥

अनन्यदेवत्वमिय क्षमा च
भूमौ च शय्या नियमश्च धर्मै ।

पतिव्रतात्वं विफलं ममेदं
कृतं कृतघ्नेष्विव मानुषाणाम् ॥१२॥

मैं जो अपने पति को छोड़ अन्य किसी देवी-देवता की मान-मनौती नहीं करती—तो मेरी यह अनन्यता, मेरी यह क्षमा, मेरा भूमिभयन-व्रत, पातिव्रत-धर्म का नियमित रूप से पालन, ये समस्त पतिव्रता स्त्रियों के पालने योग्य अनुष्ठान, वैसे ही व्यर्थ हो गए, जैसे किसी का किया हुआ उपकार कृतघ्नों में निष्फल हो जाता है ॥१२॥

मोघो हि धर्मश्चरितो मयाऽयं
तथैकपत्नीत्वमिदं निरर्थम् ।

या त्वां न पश्यामि कृशा विवर्णा

हीना त्वया सङ्गमने निराशा ॥१३॥

मेरा आचरित यह पातिव्रत धर्म और मेरा यह अभिमान कि, मैं श्रीराम की एकमात्र पत्नी हूँ—निष्फल हुए जाते हैं । जो मैं ऐसी दुर्बल और विवर्ण होकर भी तुम्हारे दर्शन नहीं पा रही हूँ और तुम्हारा वियोग होने पर भी तुम्हारे सयोग से हताश हो रही हूँ ॥१३॥

पितुनिदेशं नियमेन कृत्वा

वनान्निवृत्तश्चरितव्रतश्च ।

स्त्रीभिस्तु मन्ये विपुलेक्षणाभिः

त्वं रंस्यसे वीतभयः कृतार्थः ॥१४॥

तुम नियमित रूप से पिता के आज्ञापालन का व्रत समाप्त कर और वन से लौट कर भय से छूट जाओगे और कृतार्थ होकर विशाल नयनवाली भर्षात् मुन्दरी स्त्रियों के साथ भोज उडाओगे ॥१४॥

अहं तु राम त्वयि जातकामा

चिरं विनाशाय निबद्धभावा ।

मोघं चरित्वाय तपो व्रतं च

त्यक्ष्यामि धिग्जीवितमल्पभाग्या ॥१५॥

किन्तु हे श्रीरामचन्द्र ! मने तो भ्रमना नाश करने ही के लिए तुमको चाहूँ और तुमसे प्रेम बढ़ाया । मरे व्रत और तप दोनों व्यर्थ गए भक्त मूल अल्प भ्राण्यवती के जोवन को विकार है । भक्त में तो सब भ्रमने प्राण त्यागती हैं ॥१५॥

सा जीवित क्षिप्रमहं त्यजेय

विषेण शस्त्रेण शितेन वाऽपि ।

विषस्य दाता न हि मेऽस्ति कश्चि-

च्छस्त्रस्य वा वेश्मनि राक्षसस्य ॥१६॥

म भ्रमना जीवन विष खाकर भ्रमना गले में पैनी कटारी मार कर शीघ्र समाप्त करती । किन्तु क्या कहूँ न तो मुझे कोई विष ही खाकर देने वाला यहाँ देख पड़ता है और न मुझे राक्षस के घर में भ्रमना गला काटने को शस्त्र ही मिल सकता है ॥१६॥

इतीव देवी बहुधा विलप्य

सर्वात्मना राममनुस्मरन्ती ।

प्रवेपमाना परिशुष्कवदना

नगोत्तमम् पुष्पितमाससाद ॥१७॥

इस प्रकार देवी सीता भ्रमक प्रकार से विलाप करती तथा श्रीरामचन्द्र का स्मरण करती धरमरानी और मुँह सुजाए पुष्पित एव श्लथ (शिक्षणा) वृक्ष के निकट चली गई और वहाँ जा शोक से विकल हो गई ॥१७॥

शोकाभितप्ता बहुधा विचिन्त्य

सीताऽथ वेण्युद्ग्रथेन गृहीत्वा ।

उद्वह्य वेण्युद्ग्रथेन शीघ्र-

मह गमिष्यामि यमस्य मूलम् ॥१८॥

तदनन्तर बहुत कुछ सोच विचार कर, अपनी चोटी के बधन को हाथ में ले वढ़ने लगी कि म इसी बधन से गले में फाँसी लगा कर अपनी जान दे दूँगी ॥१८॥

उपस्थिता सा मृदुसर्वगात्रो

शाखां गृहीत्वाऽथ नगस्य तस्य ।

तस्यास्तु रामं प्रविचिन्तयन्त्या

रामानुजं स्वं च कुलं शुभाङ्गयाः ॥१६॥

इस प्रकार निश्चय कर, कोमलाङ्गी जानकी उस वृक्ष के निकट जा और उस वृक्षश्रेष्ठ की डाली (फाँसी लगाने के लिए पकड़ चुकी थी कि, इनने में जानकी को थीरामचन्द्र और लक्ष्मण को तथा अपनी कुलमर्यादा की याद द्या गई ॥१६॥

शोकानिमित्तानि तथा बहूनि

धैर्यार्जितानि प्रवराणि लोके ।

प्रादुर्निमित्तानि तदा बभूवुः

पुरापि सिद्धान्युपलक्षितानि ॥२०॥

इति अष्टाविंश सर्गः ॥

इस बीच ही में सीता जी के शोक को नाश करने वाले और धैर्य धराने वाले लोक में श्रेष्ठ समझे जाने वाले, शुभ शकुन उन्हें देख पड़े ॥२०॥

मुन्दरकाण्ड का अष्टाविंश सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

एकोनत्रिंशः सर्गः

तथागतां तां व्यथितामनिन्दितां

व्यपेतहर्षा परिदीनमानसाम् ।

शुभां निमित्तानि शुभानि भेजिरे

नरं श्रिया जुष्टमिवोपजीविनः ॥१॥

त्रिस समय दुःखियारी, हर्षान्गुण्य, सन्तप्त और निन्दारहित सीताजी मरने की तैयारी कर रही थी, उस समय वे सब शुभ शकुन उनके पास वैसे ही आ

उपस्थित हुए जैसे किसी धनी के पास उसके नौकर आ कर उपस्थित होते हैं ॥१॥

तस्या शुभ धाममरालपक्ष-
राजीवृत कृष्णविशालशुक्लम् ।
प्रास्पन्दतंक नयन सुकेश्या
मीनाहत पद्ममिवाभिताम्रम् ॥२॥

उन सुन्दर केशों वाली जानकीजी के चञ्चल पलका सहित काल तारे से शोभित विशाल शुक्लवर्ण और लाल कोए वाला वामनत्र मधुली द्वारा हिलाए हुए कमलपुष्प की तरह फड़कने लगा ॥२॥

भुजश्च चार्थञ्चितपीनवृत्त
पराध्यकालागरुचन्दनार्ह ।
श्रुत्तमेताध्युपित प्रियेण
चिरेण वाम समवेपताशु ॥३॥

उनकी मनोहर गोन मुडोल और मासल वामभुजा जो बढ़िया मगर चन्दन से चर्चित होकर बहुत काल से अपन प्यारे पति के सयोग से वञ्चित हो रही थी, फड़कन लगी ॥३॥

गजेन्द्रहस्तप्रतिमश्च पीन
तयोर्द्वयो सहतयो मुजात ।
प्रस्पन्दमान पुनरूरुरस्या
राम पुरस्तात्स्थितमाचक्षे ॥४॥

उनकी एक दूसरे से मिली हुई सी दोनों जाँघों में से वामजाँघ जो हाथी के सूँड की तरह चढ़ाव उतार की था तथा मुडोल थी फड़कती हुई मानो यह बतना रही थी कि श्रीरामचन्द्रजी मीताजी के सम्मुख ही खड़े हैं ॥४॥

शुभं पुनर्ह्येतन्मानवर्ण-

मोषद्रजोध्वस्तामिवातुलाक्ष्याः ।

वासः स्थितायाः शिखिराग्रदत्याः

किञ्चिदपरिन्वसत चारुगात्र्याः ॥५॥

उपमारहित छांखों वाली श्रौंग अनार के दाने के जैसी दन्तरहित वाली सीताजी की नुनहले रंग को भयान्त्र चपई रंग की छोडनी, जो कुछ-कुछ मैचो सि हो गई थी, फिर ने समक पडी ॥५॥

एतैर्निमित्तरपरैश्च सुभ्रूः

संबोधिता प्रागपि साधु सिद्धैः ।

वातातपक्लान्तमिव प्रनष्टं

वर्षेण बीजं प्रतिसञ्जहर्ष ॥६॥

हवा और घाम ने नष्ट हुआ बीज त्रिगु तरह बर्षा होने पर पुनः हराभरा हो जाता है, उसी तरह माताजी उक्त शुभ शकुनों को देख और उनका शुभफलादेश जानकर, हर्षित हो गई ॥६॥

तस्याः पुनर्विम्बफलाधरोष्ठं

स्वक्षिन्त्रुकेशान्तमरालपक्ष्म ।

वक्त्रं वभासे सितशुक्लदंष्ट्रं

राहोर्मुखाच्चन्द्र इव प्रमुवतः ॥७॥

कुंदरू फन के समान लाल प्रवरो से युक्त, सुन्दर नेत्र, सुन्दर नाँहों व बेचों सहित, चञ्चल, शोभायुक्त, सफेद मोती की तरह चमकाले दाँतों से युक्त माताजी का मुखनगडल, रात्र से छूटे हुए पूर्वचन्द्र की तरह सुशोभित होने लगा ॥७॥

सा वीतशोका व्यपनीततन्द्री

शान्तज्वरा हर्षविवृद्धसत्त्वा ।

अशोभतार्या वदनेन शुक्ले

शीतांशुना रात्रिरिबोदितेन ॥८॥

इति एकोनत्रिंशः सर्गः ॥

उस समय श्रीसीताजी शोक, आलस्य और अन्ताप से रहित और स्वस्थचित्त हो, अपने प्रसन्न मुखमण्डल से वैसे ही शोभायमान हुई, जैसी कि, शुक्लपक्ष की रात, चन्द्रमा के उदय से शोभायमान होती है ॥८॥

सुन्दरकाण्ड का अन्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

— * —

त्रिंशः सर्गः

हनुमानपि विक्रान्तः सर्वं शुश्राव तत्त्वतः ।

सीतायास्त्रिजटायाश्च राक्षसीनां च तर्जनम् ॥१॥

सीताजी का बिनाप, त्रिजटा के स्वप्न का वृत्तान्त और राक्षसियों की दटि-दपट विक्रमशाली हनुमानजी ने सब ज्यों की त्यों सुनी ॥१॥

अवेक्षमाणस्तां देवीं देवतामिव नन्दने ।

ततो बहुविधां चिन्तां चिन्तयामास वानरः ॥२॥

नन्दनकानन में रहने वाला सुरमुन्दरी की तरह, अशोक वन में बैठी हुई उन देवी सीताजी की देखकर, हनुमानजी मोचने लगे ॥२॥

यां कपीनां सहस्राणि मुवहून्ययुतानि च ।

दिक्षु सर्वासु मार्गन्ते सेयमासादिता मया ॥३॥

जिनको हजारों लाखों-करोड़ों वानर चारों ओर ढूँढ़ते फिर रहे हैं, उन्हें मैंने ढूँढ़ निकाला है ॥३॥

चारेण तु सुयुक्तेन शत्रोः शक्तिमवेक्षता ।

गूढेन चरता तावदवेक्षितमिदं मया ॥४॥

मैंने दूत बन कर युक्तिपूर्वक घन्टु का वन देखते-देखते और छिपकर उधर-उधर घूम-फिरकर यह जान लिया है ॥४॥

राक्षसानां विशेषश्च पुरो चेयमवेक्षिता ।

राक्षसाधिपतेरस्य प्रभावो रावणस्य च ॥५॥

मने राक्षसा के ऐश्वर्य को और इस सकापुरी को तथा रावण के प्रभाव को देखमान लिया है ॥५॥

युक्त तस्याप्रमेयस्य सर्वसत्त्वदयावतः ।

समाश्वासयितुं भार्या पतिदर्शनकाङ्क्षिणीम् ॥६॥

मुझे इस समय, अप्रमेय (अचिन्त्य प्रभाव) और सब प्राणियों पर दया करने वाले श्रीरामचन्द्रजी की पत्नी को, जो पति के दर्शन की अभिलाषिणी है धीरज बंधाना उचित है ॥६॥

अहमाश्वासयाम्येना पूर्णचन्द्रनिभाननाम् ।

अदृष्टदुःखा दुःखार्हा दुःखस्यान्तमगच्छतीम् ॥७॥

जिन्होने इसके पूव कभी दुःख नहीं सहे और जो इस दुःख सागर में डूबती हुई पार नहीं पा रही है, ऐसी चन्द्रवदनी सीता को मैं धीरज बंधाता हूँ ॥७॥

यद्यप्यहमिमा देवो शोकोपहतचेतनाम् ।

अनाश्वासस्य गमिष्यामि दोषवद्गमनं भवेत् ॥८॥

यदि मैं शोक से विकल हुई इन सीताजी का समाधान किए बिना ही चला जाऊँ, तो मेरा यहाँ से सौटना श्रुतिपूर्ण होगा ॥८॥

गते हि मयि तत्रेय राजपुत्री यशस्विनी ।

परित्राणमविन्दन्ती जानकी जीवितं त्यजेत् ॥९॥

क्योंकि मेरे नौट जाने से यह यशस्विनी राजकुमारी सीता अपनी रक्षा का कोई उपाय न देख प्राण छोड़ देंगी ॥९॥

मया च स महाबाहुः पूर्णचन्द्रनिभाननः ।

समाश्वासयितुं न्याय्यः सीतादर्शनलालसः ॥१०॥

सीता से मिलने को अभिलाषा रखने वाले पूणमासी के चन्द्रमा के समान, मूलमण्डल वाले महाबाहु श्रीरामचन्द्रजी को जिस प्रकार धीरज बंधाना

उचित है, उसी प्रकार सीता को भी धीरज बंधाना उचित जान पड़ता है ॥१०॥

निशाचरोणां प्रत्यक्षमनर्हं चापि भाषणम् ।

कथं नु खलु कर्तव्यमिदं कृच्छ्रगतो ह्यहम् ॥११॥

किन्तु इत राक्षसियों के सामने सीताजी से बातचीत करना तो उचित नहीं जान पड़ता । तो भीना ने एकान्त में किस प्रकार बातचीत की जाय । यह तो एक बड़ी कठिनार्द सामने उपस्थित है ॥११॥

अनेन रात्रिशोषेण यदि नाश्वास्यते मया ।

सर्वथा नास्ति सन्देहः परित्यक्ष्यति जीवितम् ॥१२॥

अब धोड़ी रात होप रह गई है इस बीच में यदि मैं इन्हें आश्वासन प्रदान न कर सका, तो निस्सन्देह यह अपने प्राण दे देगी ॥१२॥

रामश्च यदि पृच्छेन्मां किं मां सीताऽब्रवीद्वचः ।

किमहं तं प्रतिब्रूयामसम्भाष्य सुमध्यमाम् ॥१३॥

फिर जब श्रीरामचन्द्रजी मुझसे पूछेंगे कि सीता ने मरे लिए तुमसे क्या सन्देशा कहा है, तो मैं बिना सीता से वार्तालाप किए उनको क्या उत्तर दूँगा ॥१३॥

सीतासन्देशरहितं मामितस्त्वरया गतम् ।

निदंहेदपि काकुत्स्थः क्रुद्धस्तीव्रेण चक्षुषा ॥१४॥

फिर सीता का सन्देशा लिए बिना ही, यदि मैं लौटने में जल्दी करूँ, तो क्या श्रीरामचन्द्रजी क्रोध मरे नेत्रोंसे मुझे भस्म न कर डालेंगे ॥१४॥

यदि चोद्योजयिष्यामि भर्तारं रामकारणात् ।

ध्यर्थमागमनं तस्य ससैन्यस्य भविष्यति ॥१५॥

यदि मैं सीता से वार्तालाप किए बिना लौट कर, मुषीब द्वारा, श्रीराम के लिए चढ़ाई की तैयारी भी करवाऊँ और यहाँ सीता आरामपात कर डालें, तो सेनासहित उनका यहाँ घाना सर्वथा निष्कल ही होगा ॥१५॥

अन्तरं त्वहमासाद्य राक्षसीनामिह स्थितः ।

शनैराश्वात्तयिष्यामि सन्तापबहुलामिमाम् ॥१६॥

घतः मैं अब ठहरा हूँ और ज्योही भवसर मिला त्योही मैं इन राक्षसियों की दृष्टि बचा चुपके से अत्यन्त सन्तप्त जानकी को घोरज बंधाऊँगा ॥१६॥

अहं त्वतितनुश्चैव वानरश्च विशेषतः ।

वाचं चोदाहरिष्यामि मानुषीमिह संस्कृताम्' ॥१७॥

जहाँ तक मैं समझता हूँ मेरे बातचीत करने से ये राक्षसियाँ न घबड़ा-यगी—क्योंकि इस समय एक तो मैं अत्यन्त छोटे रूप में हूँ, दूसरे वानर हूँ । सो मैं मनुष्यो जैसी शुद्ध साफ बोली में बातचीत करूँगा ॥१७॥

यदि वाचं प्रदास्यामि द्विजातिरिव संस्कृताम् ।

रावर्णं मन्यमाना मां सीता भीता भविष्यति ॥१८॥

यदि मैं ब्राह्मणों की तरह सस्कृत भाषा में बातचीत करूँ, तो सीता मुझे रावण समझ कर, मुझसे डर जायेंगी ॥१८॥

[नोट—'द्विजातिरिव संस्कृताम्'—यह वाक्य सूचित करता है कि, रामायण काल में ब्राह्मण बातचीत सस्कृत भाषा में ही किया करते थे । तत्कालीन यज्ञीय भाषा सस्कृत ही थी ।]

वानरस्य विशेषेण कथं स्यादभिभाषणम् ।

अवश्यमेव वक्तव्यं मानुषंवाक्यमर्थवत् ॥१९॥

क्योंकि सीताजी के मन में यह सन्देह उत्पन्न हो जायगा कि, बदर बंधोकर सस्कृतभाषा बोल रहा है, सो वह मुझे बनावटी वानर समझ कर मुझसे डर जायेंगी । घतः मुझे उचित है कि, मैं इसे मनुष्यो की साधारण बोलचाल में समझाऊँ ॥१९॥

मया सान्त्वयितुं शक्या नान्यथेयमनिन्दिता ।

सेयमालोक्य मे रूपं जानकी भाषितं तथा ॥२०॥

१ संस्कृतम्—प्रयोगशीलवलक्षणसरकारयुक्ता । (गो०)

रक्षोभिस्त्रासिता पूर्वं भूयस्त्रास गमिष्यति ।
 ततो जातपरित्रासा शब्द कुर्यान्मनस्विनी ॥२१॥
 जनाना मा विशालाक्षी रावण कामरूपिणम् ।
 सीतया च कृते शब्दे सहसा राक्षसोगण ॥२२॥

नहीं तो मैं भय किसी प्रकार से इन अनिदिता सीता को न समझा सकूँगा । जानकीजी पहले ही राक्षसों से भ्रत ह भ्रत मुझ वानर के रूप में मनुष्य के समान बात करते देख साता और अधिक डर जायगी । सो डर कर और मुझ काम रूपी रावण जान कर यदि दक्षियारी सीता चिल्ला उठी तो सीता का सहसा चिल्लाना मुन य राक्षसियाँ ॥२०॥२१॥२२॥

नानाप्रहरणो घोर समेयादन्तकोपम ।
 ततो मा सम्परिक्षिप्य सर्वतो विकृतानना ॥२३॥

जो यमराज के समान भयकर हैं विविध प्रकार के अस्त्र शस्त्र लेकर आ जायगी और मुझ चारों ओर से धर कर य जलमु ही ॥२३॥

वधे च ग्रहणे चैव कुर्युर्यत्न यथावलम् ।
 गृह्य शाखा प्रशाखाश्च स्कन्धाश्चोत्तमशाखिनाम् ॥२४॥

मुझ भार डालन या पकड़ लेन के लिए कोई बात उठा न रहेंगी । तब यही होगा कि मैं पेड़ों की डालों और गुद्दों पर दीडता फिरूँगा ॥२४॥

दृष्ट्वा विपरिधावन्त भवेयुर्भयशङ्किता ।
 मम रूप च सम्प्रेक्ष्य वने विचरतो महत ॥२५॥
 राक्षस्यो भयवित्रस्ता भवेयुर्विकृतानना ।
 तत कुर्यु समाह्वान राक्षस्यो रक्षसामपि ॥२६॥

तब मुझको इस प्रकार दीडते देख य राक्षसियाँ डर जायगी । मरे रूप को और मुझको महावन में फिरते देख और भी अधिक डरेंगी और डर कर उन राक्षसों को भी पुकारेंगी ॥२५॥२६॥

राक्षसेन्द्रनियुक्तानां राक्षसेन्द्रनिवेशने ।

ते शूलशक्तिनिस्त्रिशविविधायुधपाणयः ॥२७॥

जो रावण के घर में रखवाली के लिए रावण द्वारा नियुक्त किए गए हैं । तब वे शूल, शक्ति, बाण, भाला आदि तरह-तरह के हथियार हाथों में लेकर, ॥२७॥

आपतेर्युर्विमर्देऽस्मिन्वेगेनोद्वेगकारिणः ।

संरुद्धस्तैः सुपरितो विधमन्रक्षसां बलम् ॥२८॥

और उत्तेजित हो बड़े वेग से आ जायेंगे और मुझे चारों ओर से घेर लेंगे । तब मैं उस राक्षसीसेना का नाश तो (प्रवश्य ही) कर डालूँगा ॥२८॥

शकनुयां न तु सम्प्राप्तुं परं पारं महोदधेः ।

मां वा गृहीयुराप्लुत्य बहवः शीघ्रकारिणः ॥२९॥

किन्तु उनके साथ युद्ध करते-करते थक जाने के कारण लौट कर समुद्र पार न जा सकूँगा । यदि बहुत से फुर्तीले राक्षसों ने मुझे कूदते हुए पकड़ लिया ॥२९॥

स्यादियं चागृहीतार्या मम च ग्रहणं भवेत् ।

हिंसाभिरुचयो हिंस्युरिमां वा जनकात्मजाम् ॥३०॥

तो सोता को श्रीरामचन्द्रजी का संदेशा नहीं मिलेगा और मैं तो पकड़ा जाऊँगा ही । फिर हिंसाप्रिय ये राक्षस चाहे मुझे अथवा जानकी ही को मार डालें ॥३०॥

विपन्नं स्यात्ततः कार्यं रामसुग्रीवयोरिदम् ।

उद्देशे नष्टमार्गोऽस्मिन्राक्षसैः परिवारिते ॥३१॥

सागरेण परिक्षिप्ते गुप्ते वसति जानकी ।

विशस्ते वा गृहीते वा रक्षोभिर्मयि संप्रुगे ॥३२॥

१ मगृहीतार्या—अविदितरामसन्देशार्या । (गो०)

तब तो श्रीरामचन्द्रजी का और सुग्रीव का यह कार्य ही विगड़ जायगा । क्योंकि जानकीजी ऐसे स्थान में हैं जहाँ का मार्ग कोई नहीं जानता और राक्षसों से घिरा हुआ (अर्थात् सुरक्षित) है । इतना ही नहीं; बल्कि चारों ओर समुद्र से घिरा है, ऐसे गुप्त (अथवा सुरक्षित) स्थान में जानकीजी भा फँसी हैं कि, युद्ध में राक्षस द्वारा मारे जाने या पकड़े जाने पर, ॥३१॥ ॥३२॥

नान्यं पश्यामि रामस्य साहाय्यं कार्यसाधने ।

धिमृशंश्च न पश्यामि यो हते मयि वानरः ॥३३॥

मैं ऐसा किसी को नहीं देखता जो श्रीरामचन्द्रजी का वह कार्य पूरा कर सके । क्योंकि बहुत सोचने पर भी मेरे मारे जाने पर कोई ऐसा वानर मुझे नहीं देख पड़ता है ॥३३॥

शतयोजनविस्तीर्णं लङ्घयेत महोदधिम् ।

कामं हन्तुं समर्थोऽस्मि सहस्राण्यपि रक्षसाम् ॥३४॥

जो सौ योजन पाट वाले समुद्र को लाँच कर, यहाँ आ सके । मैं यदि चाहूँ तो हजारों राक्षसों को मार सकता हूँ ॥३४॥

न तु शक्यामि सम्प्राप्तुं परं पारं महोदधेः ।

असत्यानि च युद्धानि संशयो मे न रोचते ॥३५॥

किन्तु फिर मैं लौट कर समुद्र पार नहीं जा सकता । युद्ध में जीत-हार का कुछ निश्चय नहीं है । अतः ऐसे सम्दिग्ध कार्य में हाथ डालना मुझे पसन्द नहीं ॥३५॥

कश्च निःसंशयं कार्यं कुर्यात् प्राज्ञः ससंशयम् ।

प्राणत्यागश्च वंदेह्या भवेदनभिभाषणे ॥३६॥

ऐसा कौन पुरुष होगा, जो पण्डित होकर किसी सम्दिग्ध कार्य में, निस्सन्देह होकर प्रवृत्त हो । फिर सीताजी से बातचीत न करने से सीताजी-के प्राण जाने का भी तो सन्देह है ॥३६॥

एष दोषो महान्हि स्यान्मम सीताभिभाषणे ।

‘भूताश्चार्या विनश्यन्ति देशकालविरोधिताः ॥३७॥

विबलव^१ दूतमासद्य तमः सूर्योदये यथा ।

‘अर्थानर्थान्तरेवुद्धि^२’ निश्चिताऽपि^३ न शोभते ॥३८॥

घातयन्ति हि कार्याणि दूता. पण्डितमानिनः ।

न विनश्येत्कथं कार्यं^४ वैबलव्यं न कथं भवेत् ॥३९॥

श्रीर बोलने से ये बड़ी-बड़ी कठिनाइयाँ हैं । बना बनाया काम भी, देश और काल के विपरीत कार्य करने से और असावधान अथवा अविवेकी दूत के हाथ में पड़ने से वैसे ही नष्ट हो जाता है जैसे सूर्योदय होने पर अन्धकार फिर स्वामी अथवा मन्त्रिबर्ग द्वारा कर्तव्य अकर्तव्य के विषय में निश्चय हो जाने पर भी, असावधानतावश और पण्डितमन्य दूत के हाथ में पड़ने से भी कार्य बिगड़ जाता है । क्या करने से काम न दिगड़े और मेरी बुद्धिहीनता न समझी जाय ॥३७॥३८॥३९॥

लङ्घनं च समुद्रस्य कथं नु न वृथा भवेत् ।

कथं नु खलु वाक्यं मे शृणुयान्नोद्विजेत वा ॥४०॥

मेरा समुद्र का लांघना ब्योकर वृथा न हो और ब्योकर मेरी बात सीताजी सुनें और सुन कर क्षुब्ध न हो ॥४०॥

इति सञ्चिन्त्य हनुमांश्चकार^५ मतिमान्मतिम् ।

राममविलप्टकर्माणं स्वबन्धुमनुकीर्तयन् ॥४१॥

१ भूताश्चार्या—निष्पन्नार्या । (गो०) २ विबलव—अविवेकिन । (गो०), असावधान । (शि०) ३ अर्थानर्थान्तरे—कार्याकार्यविषये । (गो०), ४ बुद्धि—विबलव दूतमासद्य न शोभते । अकिञ्चित्कराभिमवतीत्यर्थं । (गो०) ५ निश्चितापि—स्वामिना सचिवैः सह निश्चितापि । (गो०) ६ वैबलव्य—बुद्धिहीनता । (गो०) ७ मतिमान्—प्रशस्तमति । (गो०)

इस प्रकार सोचते-विचारते बड़े बुद्धिमान हनुमानजी ने अपने मन में यह निश्चय किया कि, अब मैं अविलम्बकर्म श्रीरामचन्द्रजी की कथा कहना प्रारम्भ करूँ ॥४१॥

नैनामुद्वेजयिष्यामि तद्वन्धुगतमानसाम् ।
 इक्ष्वाकूणां वरिष्ठस्य रामस्य विदितात्मनः ॥४२॥
 शुभानि धर्मयुक्तानि वचनानि समर्पयन् ।
 श्रावयिष्यामि सर्वाणि मधुरां प्रब्रुवन्गिरम् ।
 श्रद्धास्यति यथा हीयं तथा सर्वं समादधे ॥४३॥

इससे सीताजी क्षुब्ध नहीं होगी । क्योंकि सीताजी का ध्यान सदा श्रीरामचन्द्रजी ही में लगा रहता है । इक्ष्वाकुवंशियों में श्रेष्ठ, प्रतिद्वन्द्व प्रपितामात्मजानी श्रीरामचन्द्रजी के शुभ और धर्मयुक्त सदेशों को मधुर वाणी से मैं सुनाऊँगा । जिससे सीताजी को मेरी बातों में विश्वास हो, मैं बँसा ही करूँगा ॥४२॥४३॥

इति स बहुविधं महानुभावो
 जगतिपतेः प्रमदामवेक्षमाणः ।
 मधुरमवितथं जगाद वाक्यं
 द्रुमद्विदपान्तरमास्थितो हनुमान् ॥४४॥
 इति त्रिंशत् सर्गं ॥

इस प्रकार अनेक प्रकार से मोच विचार कर, (प्रसन्न वदनाश्रय) भूपति श्रीरामचन्द्रजी की भार्या जानकीजी को देख कर, महानुभाव हनुमानजी ने, उस वृक्ष की छाली पर बैठे ही बैठे, मधुर किन्तु सत्य शब्दों में श्रीरामजी का सदेश कहना प्रारम्भ किया ॥४४॥

सुन्दरकाण्ड का तीसरा सर्ग पूरा हुआ ।

— ० —

एकत्रिंशः सर्गः

एवं बहुविधां चिन्तां चिन्तयित्वा महाकपिः ।

संश्रवे मधुरं वाक्यं वेदेह्या व्याजहार ह ॥१॥

इस प्रकार बहुत कुछ मोच-विचार कर, हनुमानजी, सीताजी को सुनाते हुए, इस प्रकार के मधुर वचन कहने लगे ॥१॥

राजा दशरथो नाम रथकुञ्जरवाजिमान् ।

पुण्यशीलो महाकीर्तिर्ऋजुरासीन्महायशः ॥२॥

दशरथ नाम के एक राजा थे, जो बड़े पुण्यात्मा, बड़ी कीर्ति वाले, सरल और महापशुत्वी थे । उनके बहुत से रथ, हाथी और घोड़े थे ॥२॥

राजर्षीणां गुणश्रेष्ठस्तपसा र्षिभिः समः ।

चक्रवर्तिकुले जातः पुरन्दरसमो बले ॥३॥ ।

वे अपने गुणों से राजर्षियों में श्रेष्ठ माने जाते थे और तप में वे ऋषियों के तुल्य थे । उनका जन्म चक्रवर्ती कुल में हुआ था और बल में वे इन्द्र के समान थे ॥३॥

अहिसारतिरक्षुद्रो घृणी सत्यपराक्रमः ।

मुह्यश्चेक्ष्वाकुवंशस्य लक्ष्मीवांल्लक्ष्मिवर्धनः ॥४॥

वे हिता से दूर रहते थे और शूद्र लोगों का सत्सर्ग नहीं करते थे । वे बड़े दयालु थे और सत्यपराक्रमी थे । वे इक्ष्वाकुवंशियों में श्रेष्ठ समझे जाते थे और बड़ी कान्ति वाला और सम्पत्ति और वैभव के बढ़ाने वाले थे ॥४॥

पार्थिवव्यञ्जनैर्युक्तः पृथुश्रीः पार्थिवर्षभः ।

पृथिव्यां चतुरन्तायां विश्रुतः सुखदः सुखी ॥५॥

वे राजलक्षणों से युक्त, प्रति शोभावान और राजाओं में श्रेष्ठ थे । चारों समुद्रपर्यन्त समस्त पृथिवी मण्डल में वे प्रसिद्ध थे । वे स्वयं सुखी रहते थे और अपनी प्रजा तथा आश्रित जनों को भी सुख देने वाले थे ॥५॥

तस्य पुत्रः प्रियो ज्येष्ठस्ताराधिपनिभाननः ।

रामो नाम विशेषज्ञः श्रेष्ठः सर्वधनुष्मताम् ॥६॥

चन्द्रमा की तरह मुख वाले सकल शास्त्र और वेदों के विशेष जानने वाले और सब धनुर्धरो में श्रेष्ठ उनके ज्येष्ठ पुत्र श्रीरामचन्द्रजी, उनको बहुत प्रिय थे ॥६॥

रक्षिता स्वस्य वृत्तस्य स्वजनस्यापि रक्षिता ।

रक्षिता जीवलोकस्य धर्मस्य च परन्तपः ॥७॥

यह (श्रीरामजी) अपने चरित्र की रक्षा करने वाले और अपने जनो का प्रतिपालन करने वाले हैं। यही नहीं, बल्कि ये मसार के जीवमात्र के रक्षक तथा धर्म की भी मर्यादा रखने वाले हैं और शत्रुओं को सन्तप्त करने वाले हैं ॥७॥

तस्य सत्याभिसन्धस्य वृद्धस्य वचनात्पितुः ।

सभार्यः सह च भ्रात्रा वीरः प्रव्राजितो वनम् ॥८॥

वीर श्रीरामचन्द्रजी, अपने सत्यप्रतिज्ञ एव वृद्ध पिता की आज्ञानुसार अपनी पत्नी और भाई के साथ वन भेजे गए ॥८॥

तेन तत्र महारण्ये मृगयां परिधावता ।

राक्षसा निहताः शूरा बहवः कामरूपिणः ॥९॥

वन में आ, उन्होंने शिकार खेलते हुए बहुत से यथेच्छ रूपधारी और बड़े शूर राक्षसों का सहार किया ॥९॥

जनस्थानवधं श्रुत्वा हतौ च खरदूषणौ ।

ततस्त्वमर्षापहृता जानकी रावणेन तु ॥१०॥

जनस्थानवासी चौदह हजार राक्षसों तथा खरदूषण का मारा जाना सुन, रावण ने क्रुपित हो जानकीजी को हरा ॥१०॥

वञ्चयित्वा धने रामं भृगरूपेण मायया ।

स मार्गमाणस्तां देवीं रामः सीतामनिन्दिताम् ॥११॥

हरने के समय उसने मायामृग के रूप में, श्रीरामचन्द्रजी को वन में धोखा दिया । तदनन्तर श्रीरामचन्द्रजी ने अपनी उस सुन्दरी पत्नी को ढूँढ़ते हुए ॥११॥

आससाद धने मित्रं सुग्रीवं नाम वानरम् ।

ततः स वालिनं हत्वा रामः परपुरञ्जयः ॥१२॥

वन में सुग्रीव नामक वानर से मैत्री की । पशुपुर को जीतने वाले श्रीरामचन्द्रजी ने बालि नामक वानर को मार कर, ॥१२॥

प्रायच्छत्कपिराज्यं तत्सुग्रीवाय महाबलः ।

सुग्रीवेणापि सन्दिष्टा हरयः कामरूपिणः ॥१३॥

महाबली सुग्रीव को किष्किन्धा का राज्य दे दिया । तब सुग्रीव ने भी यथेच्छ रूपधारी वानरो को श्रीरामपत्नी को ढूँढ़ने की आज्ञा दी ॥१३॥

दिक्षु सर्वान्मु तां देवीं विचिन्वन्ति सहस्रशः ।

अहं सम्पातिवचनाच्छ्रुतयोजनमायतम् ॥१४॥

तदनुसार हजारों वानर उन देवी को ढूँढ़ते हुए, चारों दिशाओं में घूम रहे हैं । (उन्हीं में से एक) मैंने संपाति के कहने से सौ योजन विस्तार वाले ॥१४॥

अस्या हेतोर्विशालाक्ष्याः सागरं वेगवान्प्लुतः ।

यथारूपां यथावर्णां यथालक्ष्मीं च निश्चिताम् ॥१५॥

समुद्र को, इस देवी के लिए बड़े वेग से नाँधा है । मैंने सीता देवी का जैसा रूप रङ्ग और उनकी कान्ति ॥१५॥

अश्रौपं राघवस्याहं सेयमासादिता मया ।

विररामैवमुक्त्वासौ वाचं वानरपुङ्गवः ॥१६॥

श्रीरामचन्द्रजी के मुख से सुनी थी, वैसे ही मैंने इनमें पाई है । इतनी बात कह कर, हनुमानजी चुप हो गए ॥१६॥

जानकी चापि तच्छ्रुत्वा विस्मयं परमं गता ।

ततः सा वक्रकेशान्ता सुकेशी केशसंवृतम् ।

उन्नम्य वदनं भीरुः शिशुपावृक्षमक्षत ॥१७॥

उधर ये सब वृत्तान्त सुन जानकीजी की बड़ा भ्रमभा हुआ । तदनन्तर धुँपराले और काले महीन केशों वाली जानकी, केशों से आच्छादित अपने मुख को ऊपर उठा कर, उस शीशम के वृक्ष को देखने लगी ॥१७॥

निशम्य सीता वचनं कपेशच

दिशश्च सर्वाः प्रदिशश्च वीक्ष्य ।

स्वयं प्रहृष्य परमं जगाम

१सर्वात्मना राममनुस्मरन्ती ॥१८॥

सीता हनुमानजी के ये वचन सुन, चारों ओर देख तथा सब प्रकार से श्रीरामचन्द्रजी का स्मरण करती हुई आप से आप अत्यन्त हर्षित हुई ॥१८॥

सा तिर्यगूर्ध्वं च तथाप्यधस्ता-

न्निरीक्षमाणा तमचिन्त्यबुद्धिम् ।

ददर्श पिङ्गाधिपतेरमात्यं

वातात्मजं सूर्यमिन्द्रोदयस्यम् ॥१९॥

इति एकत्रिंशत् सर्गः ॥

तदनन्तर सीता इधर-उधर, ऊपर-नीचे देखने लगी । तब सीता ने उदय-कालीन सूर्य को तरह वानरराज सुग्रीव के मन्त्री एवं प्रसाधारण बुद्धिसम्पन्न पवननन्दन हनुमानजी की देखा ॥१९॥

सुन्दरकाण्ड का इकतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—:०:—

द्वात्रिंशः सर्गः

ततः शाखान्तरे लीनं दृष्ट्वा चलितमानसा ।
 वेष्टितार्जुनवस्त्रं तं विद्युत्संघातपिङ्गलम् ॥१॥
 सा ददर्श कपिं तत्र प्रश्रितं प्रियवादिनम् ।
 फुल्लाशोकोत्कराभासं तप्तचामीकरेक्षणम् ॥२॥
 मैथिली चिन्तयामास विस्मयं परमं गता ।
 अहो भीममिदं रूपं दानरस्य दुरासदम् ॥३॥

शाखाओं में छिपे, अर्जुन वृक्ष के हरे रंग के वस्त्र पहिने, बिजली के समूह की तरह पीले, प्रियमापी, अशोक के फूलों के डेर की तरह कान्तिमान, सोने के सदृश पीले नेत्रों वाले और अति नृमत्त होकर बैठे हुए हनुमानजी को देख, सीताजी घबडा गई और बहुत विस्मित हुई। वे कहने लगीं, अरे! इस दुर्घट रूप दानर का रूप तो बड़ा भयानक है ॥१॥२॥३॥

दुर्निरीक्ष्यमिति ज्ञात्वा पुनरेव मुमोह सा ।
 विललाप भृशं सीता करुणं भयमोहिता ॥४॥

घोर देखा नहीं जा सकता। यह जान कर सीता मूर्छित हो गई। फिर वे भय से मोहित और दुःख से कातर हो, बहुत विलाप करने लगीं ॥४॥

रामरामेति दुःखार्ता लक्ष्मणेति च भामिनी ।
 हरोद बहुधा सीता मन्दं मन्दस्वरा सती ॥५॥

धीमे स्वर वाली दुःखिनी सीता, हा राम! हा लक्ष्मण! कह कर, धीमी आवाज से बहुत रोई ॥५॥

सा तु दृष्ट्वा हरिश्रेष्ठं विनीतबहुपस्थितम् ।
 मैथिली चिन्तयामास स्वप्नोऽयमिति भामिनी ॥६॥

विनम्रभाव से उपस्थित कपिश्रेष्ठ हनुमानजी को देख, जानकीजी ने विचारा कि, कहीं मैं स्वप्न तो नहीं देख रही ॥६॥

सा वीक्षमाणा पृथुभुग्नवक्त्रं
 शाखामृगेन्द्रस्य यथोक्तकारम्^१
 ददर्श^२ पिङ्गप्रवरं महाहं
 वातात्मजं बुद्धिमतां वरिष्ठम् ॥७॥

सीताजी ने जब ऊपर मुख करके देखा; तब उन्हें पुनः उन भ्राजाकारी, पवननन्दन हनुमानजी का विशाल टेढा मुख देख पडा जो; वानरो में तथा बुद्धिमानो में श्रेष्ठ थे और मूल्यवान् आभूषण पहिनने योग्य थे ॥७॥

सा तं समीक्ष्यैव भृशं विसंज्ञा
 गतासुकल्पेव बभूव सीता ।
 चिरेण संज्ञां प्रतिलभ्य भूयो
 विचिन्तयामास विशालनेत्रा ॥८॥

उस समय सीता बहुत डर गई और मूर्छित सी हो गई, अर्थात् सक्पका गई मानो मृतप्राय हो गई हो । फिर बहुत देर बाद सचेत हो, वे विशालनेत्री सीता विचारने लगी ॥८॥

स्वप्ने मयाऽयं विकृतोऽद्य दृष्टः
 शाखामृगः शास्त्रगर्णनिषिद्धः ।
 स्वस्त्यस्तु रामाय सलक्ष्मणाय
 तथा पितुर्मे जनकस्य राज्ञः ॥९॥

आज मैंने यह बड़ा बुरा स्वप्न देखा है । (बुरा क्यों ?) क्योंकि स्वप्न में वानर का देखना शास्त्र में बुरा बतलाया गया है । सो लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्रजी का तथा मेरे पिता महाराज जनकजी का मङ्गल हो ॥९॥

१ यथोक्तकारं—भ्राजाकरं । (गो०) २ पाठान्तरे—“पिङ्गाधिपतेस्-
 मात्य ।”

स्वप्नोऽपि नायं न हि मेऽस्ति निद्रा
 शोकेन दुःखेन च पीडितायाः ।
 सुखं हि मे नास्ति यतोऽस्मि हीना
 तेनेन्दुपूर्णप्रतिमाननेन ॥१०॥

[नोट—स्वप्नाध्यायानुसार स्वप्न म धानर का देखना बन्धुमो के लिए अनिष्टकर माना गया है ।]

(जानकीजी फिर विचार करने लगीं) यह स्वप्न तो नहीं है । क्योंकि मैं थोड़े ही सो रही हूँ जो स्वप्न देखनी । भला मुझ शोक और दुःख से पीडित को नींद कब आने लगी निद्रा तो सुखियों का आती है । जो जब से मेरा उन चन्द्रमुख श्रीरामचन्द्रजी से विद्रोह हुआ है तब से मुझे सुख कैसा ॥१०॥

रामेति रामेति सदैव बुद्ध्या
 विचिन्त्य वाचा ब्रुवती तमेव ।
 तस्यानुरूपां च कथां तमर्यम्
 एवं प्रपश्यामि तथा शृणोमि ॥११॥

इनका कारण तो मुझे यह जान पड़ता है कि, मैं रात दिन श्रीरामजी के ध्यान में रहती हूँ और श्रीरामजी का नाम रटा करती हूँ । अतः मुझे तदनुरूप ही देख और सुन पड़ता है ॥११॥

अहं हि तस्याद्य मनोभवेन
 सम्पीडिता तद्गतसर्वभावा ।
 विचिन्तयन्ती सततं तमेव
 तथैव पश्यामि तथा शृणोमि ॥१२॥

सदा की भाँति आज भी मैं उन्हीं के वियोग में कन्दन से पीडित हो बैठी हुई, उनका ध्यान कर रही थी । फिर मैं तो सदा उन्हीं का ध्यान किया करती हूँ । इसीसे मुझे वैसे ही दिखलाई और सुनाई पड़ता है ॥१२॥

मनोरथः स्यादिति चिन्तयामि

तथाऽपि बुद्ध्या च वितर्कयामि ।

किं कारणं तस्य हि नास्ति रूपं

सुन्यवतरूपश्च वदत्ययं माम् ॥१३॥

किन्तु इसका कारण तो मेरा मनोरथ है । यह बात मैं समझती हूँ, तो भी बुद्धि इस बात को ग्रहण नहीं करती—क्योंकि मेरे मनोरथ का ऐसा रूप नहीं जान पड़ता । अर्थात् मेरा मनोरथ तो श्रीरामचन्द्रजी के दर्शन का है, किन्तु यह तो बानर का दर्शन है और यह बानर मुझसे साफ-साफ बोल भी रहा है, इसका कारण क्या है ? ॥१३॥

नमोऽस्तु वाचस्पतये सवज्जिणे

स्वयंभुवे चैव हुताशनाय च ।

अनेन चोक्तं यदिदं ममाग्रतो

वनौकसा तच्च तथाऽस्तु नान्यथा ॥१४॥

इति द्वाविंश सर्गं ॥

मैं बृहस्पति, इन्द्र, ब्रह्मा और अग्नि को प्रणाम करती हूँ और प्रार्थना करती हूँ कि, इस बानर ने जो मेरे सामने अभी कहा है, वह सब निरुद्धे और अन्यथा न हो ॥१४॥

सुन्दरकाण्ड का बत्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

— * —

त्रयस्त्रिंशः सर्गः

सोऽवतीर्य द्रुमात्तस्माद्विद्रुमप्रतिमानतः

विनीतवेपः कृपणः प्रणिपत्योपसृत्य च ॥१॥

तामब्रवीन्महातेजा हनूमान्मारुतात्मजः ।

शिरस्यञ्जलिमाधाय सीतां मधुरया गिरा ॥२॥

इतने में मूंगे के समान लाल मुख वाले, महातेजस्वी हनुमानजी वृक्ष की ऊँची शाखा से नीचे की शाखा^१ पर उतर आये और सीता के निकट जा प्रणाम कर, हाथ जोड़े हुए, अर्थात् नम्र और दीनभाव से, मधुर वाणी से बोले ॥१॥२॥

[नोट—आदि कवि ने यहाँ हनुमानजी के मुख को (“विद्रुमप्रतिमाननः”) मूंगे जैसा लाल बतलाया है। इससे जान पड़ता है कि पवननन्दन का केवल चेहरा ही लाल था। सारा शरीर नहीं। किन्तु हमारे भारतवासी महावीरभक्त उनकी प्रतिमा पर बन्दन लगा उनका सारा शरीर लाल कर देते हैं। ऐसा करना ठीक नहीं।]

का नु पद्मपलाशाक्षि विलप्टकौशेयवासिनि ।

द्रुमस्य शाखामालम्ब्य तिष्ठसि त्वमनिन्दिते ॥३॥

हे कमलनयनी ! हे सर्वाङ्ग सुन्दरी ! तुम कौन हो, जो ऐसे मँसे कपड पहिने और पैड की डाली पकडे हुए खड़ी हो ? ॥३॥

किमर्थं तव नेत्रान्म्यां वारि स्रवति शोकजम् ।

पुण्डरीकपलाशान्म्यां विप्रकीर्णमिवोदकम् ॥४॥

कमलपत्र से जलबिन्दु टपकने की तरह, तुम्हारे नेत्रों से, शोक से उत्पन्न ये आँसू क्यों टपक रहे हैं ? ॥४॥

सुराणामसुराणां वा नागगन्धर्वरक्षसाम् ।

यक्षाणां किन्नराणां वा का त्वं भवसि शोभने ॥५॥

हे शोभने ! सुरों, असुरों, नागों, गन्धर्वों, राक्षसों, यक्षों, किन्नरों में से तुम कौन हो ? ॥५॥

का त्वं भवसि रुद्राणां मरुतां वा वरानने ।

वसूनां वा वरारोहे देवता प्रतिभासि मे ॥६॥

१. ऊँची शाखा से नीची शाखा पर इसलिए कहा कि इसी सर्ग के १५ वें श्लोक में हनुमानजी का विशेष—“द्रुमाश्रितम्” आया है।

हे चारुवदने ! अथवा तुम रुद्रा, वायुमो या वसुमो में से कोई हो ? क्योंकि तुम तो मुझे देवता जैसा जान पड़ रही हो ॥६॥

किं नु चन्द्रमसा हीना पतिता विवुधालयात् ।

रोहिणी ज्योतिषां श्रेष्ठा^१ श्रेष्ठा सर्वगुणान्विता ॥७॥

अथवा तुम नक्षत्रों में श्रेष्ठतया सर्वगुणधारिणी में श्रेष्ठ रोहिणी तो नहीं हो, चन्द्रमा के वियोगजन्य शोक से प्रसिद्ध हो, स्वर्ग से पृथिवी पर घा गिरी हो ? ॥७॥

का त्वं भवसि कल्याणि त्वमनिन्दितलोचने ।

कोपाद्वा यदि वा मोहाद्भ्रूतरिमस्तिक्षणे ॥८॥

वसिष्ठं कोपयित्वा त्वं नासि कल्याण्यरुन्धती ।

को नु पुत्रः पिता भ्राता भर्ता वा ते सुमध्यमे ॥९॥

हे सुन्दर नेत्रों वाली कल्याणी ! तुम कौन हो ? हे काले नेत्रों वाली ! कोप या मोह वश, तुम अपने पति वसिष्ठ को, क्रुपित कर यहाँ धाई हुई अरुन्धती तो नहीं हो ? हे सुमध्यमे ! यह तो बतलाओ कि, कहीं तुम्हारा पुत्र, पिता, भाई, अथवा पति तो ॥८॥९॥

अस्माल्लोकादमुं लोकं गतं त्वमनुशोचसि ।

रोदनादतिनिःश्वासाद्भूमिसंस्पर्शनादपि ॥१०॥

इस लोक से परलोक को नहीं चला गया, जिसके लिए तुम शोक कर रही हो ? तुम्हारे रोने, निश्वास छोड़ने और भूमि-स्पर्श करने से ॥१०॥

न त्वां देवीमहं मन्ये राज्ञः संज्ञावधारणात् ।

व्यञ्जनानि च ते यानि लक्षणानि च लक्षये ॥११॥

यह तो मुझे निश्चय हो गया कि तुम देवता नहीं हो । (क्योंकि देवता ये काम नहीं करते) फिर तुम बार-बार महाराज श्रीरामचन्द्रजी का नाम

१ पाठान्तरे—“श्रेष्ठ ।” २ व्यञ्जनानि—स्तनजघनादीनि । (गो०)

ले रही हो । अतः तुम्हारे स्तन जघा आदि शरीर के अवयवों की गठन तथा सामुद्रिकशास्त्र में वर्णन प्रन्थ शारीरिक लक्षणों को देखने से ॥११॥

महिषी भूमिपालस्य राजकन्याऽसि मे मता ।

रावणेन जनस्थानाद्वलादपहृता यदि ॥१२॥

मुझे निश्चित रूप से जान पड़ता है कि, तुम किसी भूपाल की पटरानी और राजकन्या हो । रावण जनस्थान से बरजोरी जिसको हर लाया था । यदि ॥१२॥

सीता त्वमसि भद्रं ते तन्ममाचक्ष्व पृच्छतः ।

यथा हि तव वै दैन्यं रूपं चाप्यतिमानुपम्^१ ॥१३॥

तुम वही सीता हो, तो मैं तुम से पूछता हूँ मुझे बतला दो तुम्हारा भला हो क्योंकि तुम्हारी दीनता से, तुम्हारे अत्यद्भुत रूप से ॥१३॥

तपसा चान्वितो वेपस्त्वं राममहिषी ध्रुवम् ।

सा तस्य वचनं श्रुत्वा रामकीर्तनहर्षिता ॥१४॥

और तुम्हारे तपस्विनी के वेग से तुम निश्चय ही मुझे श्री राम-पत्नी जान पड़ती हो । हनुमानजी के इन वचनों को तथा श्री रामजी की बड़ाई सुन, सीता जी हर्षित हो गईं ॥१४॥

उवाच वाक्यं वैदेही हनुमन्तं द्रुमाश्रितम् ।

पृथिव्यां राजसिंहानां मुरयस्य विदितात्मनः ॥१५॥

वृक्ष पर बैठे हनुमानजी से वैदेही कहने लगी—हे कपे ! पृथिवी के समस्त श्रेष्ठ राजाओं में मुख्य एवं प्रसिद्ध ॥१५॥

स्नुषा दशरथस्याहं शत्रुसैन्यप्रमाथिनः^२ ।

द्रुहिता जनकस्याहं वैदेहस्य महात्मनः ॥१६॥

१ अतिमानुपम्—अत्यद्भुतमित्यर्थ । (रा०) २ पाठान्तरे—“प्रतापिनः”, “प्रणाशिनः ।”

श्रीर शत्रुसैन्यहन्ता महाराज दशरथ की मैं पतोड़ू और महात्मा विदेह राजा जनक की मैं बेटी हूँ ॥१६॥

सीता च नाम नाम्नाऽहं भार्या रामस्य धीमतः ।

समा द्वादश तत्राऽहं राघवस्य निवेशने ॥१७॥

मेरा नाम सीता है और बुद्धिमान श्रीरामचन्द्रजी की मैं पत्नी हूँ । बारह वर्षों तक मैं श्रीरामचन्द्रजी के घर में ॥१७॥

भुञ्जाना मानुषान्भोगान्सर्वकामसमृद्धिनी ।

तत्र त्रयोदशे वर्षे राज्येनेक्ष्वाकुनन्दनम् ॥१८॥

अभिषेचयितुं राजा सोपाध्यायः प्रचक्रमे ।

तस्मिन्सांश्रियमाणे तुं राघवस्याभिषेचने ॥१९॥

सब कामनाओं से परिपूर्ण हो, मनुष्योपयोगी समस्त पदार्थों का उपभोग करती रही । तदनन्तर तेरहवें वर्ष महाराज दशरथ ने वसिष्ठजी की सलाह से, इक्ष्वाकुनन्दन श्रीरामचन्द्रजी का राज्याभिषेक करना चाहा । अभिषेक की सारी तैयारियाँ हो चुकने पर ॥१८॥१९॥

कैकेयी नाम भर्तारिं देवी वचनमब्रवीत् ।

न पिवेयं न खादेयं प्रत्यहं मम भोजनम् ॥२०॥

कैकेयी ने अपने पति महाराज दशरथ से यह कहा कि, मैं (भोज से नित्य) न तो पानी पीऊँगी न भोजन कहेँगी ॥२०॥

एष मे जीवितस्यान्तो रामो यद्यभिषिच्यते ।

यत्तदुक्तं त्वया वाक्यं प्रीत्या नृपतिसत्तम ॥२१॥

यदि तुम श्रीरामचन्द्रजी का राज्याभिषेक करोगे तो मैं अपनी जान दे दूँगी, हे नृपति, तुमने प्रसन्न हो पूर्वकाल में मुझे जो वर दिया था ॥२१॥

तच्चेन्न वितथं कार्यं वनं गच्छतु राघवः ।

स राजा सत्यवाग्देव्या वरदानमनुस्मरन् ॥२२॥

उसे यदि तुम मिथ्या न करना चाहते हो, तो श्रीरामचन्द्रजी वन को जायें । हे कपे ! वे सत्यवादी राजा अपने पूर्वदत्त वर को स्मरण कर ॥२२॥

मुमोह वचनं श्रुत्वा कंकैय्याः दूरमप्रियम् ।

ततस्तु स्थविरो राजा सत्ये धर्मो व्यवस्थितः ॥२३॥

कंकैयी के इस निष्ठुर और अप्रिय वचन को सुन कर, अचेत हो गए । तदनन्तर बृद्ध महाराज दशरथ ने, सत्यरूपी धर्म का पालन करने के लिए ॥२३॥

ज्येष्ठं यशस्विन पुत्रं रुदन्राज्यमयाचत ।

स पितुर्वचनं श्रीमानभिषेकात्परं प्रियम् ॥२४॥

रोदन करते हुए अपने यशस्वी ज्येष्ठ राजकुमार श्रीरामचन्द्रजी को दिया हुआ राज्य फेर लिया, किन्तु श्रीरामचन्द्रजी ने अपने अभिषेक से वही बड़ कर पिता की आज्ञा को प्रिय माना ॥२४॥

मनसा पूर्वभासाद्य वाचा प्रतिगृहीतवान् ।

दद्यान्न पतिगृह्णीयात्सत्यं ब्रूयान्न चानृतम् ॥२५॥

अपि जीवितहेतोर्वा रामः सत्यपराक्रमः ।

स विहायोत्तरीयाणि महार्हाणि महायशाः ॥२६॥

और प्रथम उन्होंने उसे मन से अंगीकार कर फिर वाणी द्वारा प्रकट किया । क्योंकि सत्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्रजी दान देते हैं, दान लेते नहीं, वे सदा सत्य ही बोलते हैं, झूठ कभी नहीं बोलते । इस विषय में भले ही उनके प्राण ही क्यों न खते जायें, पर वे बोलते सच ही हैं । महायशस्वी श्रीरामचन्द्रजी बड़े मूल्यवान एव बढ़िया वस्त्रों को त्याग, ॥२५॥२६॥

विसृज्य मनसा राज्यं जनन्यै मा समादिशत् ।

साऽहं तस्याग्रतस्तूर्णं प्रस्थिता वनचारिणी ॥२७॥

१ पाठान्तरे—“प्रतिगृह्णीयान्न न ब्रूयात्किञ्चिदप्रियम् ।”

तथा मन से राज्य को छोड़, मुझे अपनी जननी की सेवा करने की आज्ञा दी। परन्तु मैं तो तुरत वनचारिणी का वेश बना, उनके आगे ही उनके साथ वन जाने को तैयार हुई ॥२७॥

न हि मे तेन हीनाया वासः स्वर्गोऽपि रोचते ॥

प्रागेव तु महाभागः सौमित्रिभित्रनन्दन ॥२८॥

क्योंकि श्रीराम के बिना मुझे अकेले स्वर्ग में रहना भी पसन्द नहीं है। मित्रो के आनन्द को बढ़ाने वाले महाभाग लक्ष्मण भी ॥२८॥

पूर्वजस्यानुयात्रार्थे द्रुमचीरैरलंकृतः ।

ते वयं भर्तुरादेशं बहुमान्यदृढव्रताः ॥२९॥

प्रविष्टाः स्म पुरा दृष्टं वनं गम्भीरदर्शनम् ।

वसतो दण्डकारण्ये तस्याहममितीजसः ॥३०॥

चीर बल्कल धारण कर, बड़े भाई के साथ चलने को तैयार हो गए। सो हम सब महाराज दशरथ की आज्ञा को अति आदर और दृढतापूर्वक मान, पहले कभी न देखे हुए और भयानक वन में आए। हम सब लोण दण्डकवन में रहा करते थे कि उन महाबली ॥२९॥३०॥

रक्षसाऽपहृता भार्या रावणेन दुरात्मना ।

द्वौ मासौ तेन मे कालो जीवितानुग्रहः कृतः ।

ऊर्ध्वं द्वाभ्यां तु मासाभ्यां ततस्त्यक्ष्यामि जीवितम् ॥३१॥

इति त्रयस्त्रिंशत् सर्गः ॥

श्रीरामचन्द्रजी की भार्या मुझ को दुष्ट रावण हर लाया। उसने अनुग्रह कर मुझे दो मास तक और जीवित रखने की भवधि बांध दी है। दो मास जीवितने पर मुझे अपने प्राण त्यागने पड़ेंगे ॥३१॥

सुन्दरकाण्ड का तीसरा सर्ग पूरा हुआ ।

चतुस्त्रिंशः सर्गः

तस्यास्तद्वचनं श्रुत्वा हनुमान्हरियूथपः ।

दुःखाद्दुःखाभिभूतायाः सान्त्वमुत्तरमब्रवीत् ॥१॥

शोकसन्तप्ता जानकी के ये वचन सुन, कपीश्वर हनुमानजी उनको घोरज
बँधाते हुए उत्तर में यह बोले ॥१॥

अहं रामस्य सन्देशाद्देवि दूतस्तवागतः ।

वैदेहि कुशली रामस्त्वा च कौशलमब्रवीत् ॥२॥

हे देवी ! श्रीरामचन्द्रजी की आज्ञा से दूत बन कर, मैं तुम्हारे पास उनका
सदेशा लाया हूँ । श्रीरामचन्द्रजी स्वयं अच्छी तरह हैं और उन्होंने तुम्हारा
कुशल वृत्तान्त पूछा है ॥२॥

यो ब्राह्ममस्त्रं वेदांश्च वेद वेदविदां वरः ।

स त्वां दाशरथी रामो देवि कौशलमब्रवीत् ॥३॥

हे देवी ! जो ब्रह्मास्त्र का चलाना जानते हैं, जो वेदा के ज्ञाता हैं और
जो वेदवेत्ताओं में श्रेष्ठ हैं, उन्हीं दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्रजी ने तुम्हारी राजी-
खुशी का हाल पूछा है ॥३॥

लक्ष्मणश्च महातेजा भर्तस्तेऽनुचरः प्रियः ।

कृतवाञ्छशोकसन्तप्तः शिरसा तेऽभिवादनम् ॥४॥

महातेजस्वी और अपने बड़े भाई की सेवा में सदा तत्पर रहने वाले,
लक्ष्मणजी ने शोकसन्तप्त हो, तुमको सीस नवा कर प्रणाम कहलाया है ॥४॥

सा तयोः कुशलं देवी निशम्य नरसिंहयोः ।

- प्रीतिसंहृष्टसर्वाङ्गी हनुमन्तमथाब्रवीत् ॥५॥

उन दोनों नरसिंहों का कुशलसवाद सुन, सीता का सारा शरीर हर्ष से
पुलकित हो गया । वे हनुमानजी से कहने लगी ॥५॥

कल्याणी वत गायेयं लौकिकी प्रतिभाति मा ।

एति जीवन्तमानन्दो नरं वर्षशतादपि ॥६॥

लोग एक कहावत कहते हैं कि, मनुष्य यदि जीवित रहे, तो सौ वर्ष के पीछे भी वह हर्षित होता है । सो यह कहावत मुझे सत्य ही जान पड़ रही है ॥६॥

तथा समागते तस्मिन्प्रीतिरुत्पादिताऽद्भुता ।

परस्परेण चालापं विश्वस्तौ तौ प्रचक्रतुः ॥७॥

(इस प्रकार) सीता और हनुमानजी को भेंट हो जाने पर अब उन दोनों में परस्पर विलक्षण अनुराग उत्पन्न हो गया और वे दोनों एक दूसरे पर विश्वास कर आपस में बातचीत करने लगे ॥७॥

तस्यास्तद्वचनं श्रुत्वा हनुमान्हरियूथपः ।

सीतायाः शोकदीनायाः समीपमुपचक्रमे ॥८॥

शोककर्षिता सीताजी के उन वचनों को सुन, कपिश्रेष्ठ हनुमानजी, सीताजी के कुछ और निकट चले गए ॥८॥

वथा यथा समीपं स हनुमानुपसर्पति ।

तथा तथा रावणं सातं सीता परिशङ्कते ॥९॥

किन्तु हनुमानजी ज्यों-ज्या सीताजी के निकट पहुँचते जाते थे, त्यों-त्यों सीताजी हनुमानजी को रावण समझ, उन पर सन्देह करती जाती थी ॥९॥

अहो धिग्दुष्कृतमिदं कथितं हि यदस्य मे ।

रूपान्तरमुपागम्य स एवायं हि रावणः ॥१०॥

मैंने इससे बातचीत कर बड़ा अनुचित कार्य किया, मुझको धिक्कार है, क्योंकि यह रूप बदले हुए रावण ही है ॥१०॥

तामशोकस्य शाखां स विमुक्त्वा शोककर्षिता ।

तस्यामेवानवधाङ्गी धरण्या समुपाविशत् ॥११॥

सुन्दरी सीताजी यह कह कर तथा शोक से विकल हो श्रीर अशोक की शाखा को छोड़, वहीं भूमि पर बैठ गई ॥११॥

हनुमानपि दुःखार्तां तां दृष्ट्वा भयमोहिताम् ।

अवन्दत महाबाहुस्ततस्तां जनकात्मजाम् ॥१२॥

महाबाहु हनुमानजी ने दुःखियारी सीता को भयभीत देख उनको प्रणाम किया ॥१२॥

सा चैनं भयविव्रस्ता भूयो नैवाभ्युदक्षत ।

तं दृष्ट्वा वन्दमानं तु सीता शशिनिभानना ॥१३॥

किन्तु भयभीत सीताजी ने फिर हनुमानजी की ओर नहीं देखा । बल्कि चंद्रमुखी सीताजी ने, हनुमानजी को प्रणाम करते देख ॥१३॥

अब्रवीद्दीर्घमुच्छ्वस्य वानरं मधुरस्वरा ।

मायां प्रविष्टो मायावी यदि त्वं रावणः स्वयम् ॥१४॥

ऊँची साँस ले, हनुमानजी से मधुर स्वर में कहा कि, यदि तू सचमुच रूपटरुप धारण किए हुए रावण हो ॥१४॥

उत्पादयसि मे भूयः सन्तापं तन्न शोभनम् ।

स्वं परित्यज्य रूपं यः परिव्राजकरूपधृत् ॥१५॥

जनस्थाने मया दृष्टस्त्वं स एवासि रावणः ।

उपवासकृशां दीनां कामरूप निशाचर ॥१६॥

तो तूने मुझे जो पुन शोकसतप्त किया है, सो अच्छा नहीं किया अथवा यह तुझे नहीं सोहता । तू वही रावण है, जो अपना रूप बदल श्रीर सन्यासी का रूप धारण कर, जनस्थान में मुझे हरने गया था । हे कामरूपी निशाचर ! मैं तो वैसे ही भूखी प्यासी रह कर, कुस और दीन हो रही हूँ ॥१५॥१६॥

सन्तापयसि मां भूयः सन्तप्तां तन्न शोभनम् ।

अथवा नैतदेवं हि यन्मया परिशङ्कितम् ॥१७॥

सो मुझ सतप्ता को पुन सतप्त करना, तुझको शोभा नही देता और यदि मेरा यह सदेह ठीक न हो ॥१७॥

मनसो हि मम प्रीतिरुत्पन्ना तव दर्शनात् ।

यदि रामस्य दूतस्त्वमागतो भद्रमस्तु ते ॥१८॥

और बहुत करके ठीक है भी नही, क्योंकि तुझे देख, मेरे मन में अपने आप तेरे प्रति स्नेह उत्पन्न होता है । सो यदि तू श्रीरामचन्द्रजी का दूत बन कर यहाँ आया है, तो तेरा मङ्गल हो ॥१८॥

पृच्छामि त्वां हरिश्रेष्ठ प्रिया रामकथा हि मे ।

गुणान् रामस्य कथय प्रियस्य मम वानर ॥१९॥

भव मैं तुझसे पूछती हूँ । हे कपिश्रेष्ठ ! तू मुझे श्रीरामचन्द्रजी का वृत्तांत बतला । साथ ही हे वानर ! मेरे प्यारे श्रीरामचन्द्रजी के गुणों का भी वर्णन कर ॥१९॥

चित्तं हरसि मे सौम्य नदीकूलं यथा रयः ।

अहो स्वप्नस्य सुखता याऽहमेवं चिराहृता ॥२०॥

प्रेषितं नाम पश्यामि राघवेण वनौकसम् ।

स्वप्नेऽपि यद्यहं वीरं राघवं सहलक्ष्मणम् ॥२१॥

हे सौम्य ! तू मेरे मन को अपनी ओर उसी प्रकार खींच रहा है, जिस प्रकार नदी अपने किनारे को अपनी ओर खींचती है । आहा ! देखो, स्वप्न भी कैसा सुखदाई होता है, जो मैं मुद्दत से श्रीरामचन्द्रजी से विछुड़ी हुई आज श्रीरामचन्द्रजी के भेजे हुए वानर को देख रही हूँ । यदि स्वप्न में भी मैं श्रीरामचन्द्रजी और लक्ष्मणजी को देखती ॥२०॥२१॥

पश्येयं नावसीदेयं स्वप्नोऽपि मम मत्सरी ।

नाहं स्वप्नमिमं मन्ये स्वप्ने दृष्ट्वा हि वानरम् ॥२२॥

तो दुखी न होनी, किन्तु स्वप्न भी तो मुझसे ईर्ष्या रखता है (भयति ईर्ष्याविश स्वप्न में भी मुझे श्रीराम लक्ष्मण नही देखते) । परन्तु यह तो मुझे स्वप्न नहीं मालूम पड़ता । क्योंकि स्वप्न में बन्दर को देखने से ॥२२॥

न शक्योऽभ्युदयः प्राप्तुं प्राप्तश्चाभ्युदयो मम ।

किंतु स्याच्चित्तमोहोऽयं भवेद्वातगतिस्त्वयम् ॥२३॥

बिसी का कल्याण नहीं होता, किन्तु मुझे तो स्वप्न में वानर देखने से सन्तोषरूपी कल्याण की प्राप्ति हुई है । कहीं यह मेरा मन-विभ्रम तो नहीं है अथवा भूखी रहते-रहते वहीं वायु के कुपित हो जाने से मेरा मस्तिष्क तो नहीं बिगड़ रहा है ? ॥२३॥

उन्मादजो विकारो वा स्यादियं मृगतृष्णिका ।

अथवा नायमुन्मादो मोहोऽप्युन्मादलक्षणः ॥२४॥

अथवा यह विक्षिप्ततामूलक कोई उपद्रव नहीं है अथवा यह मृगतृष्णा की तरह मुझे अन्य वस्तु का अन्य स्थान में भासमात्र हो रहा है ? अथवा न तो यह विक्षिप्तता है और न उससे उत्पन्न हुआ यह मोह है अर्थात् ज्ञानसून्यता ही है ॥२४॥

सम्बुध्ये चाहमात्मानमिमं चापि वनौकसम् ।

इत्येवं बहुधा सीता सम्प्रधार्य बलाबलम् ॥२५॥

क्योंकि मेरे होरहवास दुष्ट है अथवा मैं अपने आपको और इस वानर को भली भाँति जानती हूँ । सीताजी ने इस प्रकार बहुत कुछ ऊँचनीच सोच विचार कर, ॥२५॥

रक्षसां कामरूपत्वान्मेने तं राक्षसाधिपम् ।

एतां बुद्धिं तदा कृत्वा सीता सा तनुमध्यमा ॥२६॥

हनुमानजी को कामरूपी राक्षसराज रावण ही समझा । इस प्रकार का निश्चय कर, पतली कमर वाली सीता ॥२६॥

न प्रतिव्याजहाराथ वानरं जनकात्मजा ।

सीतायाश्चिन्तितं बुद्ध्वा हनुमान्मारुतात्मजः ॥२७॥

जनकनन्दिनी ने फिर हनुमानजी से कुछ बातचीत न की । तब पवननन्दन हनुमानजी सीताजी को चिन्तित जान, अर्थात् अपने ऊपर सदेह करते जान, ॥२७॥

श्रोत्रानुकूलैर्वचनैस्तदा तां सम्प्रहर्षयत् ।

आदित्य इव तेजस्वी लोककान्तः शशी यथा ॥२८॥

श्रुतमधुर वचन कह, उनको भली भाँति प्रसन्न करने लगे । वे बोले—जो आदित्य की तरह तेजस्वी, चंद्रमा की तरह सर्वप्रिय हैं ॥२८॥

राजा सर्वस्य लोकस्य देवो वैश्रवणो यथा ।

विक्रमेणोपपन्नश्च यथा विष्णुर्महायशाः ॥२९॥

जो कुबेर की तरह सब लोगो के राजा, पराक्रम प्रदर्शन करने में महा-यशस्वी विष्णु के समान है ॥२९॥

सत्यवादी मधुरवाग्देवो वाचस्पतिर्यथा ।

रूपवान्सुभगःश्रीमान्कन्दर्प इव मूर्तिमान् ॥३०॥

जो बृहस्पति की तरह सत्यवादी और मधुरभाषी हैं । जो रूपवान, सुभग और सौंदर्य में साक्षात् मूर्तिमान् कन्दर्प की तरह हैं ॥३०॥

स्थानक्रोधः प्रहर्ता च श्रेष्ठो लोके महारथः ।

बाहुच्छायामवण्टढधो यस्य लोको महात्मनः ॥३१॥

जो उचित क्रोध कर दण्ड देने वाले ह, जो सर्वश्रेष्ठ और महारथी हैं, जिनकी भुजा की छाया में रह कर लोग सुखी रहते हैं ॥३१॥

अपकृष्याश्रमपदान्मृगरूपेण राघवम् ।

शून्ये येनापनीतासि तस्य द्रक्ष्यसि यत्फलम् ॥३२॥

उन श्रीरामचंद्रजी को घनावटी हिरण द्वारा आश्रम से दूर ले जाकर और एकान्त पा, जिसने तुमको हरा है, वह अपने किए का फल पावेगा ॥३२॥

न चिराद्वावणं संख्ये योऽवधिष्यति वीर्यवान् ।

रोषप्रमुक्तैरिपुभिर्ज्वलद्भिरिव पावकैः ॥३३॥

जो पराक्रमी श्रीरामचंद्रजी क्रुद्ध हो अग्नि की तरह दीप्तिमान् बाणों को चला कर युद्ध में रावण को मारेंगे ॥३३॥

तेनाहं प्रेषितो दूतस्त्वत्सकाशमिहागतः ।

त्वद्वियोगेन दुःखार्तः स त्वां कौशलमब्रवीत् ॥३४॥

उन्ही का भेजा हुआ मैं उनका दूत तुम्हारे पास आया हूँ । वे तुम्हारे विरह में बड़े दुःखी हैं । सो उन्होंने तुम्हारी कुशल-वार्ता पूछी है ॥३४॥

लक्ष्मणश्च महतेजाः सुमित्रानन्दवर्धनः ।

अभिवाद्य महाबाहुः स त्वां कौशलमब्रवीत् ॥३५॥

महाबाहु और सुमित्रा के आनन्द को बढ़ाने वाले महातेजस्वी लक्ष्मणजी ने प्रणामपूर्वक तुम्हारी कुशलवार्ता पूछी है ॥३५॥

रामस्य च सखा देवि सुग्रीवो नाम वानरः ।

राजा वानरमुख्यानां स त्वां कौशलमब्रवीत् ॥३६॥

हे देवी ! सुग्रीव नाम के वानर ने, जो श्रीरामचन्द्रजी के मित्र हैं और वानरों के राजा हैं, तुम्हारी राजीवृत्ति पूछी है ॥३६॥

नित्य स्मरति रामस्त्वां ससुग्रीवः सलक्ष्मणः ।

दिष्ट्या जीवसि वंदेहि राक्षसीवशमागता ॥३७॥

सुग्रीव और लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्रजी नित्य तुम्हें याद किया करते हैं । हे वंदेही ! यह सौभाग्य की बात है कि, तुम इन राक्षसियों के पत्र में फँस कर भी जीती-जायती बनी हुई हो ॥३७॥

न चिराद्द्रक्ष्यसे रामं लक्ष्मणं च महाबलम् ।

मध्ये वानरकोटीनां सुग्रीवं चामितौजसम् ॥३८॥

हे देवी ! तुम थोड़े ही दिनों बाद लक्ष्मण सहित महाबली श्रीरामचन्द्रजी को और बड़े पराक्रमी सुग्रीव को करोड़ों वानरों सहित यहाँ देखोगी ॥३८॥

अहं सुग्रीवसचिवो हनुमान्नाम वानरः ।

प्रविष्टो नगरौ लङ्कां लङ्घयित्वा महोदधिम् ॥३९॥

मैं सुग्रीव का मंत्री हूँ और मेरा नाम हनुमान है । मैं समुद्र को लाँच कर लङ्कापुरी में आया हूँ ॥३९॥

कृत्वा मूर्ध्न पदन्यासं रावणस्य दुरात्मनः ।

त्वां द्रष्टुमुपयातोऽहं समाश्रित्य पराक्रमम् ॥४०॥

मैं अपने बसपराक्रम के बूते, दुष्ट रावण के सिर पर पैर रख कर, (अर्थात् रावण का तिरस्कार करके) तुम्हें देखने के लिए यहाँ आया हूँ ॥४०॥

नाहमस्मि तथा देवि यथा मामवगच्छसि ।

विशङ्का त्यज्यतामेया श्रद्धत्स्व वदतो मम ॥४१॥

इति चतुस्त्रिंशः सर्गः ॥

हे देवी ! तुम मुझे जो समझ रही हो वह मैं नहीं हूँ (अर्थात् मैं रावण नहीं हूँ) अतएव तुम अपने सन्देह को दूर कर, मेरे कथन पर विश्वास करो ॥४१॥

सुन्दरकाण्ड का चौतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

— * —

पञ्चत्रिंशः सर्गः

तां तु रामकथा श्रुत्वा वैदेही वानरर्यभात् ।

उवाच वचनं सान्त्वमिदं मधुरया गिरा ॥१॥

हनुमानजी के मुख से श्रीरामचन्द्रजी का वृत्तान्त सुन, सीताजी ने मधुर वाणी से ये शान्त (ठंडे) वचन कहे ॥१॥

वद ते रामेण संसर्गः कथं जानासि लक्ष्मणम् ।

वानराणां नराणां च कथमासीत् समागमः ॥२॥

तेरी श्रीरामचन्द्रजी से भेंट कहाँ हुई ? लक्ष्मणजी को तू कैसे जानता है ? मनुष्यों का घोर वानरो का मेल कैसे हुआ ? ॥२॥

यानि रामस्य लिङ्गानि लक्ष्मणस्य च वानर ।

तानि भूयः समाचक्ष्व न मां शोकः समाविशेत् ॥३॥

हे वानर ! श्रीरामचन्द्रजी और लक्ष्मणजी की जो पहिचानें (हुलिया) ह उनको तुम फिर से कहो, जिनको मुनने से मेरे मन को शोक न हो अर्थात् यदि तुम्हारी वर्णित पहिचानें ठीक हुईं, तो मुझे तुम्हारे रामदूत होने का विश्वास होगा और फिर शोक करने का कोई कारण ही न रह जायगा ॥३॥

कीदृशं तस्य संस्थानं रूपं रामस्य कीदृशम् ।

कथमूरु कथं बाहू लक्ष्मणस्य च शंस मे ॥४॥

उनके शरीरो की गठन कैसी है और श्रीरामचन्द्रजी का रूप कैसा है ? लक्ष्मणजी की जघाएँ और भुजाएँ कैसी हैं ! यह तुम मुझे बतलाओ ॥४॥

एवमुवतस्तु वैदेह्या हनुवान्पवनात्मजः^१ ।

ततो रामं यथातत्त्वमाख्यातुमुपचक्रमे ॥५॥

जब सीताजी ने इस प्रकार पूछा, तब पवननन्दन हनुमानजी श्रीरामचन्द्र जी की हुलिया यथावत् बतलाने लगे ॥५॥

जानन्ती वत दिष्ट्या मां वैदेहि परिपृच्छसि ।

भर्तुः कमलपत्राक्षि संस्थानं लक्ष्मणस्य च ॥६॥

वे बोले—हे कमलनयनी ! तुम अपने पति और लक्ष्मणजी के शरीरों के चिह्नो को जान कर भी मुझसे पूछती हो, यह मेरे लिए बड़े सौभाग्य की बात है ॥६॥

यानि रामस्य चिह्नानि लक्ष्मणस्य च जानकि ।

लक्षितानि विशालाक्षि वदतः शृणु तानि मे ॥७॥

हे जानकीजी ! मैंने श्रीरामचन्द्रजी और लक्ष्मणजी के जिन शारीरिक चिह्नो को देखा है, वे सब मैं तुमसे कहता हूँ, सुनो ॥७॥

रामः कमलपत्राक्षः सर्वभूतमनोहरः ।

रूपदाक्षिण्यसम्पन्नः प्रसूतो जनकात्मजे ॥८॥

१ पाठान्तरे—“हृषुमान्मास्तात्मज ।” २ पाठान्तरे—“सर्वसत्त्वमनोहर ।”

हे जनकनन्दिनी ! श्रीरामचन्द्रजी के नेत्र कमल के समान हैं । वे सब का मन हरण करने वाले हैं । रूप और चातुर्य को साथ लिए हुए वे उत्पन्न हुए हैं (अर्थात् वे स्वभावतः सुस्वरूप और चतुर हैं) ॥८॥

तेजसाऽऽदित्यसङ्काशः क्षमया पृथिवीसमः ।

बृहस्पतिसमो बुद्ध्या यशसा वासवोपमः^१ ॥९॥

वे तेज में सूर्य, क्षमा में पृथ्वी, बुद्धिमत्ता में बृहस्पति और यश में इन्द्र के तुल्य हैं ॥९॥

रक्षिता जीवलोकस्य स्वजनस्य च रक्षिता ।

रक्षिता स्वस्य वृत्तस्य धर्मस्य च परन्तपः ॥१०॥

वे समस्त प्राणियों की, अपने जनो की, अपने चरित्र की और अपने धर्म की रक्षा करने वाले हैं । साथ ही अपने शत्रुभा का नाश (भी) करने वाले हैं ॥१०॥

रामो भामिनि लोकेऽस्मिश्चातुर्वर्ण्यस्य रक्षिता ।

मर्यादानां च लोकस्य कर्ता कारयिता च सः ॥११॥

हे सुन्दरी ! श्रीरामचन्द्रजी इस लोक में चारों वर्णों के रक्षक और लोक की मर्यादा बांधने वाले और मर्यादा की रक्षा करने वाले हैं ॥११॥

अचिन्मानचितो नित्यं ब्रह्मचर्यव्रते स्थितः ।

साधूनामुपकारज्ञः प्रचारज्ञश्च^२ कर्मणाम् ॥१२॥

व तमत्माने बेहरे वाले हैं और पूज्यो के भी पूज्य हैं । वे सदा ब्रह्मचर्य व्रत को धारण किए रहते हैं । वे साधु महात्माओं के प्रति उपकार करने के अवसर को जानने वाले अथवा साधु महात्माओं द्वारा किए हुए उपकारों को मानने वाले हैं और वे शास्त्रविहित कर्मों के प्रचार की विधि को जानते हैं ॥१२॥

१ पा ॥ अन्तरे—'पृथिवीसम' ।' २ पाठान्तरे—'अचिन्मानचितोत्यर्थम्' ।

३ प्रचारज्ञ —प्रयोगज्ञ । (गो०)

[नोट—श्रीरामचन्द्रजी गृहस्थ थे, फिर हनुमानजी ने उन्हें “नित्य ब्रह्मचर्य-व्रत-स्मित” क्यों बतलाया ? यह घट्टा होने पर समाधान के लिए भूषण-टीकाकार ने मनु भगवान् का यह श्लोक उद्धृत किया है :—

“षोडशतं निशाः स्त्रीणां तस्मिन्पुग्मासु संविशेत् ।

ब्रह्मचार्यैव पर्वाद्याश्चतस्रश्च विवर्जयेत् ॥”]

राजविद्याविनीतश्च ब्राह्मणानामुपासिता ।

श्रुतवाञ्छीलसंपन्नो विनीतश्च परन्तपः ॥१३॥

ये चार प्रकार की राजविद्याओं में शिक्षित, ब्राह्मणोपासक, ज्ञानवान्, शीलवान्, नम्र, किन्तु शत्रुओं को तपाने या नाश करने वाले हैं ॥१३॥

[नोट—चार प्रकार की राजविद्याएँ ये हैं —

“भ्रान्चीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्च शास्वती ।

एता विद्याश्चतस्रस्तु लोकसस्मितहेतव ॥”]

यजुर्वेदविनीतश्च वेदविद्भिः सुपूजितः ।

धनुर्वेदे च वेदेषु वेदाङ्गेषु च निष्ठितः ॥१४॥

ये यजुर्वेद भली भाँति सीखे हुए हैं और वेदवेत्ताओं से भली भाँति सम्मानित भयवा प्रशंसित हैं तथा धनुर्वेद में एव चारों वेदों और वेदाङ्गों में निपुण हैं ॥१४॥

[नोट—और वेदों का नाम लिखने से पहिले यजुर्वेद का नाम लिखने से भादिकाव्यकार का अभिप्राय यह है कि श्रीरामचन्द्रजी यजुर्वेदी थे ।]

विपुलांसो महाबाहुः कम्बुग्रीवः शुभाननः ।

गूढजत्रुः सुताम्राक्षो रामो देवि जनैः श्रुतः ॥१५॥

हे देवी ! श्रीरामचन्द्रजी विशाल कंधो वाले, बड़ी भुजाओं वाले, शरग्रीव, सुन्दरानन, हंसुलियों की मांसल हड्डियों वाले, रक्तनयन और लोक में श्रीराम-चन्द्रजी के नाम से प्रसिद्ध हैं ॥१५॥

दुन्दुभिस्वननिर्घोषः स्निग्धवर्णः प्रतापवान् ।

समः समविभक्ताङ्गो वर्णं श्यामं समाश्रितः ॥१६॥

उनका कण्ठस्वर दुन्दुभि के समान गम्भीर है, उनके शरीर का रङ्ग चिकना है, वे बड़े प्रतापी हैं, उनके सब अंग-प्रत्यंग आपस में मिले हुए और छोटे-बड़े नहीं हैं और उनका श्याम वर्ण है ॥१६॥

त्रिस्थिरस्त्रिप्रलम्बश्च त्रिसमस्त्रिषु चोन्नतः ।

त्रिताम्रस्त्रिषु च स्निग्धो गम्भीरस्त्रिषु नित्यशः ॥१७॥

उनकी जाँघें, कलाई और मूठी बड़ी मजबूत हैं । भौंह, घडकोश और बाहु उनके ये तीन अङ्ग लम्बे हैं । केशाग्र, वृषण और जानू ये तीनों अंग उनके समान हैं । नाभि का अल्पन्तर भाग, कोख और छाती उनके ये तीन अङ्ग ऊँचे हैं । आँखों के कोए, नख और चरणों के तलुए और दोनों हृदयैर्षी लाल हैं । उनके पाँव की रेखाएँ, केश, और शिशन का अगला भाग विकने हैं । उनका स्वर, उनकी नाभि और गति गम्भीर हैं ॥१७॥

त्रिबलीवांस्त्रयवनतश्चतुर्व्यङ्गस्त्रिशोर्षवान् ।

चतुष्कलश्चतुर्लेशश्चतुष्किकुश्चतुस्समः ॥१८॥

चतुर्दशसमद्वन्द्वश्चतुर्दष्टश्चतुर्गतिः ।

महोष्ठहनुनासश्च पञ्चस्निग्धोष्ठवंशवान् ॥१९॥

उनके उदर और कण्ठ में त्रिबली पड़ी है । उनके पैर के तलुए, चरणरेखा और स्तनाग्र गहरे हैं । उनका गला, लिङ्ग, पीठ और जाँघें मोटी हैं । उनके मस्तक के ऊपर चार भँवरियाँ हैं । उनके अगुष्ठमूल में चारो वेद की ज्ञान-सम्प्रादन-सूचक चार रेखाएँ हैं । उनके ललाट में महा-दीर्घायु-सूचक चार रेखाएँ हैं । चौबीस अंगुल के हाथ से वे चार हाथ लम्बे हैं । उनकी बाहु, घुटना, जघा और कपोल समान हैं । भौं, नयुने, नेत्र, कर्ण, ओष्ठ, स्तनाग्र, कूहनी, गट्टा, घुटना, अण्डकोश, कटि, हाथ-पैर और कटि का पिछला भाग समान हैं । उनके चार दाँत चिकने, परस्पर मिले हुए और पैने हैं । सिंह, शार्ङ्गल, पक्षी, हाथी और बिल की तरह चार प्रकार की उनकी चाल है । उनके ओष्ठ, ठोड़ी और नाक विशाल हैं । वाणी, मुख, नख, सोम और त्वचा चिकनी है । हाथ की नली, पैर की नली, तर्जनी, कनिष्ठा, गुल्फ, बाहु, ऊरु और जघा दीर्घ हैं ॥१८॥१९॥

दशपद्मो दशबृहत्त्रिभिर्व्याप्तो द्विशुक्लवान् ।

पडुन्नतो नवतनुस्त्रिभिर्व्याप्नोति राघवः ॥२०॥

उनके मूल, नेत्र, घूषन, जिह्वा, घ्रोठ, हाथ, स्तन, नख, हाथ और पैर कमल तुल्य हैं, उनके वक्षस्थल, मस्तक, ललाट, ग्रीवा, बाहु, स्कंध, नाभि, पैर, पीठ और कर्ण बड़े-बड़े हैं । श्री, यश और तेज से वे व्याप्त हैं, उनके मातृ-पितृ दोनों वंश निर्दोष हैं, उनके कक्ष, पेट, वक्षस्थल, नासिका, स्कंध और ललाट ऊँचे हैं । भ्रोगुलियों के पोरे, सिर के बाल, रोम, नख, त्वचा और दाढ़ी के बाल कोमल हैं । उनकी सूक्ष्म दृष्टि और सूक्ष्म बुद्धि है ॥२०॥

[नोट—हनुमानजी ने श्रीरामजी के गुप्ताङ्गो का भी उल्लेख किया है । इस पर यह शङ्का उठती है कि हनुमानजी ने क्या उनके गुप्ताङ्ग देखे थे ? नहीं—जब गुप्ताङ्गो के साथ के अन्य अङ्ग मोटे या पतले देखें, तब गुप्ताङ्गों के सम्बन्ध में भी उनका अनुमान करना उचित ही था । फिर हनुमानजी ने मूल में अङ्ग-प्रत्यङ्गों के नाम नहीं लिए, सङ्केत से यह गुप्त विषय कहा है ।]

सत्यधर्मपरः श्रीमान्संग्रहानुग्रहे रतः ।

देशकालविभागज्ञः सर्वलोकप्रियंवदः ॥२१॥

श्रीरामचन्द्रजी सत्यधर्मपरायण, कान्तिमान्, द्रव्य के उपार्जन करने और दान करने में सदा तत्पर, समय का यथोचित विभाग जानने वाले और सब से प्रिय बोलने वाले हैं ॥२१॥

‘भ्राता चास्य च द्वैमात्रः सौमित्रिरपराजितः ।

अनुरागेण रूपेण गुणैश्चैव तथाविधः ॥२२॥

इनके भाई जो सौतेली माता सुमित्रा से उत्पन्न हुए हैं अनुराग, रूप और गुणों में अपने भाई ही के समान हैं ॥२२॥

तावुभौ नरशार्दूलौ त्वद्दर्शनसमुत्सुकी ।

विचिन्वन्तौ महीं कृत्स्नामस्माभिरभिसङ्गती ॥२३॥

१ पाठान्तरे—भ्रातापि तस्य; भ्राता च तस्य ।

वे दोनों नरसिंह, तुम्हारे देखने की लालसा से तुम्हें सारी पृथ्वी पर खोजते हुए हमसे भा मिले हैं ॥२३॥

त्वामेव मार्गमाणी तौ विचरन्तौ वसुन्धराम् ।

ददर्शतुर्मृगपतिं पूर्वजेनावरोपितम्^१ ॥२४॥

ऋष्यमूकस्य पृष्ठे तु बहुपादपसङ्गले ।

भ्रातुर्भयातमासीनं सुग्रीवं प्रियदर्शनम् ॥२५॥

वे दोनों तुमको ढूँढ़ते हुए, पृथ्वी पर घूमते हुए, अनेक वृक्षों से युक्त ऋष्यमूक पर्वत के समीप पहुँचे और अपने बड़े भाई वानरराज बालि द्वारा निर्वासित और भाई के डर से डरे हुए प्रियदर्शन सुग्रीव को उस पर्वत पर बैठा हुआ उन्होंने देखा ॥२४॥२५॥

वयं तु हरिराजं तं सुग्रीवं सत्यसङ्गरम् ।

परिचर्यास्महे राज्यात्पूर्वजेनावरोपितम् ॥२६॥

हम लोग वहाँ बालि द्वारा राज्य से निर्वासित, सत्यप्रतिज्ञ वानरराज सुग्रीव की सेवा शुश्रूषा करते थे ॥२६॥

ततस्तौ चीरवसनौ धनुःप्रवरपाणिनौ ।

ऋष्यमूकस्य शैलस्य रम्यं देशमुपागतौ ॥२७॥

चीर धारण किए और हाथों में उत्तम धनुष को लिए हुए वे दोनों ऋष्यमूक पर्वत की रमणीय तलहटी में पहुँचे ॥२७॥

स तौ दृष्ट्वा नरव्याघ्रौ धन्विनौ वानरर्षभः ।

श्रवण्णुतो गिरेस्तस्य शिखरं भयमोहितः ॥२८॥

कपिश्रेष्ठ सुग्रीव इन दोनों पुरुषसिंहों को हाथ में धनुष लिए ए भ्राते देख, भयभीत हो एक छलांग मार ऋष्यमूक पर्वत के शिखर पर चढ़ गए ॥२८॥

ततः स शिखरे तस्मिन्वानरेन्द्रो व्यवस्थितः ।

तयोः समीपं मामेव प्रेषयामास सत्वरम् ॥२६॥

सुग्रीव ने पर्वतशिखर पर पहुँच, उन दोनों के पास मुझको तुरन्त भेजा ॥२६॥

तावहं पुरुषव्याध्रौ सुग्रीववचनात्प्रभू ।

रूपलक्षणसम्पन्नौ कृताञ्जलिरुपस्थितः ॥३०॥

मैं उन दोनों रूपवान और शुभ लक्षणों से युक्त पुरुषसिंहों के पास अपने मालिक सुग्रीव के कहने से हाथ जोड़े जा उपस्थित हुआ ॥३०॥

तौ परिज्ञाततत्त्वार्थौ मया प्रीतिसमन्वितौ ।

पृष्ठमारोप्य तं देशं प्रापितौ पुरुषर्षभौ ॥३१॥

मैंने बार्तालाप कर उनके तात्पर्य को जान लिया और वे दोनों भी मेरा अभिप्राय जान बड़े प्रसन्न हुए । तदनन्तर मैं उन दोनों नरश्रेष्ठ को अपनी पीठ पर चढ़ा, ऋष्यमूक पर्वत के शिखर पर ले गया ॥३१॥

निवेदितौ च तत्त्वेन सुग्रीवाय महात्मने ।

तयोरन्योन्यसंलापाद् भृशं प्रीतिरजायत ॥३२॥

वहाँ जाकर मैंने महात्मा सुग्रीव से सब मयायं हाल कह दिया । तदनन्तर उन दोनों में आपस में बातचीत हुई और दोनों में अत्यन्त प्रीति भी हो गई ॥३२॥

'तत्र तौ कीर्तिसम्पन्नौ हरीश्वरनरेश्वरौ ।

परस्परकृताश्वासी कथया पूर्ववृत्तया ॥३३॥

वहाँ पर उन दोनों कीर्तिवान कपिराज और नरराज ने आपस में अपना-अपना पूर्व वृत्तान्त कह कर, एक दूसरे को धीरज बंधाया ॥३३॥

तं ततः सान्त्वयामास सुग्रीवं लक्ष्मणाग्रजः ।

स्त्रीहेतोर्वालिना भ्रात्रा निरस्तमुखतेजसा ॥३४॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्रजी ने सुग्रीव को, जो स्त्री के पीछे अपने तेजस्वी भाई वालि द्वारा राज्य से निकाल दिए गए थे, धीरज बंधाया ॥३४॥

ततस्त्वन्नाशजं शोकं रामस्याविलष्टकर्मणः ।

लक्ष्मणो वानरेन्द्राय सुग्रीवाय न्यवेदयत् ॥३५॥

तदनन्तर लक्ष्मणजी ने अश्लिष्टकर्मा श्रीरामचन्द्रजी को शोककथा, जिसमें तुम्हारे हरे जाने का वृत्तान्त था, वानरराज सुग्रीव को कह सुनाया ॥३५॥

स श्रुत्वा वानरेन्द्रस्तु लक्ष्मणेनेरितं वचः ।

तदासीन्निष्प्रभोज्यर्थं ग्रहग्रस्त इवांशुमान् ॥३६॥

वानरराज सुग्रीव, लक्ष्मणजी के मुख से सारा वृत्तान्त सुन, मारे शोक के ऐसे तेजहीन हो गए जैसे राहु से ग्रसे हुए सूर्य, तेजहीन हो जाते हैं ॥३६॥

ततस्त्वद्गात्रशोभीनि रक्षसा ह्लियमाणया ।

यान्याभरणजालानि पातितानि महीतले ॥३७॥

तब तुम्हारे शरीर को शोभित करने वाले उन सब गहनों को, जो तुमने राक्षस द्वारा हरे जाने के समय, ऊपर से भूमि पर फेंके थे ॥३७॥

तानि सर्वाणि ^१चादाय रामस्य हरियूथपाः ।

संहृष्टा दर्शयामासुर्गतिं तु न विदुस्तव ॥३८॥

ताकर श्रीर हर्षित होकर सुग्रीव ने श्रीरामचन्द्रजी को दिखलाए । पर राक्षस तुम्हें कहीं ले गया, यह बात उनको मालूम न थी ॥३८॥

तानि रामाय दत्तानि मयंधोपहृतानि च ।

स्वनवन्त्यवकीर्णानि तस्मिन् विगतचेतसि ॥३९॥

मैंने ही उन बजने वाले गहनो को, जो सुग्रीव द्वारा पीछे से श्रीरामचन्द्रजी के सामने रखे गए थे, भूमि पर से उठाया था । श्रीरामचन्द्रजी उनकी देखते ही मूर्च्छित हो गए थे ॥३९॥

तान्यङ्के दर्शनीयानि कृत्वा बहुविधं तव ।

तेन देवप्रकाशेन देवेन परिदेवितम् ॥४०॥

तदनन्तर देवताओं की तरह तेजस्वी श्रीरामचंद्रजी ने उन देखने योग्य भामूपणों को अपनी गोद में रख, बहुत विलाप किया ॥४०॥

पश्यतस्तानि रुदतस्ताम्यतश्च पुनः पुनः ।

प्रदीपयन्दाशरथेस्तानि शोकहुताशनम् ॥४१॥

उन भामूपणों को देख कर वे बहुत रोए बल्कि उन भामूपणों के देखने से श्रीरामचंद्रजी का शोकान्नि अति प्रज्वलित हो उठा ॥४१॥

शयितंश्च चिरं तेन दुःखार्तेन महात्मना ।

मयाऽपि विविधैर्वाक्यैः कृच्छ्रादुत्थापितः पुनः ॥४२॥

वे मारे दुःख के बहुत देर तक भूमि पर अचेत पड़े रहे । फिर मैंने विविध प्रकार से समझा-बुझा कर, बड़ी कठिनाई से उनको उठाया ॥४२॥

तानि दृष्ट्वा महार्हाणि दर्शयित्वा मुहुर्मुहुः ।

राघवः सहस्रौमित्रिः सुग्रीवे न्यवेदयत् ॥४३॥

लक्ष्मण सहित श्रीरामचंद्रजी ने बार-बार उन मूल्यवान गहनो को देखा फिर देखकर उनको सुग्रीव की सौंप दिया ॥४३॥

स तवादर्शनादार्ये राघवः परितप्यते ।

महता ज्वलता नित्यमग्निनेवाग्निपर्वतः ॥४४॥

हे आर्ये ! श्रीरामचंद्रजी तुमको न देखने से बड़े दुखी हो रहे हैं । जैसे ज्वालामुखी पर्वत सदा दहकता रहता है, वैसे ही श्रीरामचंद्रजी भी तुम्हारे विदह में शोकान्नि से सदा दहका करते हैं ॥४४॥

त्वत्कृते तमनिद्रा च शोकश्चिन्ता च राघवम् ।

तापयन्ति महात्मानमग्न्यागारमिवाग्नयः ॥४५॥

१ शयित—सुखित । (गो०) २ पाठान्तरे—महाबाहु ।

हे देवी ! तुम्हारे विरह में श्रीरामचंद्रजी को नींद नहीं पड़ती और
 मारे शोक और चिन्ता के वे बैसे ही सतप्त रहते हैं, जैसे अग्नि द्वारा
 अग्निकुण्ड ॥४५॥

तवादर्शनशोकेन राघवः परिचाल्यते ।

महता भूमिकम्पेन महानिव शिलोच्चयः ॥४६॥

हे सीते ! तुम्हारे न देखने से वे मारे शोक के बैसे ही धरपराते रहते
 हैं, जैसे बड़े भारी भूकम्प के आने से पर्वत-शिखर धरपराने लगते हैं ॥४६॥

काननानि सुरम्याणि नदीः प्रस्रवणानि च ।

चरन्न रतिमाप्नोति त्वामपश्यन्नूपात्मजे ॥४७॥

हे राजपुत्री ! यद्यपि श्रीरामचंद्रजी अत्यन्त रमणीय बनों में, नदियों
 और झरनों के तटों पर विचरते हैं, तथापि तुम्हारे बिना वहाँ उन्हें आनन्द
 प्राप्त नहीं होता ॥४७॥

स त्वां मनुजशादूलः क्षिप्रं प्राप्स्यति राघवः ।

समिन्नवान्धवं हत्वा रावणं जनकात्मजे ॥४८॥

हे जनकनन्दिनी ! वे पुरुषसिंह श्रीरामचंद्रजी शीघ्र ही बन्धु-बाधकों
 सहित रावण को मार कर, तुम्हारा यहाँ से उद्धार करेंगे ॥४८॥

सहितौ राममुग्रीवावुभावकुरुतां तदा ।

समयं वालिनं हन्तुं तव चान्वेषणं तथा ॥४९॥

तदनन्तर मुग्रीव और श्रीरामचंद्रजी ने घास में प्रतिज्ञा की । श्रीराम-
 चंद्रजी ने वालि के मारने की और मुग्रीव ने तुम्हारा पता लगाने की ॥४९॥

ततस्ताभ्यां कुमाराम्यां वीराम्यां स हरीश्वरः ।

किष्किन्धां समुपागम्य वाली युधि निपातितः ॥५०॥

तदनन्तर मुग्रीव उन दोनों वीर राजकुमारों को घास में, किष्किन्धा
 में गये और श्रीरामचंद्रजी ने वालि को मार गिराया ॥५०॥

ततो निहत्य तरसा रामो वालिनमाहवे ।

सर्वक्षंहरिसंधानां सुग्रीवमकरोत्पतिम् ॥५१॥

बलवान श्रीरामचन्द्रजी ने जब युद्ध में बालि को मार डाला, तब सुग्रीव को समस्त रीछों और बानरों का राजा बनाया ॥५१॥

रामसुग्रीवयोरैवयं देव्येवं समजायत ।

हनूमन्तं च मां विद्धि तयोर्द्वैतमिहागतम् ॥५२॥

हे देवी ! इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी और सुग्रीव का (मनुष्य और बानरों का) मेल हुआ । मुझे हनुमान नामक बानर तथा उन दोनों का भेजा हुआ दूत समझो । मैं तुम्हारे पास आया हूँ ॥५२॥

स्वराज्यं प्राप्य सुग्रीवः समानीय महाकपीन् ।

त्वदर्थं प्रेषयामास दिशो दश महाबलान् ॥५३॥

जब सुग्रीव को उनका राज्य मिल गया; तब उन्होंने अपने महावीर बानरों को बुला कर, उनको तुम्हारी ओर में दसों दिशाओं में भेजा है ॥ ५३ ॥

आदिष्टा वानरेन्द्रेण सुग्रीवेण वनौकसः ।

अद्रिराजप्रतीकाशाः सर्वतः प्रस्थिता महीम् ॥५४॥

हे देवी ! वे सब पर्वताकार बानर सुग्रीव की आज्ञा पाकर पृथ्वी पर चारों ओर खाना हुए ॥५४॥

१ततस्तु भार्गमाणास्ते २सुग्रीववचनानुराः ।

चरन्ति वसुधां कृत्स्नां वयमन्ये च वानराः ॥५५॥

हम तथा अन्य सब बानर, सुग्रीव की आज्ञा से भयभीत हो, तुमको ढूँढने हुए समस्त पृथ्वी पर घूम रहे हैं ॥५५॥

१ पाठान्तरे—ततस्ते । २ पाठान्तरे—वै । ३ सुग्रीववचनानुराः—सुग्रीवजानीना । (गो०)

अङ्गदो नाम लक्ष्मीवान्वालिस्नुमुमहाबल ।

प्रस्थित कपिशार्दूलस्त्रिभागबलसवृत ॥५६॥

वालि के पुत्र शोभायमान महाबली एव कपिश्रेष्ठ अङ्गद एक तिहाई सेना साथ लेकर रवाना हुए ॥५६॥

तेषां नो विप्रणष्टानां विन्ध्ये पर्वतसत्तमे ।

भृश शोकपरीतानामहोरात्रगणा गता ॥५७॥

हम लोग तुमको खोजते खोजते अथवा शोकाकुल हो रहे थे पर्वतसत्तम विन्ध्यगिरि की एक गुफा में जा फँसे और वहाँ हमारे बहुत से रात दिन बीत गये ॥५७॥

ते वयं कार्यनैराश्यात्कालस्यातिक्रमेण च ।

भयान्च कपिराजस्य प्राणास्त्यक्तुं व्यवस्थिता ॥५८॥

तब हम तुमको पान से निराश हो और अवधि बीत जान से सुप्रोब के डर के मारे मरने के लिए तयार हुए ॥५८॥

विचित्य वनदुर्गाणि गिरिप्रस्रवणानि च ।

अनासाद्य पदं देव्या प्राणास्त्यक्तुं समुद्यता ॥५९॥

क्याकि जब हमने पर्वत, दुर्ग पहाड़, क्षरत आदि समस्त स्थान देख डाले और तब भी तुम्हारा हमें कहीं भी पता न चला तब हम लोगों को सिवाय अपने प्राण दे देन के और कुछ न सूझा ॥५९॥

दृष्ट्वा प्रायोपविष्टाश्च सर्वान्वानरपुङ्गवान् ।

भृश शोकार्णवे मरुत पर्यदेवयदङ्गव ॥६०॥

सब कपिश्रेष्ठों को प्रायोपवेशन किए हुए देख अङ्गद शोक सागर में निमग्न हो विलाप करने लग ॥६०॥

तव नाशं च वैदेहि वात्सिनश्च तथा वधम् ।

प्रायोपवेशमस्माकं मरणं च जटायुष ॥६१॥

वे बोले—सीता हरण, वान्नि का वध, हमारा प्रायोपवेशन और जटायु का मरण—ये कैसी-कैसी विपत्तियाँ हम लोगों पर आ पड़ी हैं ॥६१॥

तेषां नः स्वामिसदेशान्निराशानां मुमूर्षताम् ।

कार्यहेतोरिवायातः शकुनिर्वीर्यवान्महान् ॥६२॥

सुश्रीव की कठोर आज्ञा स्मरण कर, हम लोग म्रमरने से हो रहे थे कि इतने में मानो हम लोगों का काम बनाने के लिये महा वीर्यवान पक्षी ॥६२॥

गृध्रराजस्य सोदर्यः सम्पातिर्नाम गृध्रराट् ।

श्रुत्वा भ्रातृवध कोपादिद वचनमब्रवीत् ॥६३॥

जो गृध्रराज जटायु का भाई था और जिसका नाम संपाति था और जो स्वयं भी गृध्रराज था, अपने भाई जटायु का मरण सुन और क्रुद्ध हो बोला ॥६३॥

यवीयान्केन मे भ्राता हतः क्व च विनाशितः ।

एतदाख्यातमिच्छामि भवद्भिर्वानरोत्तमाः ॥६४॥

मेरा छोटा भाई किस के हाथ से वहाँ मारा गया ? सो हे वानरोत्तमो ! यह हाल मैं आप लोगों से सुनना चाहता हूँ ॥६४॥

श्रद्धदोऽकथयत्तस्य जनस्थाने महद्वधम् ।

रक्षसा भीमरूपेण त्वामुद्दिश्य यथातथम् ॥६५॥

जनस्थान में तुम्हारे लिए भयङ्कर रूपधारी रावण ने, जटायु को जैसे मारा था, सो सब हाल ज्यों का त्यों ब्रह्मद ने कहा ॥६५॥

जटायुपो वध श्रुत्वा दुःखितः सोरुणात्मजः ।

त्वामाह स वरारोहे वसन्तीं रावणालये ॥६६॥

मरुणपुत्र संपाति, जटायु के मारे जाने का वृत्तान्त सुन, दुःखी हुआ और उसने बतनाया कि तुम यहाँ रावण के घर हो ॥६६॥

१ प्राद्वान्तरे—निप्रातिः । २ पाठान्तरे—त्वा श्रद्धद ।

तस्य तद्वचन श्रुत्वा सम्पातेः प्रीतिवर्धनम् ।

अद्भुदप्रमुखाः सर्वे ततः सप्रस्थिता वयम् ॥६७॥

विन्ध्यादुत्थाय सम्प्राप्ताः सागरस्यान्तमुत्तरम् ।

त्वद्दर्शनकृतोत्साहा हृष्टास्तुष्टाः प्लवगमाः ॥६८॥

सपाति के आनन्द बढाने वाल वचन सुन, भगद प्रमुख हम सब वानर, विन्ध्यपर्वत से उठे और तुम्हें देखने के लिए उत्साहित हो प्रस्थानित हुए और अत्यन्त प्रसन्न होते हुए समुद्र के उत्तरतट पर पहुँचे ॥६७॥६८॥

अद्भुदप्रमुखाः सर्वे वेलोपान्तमुपागताः ।

चिन्तां जग्मुः पुनर्भीतास्त्वद्दर्शनसमुत्सुकाः ॥६९॥

भगवादि समस्त वानर, समुद्रतट पर पहुँच कर, समुद्र को देख डरे और तुम्हें देखने के लिए उत्सुक हो, समुद्र को पार करने के लिए चिन्तित हुए ॥६९॥

अथाह हरिसैन्यस्य सागरं प्रेक्ष्य सीदतः ।

व्यवधूय भयं तीव्रं योजनानां शतं प्लुतः ॥७०॥

जब मैंने देखा कि वानरो सेना अपने सामने समुद्र को देख डुखी हो रही है, तब मैं निभंभ हो, सौ योजन समुद्र को लाँघ, इस पार प्राया ॥७०॥

लङ्का चापि मया रात्रौ प्रविष्टा राक्षसाकुला ।

रावणश्च मया दृष्टस्त्वं च शोकपरिप्लुता ॥७१॥

राक्षसों से पूर्ण लङ्का में रात के समय में घुसा और यहाँ रावण को और शोकपीड़ित तुमको देखा ॥७१॥

एतत्ते सर्वमाख्यातं यथावृत्तमनिन्दिते ।

अभिभाषस्व मां देवि दूतो दाशरथेरहम् ॥७२॥

हे सुन्दरी ! जो कुछ हाल था सो सब मैंने ज्यों था त्यों तुमसे कह सुनाया । अब तुम नि शङ्क हो, मुझसे बातचीत करो । हे देवी ! मैं दाशरथि श्रीरामचन्द्रजी का दूत हूँ ॥७२॥

तं मां रामकृतोद्योगं त्वन्निमित्तमिहागतम् ।

सुग्रीवसचिवं देवि बुध्यस्व पवनात्मजम् ॥७३॥

मैं तुम्हें देखने के लिए ही श्रीरामचन्द्रजी का भेजा यहाँ आया हूँ । हे देवी ! तुम मुझे सुग्रीव का मन्त्री और पवन का पुत्र जानो ॥७३॥

कुशली तत्र काकुत्स्थः सर्वशस्त्रभृता वरः ।

गुरोराराधने युक्तो लक्ष्मणश्च सुलक्षणः ॥७४॥

समस्त शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ तुम्हारे श्रीरामचन्द्रजी प्रसन्न हैं और बड़े भाई की सेवा में तत्पर एव सुलक्षणों से युक्त लक्ष्मण भी कुशलपूर्वक हैं ॥७४॥

तस्य वीर्यवतो देवि भर्तुस्तव हिते रतः ।

अहमेकस्तु सम्प्राप्तः सुग्रीववचनादिह ॥७५॥

और हे देवी ! तुम्हारे बलवान् पति श्रीरामचन्द्रजी के हित साधन में वे सदा तत्पर रहते हैं । सुग्रीव के कहने से मैं अकेला यहाँ आया हूँ ॥७५॥

मयेयमसहायेन चरता कामरूपिणा ।

दक्षिणा दिगनुक्रान्ता त्वन्मार्गविचर्यपिणा ॥७६॥

इन्द्रारूपधारी मैंने, बिना किसी की मदद के तुम्हें खोजने के लिए, धूम फिर कर सारी दक्षिण दिशा छान डाली ॥७६॥

दिष्ट्याऽहं हरिसैन्यानां त्वन्नाशमनुशोचताम् ।

अपनेष्यामि सन्तापं तवाभिगमशंसनात् ॥७७॥

हे देवी ! दैवतयोग ही से अब मैं उस वानरी सेना को, जो तुम्हारा पता न लगने से शोकग्रस्त हो रही है तुम्हारे मिल जाने का सवाद सुनाकर, सन्ताप से छुड़ाऊँगा ॥७७॥

दिष्ट्या हि मम न व्यर्थं देवि सागरलङ्घनम् ।

प्राप्स्याम्यहमिदं दिष्ट्या त्वद्दर्शनकृते यशः ॥७८॥

हे देवी ! दैवसयोग ही से मेरा समुद्र का लाघना व्यर्थ नहीं हुआ है और तुम्हारा पता लगाने का यह यश भी मुझे दैवयोग ही से प्राप्त हुआ है ॥७५॥

राघवश्च महावीर्यः क्षिप्रं त्वामभिपत्स्यते ।

समित्रवान्धवं हत्वा रावणं राक्षसाधिपम् ॥७६॥

महाबलवान श्रीरामचन्द्रजी, इस राक्षसराज को मित्रों (सहायको) और बान्धवों सहित मार कर शीघ्र ही तुम्हें पावेंगे ॥७६॥

माल्यवान्नाम वैदेहि गिरीणामुत्तमो गिरिः ।

ततो गच्छति गोकर्णं पर्वतं केसरी हरिः ॥७७॥

हे वैदेही ! माल्यवान नामक एक उत्तम पर्वत है । वहाँ से मेरे पिता केसरी गोकर्ण नामक पर्वत पर जाया करते थे ॥७७॥

स च देवर्षिभिर्दिष्टः पिता मम महाकपिः ।

तीर्थे नदीपतेः पुण्ये शम्भसादनमुद्धरत् ॥७८॥

देवर्षियों की आज्ञा से मेरे पिता ने समुद्र के किन्ना पुण्यतीर्थ में जा, शबर नामक असुर को मार डाला था ॥७८॥

तस्याहं हरिणः क्षेत्रे जातो वातेन मैथिलि ।

हनुमानिति विख्यातो लोके स्वेनैव कर्मणा ॥७९॥

हे मैथिली ! उमी केसरी नामक वानर की अजना नामक स्त्री के गर्भ से, पवन द्वारा मेरी उत्पत्ति हुई है और मैं अपने कर्म द्वारा ही हनुमान के नाम से ससार में प्रसिद्ध हूँ ॥७९॥

विश्वासाथं तु वैदेहि भर्तुं शक्ता मया गुणाः ।

अचिराद्वाघवो देवि त्वामितो नयितानघे ॥८०॥

हे वैदेहि ! अपने विषय में तूमको विश्वास दिलाने को मैंने तुम्हारे पति के गुणों का वर्णन किया है । हे अनाथे ! हे देवी ! श्रीरामचन्द्रजी अति शीघ्र तुमको यहाँ ले जावेंगे ॥८०॥

एवं विश्वासिता सीता हेतुभिः शोककशिता ।

उपपन्नैरभिज्ञानंदूतं तमवगच्छति ॥८४॥

शोकसतप्ता सीता ने अनेक कारण और श्रीरामचन्द्रजी तथा लक्ष्मणजी के शारीरिक बिल्लो का यथायं पना पा कर, हनुमानजी की बानी पर विश्वास किया और उनको श्रीरामचन्द्रजी का दूत समझा ॥८४॥

अतुलं च गता हर्षं प्रहर्षणं च जानकी ।

नेत्राभ्यां वक्रपक्ष्मभ्यां ममोचानन्दजं जलम् ॥८५॥

उस समय सीता बहुत हर्षित हुई और मारे आनन्द के टेढ़े पलकी वाले दोनो नेत्रों में वह आनन्दाश्रु बहाने लगी ॥८५॥

चारु तद्वदनं तस्यास्ताम्रशुक्लायतेक्षणम् ।

अशोभत विशालाक्ष्या राहुमुवत इवोडुराद् ॥८६॥

उस समय सीता के लाल और सफेद विशाल नेत्रों में युक्त मुख, ऐसी शोभा को प्राप्त हुआ, जैसे राहु में मुक्त चन्द्रमा शोभित होता है ॥८६॥

हनुमन्तं कर्पि व्यवतं मन्यते नान्यथेति सा ।

अथोवाच हनूमांस्तमुत्तरं प्रियदर्शनाम् ॥८७॥

सीताजी को अब विश्वास हो गया कि, यह हनुमान नामक वानर ही है, अन्य कोई नहीं है । तदनन्तर हनुमानजी ने सीता से फिर कहा ॥८७॥

एतत्ते सर्वमाख्यातं समाश्वसिहि मैथिलि ।

किं करोमि कथं वा ते रोचते प्रतियाम्यहम् ॥८८॥

हे मैथिली ! यह सब मैंने तुम्हें कह सुनाया । अब तुम धीरज धारण कर, मुझे बतलाओ कि, मैं अब क्या कहूँ ? तुम्हारी क्या इच्छा है सी बतलाओ । क्योंकि मैं अब लोटना चाहता हूँ ॥८८॥

हतेऽसुरे सयति शम्बसादने

कपिप्रवीरेण महर्षिचोदनात् ।

ततोऽस्मि वायुप्रभवो हि मैथिलि

प्रभावतस्तत्प्रतिमश्च वानरः ॥८९॥

इति पञ्चत्रिंशः सर्गः ॥

हे विदेहकुमारी ! महर्षियों की आज्ञा से वानरोत्तम केशरी ने जब शम्भुसादन को मारा, तब मैं पवनदेव के प्रताप से अपनी माता के गर्भ से उत्पन्न हुआ । अतः मेरा प्रभाव अर्थात् गति और पराक्रम पवनदेव ही के समान है ॥८६॥

सुन्दरकाण्ड का पैंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

— * —

पटत्रिंशः सर्गः

भूय एव महातेजा हनुमान्माहतात्मजः ।

अन्नवीत्प्रश्रितं वाक्यं सीताप्रत्ययकारणात् ॥१॥

सीता को विश्वास कराने के लिए महातेजस्वी पवननन्दन नन्न हो सीताजी से फिर बोले ॥१॥

वानरोऽहं महाभागे दूतो रामस्य धीमतः ।

रामनामाद्धितं चेदं पश्य देव्यङ्गुलीयकम् ॥२॥

हे महाभागे ! मैं वानर हूँ और बुद्धिमान श्रीरामचन्द्रजी का दूत हूँ । हे देवी ! देखो, श्रीरामनामाद्धित यह भँगूठी है ॥२॥

प्रत्ययार्थं तवानीतं तेन दत्तं महात्मना ।

समाश्वसिहि भद्र ते क्षीणदुःखफला ह्यसि ॥३॥

तुम्हें विश्वास दिलाने के लिए श्रीरामचन्द्रजी ने यह मुझे दी रखी । गो मैं लाया हूँ, अब तुम अपने चित्त को सावधान करो और समझ लो कि, तुम्हारे सब दुःख दूर हो गए ॥३॥

गृहीत्वा प्रेक्षमाणा सा भर्तुः करविभूषणम् ।

भर्तारमिव सम्प्राप्ता जानकी मुदिताऽभवत् ॥४॥

अपने पति के हाथ की शोभा बढाने वाली, उस भँगूठी को अपने हाथ में ले और उसे देख, जानकीजी को जान पडा, मानो श्रीरामचन्द्रजी ही उनसे आ मिले हैं । इससे सीताजी बहुत प्रसन्न हुई ॥४॥

चारु तद्वदनं तस्यास्ताम्रशुवलायतेक्षणम् ।

अशोभत विशालाक्ष्या राहुमुवत इवोदुराट् ॥५॥

सीताजी का लाल, सफेद और विशाल नेत्रों से युक्त सुन्दर मुखमण्डल वैसे ही शोभायमान हुआ, जैसे राहु के आस से धूटा हुआ चन्द्रमा शोभायमान होता है ॥५॥

ततः सा ह्यीमती बाला भर्तृसन्देशहर्षिता ।

परितुष्टा प्रियं कृत्वा प्रशशंस महाकपिम् ॥६॥

तदनन्तर लज्जालु सीता, पति के सवाद को पाकर हर्षित और सन्तुष्ट हुई और बड़े प्यार से हनुमानजी की प्रशंसा करने लगी ॥६॥

विक्रान्तस्त्वं समर्थस्त्वं प्राज्ञस्त्व वानरोत्तम ।

येनेदं राक्षसपदं त्वयैकेन प्रर्घपितम् ॥७॥

सीताजी कहने लगी—हे कपिश्रेष्ठ ! तुमने अकेले ही रावण की राजधानी को सर कर लिया—इससे जान पड़ता है कि, तुम कोरे पराक्रमी और शरीर-बल सम्पन्न ही नहीं हो, बल्कि बुद्धिमान् भी हो ॥७॥

शतयोजनविस्तीर्णः सागरो मकरालयः ।

विक्रमश्लाघनीयेन क्रमता गोष्पदीकृतः ॥८॥

फिर तुमने इस सौ योजन विस्तार वाले एव मगर आदि भयानक जनजन्तुघ्नी के आवासस्थान समुद्र को लाँच कर, गोपद की तरह समझा, मनएव तुम्हारा विक्रम सराहने योग्य है ॥८॥

न हि त्वां प्राकृतं मन्ये वानरं वानरर्यभ ।

यस्य ते नास्ति संत्रासो रावणान्नापि सम्भ्रमः ॥९॥

हे वानरोत्तम ! जब तुम रावण से जरा भी न डरे और न घबड़ाए, तब मैं तुम्हें साधारण वानर नहीं मान सकती ॥९॥

अहंसे च कपिश्रेष्ठ मया समभिभाषितुम् ।

यद्यसि प्रेषितस्तेन रामेण विदितात्मना ॥१०॥

उन परम प्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी ने जब तुमको मेरे पास भेजा है, तब तुम मुझसे धब बेशकटके वार्तालाप कर सकते हो ॥१०॥

प्रेषयिष्यति दुर्घर्षो रामो न ह्यपरोक्षितम् ।

परारुममविज्ञाय मत्सकाशं विशेषतः ॥११॥

यह तो जानो-बूझो बात है कि, दुर्घर्ष श्रीरामचन्द्रजी, चलपराक्रम बिना जाने और परीक्षा लिए किसी को अपना दूत बना कर नहीं भेजेंगे—तो भी यहाँ और मेरे पास ॥११॥

दिष्टया स कुशली रामो धर्मात्मा सत्यसङ्गः ।

लक्ष्मणश्च महातेजा सुमित्रानन्दवर्धनः ॥१२॥

इसे मैं अपने लिए सौभाग्य ही की बात समझतो हूँ कि वे धर्मात्मा और सत्यप्रतिज्ञ श्रीरामचन्द्रजी, सुमित्रा के भानन्द को बढाने वाले और महानेजरवी लक्ष्मणजी सहित कुशलपूर्वक हैं ॥१२॥

कुशली यदि काकुत्स्थः किं नु सागरमेखलाम् ।

'महीं दहति कोपेन युगान्ताग्निरिवोत्थितः ॥१३॥

किन्तु जब श्रीरामचन्द्रजी कुशलपूर्वक हैं, तब सागर से घिरी हुई लकापुरी को कुपित हो, प्रलयकालीन अग्नि की तरह, क्यों मरम नहीं कर डालते ॥१३॥

अथवा शक्तिमन्तौ तौ सुराणामपि निग्रहे ।

ममैव तु न दुःखानामस्ति मन्ये विपर्ययः ॥१४॥

अथवा देवताओं तक को दण्ड देने की शक्ति रखने पर भी जब वे मेरे लिए कुछ नहीं करते, तब जान पड़ता है, अभी मेरे दुःखों का अन्त नहीं आया ॥१४॥

कच्चिन्न व्यथितो रामः कच्चिन्न परितप्यते ।

उत्तराणि च कार्याणि कुरुते पुरुषोत्तमः ॥१५॥

१ महीं—नकामूमिम् । (घि०)

(मञ्जु भव यह तो बड़ताम्रो कि,) वे नरथेष्ठ श्रीरामचन्द्रजी दुःख तो नहीं पाते, उनका मेरे पीछे सन्मान तो नहीं होता ? वे मेरे उद्धार के लिए यत्न तो कर रहे हैं ? ॥१५॥

कच्चिन्न दीनः सम्भ्रान्तः कार्येषु च न मुह्यति ।

कच्चित्पुरुषकार्याणि कुरुते नृपतेः सुतः ॥१६॥

वे दीन तो नहीं रहते ? वे घबड़ाने तो नहीं ? काम करने में वे मूलेते ता नहीं । वे राजकुमार बनने पुष्टपाप का निर्वाह तो मंत्री नाति किए जाते हैं ? ॥१६॥

द्विविध त्रिविधोपायमुपायमपि सेवते ।

विजिगीषुः सुहृत्कच्चिन्मित्रेषु च परन्तपः ॥१७॥

शत्रुओं को तनाने वाले श्रीरामचन्द्रजी, विजय की ममिताया कर, मित्रों के प्रति साम, दान और शत्रु के प्रति दान, भेद और दण्ड नीति का बर्ताव तो करते हैं ॥१७॥

कच्चिन्मित्राणि लभते मित्रंश्चाप्यभिगम्यते ।

कच्चित्कल्याणमित्रश्च मित्रंश्चापि पुरस्कृतः ॥१८॥

श्रीरामचन्द्रजी शत्रुओं के साथ मंत्री तो करते हैं ? अन्य लोग भी उनके साथ मंत्री करते हैं ? मित्र लोग उनका और वे मित्रों का आदर-मान करते हैं ? ॥१८॥

कच्चिदाशास्ति' देवानां प्रसादं पार्थिवात्मजः ।

कच्चित्पुरुषकारं च दैवं च प्रतिपद्यते ॥१९॥

वे नृपनन्दन । देवताओं के अनुग्रह के लिए आशावान् तो रहते हैं ? व बनने बल और भाग्य दोनों पर निर्भर तो हैं ? ॥१९॥

कच्चिन्न विगतस्नेहः विवासान्मयि राघवः ।

कच्चिन्मां व्यसनादस्मान्मोक्षयिष्यति वानर ॥२०॥

मेरे अन्यत्र रहने से श्रीरामचन्द्रजी मुझसे लूठ तो नहीं गए ? हे हनुमान् !
इस विपद से वे मेरा उद्धार तो करेंगे ? ॥२०॥

सुखानामुचितो नित्यमसुखानामनूचितः ।

दुःखमुत्तरमासाद्य कच्चिद्रामो न सीदति ॥२१॥

सुख से रहने योग्य और दुःख भोगने के अयोग्य श्रीरामचन्द्रजी, इस भारी
विपद में फँस, कहीं घबडा तो नहीं गए ? ॥२१॥

कौसल्यायास्तथा कच्चित्सुमित्रायास्तथैव च ।

अभीक्षणं श्रूयते कच्चित्कुशलं भरतस्य च ॥२२॥

मला कौसल्या, सुमित्रा और भरतजी का कुशलसंवाद तो जब कभी उनको
मिलता रहता है न ? ॥२२॥

मन्तिमित्तेन मानार्हः कच्चिच्छोकेन राघवः ।

कच्चिन्नान्यमना रामः कच्चिन्मां तारयिष्यति ॥२३॥

सदा सम्मान पाने योग्य श्रीरामचन्द्रजी मेरे विरह जन्य शोक से सन्तुष्ट
हो, चञ्चलमना तो नहीं हो जाते ? वे इस सकट से मुझे उदारेंगे तो ॥२३॥

कच्चिदक्षीहिणीं भीमां भरतो भ्रातृवत्सल ।

ध्वजिनीं मन्त्रिभिर्गुप्तां प्रेययिष्यति मत्कृते ॥२४॥

क्या तू बनला सकता है कि, भ्रान्तवत्सल भरत मेरे लिए मंत्रियों से
रक्षित या परिचालित अपनी अक्षीहिणी मेना को भेजेंगे ? ॥२४॥

वानराधिपतिः श्रीमान्सुग्रीवः कच्चिदेप्यति ।

मत्कृते हरिभिर्वीरैर्वृतो दन्तनखायुधैः ॥२५॥

क्या वानरराज श्रीमान् सुग्रीव दाँत और नखों से लड़ने वाली वानरी सेना
सहित मेरे उद्धार के लिए यहाँ आवेंगे ॥२५॥

कच्चिच्च लक्ष्मणः शूरः सुमित्रानन्दवर्धनः ।

अस्त्रविच्छुरज्जलेन राक्षसान्विधमिष्यति ॥२६॥

क्या माता सुमित्रा - आनन्द को बढ़ाने वाले वीर लक्ष्मण अस्त्रों और
तीरों से राक्षसों का वध करेंगे ? ॥२६॥

रौद्रेण कच्चिदस्त्रेण ज्वलता निहतं रणे ।

द्रक्ष्याम्यल्पेन कालेन रावणं ससुहृज्जनम् ॥२७॥

क्या थोड़े ही दिनों बाद रण में भयकर और चमचमाते अस्त्र द्वारा अपने सहायको सहित मारे गए रावण को मैं देखूंगी ? ॥२७॥

कच्चिन्न तद्धेमसमानवर्णं

तस्याननं पद्मसमानगन्धि ।

मया विना शृण्यति शोकदीनं

जलक्षये पद्ममिवातपेन ॥२८॥

कही जलहीन तडाग वाले कमल की तरह, मरे वियोग में श्रीरामचन्द्रजी का कमल के फूल के समान सुगन्धियुक्त, सुवर्ण की तरह आभा वाला मुख-मण्डल शोक से मलिन हो, वहीं मुर्झा तो नहीं गया ? ॥२८॥

धर्मापदेशात्त्यजतश्च राज्यं

मां चाप्यरण्यं नयतः पदातिम् ।

नासीद्व्यथा यस्य न भोर्न शोकः

'कच्चित्स धैर्यं हृदये करोति ॥२९॥

धर्म के लिए राज्य त्याग कर और मुझको साथ ले पैदल ही बन में घाने पर भी जिनका मन पीड़ित, भयभीत अथवा शोकान्वित नहीं हुआ, वे श्रीरामचन्द्र इस समय अपने हृदय में धैर्य रखते हैं ? ॥२९॥

न चास्य माता न पिता च नान्यः

स्नेहाद्विशिष्टोऽस्ति मया समो वा ।

तावत्त्वहं - दूत जिजीविषेयं

यावत्प्रवृत्तिं शृणुयां प्रियस्य ॥३०॥

हे दूत ! क्या माता ! क्या पिता ! क्या कोई अन्यपुरुष—कोई भी क्यों न हो, मुझसे अधिक या बराबर उनका अनुराग किसी में नहीं है । सो जब

१ पाठान्तरे—“कच्चिच्च ।”

तक मैं परमप्रिय श्रीरामचन्द्रजी का वृत्तांत सुनती हूँ तभी तक मैं जीवित भी हूँ ॥३०॥

इतीव देवी वचनं महार्थं

तं वानरेन्द्रं मधुरार्थमुक्त्वा ।

श्रोतुं पुनस्तस्य वचोऽभिरामं

रामार्थयुक्तं विरराम रामा ॥३१॥

मनोरमा सीताजी वानरखेष्ट हनुमानजी से इस प्रकार के युक्तियुक्त एवं मधुर वचन कह प्रौर हनुमानजी के मुख से श्रीरामचन्द्रजी का वृत्तांत पुन पुनने की अभिलाषा से, चुप हा रही ॥३१॥

सीताया वचनं श्रुत्वा मारुतिर्भौमविक्रमः ।

शिरस्यञ्जलिमाधाय वाक्यमुत्तरमब्रवीत् ॥३२॥

भीम पराक्रमी हनुमानजी सीता के वचन सुन प्रौर हाय जोड़ कर, उत्तर देते हुए बोल ॥३२॥

न त्वामिहस्थ्यां जानीते रामः कमललोचने ।

तेन त्वां नानयत्याशु शचीमिव पुरन्दरः ॥३३॥

हे कमललोचने ! श्रीरामचन्द्रजी को यह नहीं मालूम कि, तुम यहीं पर इस दशा में हो । इसीसे तुम्हें शीघ्र यहाँ से धे वैसे ही नहीं ले गए, जैसे इन्द्र अपनी स्त्री शची को अनुहाद दैत्य के यहाँ से ले आए थे ॥३३॥

श्रुत्वाैव तु वचो मह्यं क्षिप्रमेष्यति राघवः ।

चमूं प्रकर्षन्महतीं हर्यक्षगणसङ्कुलाम् ॥३४॥

किन्तु जब मैं जाकर उनसे तुम्हारा वृत्तान्त कहूँगा, तब श्रीरामचन्द्रजी बड़ी मारी रोषों प्रौर वानरों की सेना अपने साथ ले यहाँ प्रावेंगे ॥३४॥

विष्टम्भधित्वा वाणौघैरक्षोभ्यं बहणालयम् ।

करिष्यति पुरीं लङ्कां काकुत्स्थः शान्तराक्षसाम् ॥३५॥

भीर अपने बाणों से इस भक्षोम्य समुद्र को पाट कर, इस लकापुरी के राक्षसों को शान्त (नष्ट) कर देंगे ॥३५॥

तत्र यद्यन्तरा मृत्युर्यदि देवाः सहासुराः ।

स्थास्यन्ति पथि रामस्य स तानपि वधिष्यति ॥३६॥

लका के ऊपर चढ़ाई करने पर, यदि साक्षात् यम (मृत्यु) या अन्य देवता, दैत्यों सहित घाटे आवेंगे अर्थात् विघ्न डालेंगे, तो श्रीरामचन्द्रजी उनको भी मार डालेंगे ॥३६॥

तवादर्शनजेनायं शोकेन स परिप्लुतः ।

न शर्म लभते रामः सिंहादित इव द्विपः ॥३७॥

हे सुन्दरी ! तुम्हारे न देखने के कारण उत्पन्न हुए शोक से, श्रीरामचन्द्रजी सिंह द्वारा पीड़ित हाथी की तरह, जरा भी सुखी नहीं हैं ॥३७॥

मलयेन च विन्ध्येन मेरुणा मन्दरेण च ।

ददुरेण च ते देवि शपे मूलफलेन च ॥३८॥

हे देवी ! मैं मलयाचल, विन्ध्याचल, मेरु, मकराचल, ददुर तथा फलो, मूलों की शपथ जाकर कहता हूँ कि, ॥३८॥

यथा मुनयनं बल्गु विन्वोष्ठं चारुकुण्डलम् ।

मुखं द्रक्ष्यसि रामस्य पूर्णचन्द्रमिवोदितम् ॥३९॥

तुम मुनयन, सुन्दर कुँदरु फल की तरह ताल-ताल होंडों वाले, सुन्दर कुण्डलों से शोभित भीर चदम हुए पूर्णमासी के चन्द्रमा की तरह, श्रीरामचन्द्रजी के मुखमण्डल को देखोगी ॥३९॥

क्षिप्रं द्रक्ष्यसि वैदेहि रामं प्रलवणे गिरौ ।

शतश्रुमिवासीनं नाकपृष्ठस्य मूर्धनि ॥४०॥

हे वैदेही ! ऐरावत हाथी पर बँठे हुए इन्द्र की तरह, तुम शीघ्र ही श्रीरामचन्द्रजी को प्रलवण पर्वत पर बँधा हुआ देखोगी ॥४०॥

न मांसं राघवो भुङ्क्ते न चापि मधु सेवते ।

वन्यं 'सुविहितं नित्यं 'भक्तमश्नाति 'पञ्चमम् ॥४१॥

श्रीरामचन्द्रजी ने मांस खाना और मधुसेवन करना त्याग दिया है । वे नित्य वानप्रस्थोपयोगी और वन में उत्पन्न हुए फल मूल का आदर करते अर्थात् खाते हैं और पांचवें दिन शरीरधारणोपयुक्त अन्न खाया करते हैं ॥४१॥

नैव दशान्न मशकान्न कोटान्न सरोसृपान् ।

राघवोपनयेद्गात्रात्बद्गतेनान्तरात्मना ॥४२॥

श्रीरामचन्द्रजी का मन तो तुम में ऐसा लगा हुआ है कि, उनके शरीर पर भले ही डाँस, मच्छर, पतंगे अथवा सर्प ही क्यों न रेंगते रहें; किन्तु वे उन्हें नहीं हटाते ॥४२॥

नित्यं ध्यानपरो रामो नित्यं शोकपरायणः ।

नान्यच्चिन्तयते किञ्चित्स तु कामवशं गत ॥४३॥

श्रीरामचन्द्रजी सदा तुम्हारा ध्यान किया करते हैं और तुम्हारे लिए शोकाकुल रहते हैं । वह कामवशवर्ती हो, तुम्हें छोड़ और किसी की चिन्ता नहीं करते ॥४३॥

अनिद्रः सततं रामः सुप्तोऽपि च नरोत्तमः ।

सीतेति मधुरां वाणीं व्याहरन्प्रतिबुध्यते ॥४४॥

नरश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजी की वंसे तो नींद पठती ही नहीं और कदाचित् कमी आँख झपक ही गई तो जब जागते ह, तब "हे सीते" मधुर वाणी से कहते हुए ही जागते हैं ॥४४॥

दृष्ट्वा फलं वा पुष्पं वा यद्वाऽन्यत्सुमनोहरम् ।

बहुशो हा प्रियेत्येवं श्वसंस्त्वामभिभाषते ॥४५॥

१ सुविहित—वानप्रस्थयोग्यत्वेन विहित । (गो०) २ भक्त—अन्न (गो०) ३ पञ्चमम्—प्रातस्तापसायप्रातरिति, कालचतुष्टयम् त्यक्त्वा पञ्चमे प्रातः काल इत्यर्थ । दिनद्रव्यमतीत्यमुक्त इत्यर्थ । (तीर्था)

जब कभी वे किसी वनले सुन्दर फल, फूल या अन्न या किसी सुन्दर वस्तु को देखते हैं तब वे बहुधा हा प्यारी ! कह और उतास ले, तुमको पुकारते हैं ॥४५॥

स देवि नित्यं परितप्यमान-

स्त्वामेव सीतेत्यभिभाषमाणः ।

'धृतव्रतो राजसुतो महात्मा

तवैव लाभाय कृतप्रयत्नः ॥४६॥

हे देवि । विषय कहना व्यर्थ है, वे सदा तुम्हारे वियोग से सन्तप्त रहते हैं और सीते सीते कह कर सदा तुम्हें पुकारा करते हैं । धैर्यवान् महात्मा राजकुमार श्रीरामचन्द्रजी, तुम्हारा उद्धार करने को सदा यत्नवान् रहते हैं ॥४६॥

सा रामसङ्कीर्तनवीतशोका

रामस्य शोकेन समानशोका ।

शरन्मुखे साम्बुदशेषचन्द्रा

निशेव वैदेहसुता बभूव ॥४७॥

इति षट्त्रिंश सर्ग ॥

श्रीरामचन्द्रजी का सवाद पाने से सीताजी जिस प्रकार हतित हुई थीं, उसी प्रकार श्रीरामजी के अपने विरह में दुःखी होने का वृत्तान्त सुन, वे दुःखी भी हुईं । मानो शारदीय रात्रि में चन्द्रमा बादल से निकल, फिर मेघ से आच्छादित हो गया ॥४७॥

सुन्दरकाण्ड का छत्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

सप्तत्रिंशः सर्गः

सीता तद्वचनं श्रुत्वा पूर्णचन्द्रनिभानना ।

हनूमन्तमुवाचैदं धर्मार्थसहितं वचः ॥१॥

चन्द्रवदती सीता, हनुमानजी के ये वचन सुन, उनसे धर्म और अर्थ मुझसे वचन बोली ॥१॥

अमृतं विषसंसृष्टं त्वया वानर भाषितम् ।

यच्च नान्यमना रामो यच्च शोकपरायणः ॥२॥

हे वानर ! तुम्हारा यह कथन कि, श्रीरामचन्द्रजी का मन अन्य किसी और नहीं जाता और वे शोकाकुल बने रहते हैं विष मिले हुए अमृत के समान है ॥२॥

ऐश्वर्ये वा सुविस्तीर्णे व्यसने वा सुदारुणे ।

रज्ज्वेव पुरुषं बद्ध्वा कृतान्तः परिकर्षति ॥३॥

मनुष्य भले ही बड़े ऐश्वर्य का उपभोग करता हो अथवा महादारुण दुःख ही क्यों न भोगता हो, किन्तु मौत, उस मनुष्य के गले में रखी बाँध कर उसको अपनी ओर खींचती ही रहती है ॥३॥

विधिर्नूनमसंहार्यः प्राणिना प्लवगोत्तम ।

सोमित्रि मां च रामं च व्यसनैः पश्य मोहितान् ॥४॥

हे वानरप्रेष्ठ ! प्राणियों की भवितव्यता निश्चय ही प्रमित है । देखो, लक्ष्मण, मैं और श्रीरामचन्द्रजी कैसे कैसे दुःख झेल रहे हैं ॥४॥

शोकस्यास्य कदा पारं राघवोऽधिगमिष्यति ।

प्लवमानः परिश्रान्तो हतनौः सागरे यथा ॥५॥

नीका के टूट जाने पर समुद्र में तैरते हुए और थके हुए मनुष्य की तरह, श्रीरामचन्द्रजी प्रयत्न करके भी, न भालूम कब, इस शोकसागर के पार खोंगे ? ॥५॥

राक्षसानां वधं कृत्वा सूदयित्वा च रावणम् ।

लङ्कामुन्मूलितां कृत्वा कदा द्रक्ष्यति मां पतिः ॥६॥

मेरे स्वामी श्रीरामचन्द्रजी राक्षसों को मार रावण का वध कर तथा लङ्का को जड़ से खोद कर, न मालूम भुझे कब देखेंगे ? ॥६॥

स वाच्यः सन्त्वरस्वेति यावदेव न पूर्यते ।

अयं संवत्सरः कालस्तावद्धि मम जीवितम् ॥७॥

हे वानर ! तुम जा कर श्रीरामचन्द्रजी से शीघ्रता करने के लिए कह देना । क्योंकि जब तक यह वर्ष पूरा नहीं होता, तभी तक मेरे जीने की अवधि है ॥७॥

वर्तते दशमो मासो द्वौ तु शेषौ प्लवङ्गम ।

रावणेन नृशंसेन समयो यः कृतो मम ॥८॥

इस वर्ष का यह दसवां माह चल रहा है और इसकी समाप्ति में अब केवल दो मास और रह गए हैं । क्रूर रावण ने मेरे जीने के लिए यही अवधि ही बाँधी है ॥८॥

विभीषणेन च भ्रात्रा मम निर्यातनं प्रति ।

अनुनीतः प्रयत्नेन न च तत्कुरुते मतिम् ॥९॥

रावण के भाई विभीषण ने इस बात के लिए यत्न किया था और अनुमय विनय भी किया था कि, रावण भुझे श्रीरामचन्द्रजी को लौटा दे, परन्तु उस दुष्ट ने उनका कहना न माना ॥९॥

मम प्रतिप्रदानं हि रावणस्य न रोचते ।

रावणं मार्गते सख्ये मृत्युः कालवश गतम् ॥१०॥

श्रीरामचन्द्रजी को मेरा लौटा देना, रावण को पसंद नहीं । क्योंकि उसके सिर पर उसकी मौत खेल रही है और युद्धक्षेत्र में मौत रावण के वध का भवसर दूँड रही है ॥१०॥

ज्येष्ठा 'कन्या कला नाम विभीषणसुता कपे ।

तथा भमेदेमाख्यातं मात्रा प्रहितया स्वयम् ॥११॥

हे कप ! यह वान विभीषण की बड़ी बेटी कला ने, अपनी माता की प्रेरणा से, मुझे कही थी ॥११॥

'आशंसेर्य हरिश्रेष्ठ क्षिप्रं मां प्राप्स्यते पतिः ।

अन्तरात्मा हि मे शुद्धस्तस्मिश्च बहवो गुणाः ॥१२॥

हे वानरश्रेष्ठ ! मुझे इन वान का पूरा भरोसा है कि, श्रीरामचन्द्रजी मुझे शीघ्र मिलेंगे । क्योंकि, मेरी अन्तरात्मा शुद्ध है और श्रीरामचन्द्रजी में बहुत गुण हैं ॥१२॥

उत्साहः पौरुषं सत्त्वमानृशांस्यं कृतज्ञता ।

विक्रमश्च प्रभावश्च सन्ति वानर राघवे ॥१३॥

वे उत्साही, पुरुषार्थी, वीर्यवान्, दयालु, कृतज्ञ, विक्रमी और प्रतापी हैं ॥१३॥

चतुर्दश सहस्राणि राक्षसानां जघान यः ।

जनस्थाने विना भ्रात्रा शत्रुः कस्तस्य नोद्विजेत् ॥१४॥

जिन्होंने जनस्थान में बात की बात में चौदह हजार राक्षसा को, अपने भाई लक्ष्मण की सहायता बिना ही (अकेले) मार डाला, उनसे भला कौन शत्रु न डरेगा ! ॥१४॥

न स शक्यस्तुल्यितुं व्यसनैः पुरुषपर्यभः ।

अहं तस्य प्रभावज्ञा शक्रस्यैव पुलोमजा ॥१५॥

१ पाठान्तरे—“कन्याऽनया ।” २ एक सस्तरण में ये दो श्लोक प्रौर हैं :—

अविन्द्यो नाम मन्वसी विद्वान्राक्षसपुङ्गवः ।

श्रुतिमाञ्शीलवान्बुद्धो राक्षस्य मुसम्मत ॥

रामक्षयमनुप्राप्त रक्षसा प्रत्यबोदयत् ।

न च तस्य स दुःखात्मा शृणोति वचन हितम् ॥

३ पाठान्तरे—“असशय ।”

उन श्रीरामचन्द्रजी के साथ उन समस्त दु लदाई राक्षसों की बराबरी नहीं हो सकती । शची देवी जिस प्रकार इंद्र का प्रभाव जानती है, उसी प्रकार मैं श्रीरामचन्द्रजी का प्रभाव जानती हूँ ॥१५॥

शरजालांशुमाञ्छूरः कपे राम दिवाकरः ।

शत्रुरक्षोमयं तोयमुपशोयं नयिष्यति ॥१६॥

हे कप ! श्रीराम रूपी नूयं, अपनी बाणजाल रूपी किरणों से, राक्षस रूपी जलाशय को मोल लेंगे ॥१६॥

इति सजल्पमानां तां रामार्थे शोककर्शिताम् ।

अश्रुसंपूर्णनयनामुवाच वचनं कपिः ॥१७॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी के विषय में बातें करती हुई दुखियारी श्रीरामां बहानी हुई सीता से, हनुमानजी कहने लगे ॥१७॥

श्रुत्वैव तु वचो मह्यं क्षिप्रमेष्यति राघवः ।

चमूं प्रकर्षन्महतीं हर्यृक्षगणसंकुलाम् ॥१८॥

हे सीते ! मेरे मुख से तुम्हारा सदेश पाते ही श्रीरामचन्द्रजी, रीछ श्रीराम वानरो ने पूर्ण बड़ी भारी सेना ले, सीधे ही यहाँ आ जायेंगे ॥१८॥

अथवा भोवयिष्यामि त्वामद्यैव वरानने ।

अस्माद्दुःखादुपारोह मम पृष्ठमनिन्दिते ॥१९॥

हे वरानने ! अथवा मैं स्वयं ही अभी तुमको राक्षसों के घृत्पाचारों से छुड़ाए देता हूँ । हे अनिन्दिते ! तुम मेरी पीठ पर बँ लो ॥१९॥

त्वां तु पृष्ठगतां कृत्वा सन्तरिष्यामि सागरम् ।

शक्तिरस्ति हि मे वोढुं लङ्कामपि सरावणाम् ॥२०॥

तुमको अपनी पीठ पर बँठा कर मैं समुद्र पार हो जाऊँगा । (यह मत जानना कि, मैं ऐसा न कर सकूँगा ।) मुझमें इतनी शक्ति है कि, मैं रावण समेत लङ्का को भी ले जा सकता हूँ ॥२०॥

अहं प्रस्रवणस्याय राघवायाद्य मंथिलि ।

प्रापयिष्यामि शक्राय हृद्यं द्रुतमिवानलः ॥२१॥

हे मंथिली ! मैं आज ही तुमको श्रीरामचन्द्रजी के पास प्रस्रवण गिरि पर वसे ही पहुँचा दूँगा, जैसे अग्निदेव, इन्द्र के पास होय की हुई सामग्री पहुँचा देते हैं ॥२१॥

द्रक्ष्यस्यद्यैव वंदेहि राघवं सहलक्ष्मणम् ।

व्यवसायसमायुक्तं विष्णुं दैत्यवधे यथा ॥२२॥

हे वंदेहि ! तुम आज ही श्रीरामचन्द्रजी और लक्ष्मण का देखोगी जैसे दैत्यवध में तत्पर विष्णु को देवताओं ने देखा था ॥२२॥

त्वद्दर्शनकृतोत्साहमाश्रमस्थं महाबलम् ।

पुरन्दरनिवासीनं नागराजस्य सूर्धनि ॥२३॥

देवि ! महाबलवान् श्रीरामचन्द्रजी तुम्हें देखने की प्रभिलाषा से उत्साहित हो, पर्वतराज के शिखर पर इन्द्र की तरह बँठे हुए हैं ॥२३॥

पृष्ठमारोह मे देवि मा विकाङ्क्षस्व शोभने ।

योगमन्विच्छ रामेण शशाङ्कनेव रोहिणी ॥२४॥

'पौलोमीव महेन्द्रेण सूर्येणैव सुवर्चला ।

मत्पृष्ठमधिरुह्य त्वं तराकाशं महार्णवम् ॥२५॥

हे सुन्दरी देवी ! अब तुम सोच-विचार मत करो और मेरी पीठ पर बैठ लो और श्रीरामचन्द्रजी से मिलने के लिए जैसे ही इच्छा करो, जैसे रोहिणी देवी चन्द्रमा से, पौलोमी देवी इन्द्र से और सुवर्चला देवी सूर्य से मिलने की इच्छा किया करती हैं । तुम मेरी पीठ पर सवार हो लो, मैं आकाशमार्ग से समुद्र के पार हो जाऊँगा ॥२४॥२५॥

न हि मे सम्प्रयातस्य त्वामित्तो नयतोऽङ्गने ।

अनुगन्तुं गतिं शक्यताः सर्वे लङ्कानिवासिनः ॥२६॥

! पाठान्तरे— 'कथयन्तीव चन्द्रेण सूर्येण च महाविषा ।'

हे मुन्दरि ! जिस समय में यहाँ से तुम्हें लेकर चलेगा, उस समय लवानिवासी किसी भी राक्षस में इतनी शक्ति नहीं जो मेरा पीछा कर सके ॥२६॥

यथैवाहमिह प्राप्तस्तथैवाहमसंशयम् ।

यास्यामि पश्य वंदेहि त्वामुद्यम्य विहायसम् ॥२७॥

जिस प्रकार में उस पार से यहाँ आया हूँ, उसी प्रकार तुमको अपनी पीठ पर लिए हुए, निश्चय हो मैं आकाश मार्ग से उस पार चला जाऊँगा ॥२७॥

मैथिली तु हरिश्रेष्ठाच्छ्रुत्वा वचनमद्भुतम् ।

हर्षविस्मितसर्वाङ्गी हनुमन्तमथाब्रवीत् ॥२८॥

कपिश्रेष्ठ हनुमानजी के इन अद्भुत वचनों को सुन, सीता हर्षित और विस्मित हो हनुमानजी से बोली ॥२८॥

हनुमन्दूरमध्वानं कथं मां बोढुमिच्छसि ।

तदेव खलु ते मन्ये कपित्यं हरियूथप ॥२९॥

हे हनुमान ! तुम मुझे लिए हुए इतनी दूर कैसे जा सकोगे । हे हरियूथप ! (वानरो के सरदार) तुम्हारी इस बात से तो तुम्हारा वानरपना प्रकट होता है ॥२९॥

कथं वाऽल्पशरीरस्त्वं मामितो नेतुमिच्छसि ।

सकाश मानवेन्द्रस्य भर्तुर्मे प्लवगर्षभ ॥३०॥

हे वानरोत्तम ! फिर तुम इतने छोटे शरीर वाले होकर, किस तरह मुझे मेरे नरेन्द्र पति के पास पहुँचा सकते हो ? ॥३०॥

सीताया वचन श्रुत्वा हनुमान्माततात्मजः ।

चिन्तयामास लक्ष्मीवाघ्रवं परिभवं कृतम् ॥३१॥

लक्ष्मीवान् पवननन्दन हनुमानजी, सीता के इन वचनों को सुन, मन ही मन कहने लगे कि, यह मेरा प्रथम बार ही घनादर हुआ है ॥३१॥

न मे जानाति सत्त्वं वा प्रभावं वासितेक्षणा ।

तस्मात्पश्यतु वंदेही यद्दुर्गं मन ^१कामतः ॥३२॥

वह बोले—हे कृष्णनयनी ! तुम भ्रमी मेरे बल और प्रभाव को नहीं जानती । इसी से ऐसा कह रही हूँ । अतः भव तुम, जैसा कि मेरा कामरूपी शरीर है, उसे देखो ॥३२॥

इति संचिन्त्य हनुमांस्तदा प्लवगसत्तमः ।

दर्शयामास वंदेह्याः स्वं रूपमरिमर्दनः ॥३३॥

बहुत कुछ प्राण-बीछा सोच कर, शत्रुनाशकारी वानरोत्तम हनुमानजी ने अपना रूप वंदेही को दिखाया ॥३३॥

स तस्मात्पादपाद्वीमानाप्लुत्य प्लवगर्षभः ।

ततो वर्धितुमारेभे सीताप्रत्ययकारणात् ॥३४॥

वानरोत्तम बुद्धिमान् हनुमानजी एक छलांग में वृक्ष में नीचे उतर सीताजी को विश्वास कराने के लिए, अपने शरीर का बड़ाने लगे ॥३४॥

मेहमन्दरसङ्काशो वभौ दोप्तानलप्रभः ।

अग्रतो व्यवतस्थे च सीताया वानरोत्तमः ॥३५॥

उस समय कपिश्रेष्ठ हनुमानजी मेहपर्वत की तरह लदे-चोड़े और दहकती हुई प्राण की तरह कान्तिमान हो, सीताजी के समान खड़े हो ग ॥३५॥

हरिः पर्वतसङ्काशस्ताम्रवक्रो महाबलः ।

वज्रदंष्ट्रनखो भीमो वंदेहीमिदमब्रवीत् ॥३६॥

उस समय पर्वताकार, सालमुख, महाबलवान और दस्य के समान दाँतों और नखों को धारण किए हुए भयङ्कर रूपधारी हनुमानजी ने जानकीजी से यह कहा ॥३६॥

सपर्वतवनोद्देशां सादृष्टप्राकारतोरणाम् ।

सङ्कामिमां सनाथां वा नयितुं शक्तिरस्ति मे ॥३७॥

हे देवी ! पर्वत, वन, गृह, प्राकार और तोरण सहित इस लज्जा को और लंका के राजा रावण को यहाँ से उठा कर ले जाने की मुझमें शक्ति है ॥३७॥

तदवस्थाप्ययां बुद्धिरलं देवि विकाङ्क्षया ।

विशोकं कुरु वंदेहि राघवं सहलक्ष्मणम् ॥३८॥

हे देवी ! मतः तुम सब मेरे साथ चलने का निश्चय करो और मेरी उपेक्षा मत करो । हे वंदेहि ! तुम मेरे साथ चल कर, श्रीरामचन्द्रजी और लक्ष्मणजी का शोक दूर करो ॥३८॥

तं दृष्ट्वाचलसङ्काशमुवाच जनकात्मजा ।

पद्मपत्रविशालाक्षी भारतस्यौरसं सुतम् ॥३९॥

हनुमानजी को पर्वताकार रूप धारण किए हुए देख, कमल की तरह विशालनयनी जनकनन्दिनी पवननन्दन हनुमानजी से कहने लगी ॥३९॥

तव सत्त्वं बलं चैव विजानामि महाकपे ।

वायोरिव गतिं चापि तेजश्चाग्नेरिवाद्भुतम् ॥४०॥

हे महाकपे ! सब मैंने तुम्हारा बल-पराक्रम भली भाँति जान लिया । तुम्हारी गति पवन के समान और तुम्हारा तेज अग्नि के समान अद्भुत है ॥४०॥

प्राकृतोऽन्यः कथं चेमां भूमिमागन्तुमर्हति ।

उदधेरप्रमेयस्य पारं वानरपुङ्गव ॥४१॥

हे कपिश्रेष्ठ ! नहीं तो क्या कोई मामूली वानर भी इस साँपने के प्रयोग्य समुद्र को साँप कर यहाँ आ सकता है ॥४१॥

जानामि गमने शक्तिं नयने चापि ते मम ।

अवश्यं संप्रधायीशु कार्यसिद्धिर्महात्मनः ॥४२॥

मैं जानती हूँ कि, तुममें बहुत दूर चलने की और मुझको अपनी पीठ पर चढाकर ले जाने की शक्ति है, किन्तु शीघ्रतापूर्वक कार्य सिद्ध होने के सम्बन्ध में मुझे स्वयं भी सोच-विचार लेना आवश्यक है ॥४२॥

अयुक्तं तु कपिश्रेष्ठ मम गन्तुं त्वया सह ।

वायुवेगसवेगस्य वेगो मां मोहयेत्तव ॥४३॥

मेरे विचार में तुम्हारे साथ मेरा चलना ठीक नहीं, क्योंकि, वायु के समान तुम्हारी शांघ्रगति (तेज चाल) मुझे मूर्छित कर देगी ॥४३॥

अहमाकाशमापन्ना उपर्युपरि सागरम् ।

प्रपतेयं हि ते पृष्ठाद्भ्रूयाद्वेगेन गच्छतः ॥४४॥

पतिता सागरे चाहं तिमिनक्रभ्रपाकुले ।

भवेयमाशु विवशा यादसामन्नमुत्तमम् ॥४५॥

जब तुम मुझे लिए हुए आकाशमार्ग से बड़े वेग से जाने लागोगे, तब मैं कदाबिद् भयभीत हो, समुद्र में गिर पड़ी और यदि समुद्र के मगर मच्छ मुझे पकड़ कर खा गए, तब तुम क्या करोगे ? ॥४४॥४५॥

न च शक्ये त्वया सार्धं गन्तुं शत्रुविनाशन ।

कलत्रवति सन्देहस्त्वद्यपि स्यादसंशयः ॥४६॥

हे शत्रुविनाशन ! अतः मैं तुम्हारे साथ न जा सकूंगी। क्योंकि एक जन किसी स्त्री को उडाए लिए जा रहा है, यह देख, निश्चय ही राक्षसगण तुम पर सन्देह करेंगे ॥४६॥

हियमाणां तु मां दृष्ट्वा राक्षसा भीमविक्रमाः ।

अनुगच्छेयुरादिष्टा रावणेन दुरात्मना ॥४७॥

और मुझे लिए हुए जाते देख, दुरात्मा रावण की आज्ञा पा, भयकर विक्रमशाली राक्षस लोग तुम्हारा पीछा करेंगे ॥४७॥

तैस्त्वं परिवृतः शूरैः शूलमुद्गरपाणिभिः ।

भवेस्त्वं संशयं प्राप्ती मया वीर कलत्रवान् ॥४८॥

एक तो साथ में स्त्री, तिस पर जब तुम शूल, मुद्गरधारी वीर राक्षसों द्वारा घेर लिए जाओगे, तब तुम बड़े मकट में पड़ जाओगे ॥४८॥

सायुधा बहवो व्योम्नि राक्षसास्त्वं निरायुधः ।

कथं शक्यसि संयातुं मां चेव परिरक्षितुम् ॥४६॥

फिर राक्षसों के पास तो तरह-तरह के हथियार होंगे और तुम आकाश में निरस्त्र होंगे । ऐसी दशा होने पर, मेरी रक्षा करनी तो जहाँ-तहाँ, तुम आगे जा भी कैसे सकोगे ॥४६॥

युध्यमानस्य रक्षोभिस्तव तैः क्रूरकर्मभिः ।

प्रपतेयं हि ते पृष्ठाद्भ्रुयार्ता कपिसत्तम ॥५०॥

हे कपिश्रेष्ठ ! जब उन क्रूरकर्मा भयकर राक्षसों का तुम सामना करोगे, तब भयभात हो, मैं भवस्य तुम्हारी पीठ से नीचे गिर पड़ूँगी ॥५०॥

अथ रक्षांसि भीमानि महान्ति बलवन्ति च ।

कथञ्चित्साम्पराये त्वां जयेयुः कपिसत्तम ॥५१॥

अथवा युध्यमानस्य पतेयं विमुखस्य ते ।

पतिता च गृहीत्वा मां नयेयुः पापराक्षसाः ॥५२॥

हे कपिश्रेष्ठ ! फिर यदि उन भयकर और महाबली राक्षसों ने युद्ध में तुम्हें जीत ही लिया अथवा तुम हार कर भागे और मैं गिर पड़ी और उन पापी राक्षसों के हाथ पड गई, तो क्या होगा ? ॥५१॥५२॥

मां वा हरेयुस्त्वद्धस्ताद्विशसेयुरथापि वा ।

अव्यवस्थौ हि दृश्येते युद्धे जयपराजयौ ॥५३॥

अथवा वे राक्षस तुम्हारे हाथ से मुझे छीन कर ले गए या मुझे मार ही डाला तब क्या होगा ? क्योंकि युद्ध में कौन जीते, कौन हारे, इसका पहले से कुछ भी निश्चय नहीं हो सकता ॥५३॥

अहं वापि विपद्येयं रक्षोभिरभितर्जिता ।

त्वत्प्रयत्नो हरिश्रेष्ठ भवेन्निष्फल एव तु ॥५४॥

फिर यदि राक्षसों की डाँट-उपट से मेरे प्राण ही निकल गए तो, हे कपिश्रेष्ठ ! तुम्हारा मेरा परिश्रम व्यर्थ ही होगा ॥५४॥

कामं त्वमसि पर्याप्तो निहन्तुं सर्वराक्षसान् ।

राघवस्य यशो हीयेत्वया शस्तंस्तु राक्षसैः ॥५५॥

यद्यपि तुम नित्सन्देह भकेले सब राक्षसों को मार डाल सकते हो, तथापि यदि तुमने राक्षसों को मार डाला, तो तुम्हारे इस कार्य से श्रीराम-चन्द्रजी के यश में तो बढ़ा लग ही जायगा ॥५५॥

अथवादाय रक्षांसि न्यसेयुः संवृते हि माम् ।

यत्र ते नाभिजानीयुर्हरयो नापि राघवो ॥५६॥

इसमें एक बोध यह भी है कि यदि राक्षसों ने मुझे पकड़ पाया और मका में ले आए तो फिर वे मुझे किसी ऐसी जगह छिपा देंगे कि, वहाँ कोई वानर या श्रीरामचन्द्रजी मुझे देख ही न पावें ॥५६॥

आरम्भस्तु मदर्थोऽयं ततस्तव निरर्थकः ।

त्वया हि सह रामस्य महानागमने गुणः ॥५७॥

अत मेरे पीछे तुमने जो इतना श्रम किया है सा सब व्यर्थ चला जायगा । अतः यही ठीक होगा कि, तुम श्रीरामचन्द्रजी को साथ लेकर यहाँ आओ ॥५७॥

मयि जीवितमायत्तं राघवस्य महात्मनः ।

भ्रातृणां च महाबाहो तव राजकुलस्य च ॥५८॥

महाबलवान् श्रीरामचन्द्रजी का और उनके सब भाइयों का तथा तुम्हारे वानरराज सुग्रीव के कुल का भी जीवन मेरे ही ऊपर निर्भर है ॥५८॥

तौ निराशौ मदर्थं तु शोकसन्तापकशितौ ।

सह सर्वक्षंहरिभिस्त्यक्षयतः प्राणसंग्रहम् ॥५९॥

यदि वे दोनों भ्राता, जो इस समय सगुप्त और शोक से विवश हो रहे हैं, मेरी ओर से हतान हो गए तो फिर निश्चय ही उनका जीना असम्भव है । उनके मरने पर वानरी सेना भी अपने प्राण गवाँ देगी ॥५९॥

भर्तृभक्तिं पुरुस्कृत्य रामादग्न्यस्य वानर ।

न स्पृशामि शरीरं तु पुंसो वानरपुङ्गव ॥६०॥

हे वानर ! तुम्हारे साथ चलने में एक यह भी आपत्ति है कि, मैं पतिव्रता हूँ—मत श्रीरामचन्द्रजी को छूँड, किसी अन्य पुरुष का शरीर (अपनी इच्छा से) नहीं छू सकती ॥६०॥

यदहं गात्रसंस्पर्शं रावणस्य बलाद्गता ।

अनीशा किं करिष्यामि विनाथा विवशा सती ॥६१॥

मुझे जो रावण के शरीर का स्पर्श हुआ सो बरजोरी हुआ । क्योंकि उस समय मैं कर ही क्या सकती थी । मैं विवश थी और उस समय मुझ पतिव्रता को बचाने वाला भी कोई न था ॥६१॥

यदि रामो दशग्रीवमिह हत्वा सबान्धवम् ।

मामितो गृह्य गच्छेत् तत्तस्य सदृशं भवेत् ॥६२॥

यदि श्रीरामचन्द्रजी बन्धु-बान्धव सहित रावण को मार मुझे लेकर यहाँ से जायें, तो ऐसा कार्य उनकी पदमर्यादा के अनुकूल हो ॥६२॥

श्रुता हि दृष्टाश्च मया पराक्रमा

महात्मनस्तस्य रणावमदिनः ।

न देवगन्धर्वभुजङ्गराक्षसा

भवन्ति रामेण समा हि संयुगे ॥६३॥

उन शत्रुनाशकारी महात्मा श्रीरामचन्द्रजी का पराक्रम मैंने सुना भी है और देखा भी है । मत. मैं कह सकती हूँ कि, मुझ में क्या देवता, गन्धर्व, क्या सर्प और क्या राक्षस—कोई भी उनका सामना नहीं कर सकता ॥६३॥

समीक्ष्य तं संयति चित्रकार्मुकं

महाबलं वासवतुल्यविक्रमम् ।

सलक्ष्मण को विषहेत राघवं

हुताशन दीप्तमिवानिलेरितम् ॥६४॥

हे कपिश्रेष्ठ ! जब वे महाबली धीर इन्द्र के समान विक्रम वाले श्रीराम-चन्द्रजी युद्धक्षेत्र में अपना अद्भुत धनुष हाथ में ले खड़े हो जाते हैं और लक्ष्मण उनकी सहायता में सावधान रहते हैं, तब किसकी मजाल है, जो उनके सामने खड़ा रह सके। भला वायु से बड़ाई हुई आग की लपटों के सामने भी कोई खड़ा रह सकता है ॥६४॥

सलक्ष्मण राघवमाजिमर्दनं

दिशागजं मत्तमिव व्यवस्थितम् ।

सहेत को वानरमुख्य संयुगे

युगान्तसूर्यप्रतिमं शराचिपम् ॥६५॥

जिस समय शत्रुमर्दनकारी श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मण सहित, मतवाले दिग्गज की तरह युद्धक्षेत्र में खड़े हो जाते हैं और प्रलयकालीन सूर्य की तरह बाणों रूपी किरणों से आग बरसाने लगते हैं, उस समय उनके सामने ठहरने की किस में शक्ति है ? ॥६५॥

स मे हरिश्रेष्ठ सलक्ष्मणं पति

सयूथपं क्षिप्रमिहोपपादय ।

चिराय रामं प्रति शोककर्शितं

कुरुष्व मां वानरमुख्य हर्षितान् ॥६६॥

इति सप्तत्रिंशत्तमं सर्गं ॥

हे वानरश्रेष्ठ ! अतएव तुम लक्ष्मण और सुग्रीव सहित मेरे प्यारे श्रीराम-चन्द्रजी को शीघ्र ही यहाँ लिवा लाओ। हे वीर ! मैं श्रीरामचन्द्रजी के वियोग-जन्य शोक से चिरकाल से कातर हूँ। सो मुझे अब शीघ्र तुम हर्षित करो ॥६६॥

सुन्दरकाण्ड का सैंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

अष्टात्रिंशः सर्गः

ततः स कपिशार्दूलस्तेन वाक्येन हर्षितः ।

सीतामुवाच तच्छ्रुवा वाक्य वाक्यविशारदः ॥१॥

सीताजी के इन वचनों को सुन, वाक्यविशारद वानरश्रेष्ठ हनुमानजी सीताजी से बोले ॥१॥

युक्तरूपं त्वया देवि भाषितं शुभदर्शने ।

सदृशं स्त्रीस्वभावस्य साध्वीना विनयस्य^१ च ॥२॥

हे सुन्दरि ! तुमने स्त्री स्वभाव-मुलम और पतिव्रता स्त्रियों के चरित्र-
नुकूल ही ये बातें कही हैं ॥२॥

स्त्रीत्वं न तु समर्थं हि सागरं व्यतिवर्तितुम् ।

मामधिष्ठाय विस्तीर्णं शतयोजनमायतम् ॥३॥

तुम स्त्री हो, इसीसे तुम मेरी पीठ पर सवार हो, सौ योजन चौड़े समुद्र
को नहीं लाँघ सकती ॥३॥

द्वितीयं कारणं यच्च ब्रवीषि विनयान्विते ।

रामादन्यस्य नार्हामि सस्पर्शमिति जानकि ॥४॥

हे विनयान्विते ! (विनय स युक्त अर्थात् सुशीले ।) तुमने जो दूसरा
कारण बतलाया कि, तुम श्रीरामचन्द्रजी को छोड़ अन्य किसी पुरुष को अपनी
इच्छा से नहीं छू सकती ॥४॥

एतत्ते देवि सदृशं पत्न्यास्तस्य महात्मनः ।

का ह्यन्या त्वामृते देवि ब्रूयाद्वचनमोदृशम् ॥५॥

सो भी हे देवि ! ठीक ही है और उन महात्मा श्रीरामचन्द्रजी की पत्नी
के ही कहने योग्य है । मला तुमको छोड़, हे देवि ! (ऐसी अवस्था में भी)
और कौन स्त्री ऐसे वचन कह सकती है ? ॥५॥

१ विनयस्य—वृत्तस्य । (गो०)

श्रोष्यते चैव काकुत्स्थः सर्वं निरवशेषतः ।

चेष्टितं यत्त्वया देवि भाषितं मम चाग्रतः ॥६॥

हे देवि ! तुमने मेरे साथ जैसा बर्ताव किया और जो बातें कहीं—उन सब को श्रीरामचन्द्रजी मेरे मुख से ज्यो का त्यो सुन लेंगे ॥६॥

कारणैर्बहुभिर्देवि रामप्रियचिकीर्षया ।

स्नेहप्रस्कन्नमनसा मयैतत्समुदीरितम् ॥७॥

हे देवि ! मैंने जो तुमसे अपने साथ चलने के लिए कहा था—सो इसके बहुत कारण हैं । उनमें से मुख्य तो श्रीरामचन्द्रजी का मुखोल्लास था, दूसरा यह था कि, मेरा मन स्नेह से विधिल हो रहा था ॥७॥

लङ्काया दुष्प्रवेशत्वाद्दुस्तरत्वान्महोदधेः ।

सामर्थ्यादात्मनश्चैव मयैतत्समुदाहृतम् ॥८॥

तीसरा लका में घाना, हरेक का काम नहीं है और न समुद्र का लोघना ही सहज है । किन्तु मुझमें यह सामर्थ्य है, इसी से मैंने कहा कि, तुम मेरे साथ चलो चलो ॥८॥

इच्छामि त्वां समानेतुमद्यैव रघुवन्धुना ।

गुरुस्नेहेन भक्त्या च नान्यथैतदुदाहृतम् ॥९॥

हे रघुनन्दिनि ! मैंने जो कहा सो कुछ अन्यथा नहीं कहा । क्योंकि श्रीरामचन्द्रजी का मेरे प्रति स्नेह और मेरी उनके प्रति भक्ति है, उससे मेरी यह इच्छा हुई कि, आज ही तुम्हें ले चल कर श्रीरामचन्द्रजी से मिला दूँ ॥९॥

यदि नोत्सहसे यातुं मया सार्धमनिन्दिते ।

अभिज्ञानं प्रयच्छ त्वं जानीयाद्राघवो हि यत् ॥१०॥

ह मुन्दरि ! यदि मेरे साथ चलने की तुम्हारी इच्छा नहीं है, तो मुझे अपनी कोई चिह्नानी हो दो जिससे श्रीरामचन्द्रजी को प्रतीति हो ॥१०॥

एवमुक्त्वा हनुमता सीता सुरसुतोपमा ।

उवाच वचनं चेदं वाप्यप्रग्रथिताक्षरम् ॥११॥

जब हनुमानजी ने इस प्रकार कहा, तब देवकन्या की तरह सीताजी भाँखी में भाँगू भर कर (अर्थात् गद्गद कण्ठ से) धीरे-धीरे बोली ॥११॥

इदं श्रेष्ठमभिज्ञानं ब्रूयास्त्वं तु मम प्रियम् ।

शैलस्य चित्रकूटस्य पादे पूर्वोत्तरे पुरा ॥१२॥

मेरी यही सर्वश्रेष्ठ चिह्नानी तुम श्रीरामचन्द्रजी को बतला देना कि, चित्रकूट पर्वत के ईशान कोण पर ॥१२॥

तापसाश्रमवासिन्याः प्राज्यमूलफलोदके ।

तस्मिन्सिद्धाश्रिते देशे मन्दाकिन्या ह्यदूरतः ॥१३॥

जो बहुत से मूलफल जल से युक्त, सिद्ध लोगो से सेवित मन्दाकिनी नदी के समीप, तापसाश्रम में जब हम लोग रहते थे ॥१३॥

तस्योपवनयण्डेषु नानापुष्पसुगन्धिषु ।

विहृत्य सलिलविलम्बा ममाङ्गे समुपाविशः ॥१४॥

तब वहाँ के विविध पुष्पों की सुगन्धि से सुवासित उपवनो में जलक्रीडा करके भीगी देह तुम मेरी गोद में तो गये ॥१४॥

ततो मांससमायुक्तो वायसः पर्यतुण्डयत् ।

तमहं लोष्टमुद्यम्य वारयामि स्म वायसम् ॥१५॥

उसी समय में, एक कौपा प्रकार मांस के तालच से मेरे चोच मारने लगा । मैं उस पर डेले फेंक उसे उड़ाती थी ॥१५॥

दारयन्स च मां काकस्तत्रैव परिलीयते ।

न चाप्युपारमन्मांसाङ्गुक्षार्थी बलिभोजनः ॥१६॥

किन्तु वह मेरे चोच से घाव कर, उसी जगह कहीं छिप जाया करता था । मैंने उसे बहुत उड़ाया किन्तु मांसभक्षी घोर बलि खाने वाला वह काक न माना ॥१६॥

उत्कर्षन्त्यां च रशनां क्रुद्धायां भयि पक्षिणि ।

स्रस्यमाने च वसने ततो दृष्ट्वा त्वया ह्यहम् ॥१७॥

तब तो मुझे उस कोए पर बड़ा क्रोध आया । इतने में मेरी करघनी खिसक गई । मैं जब उसे ऊपर चढ़ाने लगी तब मेरा वस्त्र खिसक गया । उस समय तुम्हारी अर्थात् श्रीरामचन्द्रजी की दृष्टि मेरे ऊपर पड़ी ॥१७॥

त्वयापहसिता चाहं क्रुद्धा संलज्जिता तदा ।

भक्षगृधनेन काकेन दारिता त्वामुपागता ॥१८॥

आसीनस्य च ते श्रान्ता पुनरुत्सङ्गमाविशम् ।

क्रुद्धयन्ती च प्रहृष्टेन त्वयाहं परिसान्त्विता ॥१९॥

और तुम मुझे देख कर हँस दिए । उस समय मुझे क्रोध तो था ही माय ही मुझे बड़ी लज्जा भी जान पड़ी । उस भक्षलोलुप कोए से घायल हुई मैं, तज़्ज हो गई थी । मैं आकर तुम्हारी गोद में पड़ रही । मुझे क्रुपित देख, तुमने प्रहृष्ट हो मुझे समझाया ॥१८॥१९॥

बाष्पपूर्णमुखी मन्दं चक्षुषी परिमार्जती ।

लक्षिताहं त्वया नाथ वायसेन प्रकोपिता ॥२०॥

उस समय आँसुओं से मेरा मुख तर हो रहा था और मैं धीरे धीरे आँसू पोछ रही थी । इतने में तुमने जान लिया कि कोए ने मुझे क्रुपित कर दिया है ॥२०॥

परिश्रमात्प्रसुप्ता च राघवाङ्कष्यहं चिरम् ।

पर्यायेण प्रसुप्तञ्च ममाङ्के भरताग्रजः ॥२१॥

एक जाने के कारण मैं बहुत देर तक श्रीरामचन्द्रजी की गोद में पड़ी सोती रही, फिर पारी से श्रीरामचन्द्रजी मेरी गोद में सोए ॥२१॥

स तत्र पुनरेवाथ वायसः समुपागमत् ।

ततः सुप्तप्रबुद्धां मां राघवाङ्कात्समुत्थिताम् ॥२२॥

इतने में वही कोप्रा पुन आया । मैं उसी क्षण श्रीरामचन्द्रजी की गोद से सो कर उठी थी ॥२२॥

वापसः सहसागम्य विरराव स्तनान्तरे ।

पुनः पुनरयोत्पत्य विरराव स मां भृशम् ॥२३॥

उस काक ने धचानक धा मेरे स्तनो के बीच में चोंच मारी और उछल-उछल कर उसने मुझे घायल कर डाला ॥२३॥

ततः समुक्षितो रामो मुवतः शोणितविन्दुभिः ॥२४

तब रक्त बूँदें श्रीरामचन्द्रजी के शरीर पर गिरने से जाग सठे ॥२४॥

स मां दृष्ट्वा महाबाहुवितुन्नां स्तनयोस्तदा ॥२५॥

उन्होंने स्तनो के बीच मेरे घाव हुआ देखा ॥२५॥

श्राशीविष इव क्रुद्धः श्वसन्वाक्यमभाषत ।

केन ते नागनासोरु विक्षतं वै स्तनान्तरम् ॥२६॥

श्रीरामचन्द्रजी सर्प की तरह कुपित और फुँफकारते हुए बोले—हे सुन्दरि ! तेरे स्तनो के बीच किसने घाव कर दिया ? ॥२६॥

कः क्रीडति सरोपेण पञ्चवक्त्रेण भोगिना ।

वोक्षमाणस्ततस्तं वै वापसं समुदक्षत ॥२७॥

क्रुद्ध पाँच फन वाले साँप के साथ यह खेल किसने खेला है ? यह कह ज्योही श्रीरामचन्द्रजी ने इधर-उधर दृष्टि डाली, त्योही वह काक उन्हें दिखलाई पडा ॥२७॥

नखैः सरुधिरैस्तीक्ष्णैर्माभिवाभिमुखं स्थितम् ।

पुत्रः किल स शरुस्य वापसः पततां वरः ॥२८॥

उस काक के नख, रक्त में सने हुए थे और वह मेरी और मुझ कर बैठा हुआ था । वह पक्षिप्रेष्ठ निरचय ही इन्द्र का पुत्र था ॥२८॥

घरान्तरगतः शीघ्रं पवनस्य गतौ समः ।

ततस्तस्मिन्महाबाहुः कोपसंवर्तितेक्षणः ॥२९॥

श्रीरामचन्द्रजी की दृष्टि पढते ही वह पवन के समान वेग से क्षट पृथिवी में समा गया । उस समय श्रीरामचन्द्रजी ने मारे क्रोध के नेत्र टेढ़े कर ॥२९॥

वायसे कृतवान्कूरां मतिं मतिमतां वरः ।

सदर्भं संस्तराद्गृह्य ब्राह्मेणास्त्रेण योजयत् ॥३०॥

उस कोए को बडो बुरी तरह देवा श्रीर कुश की चटाई से एक कुश खींच, उसको ब्रह्मास्त्र के मंत्र से अभिमंत्रित किया ॥३०॥

स दीप्त इव कालाग्निर्ज्वालाभिमुखो द्विजम् ।

स तं प्रदीप्तं चिक्षेप दर्भं तं वायसं प्रति ॥३१॥

तब तो वह कुश कालाग्नि के समान प्रज्वलित हो उठा । उस कुश को श्रीरामचन्द्रजी ने काक के ऊपर छोडा ॥३१॥

ततस्तु वायसं दर्भः सोऽम्बरेऽणुजगाम तम् ।

अनुसृष्टस्तदा काको जगाम विविधां गतिम् ॥३२॥

तब वह कौवा उड कर आकाश में गया श्रीर वह कुश उसके पीछे लग लिया । उस ब्रह्मास्त्र से पिछियाया हुआ वह काक, कितनी ही जगहों में गया ॥३२॥

त्राणकाम इमं लोकं सर्वं वै विचचार ह ।

स पित्रा परित्यक्तः सुरैश्च परमर्षिभिः ॥३३॥

अपनी रक्षा के लिए वह कौवा इस पृथिवी तल पर सर्वत्र घूमा पर उसकी रक्षा न हो सकी । तब वह अपने पिता तथा अन्य देवताओं और महर्षियों के पास अपनी रक्षा के लिए गया । किन्तु सब ने उसे दुरदुरा दिया ॥३३॥

त्रींल्लोकान्संपरिक्रम्य तमेव शरणं गतः ।

स तं निपतितं भूमौ शरण्यः शरणागतम् ॥३४॥

तीनों लोकों में घूम-फिरकर अन्त में वह श्रीरामचन्द्रजी ही की शरण में आया । शरणागत बरसल श्रीरामचन्द्रजी ने उस शरण आए हुए काक को अपने सामने पृथिवी पर पडा हुआ देखा ॥३४॥

वधार्हमपि काकुत्स्थः कृपया पर्यपालयत् ।

न शर्म लब्ध्वा लोकेषु तमेव शरणं गतः ॥३५॥

उस बंध करने योग्य काक को दयावश छोड़ दिया और न मारा । क्योंकि वह सब लोकों में पूजा फिरा, किन्तु उसकी रक्षा कही भी न हो सकी, इसी से वह श्रीरामचन्द्रजी की शरण में आया था ॥३५॥

परिद्यूनं विपण्णं च स तमायान्तमब्रवीत् ।

मोघं कर्तुं न शक्यं तु ब्राह्ममस्त्रं तदुच्यताम् ॥३६॥

उस काक को सतप्त और दुखी हो आया हुआ देख श्रीरामचन्द्रजी ने उससे कहा—यह ब्रह्मास्त्र व्यर्थ तो जा नहीं सकता पर तुम्हीं बतलाओ भव इसका प्रयोग कहाँ किया जाय ॥३६॥

हिनस्तु दक्षिणाक्षि त्वच्छर इत्यथ सोऽब्रवीत् ।

ततस्तस्याक्षि काकस्य हिनस्ति स्म स दक्षिणम् ॥३७॥

इस पर उसने कहा कि, जब यही बात है, तब मेरी दाहिनी भ्राँख इसके भेंट है । श्रीरामचन्द्रजी ने उस ब्रह्मास्त्र से उसकी दाहिनी भ्राँख फोड़ दी ॥३७॥

दत्त्वा स दक्षिणं नेत्रं प्राणेभ्यः परिरक्षितः ।

स रामाय नमस्कृत्वा राज्ञे दशरथाय च ॥३८॥

विसृष्टस्तेन वीरेण प्रतिपेदे स्वमालयम् ।

मत्कृते काकमात्रे तु ब्रह्मास्त्र समुदीरितम् ॥३९॥

उस कौए ने अपनी दाहिनी भ्राँख गँवा अपने प्राण बचाए और श्रीरामचन्द्रजी तथा महाराज दशरथजी को प्रणाम कर और बिदा माँग अपने घर चला गया । (हे हनुमान ! तुम उनसे कहना कि) आपने मेरे पीछे तो एक कौए पर ब्रह्मास्त्र चलाया था ॥३८॥३९॥

कस्माद्यो मां हरेत्त्वत्तः क्षमसे तं महीपते ।

स कुरुष्व महोत्साहः कृपां मयि नरर्यभ ॥४०॥

तो हे महाराज ! जिसने मुझे हरा है उसे क्यों क्षमा कर दिया ? हे नरश्रेष्ठ ! आप प्रति प्रबल उत्साह का भवलयन कर, मेरे ऊपर कृपा कीजिए ॥४०॥

त्वया नाथवती नाथ ह्यनाथेव हि दृश्यते ।

आनृशंस्यं परो धर्मस्त्वत्त एव मया श्रुतः ॥४१॥

तुम्हारे ऐसे नाथ के रहते इस समय मैं अनाथिनी जैसी हो रही हूँ । मैंने तुम्हीं से सुना है कि, दया से बढ़कर और कोई धर्म नहीं है ॥४१॥

जानामि त्वां महावीर्यं महोत्साहं महाबलम् ।

अपारपारमक्षोभ्यं गाम्भीर्यत्सागरोपमम् ॥४२॥

फिर मुझे यह भी विदित है कि, तुम महापराक्रमी, महोत्साही और महाबलवान हो । तुम दुरधिगम्य और समुद्र की तरह गभीर हो ॥४२॥

भर्तारं ससमुद्राया धरण्या वासवोपमम् ।

एवमस्त्रविदां श्रेष्ठः सत्यवान्बलवानपि ॥४३॥

और इन्द्र की तरह ससागरा पृथिवी के स्वामी हो । तुम अस्त्रवेत्ताओं में सर्वश्रेष्ठ, सत्यवादी और बलवान भी हो ॥४३॥

किमर्थमस्त्रं रक्षस्सु न योजयसि राघवः ।

न नागा नापि गन्धर्वा नासुरा न मरुद्गणाः ॥४४॥

तो घात करने अस्त्रों को राक्षसों पर क्या नहीं चलाते । न तो नाग, न गन्धर्व, न असुर, न मरुद्गण ॥४४॥

रामस्य समरे वेग शक्ताः प्रतिसमाधितुम् ।

तस्य वीर्यवतः कश्चिद्यद्यस्ति मयि संभ्रमः ॥४५॥

श्रीरामचन्द्रजी के समरे वेग को नहीं सम्हाल सकते । तो यदि श्रीरामचन्द्रजी के मन में मेरा कुछ भी आशंका है ॥४५॥

किमर्थं न शरैस्तं क्षणैः क्षयं नयति राक्षसान् ।

भ्रगतुरादेशमादाय लक्ष्मणो वा परन्तपः ॥४६॥

कस्य हेतोर्न मां वीरः परित्राति महाबलः ।

यदि तौ पुरुषव्याघ्रौ वाप्यग्निसमतेजसौ ॥४७॥

तो वे क्यों अपने पंने बाणों से राक्षसों का नाश नहीं कर डालते । अथवा माई से पूँछ महाबलवान वीर, लक्ष्मण ही मेरी रक्षा क्यों नहीं करते ? वायु और अग्नि के समान तेजस्वी वे दोनों पुरुषसिंह ॥४६॥४७॥

सुराणामपि दुर्धर्षो किमर्थं मामुपेक्षतः ।

ममैव दुष्कृतं किञ्चिन्महदस्ति न संशयः ॥४८॥

जो देवताओं के लिए भी दुर्धर्ष हैं अर्थात् भजेय हैं, क्यों मेरी उपेक्षा कर रहे हैं । (इसका कारण यदि कुछ हो सकता है) तो यही कि, निस्सन्देह मेरे किसी जन्मातरुत बड़े पाप का फल यह आ उपस्थित हुआ है ॥४८॥

समर्थावपि तौ यन्मां नावेक्षेते परन्तपौ ।

वैदेह्या वचनं श्रुत्वा करुणं साश्रुभाषितम् ॥४९॥

क्योंकि वे दोनों शत्रुहता समर्थ होकर भी मेरी ओर ध्यान नहीं देते । सीताजी के करुणायुक्त और रोकर कहे हुए इन वचनों को सुन, ॥४९॥

अथाब्रवीन्महातेजा हनूमान्मारुतात्मजः ।

'त्वच्छोकविमुखो रामो देवि सत्येन मे शपे ॥५०॥

महातेजस्वी पवनपुत्र हनुमानजी कहने लगे—हे देवि ! मैं शपथपूर्वक सत्य कहता हूँ कि, श्रीरामचन्द्रजी तुम्हारे वियोगजन्य शोक के कारण विषयान्तर से पराङ्मुख हो रहे हैं ॥५०॥

रामे दुःखाभिपन्ने च लक्ष्मणः परितप्यते ।

कथंचिद्भ्रवती दृष्ट्वा न कालः परिशोचितुम् ॥५१॥

श्रीर बहुत दुःखी है । लक्ष्मण भी उनके दुःख से परितप्त हैं । अस्तु, किसी प्रकार मैंने तुम्हारा पता लगा लिया है । अब यह समय शोक करने का नहीं है ॥५१॥

इमं मुहूर्तं दुःखानां द्रक्ष्यस्यन्तमनिन्दिते ।

तावुभौ पुरुषध्याघ्नौ राजपुत्रौ महाबलौ ॥५२॥

१ त्वच्छोकविमुखो—त्वच्छोकैः विषयान्तरपराङ्मुखः । (गो०)

हे सुन्दरि ! यद्यपि इस समय तुम्हें कष्ट है, तथापि तुम शीघ्र ही, इससे छुटकारा पावोगी । वे दोनों महाबली पुरुषसिंह राजकुमार ॥५२॥

त्वद्दर्शनकृतोत्साहौ लङ्कां भस्मीकरिष्यतः ।

हत्वा च समरे क्रूरं रावणं सहबान्धवम् ॥५३॥

तुम्हारे दर्शन की लालसा से उत्साहित हो बन्धुबान्धव सहित दुष्ट रावण को युद्ध में मार कर और लका को जलाकर, भस्म कर डालेंगे ॥५३॥

राघवस्त्वां विशालाक्षि नेष्यति स्वां पुरीं प्रति ।

ब्रूहि यद्राघवो वाच्यो लक्ष्मणश्च महाबलः ॥५४॥

और हे विशालाक्षि ! श्रीरामचन्द्र तुमको अपनी अयोध्यापुरी की ले जायेंगे । अब तुम्हें महाबली श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मणजी से जो कुछ कहना हो, सो बतलाओ ॥५४॥

सुग्रीवो वापि तेजस्वी हरयोऽपि समागताः ।

इत्युक्तवति तस्मिंश्च सीता सुरसुतोपमा ॥५५॥

और तेजस्वी सुग्रीव तथा समागत वानरो से जो कुछ कहना हो सो भी बतलाओ । हनुमानजी का वचन सुन, देवतनया की तरह सीताजी ने ॥५५॥

उवाच शोकसन्तप्ता हनुमन्तं प्लवङ्गमम् ।

कौसल्या लोकभर्तारं सुपुत्रे यं मनस्विनी ॥५६॥

शोकसन्तप्त हो वानर हनुमानजी से कहा—मनस्विनी कौसल्या देवी ने जिन लीक-प्रति-पालक पुत्र की उत्पन्न किया है ॥५६॥

तं ममार्थं सुखं पृच्छ शिरसा चाभिवादय ।

स्रजश्च सर्वरत्नानि प्रिया याश्च वराङ्गनाः ॥५७॥

ऐश्वर्यं च विशालायां पृथिव्यामपि दुर्लभम् ।

पितरं मातरं चैव संमान्याभिप्रसाद्य च ॥५८॥

अनुप्रव्रजितो रामं सुमित्रा येन सुप्रजाः ।

अनुकूल्येन धर्मात्मा त्यक्त्वा सुखमनुत्तमम् ॥५९॥

(कौशल्या को) पहिले प्रणाम कह कर तुम मेरी ओर से उनकी (कौशल्या की) कुशल पूछना । मालामो, रत्नो, प्यारी स्त्रियो और पृथिवी के दुर्लभ ऐश्वर्य को त्याग तथा माता एव पिता को प्रसन्न करके जो श्रीराम के अनुगामी बन, बन में गए, जिनके होने से सुमित्रा देवी सुपुत्रवती कहलानी है, जिन्होंने भाई की भक्ति के वश हो, उत्तम सुखो को त्याग, ॥१७॥१८॥१९॥

अनुगच्छति काकुत्स्थं भ्रातारं पालयन्वने ।

सिंहस्कन्धो महाबाहुर्मनस्वी प्रियदर्शनः ॥६०॥

और जो भाई की रक्षा करते हुए बन में उनके पीछे-पीछे चलते हैं, जो सिंह के समान कंधे वाले, महाभुज, मनस्वी और देखने में अति सुन्दर हैं ॥६०॥

पितृवद्वर्तते रामे मातृवन्मां समाचरन् ।

ह्रियमाणां तदा वीरो न तु मां वेद लक्ष्मणः ॥६१॥

जो श्रीराम को पिता और मुझे माता समझ बर्ताव करते हैं, उन वीर लक्ष्मण को, उस समय रावण द्वारा मेरा हरा जाना न विदित हुआ ॥६१॥

वृद्धोपसेवी लक्ष्मीवाञ्छवतो न बहु भाषिता ।

राजपुत्रः प्रियः श्रेष्ठः सदृशः श्वशुरस्य मे ॥६२॥

देखो वृद्धसेवी, शोभावान्, समर्थ, कम बोलने वाले, राजकुमार, प्रिय, श्रेष्ठ और मेरे ससुर के समान ॥६२॥

मत्तः प्रियतरो नित्यं भ्राता रामस्य लक्ष्मणः ।

नियुक्तो धुरि यस्यां तु तामुद्वहति वीर्यवान् ॥६३॥

लक्ष्मण, मुझसे भी अधिक श्रीराम को प्यारे है और जो किसी कार्य में नियुक्त किए जाने पर उस कार्य को बड़ी चतुराई से पूरा करते हैं ॥६३॥

यं दृष्ट्वा राघवो नैव वृत्तमार्यमनुस्मरेत् ।

स भमार्याय कुशलं वक्तव्यो वचनान्मम ॥६४॥

जिनको देखने से श्रीरामचन्द्रजी को पिता की याद नहीं आती, उन लक्ष्मण से मेरे कथनानुसार कुशल कहना ॥६४॥

मृदुनित्यं शुचिर्दक्षः प्रियो रामस्य लक्ष्मणः ।

यथा हि वानरश्रेष्ठ दुःखक्षयकरो भवेत् ॥६५॥

हे वानरश्रेष्ठ ! जो लक्ष्मण मृदुल स्वभाव, पवित्र, सच्चरित्र, चतुर और श्रीरामचन्द्र के प्यारे हैं, उनसे इस प्रकार तुम कहना, जिससे वे मेरे दुःख को नाश करें ॥६५॥

त्वमस्मिन्कार्यनिर्योगेऽ प्रमाणं हरिसत्तम ।

राघवस्त्वत्समारम्भान्मयि घत्नपरो भवेत् ॥६६॥

हे कपिश्रेष्ठ ! तुम्ही इस कार्य के पूरा कराने के लिए व्यवस्थापक ही सो इस प्रकार कहना जिससे श्रीरामचन्द्रजी मेरे उद्धार के लिए प्रयत्नशील हो ॥६६॥

इदं ब्रूयाश्च मे नाथं शूरं रामं पुनः पुनः ।

जीवितं धारयिष्यामि मासं दशरथात्मजः ॥६७॥

मेरे शूर स्वामी से यह बात बार-बार कहना, कि हे दशरथात्मज ! मैं एक मास तक भीरु जीवित रहूँगी ॥६७॥

ऊर्ध्वं मासान्न जीवेयं सत्येनाहं ब्रवीमि ते ।

रावणेनोपरुद्धां मां निकृत्या पापकर्मणा ॥६८॥

मैं तुमसे सत्य-सत्य कहती हूँ कि एक मास से अधिक बीतने पर मैं जीती न बचूँगी । क्योंकि इस पापी रावण ने बड़ी बुरी तरह मुझे बन्द कर रखा है ॥६८॥

त्रातुमर्हसि वीर त्वं पातालादिव कौशिकीम् ।

ततो घस्त्रगतं मुक्त्वा दिव्यं चूडामणिं शुभम् ॥६९॥

सो जिस प्रकार वाराह भगवान ने, पाताल में पृथिवी का उद्धार किया था, उसी प्रकार श्रीरामचन्द्रजी मेरा यहाँ से उद्धार करें । तदनन्तर जानकीजी ने अपनी छोदनी के घाँवल से खोन कर सुन्दर चूडामणि ॥६९॥

प्रदेयो राघवायेति सीता हनुमते ददौ ।

प्रतिगृह्य ततो वीरो मणिरत्नमनुत्तमम् ॥७०॥

हनुमानजी को दी और कहा इसे श्रीरामचन्द्रजी को दे देना । उस उत्तम मणि को ले हनुमानजी ने ॥७०॥

अद्भुगुल्या योजयामास नह्यस्य प्राभवद्भुजः ।

मणिरत्नं कपिवरः प्रतिगृह्याभिवाद्य च ।

सीतां प्रदक्षिणं कृत्वा प्रणतः पार्श्वतः स्थितः ॥७१॥

उसे अपनी अंगुली में पहिना । क्योंकि वह उनकी भुजा में न आ सकी । उस मणिथ्रेष्ठ को ले और प्रणाम कर कपिथ्रेष्ठ हनुमानजी ने सीताजी की परिक्रमा की । तदनन्तर वे हाथ जोड़ कर, उनके समीप खड़े हो गए ॥७१॥

हर्षेण महता युक्तः सीतादर्शनजेन सः ।

हृदयेन गतो रामं शरीरेण तु निष्ठितः ॥७२॥

हनुमानजी सीताजी के दर्शन कर अत्यन्त प्रसन्न हो रहे हैं । उनका शरीर तो सीताजी के पास था । किन्तु मन द्वारा श्रीरामचन्द्रजी के पास पहुँच गए ॥७२॥

मणिवरमुपगृह्य तं महाहं

जनकनृपात्मजया धृतं प्रभावात् ।

गिरिरिव पवनावधूतमुक्तः

सुखितमनाः प्रतिसंक्रमं प्रपेदे ॥७३॥

इति अष्टात्रिंशः सर्ग ॥

बड़े यत्न से जिस मूल्यवान मणि को सीताजी ने अपने आँचल में बाँध कर रख छोड़ा था, उसे हनुमानजी लेकर, आँधी के झकोरों से मुक्त पर्वत शिखर की तरह प्रसन्न हुए । तदनन्तर उन्होंने वहाँ से लौटने की पर्वतशिखर पर की इच्छा की ॥७३॥

सुन्दरकाण्ड का अष्टतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

एकोनचत्वारिंशः सर्गः

मणिं दत्त्वा ततः सीता हनुमन्तमथाब्रवीत् ।

अभिज्ञानमभिज्ञातमेतद्रामस्य तत्त्वतः ॥१॥

तदनन्तर चूडामणि देकर सीताजी हनुमानजी से बोलीं कि इस चिन्हानो को श्रीरामचन्द्रजी भली भाँति जानते हैं ॥१॥

मणिं तु दृष्ट्वा रामो वै त्रयाणां संस्मरिष्यति ।

वीरो जनन्या मम च राज्ञो दशरथस्य च ॥२॥

इस चूडामणि को देख कर, श्रीरामचन्द्रजी को तीन जनो की याद आवेगी । मेरी, मेरी माता की और महाराज दशरथ की ॥२॥

स भूयस्त्वं समुत्ताहे चोदितो हरिसत्तम ।

अस्मिन्कार्यसमारम्भे प्रचिन्तय यदुत्तरम् ॥३॥

हे कपिश्रेष्ठ ! तुम इस कार्य में भलि भाँति प्रयत्न करना । क्योंकि मणि देख कर वे युद्ध करने के लिए तुमका प्रेरित करेंगे । अतः इस कार्य में उत्साह की वृद्धि करने के लिए आगे कर्तव्य कर्म का अभी से विचार कर लो ॥३॥

त्वमस्मिन्कार्यनिर्योगे प्रमाणं हरिसत्तम ।

हनुमन्यत्नमास्थाय दुःखक्षयकरो भव ॥४॥

हे कपिश्रेष्ठ ! इस कार्य को पूरा कराने के लिए तुम्ही व्यवस्थापक हो । हे हनुमान् ! तुम यत्नवान् होकर, मेरा दुःख दूर करो ॥४॥

तस्य चिन्तयतो यत्नो दुःखक्षयकरो भवेत् ।

स तथेति प्रतिज्ञाय मारुतिर्भूमविक्रमः ॥५॥

अब ऐसा यत्न विचारो जिससे मेरा दुःख दूर हो जाय । सीता का ऐसा वचन सुन, भीमपराक्रमी हनुमानजी तो बहुत प्रच्छा ऐसा ही करूँगा, कह कर, ॥५॥

शिरसावन्य वंदेही गमनापोपचक्रमे ।

ज्ञात्वा संप्रस्थितं देवी वानरं मारुतात्मजम् ॥६॥

श्रीर सीताजी को मस्तक नवा प्रणाम कर वहाँ से चलने की तैयार हुए । तब पवननन्दन हनुमानजी को वहाँ से चलने के लिए तैयार जान ॥६॥

वाष्पगद्गदया वाचा मैथिली धावयमब्रवीत् ।

कुशलं हनुमन्ब्रूयाः सहितो रामलक्ष्मणौ ॥७॥

जानकीजी ने गद्गद कण्ठ से हनुमानजी से कहा—हे हनुमान् ! श्रीराम-चन्द्रजी श्रीर लक्ष्मणजी से मेरी राजीखुशी कह देना ॥७॥

सुप्रीवं च सहामात्यं बृद्धान्सर्वाश्च वानरन् ।

ब्रूयास्त्वं वानरश्रेष्ठ कुशलं धर्मसंहितम् ॥८॥

हे वानरश्रेष्ठ ! मन्त्रियो सहित सुप्रीव तथा अन्य बड़े बड़े वनरो से भी मेरी खुशी-राजी के समाचार धर्म सहित ठीक-ठीक कह देना ॥८॥

[नोट—आदि कवि ने उक्त श्लोक में 'धर्मसंहितम्' दो शब्द दिए हैं । इससे जानकीजी का यह अभिप्राय जान पड़ता है कि, मैं यहाँ जिस प्रकार कुशल से हूँ—सो ईमानदारी के साथ ज्यों का त्यों कह देना ।]

यथा च स महाबाहुर्मा तारयति राघवः ।

अस्माद्दुःखाम्बुसंरोधात्त्वं समाधातुमर्हसि ॥९॥

श्रीर जिस तरह वे महाबाहु श्रीरामचन्द्रजी मुझे इस शोक मागर के पार लगावें, उस तरह उनको भली भाँति समझाना ॥९॥

जीवन्तीं मां यथा रामः संभावयति कीर्त्तिमान् ।

तत्तथा हनुमन्वाच्यो वाचा धर्ममवाप्नुहि ॥१०॥

हे हनुमान ! तुम इस प्रकार उनसे कहना कि, जिसने यशस्वी श्रीराम-चन्द्रजी मेरे जीवित रहते-रहते, मुझे मिल जायें । ऐसे वचन कहने से तुमको बड़ा पुण्य फल प्राप्त होगा ॥१०॥

नित्यमुत्साहयुक्ताश्च वाचः श्रुत्वा त्वयेरिताः ।

वर्धिष्यते दाशरथेः पौरुषं मदवाप्तये ॥११॥

यद्यपि श्रीरामचन्द्रजी तो सदा उत्साहवान रहते ही हैं, तो भी तुम्हारे मुख से मेरे सदेशों को सुन कर, प्राप्ति के लिए उनका पुरुषार्थ बढ़ेगा ॥११॥

मत्संदेशयुता वाचस्त्वत्तः श्रुत्वैव राघवः ।

परारुमर्षिधि वीरो विधिवत्संविधास्यति ॥१२॥

घोर मेरे सदेशयुक्त तुम्हारे वचन सुन कर, धीर श्रीरामचन्द्रजी यथाविधान अपना पराक्रम प्रकट करने को कटिबद्ध होंगे ॥१२॥

सीताया वचनं श्रुत्वा हनुमान्मारुतात्मजः ।

शिरस्यञ्जलिमाधाय वाक्यमुत्तरमब्रवीत् ॥१३॥

सीताजी के इन वचनों को सुन कर, पवननन्दन हनुमानजी ने हाथ जोड़ कर कहा ॥१३॥

क्षिप्रमेष्यति काकुत्स्थो ह्यृक्षप्रवरैर्वृतः ।

यस्ते युधि विजित्यारीञ्शोकं व्यपनयिष्यति ॥१४॥

हे देवि ! श्रीरामचन्द्रजी बहुत ही शीघ्र बड़े-बड़े बलवान वानरो घोर रीछों की सेना को साथ लेकर, यहाँ आवेंगे और शत्रुओं को मार, तुम्हारा शोक दूर करेंगे ॥१४॥

न हि पश्यामि मर्त्येषु नासुरेषु सुरेषु वा ।

यस्तस्य क्षिपतो बाणान्स्थातुमुत्सहतेऽप्रतः ॥१५॥

क्योंकि मनुष्य, देवता अथवा दैत्य योनियों में मुझे तो ऐसा कोई देख नहीं पड़ता, जो बाणों की वर्षा करते हुए श्रीरामचन्द्रजी के सामने खड़ा रह सके ॥१५॥

श्रप्यकंमपि पर्जन्यमपि वैवस्वतं यमम् ।

स हि सोढुं रणे शक्तस्तव हेतोर्विशेषतः ॥१६॥

हे देवि ! श्रीरामचन्द्रजी सशम में सूर्य, इन्द्र धीर यमराज का भी सामना कर सकते हैं धीर विशेष कर तुम्हारे लिए ॥१६॥

स हि सागरपर्यन्तां महीं शासितुमीहते ।
त्वन्नमित्तो हि रामस्य जयो जनकनन्दिनि ॥१७॥

हे जानकी ! वे तुम्हारे लिए सागर अखिल भूमण्डल को जीतने के लिए तैयार हुए हैं और जय भी उन्हीं की होगी ॥१७॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा सम्यक्सत्यं सुभाषितम् ।
जानकी बहु मेनेऽथ वचनं चेदमब्रवीत् ॥१८॥

हनुमानजी के पुक्तियुक्त, परमार्थयुक्त और श्रुतिमधुर वचनों को सुन, जानकीजी ने अति आदरपूर्वक यह वचन कहे ॥१८॥

ततस्तं प्रस्थितं सीता वीक्षमाणा पुनः पुनः ।
भर्तृस्नेहान्वितं वाक्यं सौहार्दादिनुमानयत् ॥१९॥

सीताजी ने जाने को तैयार खड़े हनुमानजी की ओर बार-बार देख, अपने प्रति अपने स्वामी का स्नेह प्रकट करने वाले सम्मानसूचक वचन कहे ॥१९॥

यदि वा मन्यसे वीर वसंकाहमरिन्दम ।
कस्मिन्श्चित्संबृते देशे विश्रान्तः श्वो गमिष्यसि ॥२०॥

हे शत्रुघो के दमन करने वाले वीर ! यदि ठीक समझो तो एक दिन और यहीं वही किसी गुप्त स्थान में रह जाओ और विश्राम कर कल चले जाना ॥२०॥

मम चेदल्पभाग्यायाः सानिध्यात्तव वानर ।
अस्य शोकस्य महतो मुहूर्तं मोक्षणं भवेत् ॥२१॥

योंकि तुम्हारे मेरे पास रहने से मूल अभागी का यह अपार दुःख, कुछ देर के लिए अवश्य घट जाता ॥२१॥

गते हि हरिशार्दूल पुनरागमनाय तु ।
प्राणानामपि सन्देहो मम स्यान्नात्र संशयः ॥२२॥

हे कपिश्रेष्ठ ! तुम्हारे यहाँ से लौट जाने पर और पुन यहाँ आने के समय तक मुझे सदेह है कि, मैं जीती रहूँ या न रहूँ ॥२२॥

तवादर्शनजः शोको भूयो मां परितापयेत् ।

दुःखाद्दुःखपरामृष्टां दीपयन्निव वानर ॥२३॥

हे वानर ! तुम्हारे न देखने का शोक भी मुझे सन्तप्त करेगा और वर्तमान दुःख से बढ कर यह दुःख केवल मुझे सतावेगा ही नहीं, बल्कि भस्म कर डालेगा ॥२३॥

अयं च वीर सन्देहस्तिष्ठतीव ममाग्रतः ।

सुमहांस्त्वत्सहायेषु हर्यृक्षेषु हरीश्वर ॥२४॥

हे वीर ! मुझे एक सदेह और भी है । वह यह कि, वानरराज सुभीब अपनी वानरी और रीछो की बडी भारी सेना ले ॥२४॥

कथं नु खलु दुष्पारं तरिष्यन्ति महोर्दधम् ।

तानि हर्यृक्षसैन्यानि तौ वा नरवरात्मजौ ॥२५॥

इस अपार महासागर के पार कैसे आ पावेंगे, वे दोनों भाई और रीछो, वानरो की सेना, कैसे पार हो सकेगी ॥२५॥

त्रायाणामेव भूतानां सागरस्यास्य लङ्घने ।

शक्तिः स्याद्वैनतेयस्य तव वा भारुतस्य वा ॥२६॥

तीन ही जन इस महासागर को पार कर सकते हैं । या तो गहडजी या नुम अथवा पवनदेव ॥२६॥

तदस्मिन्कार्यनिर्योगे वीरवं दुरतिक्रमे ।

किं पश्यसि समाधानं त्वं हि कार्यविदां वरः ॥२७॥

अतएव हे वीर ! इस दुरतिक्रम कार्य की सफलता में तुमने कौन-सा उपाय विचारा है । क्योंकि तुम कार्य को सफल करने वाले श्रेष्ठ जनों में सर्वश्रेष्ठ हो ॥२७॥

काममस्य त्वमेवैकः कार्यस्य परिसाधने ।

पर्याप्तः परवीरघ्न यशस्यस्ते फलोदयः ॥२८॥

हे शत्रुहन्ता ! एक तुम्हीं इस कार्य को पूरा कर सकते हो । अतएव यश को देने वाली सफलता तुम्ही को प्राप्त होगी ॥२८॥

बलैः समग्रैर्यदि मां रावणं जित्य संयुगे ।

विजयी स्वपुरीं यायात्तत्तस्य सदृशं भवेत् ॥२९॥

जब श्रीरामचन्द्रजी ससैन्य रावण को युद्ध में परास्त कर और विजयी हो मुझे अपनी राजधानी ले जायें, तब यह कार्य उनके स्वरूपानुरूप हो ॥२९॥

शरैस्तु सङ्कुलां कृत्वा लङ्कां परबलार्द्धिनः ।

मां नयेद्यदि काकुत्स्थस्तत्तस्य सदृशं भवेत् ॥३०॥

शत्रुहृता श्रीरामचन्द्रजी जब अपने तीरों से लकापुरी को पाट दें और मुझे यहाँ से ले चले, तब उनका यह कार्य उनके स्वरूपानुरूप हो ॥३०॥

तद्यथा तस्य विक्रान्तमनुरूपं महात्मनः ।

भवेदाहवशूरस्य तथा त्वमुपपादय ॥३१॥

अतएव हे वीर ! जिससे महामा रणविजयी श्रीरामचन्द्रजी के पराक्रम की ढाक बँडे, तुम वैसा ही प्रयत्न करना ॥३१॥

तदर्थोपहितं वाक्यं सहितं हेतुसंहितम् ।

निशाम्य हनुमाञ्छोषे' वाक्यमुत्तरमब्रवीत् ॥३२॥

सीताजी के पूर्ववर्णित अर्थयुक्त परस्परसंगत और वृत्तियुक्त वचनों को सुन, हनुमानजी आगे कहने लगे ॥३२॥

देवि ह्यृक्षसैन्यानामीश्वरः प्लवतां वरः ।

सुग्रीवः सत्त्वसंपन्नस्तवार्ये कृतनिश्चयः ॥३३॥

१ शेष—पूर्वमनुक्त । (गो०)

हे देवि । सुग्रीव वानरा और रीछो की सेनाओं के स्वामी हैं, वानरो में थोड़े हैं और बड़े बलवान हैं । वे तुम्हारा उद्धार करने का निश्चय कर चुके हैं ॥३३॥

स वानरसहस्राणां कोटीभिरभिसंवृतः ।

क्षिप्रमेष्यति वैदेहि राक्षसानां निवर्हणः ॥३४॥

सो वे हजारों और करोड़ो वानरो को साथ ले, राक्षसों का नाश करने को यहाँ बहुत शीघ्र आवेंगे ॥३४॥

तस्य विक्रमसंपन्नाः सत्स्ववन्तो महाबलाः ।

मनःसङ्कल्पसंपाता निदेशो हरयः स्थिताः ॥३५॥

उनकी आज्ञा में रहने वाले वानर लोग बड़े शूर, बड़े विक्रमी और मन के समान दीघ्रगामी हैं ॥३५॥

येषां नोपरि नाधस्तात्त्र तिर्यक्सज्जते गतिः ।

न च कर्मसु सोदन्ति महत्स्वमिततेजसः ॥३६॥

वे सब ऊपर-नीचे, आड़े, तिरछे सब ओर आ जा सकते हैं । अतुल तेज-सम्पन्न वानरगण बड़े-बड़े काम सहज ही में कर डालते हैं ॥३६॥

असकृत्सर्महोत्साहैः ससागरधराधरा ।

प्रवक्षिणीकृता भूमिर्वायुमार्गानुसारिभिः ॥३७॥

उन महोत्साही वानरो ने आकस्मात्तः से चल कर कितनी ही बार इस ससागरा और पर्वतों सहित पृथिवी की परिक्रमा कर डाली है ॥३७॥

मद्विशिष्टाश्च तुल्याश्च सन्ति तत्र यनौकसः ।

मत्तः प्रत्यवरः कश्चिन्नस्ति सुग्रीवसन्निधौ ॥३८॥

सुग्रीव के पास मुझसे बढ कर और मेरे समान ही सब वानर हैं । मुझसे हेटा वानर तो वहाँ कोई है ही नहीं ॥३८॥

अहं तावदिह प्राप्तः किं पुनस्ते महाबलाः ।

न हि प्रकृष्टाः प्रेष्यन्ते प्रेष्यन्ते हीतरे जनाः ॥३९॥

१ मनःसङ्कल्पसंपाता — मनोव्यापारतुल्यगमता । (गो०)

जब मैं ही यहाँ आ गया, तब उन महाबलवान् धानरो का तो कहना ही क्या है। ऐसे ही कामो में अर्थात् दूत बना कर, साधारण लोग ही भेजे जाते हैं, प्रधान नहीं ॥३६॥

तदलं परितापेन देवि शोको व्यपंतु ते ।

एकोत्पातेन ते लङ्कामेष्यन्ति हरियूथपाः ॥४०॥

हे देवि ! इस बात की तुम चिन्ता मत करो और शोक त्याग दो। वे धानरयूथपति एक हो छलांग में लका में आ जायेंगे ॥४०॥

मम पृष्ठगतौ तौ च चन्द्रसूर्याविधोदितौ ।

त्वत्सकाशं महासत्त्वौ नृसिंहावागमिष्यतः ॥४१॥

चन्द्र और सूर्य के समान वे महाबलवान और पुष्पसिंह दोनों भाई मेरी पीठ पर सवार हो, तुम्हारे पास आवेंगे ॥४१॥

तौ हि वीरौ नरवरौ सहितौ रामलक्ष्मणौ ।

आगम्य नगरं लङ्कां सायकैर्विधमिष्यतः ॥४२॥

वे दोनों पुष्पोत्तम वीरवर श्रीराम और लक्ष्मण एक साथ लका में आकर इस लकापुरी को तहस-नहस कर डालेंगे ॥४२॥

सगणं रावणं हत्वा राघवो रघुनन्दनः ।

त्वामादाय वरारोहे स्वपुरीं प्रतियास्यति ॥४३॥

हे सुन्दरि ! रघुनन्दन श्रीरामचन्द्रजी सपरिवार रावण को मार और तुमको ले, अयोध्या को जायेंगे ॥४३॥

तदाश्वसिंहि भद्रं ते भव त्वं कालकांक्षिणी ।

न चिराद्द्रक्ष्यसे रामं प्रज्वलन्तमिवानलम् ॥४४॥

हे सीते ! तुम्हारा मङ्गल हो। तुम श्रीरज धरो और समय की प्रतीक्षा करो। तुम बहुत शीघ्र प्रज्वलित अग्नि की तरह तेजस्वी श्रीरामचन्द्रजी को देखोगी ॥४४॥

निहते राक्षसेन्द्रेऽस्मिन्सपुत्रामात्यबान्धवे ।

त्व समेष्यसि रामेण शशाङ्केनेव रोहिणी ॥४५॥

पुत्रो, मन्त्रियो और बन्धुबान्धव सहित रावण के मारे जाने पर तुम उसी प्रकार श्रीरामचन्द्रजी से मिलोगी जिस प्रकार रोहिणी चंद्रमा से मिलती है ॥४५॥

क्षिप्रं त्वं देवि शोकस्य पारं यास्यसि मैथिलि ।

रावणं चैव रामेण निहतं द्रक्ष्यसेऽचिरात् ॥४६॥

हे मैथिलि देवि ! तुम बहुत शीघ्र इस शोकसागर के पार होगी और हे देवि बहुत शीघ्र तुम श्रीराम द्वारा रावण का मारा जाना देखोगी ॥४६॥

एवमाश्वास्य वैदेहीं हनुमान्मारुतात्मजः ।

गमनाय मतिं कृत्वा वैदेहीं पुनरब्रवीत् ॥४७॥

पवननन्दन हनुमानजी इस प्रकार सीता की घोरज बंधा और वहाँ से लौटने का विचार कर, सीता से पुन बोले ॥४७॥

तमरिष्ठं कृतात्मानं क्षिप्रं द्रक्ष्यसि राघवम् ।

लक्ष्मणं च धनुष्पाणिं लङ्काद्वारमुपस्थितम् ॥४८॥

हे देवि ! तुम हाथ में धनुष लिए हुए उन शत्रुहन्ता विजयी श्रीरामचन्द्रजी तथा लक्ष्मणजी को बहुत शीघ्र लका के द्वार पर प्राया हुआ देखोगी ॥४८॥

नखदंष्ट्रायुधान्वीरान्सिंहशार्दूलविक्रमान् ।

वानरान्धारणेन्द्राभान्क्षिप्रं द्रक्ष्यसि सङ्गतान् ॥४९॥

तुम लका में एकत्र हुए, नखों और दाँतों से लड़ने वाले, सिंह और शार्दूल के समान विक्रमों और हाथियों के समान विशाल शरीरधारी वीर वानरों को भी शीघ्र देखोगी ॥४९॥

शैलाम्बुदनिकाशानां लङ्कामलयसानुषु ।

नदंतां कपिमुख्यानामचिराच्छोष्यसि स्वनम् ॥५०॥

पर्वत और मेघ के समान बड़े बड़े शरीरधारी और लका के इस मलयाचल पर गर्जना करते हुए धानरो के शब्द को तुम बहुत जल्द सुनोगी ॥५०॥

स तु मर्मणि घोरेण ताडितो मन्मथेषुणा ।

न शर्म लभते रामः सिंहादित इव द्विपः ॥५१॥

हे देवि ! श्रीरामचन्द्रजी आपके वियोग में कामदेव के बाणों से पीड़ित हो, सिंह द्वारा घायल हाथी की तरह, घड़ी भर भी चैन नहीं पाते ॥५१॥

मा रुदो देवि शोकेन मा भूते 'मनसो भयम् ।

शचीव पत्या शक्रेण भर्त्रा नाथवती ह्यसि ॥५२॥

हे देवि ! न तो तुम अब रुदन करो, न दुःखी हो और न अब किसी बात से डरो । तुम शची की तरह इन्द्र तुल्य अपने पति से मिलोगी ॥५२॥

रामाद्विशिष्टः कोऽन्योस्ति कश्चित्सौमित्रिणा समः ।

अग्निमारुतकल्पो तौ भ्रातरौ तव संश्रयो ॥५३॥

जरा विचारो तो श्रीरामचन्द्रजी से बढ़कर और लक्ष्मणजी के समान जगत् में और है कौन ! सो वे दोनों माई, जो अग्नि और पवन के समान हैं, तुम्हारे भवलब हैं ॥५३॥

नास्मिश्चिरं वत्स्यसि देवि देशे

रक्षोगणैरध्युषितेऽतिरौद्रे ।

न ते चिरादागमनं प्रियस्य

क्षमस्व भत्सङ्गमकालमात्रम् ॥५४॥

इति एकोनचत्वारिंश सर्ग ॥

हे देवि ! तुम राक्षसों की इस पुरी में, जो अत्यन्त भयकर है बहुत दिनों अब न रहोगी और न तुम्हारे प्यारे पति के यहाँ आने ही में अब विलम्ब है । बस तुम तब तक प्रतीक्षा करो जब तक मैं श्रीरामचन्द्रजी से जाकर मिलूँ ॥५४॥

मुदरकाण्ड का उनतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

— * —

चत्वारिंशः सर्गः

श्रुत्वा तु वचनं तस्य वायसूनोर्महात्मनः ।

उवाचात्महितं वाक्यं सीता सुरसुतोपमा ॥१॥

महात्मा पवननन्दन के वचन सुन, देवकन्या के समान सीता अपने हित या मनलव की बात बोली ॥१॥

त्वां दृष्ट्वा प्रियवक्तारं संप्रहृष्यामि वानर ।

अर्धसञ्जातसस्येव वृष्टिं प्राप्य वसुन्धरा ॥२॥

हे वानर ! तुझ प्यारे वचन बोलने वाले को देख, मुझे बँसा ही हर्ष प्राप्त हुआ है जैसा कि आधे उगे धान्य से युक्त पृथिवी को जलवृष्टि से होता है ॥२॥

यथा तं पुरुषव्याघ्रं गात्रैः शोकाभिकर्शितैः ।

संस्पृशेयं^१ सकामाऽहं तथा कुरु दयां मयि ॥३॥

तुम मेरे ऊपर दया करके ऐसा करना कि जिससे उत्कट इच्छा रखने वाली मैं शोककर्षित उन पुरुषसिंह श्रीरामचंद्रजी से मिल-भेंट सकूँ ॥३॥

अभिज्ञानं च रामस्य दद्या हरिगणोत्तम ।

क्षिप्तामिषीकां काकस्य कोपादेकाक्षिशतनीम् ॥४॥

मनःशिलायास्तिलको गण्डपार्श्वे निवेशितः ।

त्वया प्रनष्टे तिलके तं किल स्मर्तुमर्हसि ॥५॥

हे वानरोत्तम ! तुम श्रीरामचंद्रजी को उस काक की आँख फोड़ने वाली पहचान अवश्य बतला देना और यह कह देना कि जब एक बार मेरा तिलक मिट गया था तब तुमने मेरे गालों पर मैनसिल का तिलक लगा दिया था सो इसका भी स्मरण करो ॥४॥५॥

स वीर्यवान्कथं सीतां हृतां समनुमन्यसे ।

वसन्तीं रक्षसां मध्ये महेन्द्रवरुणोपमः ॥६॥

तुम इन्द्र और वरुण के समान बतवान होकर भी राक्षसों के बीच रहने वाली सीता की उपेक्षा क्यों करते हो ? ॥६॥

एष चूडामणिदिव्यो मया सुपरिरक्षितः ।

एतं दृष्ट्वा प्रहृष्यामि व्यसने त्वामिवानघ ॥७॥

देखो, यह दिव्य चूडामणि, मैंने अपने पास बड़े यत्न से रख छोड़ी थी और इसे जब देखती तब इस दुःख में भी मुझे वंसा ही आनन्द प्राप्त होता था जैसा तुम्हें प्रत्यक्ष देखने से होता है ॥७॥

एष निर्यातितः श्रीमान्मया ते वारिसंभवः ।

अतः परं न शक्यामि जीवितुं शोकलालसा ॥८॥

अब मैं इस जल से उत्पन्न मणि को तुम्हारे पास चिन्हानी के रूप में भेजती हूँ । इसको तुम्हारे पास भेज, मैं दुखियारी न जी सकूँगी ॥८॥

असह्यानि च दुःखानि वाचश्च हृदयच्छिदः ।

राक्षसीनां सुघोराणां त्वत्कृते मर्षयाम्यहम् ॥९॥

यहाँ मुझे असह्य दुःख झेलने पड़ते हैं और भयकर राक्षसियों के मर्मभेदी वचन सुनने पड़ते हैं । ये तुम्हारे लिए ही मैं सह रही हूँ ॥९॥

धारयिष्यामि मासं तु जीवितं शत्रुसूदन ।

मासादूर्ध्वं न जीविष्ये त्वया हीना नृपात्मज ॥१०॥

हे शत्रुसूदन ! अब से एक मास तक और मैं तुम्हारी बाट जोहती हुई जीवित रहूँगी । हे राजकुमार ! एक मास बीतने के बाद तुम्हारे दर्शन न हुए तो मैं प्राण त्याग दूँगी ॥१०॥

घोरो राक्षसराजोऽयं दृष्टिश्च न भुक्त्वा मयि ।

त्वां च श्रुत्वा विषज्जन्तं न जीवेयमहं क्षणम् ॥११॥

राक्षसराज रावण अत्यन्त निंदुर है । मुझे इसकी सूरत देखना भी अच्छा नहीं लगता । यदि तुमने यहाँ आने में बिसम्ब किया और यह बात मैंने सुनी, तो एक क्षण भी मैं जीवित न रहूँगी ॥११॥

वन्देह्या वचनं श्रुत्वा करुणं साश्रुभाषितम् ।

अथाऽब्रवीन्महातेजा हनुमान्मारुतात्मजः ॥१२॥

जानकीजी के रुदनपूर्वक कहे हुए इन वचनों को सुन, महा तेजस्वी पवन-नन्दन हनुमानजी कहने लगे ॥१२॥

त्वच्छ्लोकविमुखो रामो देवि सत्येन ते शपे ।

रामे दुःखाभिभूते तु लक्ष्मणः परितप्यते ॥१३॥

हे देवि ! मैं शपथपूर्वक सत्य-सत्य कहता हूँ कि, श्रीरामचन्द्रजी तुम्हारे वियोग-जन्य-शोक से उदास हैं और उनकी दशा देख लक्ष्मण भी सतप्त रहा करते हैं ॥१३॥

कथंचिद्भ्रूवती दृष्ट्वा न कालः परिशोचितुम् ।

इमं मुहूर्तं दुःखानामन्तं द्रक्ष्यसि भामिनि ॥१४॥

संयोगवश मैंने किसी तरह अब तुमको देख पाया है । सो अब हे भामिनी ! अब तुम शीघ्र ही इन दुःखों का अन्त देखोगी अर्थात् दुःखों से छूट जाओगी ॥१४॥

तावुभौ पुरुषव्याघ्रौ राजपुत्रावरिन्दभौ ।

त्वद्दर्शनकृतोत्साहौ लङ्कां भस्मीकरिष्यतः ॥१५॥

वे दोनों पुरुषसिंह, शत्रुहन्ता राजकुमार तुम्हारे देखने के लिए उत्साहित हो, लका को जला कर भस्म कर डालेंगे ॥१५॥

हत्वा तु समरे क्रूरं रावणं सहवान्धवम् ।

राघवो त्वां विशालाक्षि स्वां पुरीं प्रापयिष्यतः ॥१६॥

हे विशालाक्षि ! बन्धुवान्धव सहित निष्ठुर रावण को मार, श्रीरामचन्द्रजी तुमको अयोध्या ले जायेंगे ॥१६॥

यत्तु रामो विजानीयादभिज्ञानमनिन्दिते ।

प्रीतिसञ्जननं तस्म भूयस्त्वं दातुमर्हसि ॥१७॥

हे गुन्दरि ! जिस चिन्हानी को श्रीरामचन्द्रजी चीहते हो और जिसको देखते ही उनके मन में विश्वास उत्पन्न हो, मुझे ऐसी चिन्हानी कोई और दो ॥१७॥

साद्यवीहृत्तमेवेति मयाभिज्ञानमुत्तमम् ।

एतदेव हि रामस्य दृष्ट्वा मत्केशभूषणम् ॥१८॥

इस पर सीताजी कहने लगी, हे वीर ! मैंने तुमको यह श्रेष्ठ चूडामणि चिन्हानी दी है, जिसको देख ॥१८॥

श्रद्धेयं हनुमन्वाक्यं तव वीर भविष्यति ।

स तं मणिवरं गृह्य श्रीमान्प्लवगसत्तमः ॥१९॥

हे वीर ! श्रीरामचन्द्र तुम्हारे वचनो पर विश्वास कर लेंगे । तब शोभायमान जानरश्रेष्ठ हनुमानजी उस मणिश्रेष्ठ को ले, ॥१९॥

प्रणम्य शिरसा देवीं गमनायोपचक्रमे ।

तमुत्पातकृतोत्साहमवेक्ष्य हरिपुङ्गवम् ॥२०॥

वर्धमानं महावेगमुवाच जनकात्मजा ।

अश्रुपूर्णमुखी दीना बाष्पगद्गदया गिरा ॥२१॥

और जानकीजी को सीस नवा कर प्रणाम कर, वहाँ से चलने को तैयार हुए । हनुमानजी को छलांग मारने के लिए तैयार और बड़ी तेजी के साथ घरीर को बढाते हुए देख, सीताजी आँखों में आँसू भर गद्गद कण्ठ से बोलीं ॥२०॥२१॥

हनुमन्सिंहसङ्काशौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ।

सुप्रीवं च सहामात्यं सर्वान्भ्रूया ह्यनामयम् ॥२२॥

हे हनुमान ! सिंह समान पराक्रमी दोनो भाई श्रीराम और लक्ष्मण से और मन्त्रियो सहित सुप्रीवादि सब वानरो से मेरा कुशल वृत्तात कह देना ॥२२॥

यथा च स महाबाहुर्मां तारयति राघवः ।

अस्माद्दुःखाम्बुसंरोधात्त्वं समाधातुमर्हसि ॥२३॥

गौर जैसे महाबाहु श्रीरामचन्द्रजी मुझे इस शोकसागर से उबारें, वैसे ही तुम उनको समझा देना ॥२३॥

इमं च तीव्रं मम शोकवेगं

रक्षोभिरेभिः परिभत्संनं च ।

ब्रूयास्तु रामस्य गतः समीपं

शिवश्च तेऽध्वास्तु हरिप्रवीर ॥२४॥

हे कपिश्रेष्ठ ! मेरे इस तीव्र शोक के वेग का तथा राक्षसों द्वारा मेरी दुर्दशा का वृत्तांत तुम श्रीरामचन्द्रजी के पास जाकर कह देना । मैं प्राचीर्वाद देती हूँ कि, तुम्हारी यात्रा निर्विघ्न पूरी हो ॥२४॥

स राजपुत्र्या प्रतिवेदितार्थं

कपिः कृतार्थः परिहृष्टचेताः ।

अल्पावशेषं प्रसमीक्ष्य कार्यं

दिशं ह्युदीचीं मनसा जगाम ॥२५॥

इति चत्वारिंशः सर्गः ॥

श्रीहनुमानजी राजपुत्री सीता का समस्त हास जान लेने से, सफ़जमनोरथ होने के कारण परम प्रसन्न हुए और थोड़े से बचे हुए कार्य के विषय में विचार करते हुए मन द्वारा वे उत्तर दिशा को प्रस्थानित हो गए ॥२५॥

सुन्दरकाण्ड का चालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—:०:—

एकचत्वारिंशः सर्गः

स च वाग्भिः प्रशस्ताभिर्गमिष्यन्पूजितस्तया ।

तस्माद्देशादपाक्रम्य चिन्तयामास वानरः ॥१॥

वहाँ से चलने के समय सीताजी की सुन्दर वचनावली द्वारा सम्मानित हो, गमन करने की इच्छा से, हनुमानजी उस स्थान से हट कर और दूसरे स्थान पर जा कर विचारने लगे ॥१॥

अल्पशेषमिदं कार्यं दृष्टेयमसितेक्षणा ।

त्रीनुपायानतिरुम्य चतुर्थं इह ^१दृश्यते ॥२॥

इन कृष्ण-भेद-वाली जानकीजी का तो दर्शन मिल गया, किन्तु एक छोटा कार्य और करना रह गया है । सो उसके करने के लिए पहिले तीन उपायों (भ्रयात् साम, दान और भेद) से तो काम होता देख नहीं पड़ता । हाँ, चौथे उपाय (भ्रयात् दण्ड या बलप्रदर्शन) से काम हो सकता है ॥२॥

न साम रक्षःसु गुणाय कल्पते

न दानमर्थोपचि तेषु युज्यते ।

न भेदसाध्या बलदर्पिता जनाः

पराक्रमस्त्वेव ममेह । रोचते ॥३॥

ये राक्षस बड़े क्रूर स्वभाव वाले हैं—भत खुशामद बरामद से यहाँ काम नहीं निकल सकता । उनके पास धन सम्पत्ति की कमी नहीं; भत उनको धन सम्पत्ति देने की लालच दिखाना भी व्यर्थ ही है । बलदर्पित पुरुषों में भेद डाल कर भी काम निकालना कठिन है । भतः शेष कार्य को करने के लिए (दण्डनीति) पराक्रम प्रकाश करना ही मुझे ठीक जान पड़ता है ॥३॥

न चास्य कार्यस्य पराक्रमादृते

विनिश्चयः कश्चिदिहोपपद्यते ।

हतप्रवीरास्तु रणे हि राक्षसाः

कथंचिदीयुर्यदिहाद्य भार्दवम् ॥४॥

दूसरे के बल की जाँच करने के लिए स्वपराक्रम प्रकट करने के अतिरिक्त मुझे अन्य कोई उपाय कार्यसिद्धि करने वाला नहीं देख पड़ता । जब राक्षसों

१ पाठान्तरे—'लक्ष्यते ।'

के पक्ष के कतिपय वीर मारे जायेंगे तब समव है, राक्षस भागे के युद्ध में डीले पड़ जायें ॥४॥

कार्ये कर्मणि निर्दिष्टे यो बहून्यपि साधयेत् ।

पूर्वकार्याविरोधेन स कार्यं कर्तुमर्हति ॥५॥

मुख्य कार्य को प्रथम करके और मुख्य कार्य को हानि न पहुँचाते हुए, जो दूत और भी कई एक कार्य पूरे कर डाले, तो वही दूत वास्तव में कार्य करने के योग्य कहा जा सकता है ॥५॥

न ह्येकः साधको हेतुः स्वल्पस्यापीह कर्मणः ।

यो ह्यर्थं बहुधा वेद स समर्थोऽर्थसाधने ॥६॥

जो व्यक्ति छोटे से किसी एक काम को बड़े प्रयत्न से पूरा करता है, वह कार्यसाधक नहीं कहा जा सकता । किन्तु जो सामान्य प्रयास से अपने कार्य को धनेक प्रकार से पूरा कर डाले, उसी को कार्य करने के योग्य कहना चाहिए ॥६॥

इहैव तावत्कृतनिश्चयो ह्यहं

यदि व्रजेयं प्लवगेश्वरालयम् ।

परात्मसंमर्दविशेषतत्त्ववित्

ततः कृतस्यान्मम भर्तृशासनम् ॥७॥

यद्यपि मैंने अब मुगीव के समीप जाते ही का निश्चय कर लिया है; तथापि शत्रु के साथ जब मेरा युद्ध होगा तब अपने और शत्रु के बलाबल का ठीक-ठीक विचार कर लूँगा । तदनन्तर यहाँ से चलूँगा, तभी तो स्वामी के आदर्श का यथावत् पालन हो सकेगा ॥७॥

कथं नु खल्वद्य भवेत्सुखागतं

प्रसह्य युद्धं मम राक्षसैः सह ।

तथैव खल्व्वात्मघ्नं च सारवत्

समानयेन्मां च रणे दशाननः ॥८॥

इस समय क्या कहूँ जिससे राक्षसों के साथ सहज में मेरा युद्ध ठन जाय
क्योंकर रावण मुझको रणक्षेत्र में खड़ा देख, अपनी सेना की और मेरे बल
की उत्कृष्टता अपवृष्टता जान ले ॥५॥

ततः समासाद्य रणे दशानन
समन्त्रिवर्गं सबलप्रयायिनम् ।
हृदि स्थितं तस्य मतं बलं च वै
सुखेन मत्त्वाऽहमितः पुनर्व्रजे ॥६॥

मन्त्री, सेना तथा अपने सुहृदों के सहित रावण को युद्ध में पाकर अभी
उसके हृद्गत भावों को तथा उसके बल को जान कर मैं फिर सुखपूर्वक यहाँ
से खाना ही आऊँगा ॥६॥

इदमस्य नृशंसस्य नन्दनोपममुत्तमम् ।
वनं नेत्रमनःकान्तं नानाद्रुमलतायुतम् ॥१०॥
इदं विध्वंसयिष्यामि शुष्कं वनमिवानलः ।
अस्मिन्भग्ने ततः कोपं करिष्यति दशाननः ॥११॥

(तदनन्तर हनुमानजी मन ही मन कहने लगे कि, सब से सहज उपाय यह
है कि) इस निहुर रावण के नन्दनकानन तुल्य, नेत्रों और मन को सुखी करने
वाले, नाना लताओं और विविध प्रकार के वृक्षों से भरे पूरे इस अशोक वन
को, मैं वैसे ही नष्ट कर डालूँ जैसे सूखे वन को अग्निदेव नष्ट करते हैं । इस
वन के नष्ट होने पर रावण अवश्य ही क्रुद्ध होगा ॥१०॥११॥

ततो महत्साश्वमहारथद्विपं
बलं समादेक्ष्यति राक्षासाधिपः ।

त्रिशूलकालायसपट्टसायुधं
ततो महद्बुद्धमिदं भविष्यति ॥१२॥

तब वह घोड़, रथ और हाथियों सहित, त्रिशूल, खड्ग पटाधारिणी अपनी
बड़ी सेना मुझसे लड़ने के लिए भेजेगा । तब बड़ी भारी लड़ाई होगी ॥१२॥

अहं तु तैः संयति चण्डविक्रमैः

समेत्य रक्षोभिरसह्यविक्रमः ।

निहत्य तद्रावणचोदितं बलं

सुखं गमिष्यामि कपीश्वरालयम् ॥१३॥

मैं भी उन प्रचण्ड पराक्रमी राक्षसों का भयकर पराक्रम के साथ सामना करूँगा और युद्ध करके रावण की भेजी हुई समस्त सेना का नाश कर, किष्किन्धापुरी को मजे में चला जाऊँगा ॥१३॥

ततो मारुतवत्क्रुद्धो मारुतिर्भौमविक्रमः ।

उरुवेगेन महता द्रुमान्क्षेप्तुमथारभत् ॥१४॥

तदनन्तर भयंकर विक्रमशाली पवननन्दन हनुमानजी क्रुद्ध हो पवन की तरह बड़े वेग से मशोकवन के वृक्षों को उखाड़ने लगे ॥१४॥

ततस्तु हनुमान्वीरो बभञ्ज प्रमदावनम् ।

मत्तद्विजसमाघुष्टं नानाद्रुमलतायुतम् ॥१५॥

तब वीर हनुमान ने मतवाले पक्षियों से कूजित और विविध प्रकार के वृक्षों से मुशोभित रावण का मन्त-पुरवन विध्वंस कर डाला ॥१५॥

तद्वनं मथितैर्वृक्षैर्भिन्नैश्च सलिलाशयैः ।

चूर्णितैः पर्वताग्रैश्च बभूवाप्रियर्शनम् ॥१६॥

वह वन वृक्षों के गिर जाने, जलाशयों के नष्ट हो जाने तथा पर्वतशिखरों के टूट जाने से बहुत ही बुरा देख पड़ने लगा ॥१६॥

नानाशकुन्तविहृतैः प्रभिर्न्नैः सलिलाशयैः ।

ताम्रैः कितलपैः क्लान्तैः क्लान्तद्रुमलतायुतम् ॥१७॥

विविध प्रकार के जलचर पक्षियों के तितर-बिनर हो जाने से, पुष्करिणियों के टूट जाने से, लाल-लाल नवीन पत्तों के मुरझाने से तथा लता सहित वृक्षों के क्लान्त हो जाने से ॥१७॥

१ प्रमदावनम्—मन्त-पुरवनम् । (गो०)

न बभौ तद्वनं तत्र दावानलहतं यथा ।

व्याकुलावरणा रेजुविह्वला इव ता लताः ॥१८॥

दावानल के भस्म हुए वन की तरह वह उपवन हो गया । झोढनी खसकी हुई व्याकुल स्त्रियों की तरह, लताओं की दशा हो गई ॥१८॥

लतागृहैश्चित्रगृहैश्च नाशितैः

महोरगैर्व्यालमृगैश्च निर्धुतैः ।

शिलागृहैरुन्मथितैस्तथा गृहैः

प्रनष्टरूपं तदभून्महद्वनम् ॥१९॥

लतागृह, चित्रगृह सभी नष्ट कर डाले गए । वहाँ के सिंह, शार्दूल मृग तथा पक्षी पीडित हो कोलाहल करने लगे । वहाँ जो पत्थर के बने घर थे उनको भी हनुमानजी ने गिरा दिया । उस बड़े भारी उपवन की सुन्दरता बिल्कुल नष्ट-भ्रष्ट कर दी गई ॥१९॥

सा विह्वलाशोकलताप्रताना

वनस्थली शोकलताप्रताना ।

जाता दशास्यप्रमदावनस्य

कपेर्वलाद्धि प्रमदावनस्य ॥२०॥

हनुमानजी ने वहाँ के भ्रशोक लतामण्डपों को नष्ट कर, उस उपवन की भूमि को शोभाहीन कर दिया । अपने बल से राक्षसराज के उस प्रमदावन (घन्त-पुरवन) को हनुमानजी ने शोकवन बना डाला ॥२०॥

स तस्य कृत्वाऽथपतेर्महाकपिः

महद्व्यलीकं मनसो महात्मनः ।

युयुत्सुरेको बहुभिर्महाबलैः

श्रिया ज्वलंस्तोरणमास्थितः कपिः ॥२१॥

इति एकचत्वारिंश. सर्गः ॥

महाबलवान हनुमानजी रावण के मन को व्यथा पहुँचाने वाले (अशोकवन का नाम) कार्य को कर, अथवा रावण की बड़ी नारी हानि कर भनेक राक्षसों के साथ युद्ध करने का कामना से, उस वाग के बड़े फाटक के ऊपर जा बँटे ॥२१॥

मुन्दरकाण्ड का एकनालीमवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

द्विचत्वारिंशः सर्गः

ततः पक्षिनिनादेन वृक्षभङ्गस्वनेन च ।

धभूवुस्त्राससंभ्रान्ताः सर्वे लङ्कानिवासिनः ॥१॥

अशोकवन के पक्षियों के कोनाहन को तथा वहाँ वृक्षों के टूटने के शब्द को सुनकरा के रहने वाले सब लोग बहुत डर गए ॥१॥

विद्रुताश्च भयत्रस्ता विनेदुर्मृगपक्षिणः ।

रक्षसां च निमित्तानि क्रूराणि प्रतिपेदिरे ॥२॥

उस अशोक वन के मृग और पक्षी डर कर भागे और राक्षसों को विविध प्रकार के बुरे-बुरे चक्रेण होने लगे ॥२॥

ततो गतायां निद्रायां राक्षस्यो विकृताननाः ।

तद्वनं ददृशुर्भग्नं तं च वीरं महाकपिम् ॥३॥

इतने में वे भयकर आकृति वाली राक्षसियाँ जो मुराये के समय सो गई थीं जागीं और उग्र वन को सब प्रकार से घुस्र देखा और वीर हनुमानजी को भी वहीं देखा ॥३॥

स ता दृष्ट्वा महाबाहुर्महासत्त्वो महाबलः ।

चकार सुमहदृष्ट्यं राक्षसीनां भयावहम् ॥४॥

महाबलवान हनुमानजी ने राक्षसियों को देख उनकी डरने के लिए भयंकररूप धारण कर लिया ॥४॥

ततस्तं गिरिसङ्काशमतिकायं महाबलम् ।

राक्षस्यो वानर दृष्ट्वा पप्रच्छुर्जनकात्मजाम् ॥५॥

तदनंतर छन पवताकार महाविशाल शरारधारी महाबलवान हनुमानजी को देख, राक्षसिया जनकनन्दिनी स पूछन लगी ॥५॥

कोऽय कस्य कुतो वाऽय किनिमित्तमिहागतः ।

कथ त्वया सहानेन सवादः कृत इत्युत ॥६॥

हे सीते ! यह कौन है, किसका भजा हुआ आया है, कहां से आया है और किसलिए यहाँ आया है तुमन इससे क्या और क्या बातचीत की ॥६॥

आचक्ष्व नो विशालाक्षि मा भत्ते सुभगे भयम् ।

संवादमसितापाङ्गे त्वया कि कृतवानयम् ॥७॥

हे विशालाक्षि ! डरो मत और हमको बतला दो कि तुमसे इसने क्या-क्या कहा है ॥७॥

अथाब्रवीत्तदा साध्वी सीता सर्वाङ्गसुन्दरी ।

रक्षसा भीमरूपाणा विज्ञाने मम का गतिः ॥८॥

इस पर सती एव सर्वाङ्गसुन्दरी सीता ने उनको उत्तर देते हुए कहा—
कामरूपी भयकर राक्षसी की माया मला मैं क्या जान सकती हूँ ॥८॥

यूयमेवाभिजानीत योऽयं यद्वा करिष्यति ।

अहिरेव ह्यहेः पादान्विजानाति न सशयः ॥९॥

यह तो तुम्हीं जान सकती हो कि यह कौन है और क्या करने वाला है । क्योंकि निस्सन्देह साँप के पैर को साँप ही पहचान सकता है ॥९॥

अहमप्यस्य भीताऽस्मि नैनं जानामि कोन्वयम् ।

वेद्यि राक्षसमेवैनं कामरूपिणमागतम् ॥१०॥

मैं स्वयं बहुत भयभीत हो रही हूँ । मैं क्या जानूँ यह कौन है, किन्तु घनुमान से मैं तो यही जानती हूँ कि यह कोई कामरूपी राक्षस है ॥१०॥

वैदेह्या वचनं श्रुत्वा राक्षस्यो विद्रुता दिशः ।

स्थिताः काश्चिद्गताः काश्चिद्रावणाय निवेदितुम् ॥११॥

सीताजी की बातें सुन राक्षसियाँ चारों ओर भाग खड़ी हुईं । कोई तो भयभीत हो कुछ दूर वहाँ से हट कर खड़ी हो गई और कई एक यह हाल कहने के लिए रावण के पास चली गईं ॥११॥

रावणस्य समीपे तु राक्षस्यो विकृताननाः ।

विरूपं वानरं भीममाख्यातुमुपचन्द्रमुः ॥१२॥

उन भयकर आकृति वाली राक्षसियों ने रावण के पास जाकर विकराल रूपधारी वानर के आने का समाचार कहा ॥१२॥

अशोकवनिकामध्ये राजन्भीमवपुः कपिः ।

सीतया कृतसंवादस्तिष्ठत्यमितविक्रमः ॥१३॥

वे कहने लगी— हे राजन् ! अशोकवाटिका में एक भयकर रूपधारी वानर आया हुआ है । वह अमित बलसम्पन्न है । उसने सीताजी से बातचीत भी की और अब भी वह वहीं है ॥१३॥

न च तं जानकी सीता हरि हरिणलोचना ।

अस्माभिर्बहुधा पृष्ठा निवेदयितुमिच्छति ॥१४॥

हम लोगो ने उस मृगनयनी सीता से बार-बार पूछा कि, तुम्हारी और वानर की क्या बातचीत हुई, किन्तु वह उसको बतलाना नहीं चाहती ॥१४॥

वासवस्य भवेद्दूतो दूतो वैश्रवणस्य वा ।

प्रेषितो वाऽपि रामेण सीतान्वेषणकाङ्क्षया ॥१५॥

हमारी समझ में तो वह सम्भवत इन्द्र अथवा कुबेर का दूत है अथवा राम का भेजा हुआ दूत, सीता को खोजने के लिए आया है ॥१५॥

तेन त्वद्भुतरूपेण यत्तत्त्व मनोहरम् ।

नानामृगगणाकीर्णं प्रमूढं प्रमदावनम् ॥१६॥

हे महाराज ! उस अद्भुत रूपधारी वानर ने तुम्हारे सुन्दर, अनेक पशु पक्षियों से सुशोभित, प्रमदावन को नष्टभ्रष्ट कर डाला है ॥१६॥

न तत्र कश्चिद्दुद्देशो यस्तेन न विनाशितः ।

यत्र सा जानकी सीता स तेन न विनाशितः ॥१७॥

उस बाटिका में ऐसा कोई भी स्थान नहीं है, जो उसने नष्ट न कर डाला हो । परन्तु जहाँ पर सीता बँधी है, केवल उस स्थान को उसने बचा दिया है ॥१७॥

जानकीरक्षणार्थं वा श्रमाद्वा नोपलक्ष्यते ।

अथवा कः श्रमस्तस्य सैव तेनाभिरक्षिता ॥१८॥

यह नहीं कहा जा सकता कि ऐसा उसने जानकी की रक्षा करने के लिए किया है अथवा थक जाने के कारण उसने वह स्थान अछूता छोड़ दिया है अथवा वह थक तो क्या सकता है, हो न हो सीता की रक्षा के लिए ही उसने उस स्थान को छोड़ दिया है ॥१८॥

चारुपल्लवपुष्पाढ्यं यं सीता स्वयमास्थिता ।

प्रवृद्धः शिशुपावृक्षः स च तेनाभिरक्षितः ॥१९॥

सीताजी जिस मनोहर पल्लवपत्रयुक्त शोभायमान विशाल शीशम के पेड़ के नीचे बँधी हैं, वस उसी पेड़ को उसने छोड़ दिया है ॥१९॥

तस्योग्ररूपस्योग्रं त्वं दण्डमाज्ञातुमर्हसि ।

सीता संभाषिता येन तद्वनं च विनाशितम् ॥२०॥

हे राजन् ! तुम उस उग्ररूपी वानर को उसकी उस उद्वण्डता के लिए दण्ड दो क्योंकि उसने एक !तो सीता से बातचीत की है, दूसरे अशोकवन नष्ट किया है ॥२०॥

मनःपरिगृहीतां तां तव रक्षोगणेश्वर ।

कः सीतामभिभाषेत यो न स्यात्त्यक्तजीवितः ॥२१॥

हे राजशेखर ! आपकी मनोनीता सीता से बातचीत कर कौन जीता पागता रह सकता है ? ॥२१॥

राक्षसीनां वचः श्रुत्वा रावणो राक्षसेश्वरः ।

हुताग्निरिव जज्वाल कोपसंबतितेक्षणः ॥२२॥

राक्षसियों के इन वक्तोंको सुन कर, राक्षसराज रावण हुताग्नि की तरह प्रज्ज्वलित हो उठा और मारे क्रोध के उसकी आँखें बदल गईं ॥२२॥

तस्य क्रुद्धस्य नेत्राभ्यां प्रापतन्नस्रविन्दवः ।

दीप्ताभ्यामिव दीपाभ्यां सार्चिषः स्नेहविन्दवः ॥२३॥

मारे क्रोध के उसके नेत्र से आँसू टपकने लगे, मानो जलते हुए दो दीपकों में से जलने हुए तेज की बूँद टपक पड़ी हो ॥२३॥

आत्मनः सदृशाञ्जूरान्किङ्कुरान्नाम राक्षसान् ।

व्यादिदेश महातेजा निग्रहार्थं हनुमतः ॥२४॥

तदनन्तर महातेजस्वी रावण ने अपने समान शूर किकर नाम राक्षसी को, हनुमानजी के पकड़ने की आज्ञा दी ॥२४॥

तेषामशीतिसाहस्रं किकराणां तरस्विनाम् ।

निर्ययुर्भवनात्तस्मात्कूटमुद्गरपाणयः ॥२५॥

उनमें से भस्सी हजार बेगवान किकर कूट मुगदरों (वे मुगदर जिनकी नोकों पर लोहा लगा था) को हाथों में ले वहीं से निकले ॥२५॥

महोदरा महादंष्ट्रा घोररूपा महाबलाः ।

युद्धाभिमतसः सर्वे हनुमद्ग्रहणोन्मुखाः ॥२६॥

उन सब के बड़े-बड़े घेँट घेँ । बड़े-बड़े दाँत घेँ । मत वे बड़े भयकर देख पड़ते घेँ । वे महाबली राक्षस युद्ध के लिए तैयार हो, हनुमान की पकड़ने की कामना से चले ॥२६॥

ते कपि तं समासाद्य तीरणस्थमवस्थितम् ।

अभिपेतुर्महावेगाः पतङ्गा इव पावकम् ॥२७॥

वे भसीकवन के तीरणद्वार पर, जहाँ हनुमानजी घेँ, जा पहुँचे । वे हनुमान जी पर ऐसे झपटे, जैसे पतङ्ग दीपक की लौ के ऊपर झपटते हैं ॥२७॥

ते गदाभिर्विचित्राभिः परिघैः काञ्चनाङ्गदैः ।

आजघ्नुर्वानर श्रेष्ठं शरैश्चादित्यसन्निभैः ॥२८॥

वे अदभुत गदाओं और सोने के बंदों से भूषित परिघों और सूर्य की तरह चमचमाते पौने बाणों से कपि के ऊपर आक्रमण करने लगे ॥२८॥

मुद्गरैः पट्टिशैः शूलैः प्रासतोमरशक्तिभिः ।

परिवार्य हनूमन्तं सहसा तस्थुरग्रतः ॥२९॥

उनमें से बहुत से मुद्गर, पटा, प्रास (फरसा) और तोमर शस्त्रों को हाथ में ले, हनुमानजी को चारों ओर से घेर कर सड़े हो गए ॥२९॥

हनुमानपि तेजस्वी श्रीमान्पर्वतसन्निभः ।

क्षितावाविध्य लाङ्गूलं ननाद च महास्वनम् ॥३०॥

पर्वताकार विशाल शरीरधारी श्रीमान् हनुमानजी अपनी पूँछ को पृथिवी पर पटक बड़े जोर से गर्जे ॥३०॥

स भूत्वा सुमहाकायो हनुमान्मारुतात्मजः ।

घृष्टमास्फोटयामास लङ्कां शब्देन पूरयन् ॥३१॥

पवननन्दन हनुमानजी ने विशाल शरीर धारण कर अपनी पूँछ को फटकारा, तो उस फटकार का शब्द सारी लकापुरी में सुनाई पडा ॥३१॥

तस्यास्फोटितशब्देन महता सानुनादिना ।

पेतुर्विहङ्गा गगनादुच्चैश्चेदमघोषयत् ॥३२॥

उनके उस भयकर नाद और पूँछ फटकारने के शब्द से आकाश में उड़ते हुए पक्षी मूँछित हो जमान पर गिर पड़े । उस समय हनुमानजी गरज कर कहने लगे ॥३२॥

जयत्यतिब्रलो रामो लक्ष्मणश्च महाबलः ।

राजा जयति सुग्रीवो राघवेणाभिपालितः ॥३३॥

अति बलवान् श्रीरामचन्द्रजी की जय, महाबलवान लक्ष्मणजी की जय, श्रीरामचन्द्र द्वारा पालित सुग्रीवजी की जय ॥३३॥

दासोऽहं कोसलेन्द्रस्य रामस्याविलष्टकर्मणः ।

हनुमाञ्छशत्रुसैन्यानां निहन्ता मारुतात्मजः ॥३४॥

मैं उन कोसलपति श्रीरामचन्द्रजी का दास हूँ, जिनके लिए कोई काम बठिन नहीं है । मेरा नाम हनुमान है और युद्ध में शत्रु सैन्य का नाश करने वाला मैं पवन का पुत्र हूँ ॥३४॥

न रावणसहस्रं मे युद्धे प्रतिबलं भवेत् ।

शिलाभिस्तु प्रहरतः पादपैश्च पुनः-पुनः ॥३५॥

जब मैं चट्टानों और पेटों से बार-बार प्रहार करने लगता हूँ, तब एक रावण तो बचा, सहस्र रावण मेरा सामना (अथवा समानता) नहीं कर सकते ॥३५॥

अर्दयित्वा पुरीं लङ्कामभिवाद्य च मैथिलीम् ।

समूद्धार्यो गमिष्यामि मिघर्ता सर्वरक्षसाम् ॥३६॥

मैं समस्त राक्षसों के सामने लकापुरी को ध्वंस कर और जनक नन्दिनी को प्रणाम कर तथा अपना काम पूरा कर चला जाऊँगा ॥३६॥

तस्य सन्नादशब्देन तेऽभवन्भयशङ्किताः ।

ददृशुश्च हनूमन्तं सन्ध्यामेघमिवोन्नतम् ॥३७॥

कपिश्रेष्ठ हनुमानजी के इस सिंहनाद को सुन, राक्षस भय के मारे प्रस्त हो गए और सन्ध्याकालीन मेघ के समान हनुमानजी के बड़े लंबे शरीर को देखने लग ॥३७॥

स्वामिसंदेशानिःशङ्कास्ततस्तं राक्षसाः कपिम् ।

चित्रैः प्रहरणैर्भूमैरभिपेतुः ततस्ततः ॥३८॥

तदनन्तर रावण की आज्ञा से नि शक होकर वे राक्षस विविध प्रकार के अस्त्रशस्त्रों को लेकर चारों ओर से हनुमानजी के ऊपर टूट पड़े ॥३८॥

स तैः परिवृतः शूरैः सर्वतः स महाबलः ।

आससादायसं भीमं परिघं तोरणाश्रितम् ॥३९॥

जब हनुमानजी को उन शर राक्षसों ने चारों ओर से घेर लिया तब हनुमानजी ने तोरणद्वार से लोहे का एक बड़ा भारी बंडा निकाल लिया ॥३९॥

स तं परिघमादाय जघान च निशाचरान् ।

स पन्नगमिवादाय स्फुरन्तं विनतासुतः ॥४०॥

विचचाराम्बरे वीरः परिगृह्य च मारुतिः ।

स हत्वा राक्षसान्वीरान्किङ्कुरान्मारुतात्मजः ।

युद्धाकाङ्क्षी पुनर्वीरस्तोरणं समुपाश्रितः ॥४१॥

उस बंडे से वे उन राक्षसों को मारने लगे और विनतानन्दन गहड़जी जिस प्रकार फड़फड़ाते सर्प को पकड़, आकाश में उड़ने हैं, उसी प्रकार हनुमानजी उस बंडे को लिए आकाश में पैतरे बदलने लगे । पवननन्दन हनुमानजी उन वीर किकरों का सहार कर, फिर युद्ध की इच्छा से उसी तोरणद्वार पर जा बठे ॥४०॥४१॥

ततस्तस्माद्भूयान्मुक्ताः कतिचित्तत्र राक्षसाः ।

निहतान्किकरान्सर्वान्निरावणाय न्यवेदयन् ॥४२॥

तदनन्तर जो थोड़े से राक्षस मारे जाने से बच गए थे, उन्होंने रावण के पास जाकर कहा कि, किकर नाम सब राक्षसों को कपि ने मार डाला ॥४२॥

स राक्षसानां निहतं महद्वलं

निशम्य राजा परिवृत्तलोचनः ।

समादिदेशाप्रतिमं पराक्रमे

प्रहस्तपुत्रं समरे सुदुर्जयम् ॥४३॥

इति द्विचत्वारिंश सर्गं ॥

राक्षसों की इस बड़ी सेना के मारे जाने का समाद सुन, राक्षसराज रावण की खोरी बदल गई और हनुमानजी से लड़ने के लिए उसने प्रहस्त के दुर्जय और अमित पराक्रमी पुत्र को आज्ञा दी ॥४३॥

सुन्दरकाण्ड का बयालीसवाँ सर्ग पूर्ण हुआ ।

त्रिचत्वारिंशः सर्गः

ततः स किङ्करान्हत्वा हनुमान्ध्यानमास्थितः ।

वनं भग्नं मया चैत्यप्रासादो न विनाशितः ॥१॥

उस किकर नाम राक्षसों का सहार कर, हनुमानजी सोचने लगे कि, मैंने यह प्रसोकवन तो नष्ट कर डाला, किन्तु इस देवमन्दिर के आकार के महल को तो नष्ट किया ही नहीं ॥१॥

तस्मात्प्रासादमप्येवमिमं विध्वंसयाम्यहम् ।

इति संचिन्त्य मनसा हनुमान्दर्शयन्बलम् ॥२॥

अतः इस प्रासाद को भी लगे हाथ उजाड़ डालूँ । इस प्रकार मन में सोच विचार हनुमानजी ने अपना बल प्रकट किया ॥२॥

चैत्यप्रासादमाप्लुत्य मेरुशृङ्गमिवोन्नतम् ।

आरुरोह हरिश्रेष्ठो हनुमान्मारुतात्मजः ॥३॥

कपि श्रेष्ठ पवननन्दन हनुमानजी एक ही छलांग में मेरुपर्वत के शिखर की तरह ऊँचे उस चैत्य प्रासाद पर चढ़ गए ॥३॥

आरुह्य गिरिसङ्काशं प्रासादं हरियूथपः ।

वभौ स सुमहातेजाः प्रतिसूर्यं इवोदितः ॥४॥

अति तेजसम्पन्न वपियूथपति हनुमानजी, उस पर्वत समान ऊँचे प्रासाद के ऊपर चढ़ने पर ऐसे जान पड़ने लगे जैसे दूसरे सूर्य भगवान् उदय हुए हों ॥४॥

संप्रधृष्य दुर्धरं चैत्यप्रासादमुत्तमम् ।

हनुमान्प्रज्वलल्लक्ष्म्या पारियात्रोपमोऽभवत् ॥५॥

उस दुर्धर और श्रेष्ठ चैत्यप्रासाद को अच्छी तरह से नष्ट कर, हनुमानजी अपनी स्वभाविक कान्ति से, पारियात्र पर्वत की तरह देल पडे ॥५॥

१ चैत्य देवायतन तद्रूप प्रासाद —चैत्यप्रासाद. त । (गो०)

स भूत्वा सुमहाकायः प्रभावान्मारुतात्मजः ।

धृष्टमास्फोटयामास लङ्कां शब्देन पूरयन् ॥६॥

फिर हनुमानजी ने अपना शरीर और भी बड़ा कर लिया और निर्भय हो ऐसे गर्जे कि, उनकी वह गर्जना सारी लका में व्याप्त हो गई ॥६॥

तस्यास्फोटितशब्देन महता श्रोत्रघातिना ।

पेतुर्विहङ्गमास्तत्र चैत्यपालाश्च मोहिताः ॥७॥

उनके उस श्रवणकण्ठोर बड़े सिहनाद से भयभीत हो आकाश में उड़ते हुए पक्षी नीचे गिर पड़े और उस चैत्यप्रासाद के रक्षक भी मूर्छित हो गए ॥७॥

अस्त्रविज्जयतां रामो लक्ष्मणश्च महाबलः ।

राजा जयति सुग्रीवो राघवेणाभिपालितः ॥८॥

अस्त्र जानने वाले श्रीरामचन्द्र की जय हो, महाबली लक्ष्मणजी की जय हो, श्रीरामचन्द्रजी द्वारा रक्षित वानरराज सुग्रीव की जय हो ॥८॥

दासोऽहं कोसलेन्द्रस्य रामस्याविलष्टकर्मणः ।

हनुमाञ्शत्रुसंन्यानां निहन्ता मारुतात्मजः ॥९॥

मैं उन कोशलपति श्रीरामचन्द्रजी का दास हूँ जिनके लिए कोई कार्य कठिन नहीं है । मैं शत्रुसैन्य का नाश करने वाला पवननन्दन हनुमान हूँ ॥९॥

न रावणसहस्रं मे युद्धे प्रतिबलं भवेत् ।

शिलाभिश्च प्रहरतः पादपैश्च सहस्रशः ॥१०॥

हजारों शिलाओं और पेटों से प्रहार करते समय, सहस्रा रावण भी मेरे समान नहीं हो सकते ॥१०॥

अर्दयित्वा पुरीं लङ्कामभिवाद्य च मंथिलोम् ।

समृद्धार्यो गमिष्यामि निपतां सर्वरक्षसाम् ॥११॥

मैं सब राक्षसों के सामने ही लका को गई कर, जानकीजी को प्रणाम कर
भीर अपना उद्देश्य पूरा करके चला जाऊँगा ॥११॥

एवमुक्त्वा महाबाहुश्चैत्यस्थो हरियूथपः ।

ननाद भीमनिर्ह्लादो रक्षसां जनयन्भयम् ॥१२॥

चैत्य प्रासाद पर बैठे हुए, कपियूथपति हनुमानजी ने ऐसा सिंहनाद किया
कि, उसे सुन राक्षस, बहुत डर गए ॥१२॥

तेन शब्देन महता चैत्यपालाः शतं ययुः ।

गृहीत्वा विविधानस्त्रान्प्रासान्खड्गान्परश्वधान् ॥१३॥

उस सिंहनाद को सुन उस चैत्यप्रासाद के सैकड़ों रक्षक राजस, विविध
प्रकार के भस्त्र—प्रास, खड्ग और फरसा लेकर दौड़ पड़े भीर ॥१३॥

विसृजन्तो महाकाया भार्गति पर्यवारयन् ।

ते गदाभिर्विचित्राभिः परिधैः काञ्चनाङ्गदैः ॥१४॥

श्राजधनुर्वानरश्रेष्ठं बाणेश्चादित्यसन्निभैः ।

आवर्त इव गङ्गायास्तोयस्य विपुलो महान् ॥१५॥

परिक्षिप्य हरिश्रेष्ठं स बभौ रक्षसां गणः ।

ततो वातात्मजः क्रुद्धो भीमरूपं समास्थितः ॥१६॥

महाकाय हनुमानजी को चारों ओर से घेर कर उन पर प्रहार करने
लगे । वे अद्भुत गदाओं और सोने के बन्दों से भूषित परिधियों से तथा सूर्य के
समान चमचमाते बाणों से कपिश्रेष्ठ हनुमानजी को मारने लगे । इस समय
हनुमानजी को घेरे हुए राक्षस ऐसे जान पड़ने लगे, जैसे गङ्गा का बड़ा भारी
जलमंवर ही । पवनतन्दन हनुमानजी क्रुद्ध थे और भयकर रूप धारण किए
हुए थे ॥१४॥१५॥१६॥

प्रासादस्य महान्तस्य स्तम्भं हेमपरिष्कृतम् ।

उत्पादयित्वा वेगेन हनुमान्पवनात्मजः ॥१७॥

पवननन्दन हनुमानजी ने उस विशाल प्रासाद का सुवर्ण का बना एक खम्भा
बेग से उखाड़ लिया ॥१७॥

ततस्तं भ्रामयामास शतधारं महाबलः ।

तत्र चाग्निः समभवत्प्रासादश्चाप्यदह्यत ॥१८॥

वह खम्भा सौपहलू था । उसे वे महाबली हनुमान घुमाने लगे । उगते
निकली हुई भाग की चिनगारियो से वह भवन भस्म हो गया ॥१८॥

दह्यमानं ततो दृष्ट्वा प्रासादं हरियूथपः ।

स राक्षसशतं हत्वा वज्रेणेन्द्र इवासुरान् ॥१९॥

कपियूथपति ने उस प्रासाद को भस्म होते हुए देख, सैकड़ो राक्षसों को उस
खम्भे से बँसे ही मार डाला, जैसे इन्द्र अपने वज्र से असुरों को मारते हैं ॥१९॥

अन्तरिक्षे स्थितः श्रीमानिदं वचनमब्रवीत् ।

मादृशानां सहस्राणि विसृष्टानि महात्मनाम् ॥२०॥

अन्तरिक्षस्थित श्रीमान् हनुमानजी कहने लगे कि, मेरे ऐसे सहस्रों वानर
उत्पन्न हो चुके हैं ॥२०॥

बलिनां वानरेन्द्राणा सुग्रीववशवर्तिनाम् ।

अटन्ति वसुधां कृत्स्ना वयमन्ये च वानराः ॥२१॥

वे सब बलवान् वानरश्रेष्ठ सुग्रीव के वशवर्ती हैं और मैं तथा वे सब
अन्य वानर, अखिल पृथिवीमण्डल पर घूमते फिरते हैं ॥२१॥

दशनागबलाः केचित्केचिद्दशगुणोत्तराः ।

केचिन्नागसहस्रस्य बभूवुस्तुल्यविक्रमाः ॥२२॥

उनमें से किसी में दस हाथी के, किसी में सो हाथी के और किसी में
एक हजार हाथी के समान बल है ॥२२॥

सन्ति चौघबलाः' केचित्केचिद्वायुबलोपमाः ।

अप्रमेयबलाश्चान्ये तत्रासन्हरियूथपाः ॥२३॥

१ चौघबला — चौघास्यासह्यावबला । (गो०)

घोर किसी में श्लोष सत्यक हाथियो जितना बल है घोर कोई वायु के समान बलवाले हैं । अन्य वानर ऐसे भी हैं जिनके बल का पारावार नहीं है । वहाँ ऐसे वानर-यूथपति हैं ॥२३॥

ईदृग्विधंस्तु हरिभिर्वृतो दन्तनखायुधैः ।

शतैः शतसहस्रैश्च कोटीभिरयुतैरपि ॥२४॥

इस प्रकार के नष्ट घोर दन्त आयुध वाले यहाँ वानर हैं । उनकी सख्या सौ सहस्र कोटि और दस सहस्र है ॥२४॥

आगमिष्यति सुग्रीवः सर्वेषां वो निपूदनः ।

नेयमस्ति पुरी लङ्का न यूयं न च रावणः ।

यस्मादिक्ष्वाकुनाथेन बद्धं वरं महात्मना ॥२५॥

इति त्रिचत्वारिंशः सर्गः ॥

उनको लेकर सुग्रीव यहाँ आवेंगे और वे सब तुम्हारा सब का नाश करेंगे । न तो यह लङ्का, न तुम और न रावण ही बचेगा । क्योंकि तुमने इक्ष्वाकुवश के स्वामी महात्मा श्रीरामचन्द्र से वर माँगा है ॥२५॥

मुन्दरकाण्ड का तेनालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

चतुश्चत्वारिंशः सर्गः

संदिष्टो राक्षसेन्द्रेण प्रहस्तस्य सुतो बली ।

जम्बुमाली महादंष्ट्रो निर्जंगाम धनुर्धरः ॥१॥

इधर तो उन चंद्र प्रासाद के रक्षकों का नाश हुआ, उधर रावण की आज्ञा से प्रहस्त का पुत्र बलवान् जम्बुमाली, जिसकी बड़ी-बड़ी दाढ़ें थी, धनुष से नगर से बाहर निकला ॥१॥

रक्तमाल्याम्बरधरः स्रग्वी रुचिरकुण्डलः ।

महान्विवृत्तनयनः^१ चण्डः समरवुर्जयः ॥२॥

१ विवृत्तनयनः—मण्डलीवृत्तनयनः ।

वह उस समय लाल माना और लाल वस्त्र पहिने हुए था । उसके गले में हार था और कानों में सुन्दर कुण्डल थे । उसके नेत्र गोल थे और वह प्रचण्ड पराक्रमी और युद्ध में दुर्जेय था ॥२॥

दग्धत्रिकूटप्रतिमो महाजलदसन्निभः ।

१ महाभुजशिरःस्कन्धो महादंष्ट्रो महाननः ॥३॥

वह भस्म हुए पहाड़ की तरह अथवा महामेघ की तरह कृष्ण वर्ण और विशालकाय था । उसकी बड़ी-बड़ी भुजाएँ, बड़ा सिर और बड़े-बड़े कन्धे थे । उसकी दाढ़ें और उसका मुख भी बड़ा था ॥३॥

महाजब्रो महोत्साहो महासत्त्वोरविक्रमः ।

१ आजगामातिवेगेन सायुधः स महारथः ॥४॥

वह बड़ा वेगवान्, बड़ा उत्साही, बड़ा बलवान् और बड़ा पराक्रमी था । वह एक बड़े रथ में बैठ तथा आयुधों को ले, बड़े झपटों से भागा ॥४॥

धनुः शक्रधनुःप्रख्यं महद्रुचिरसायकम् ।

विष्फारयानो वेगेन वज्राशनिसमस्वनम् ॥५॥

उसका धनुष इन्द्रधनुष के समान था और वह प्रति सुन्दर बाणों को निकाले हुए था । उसने जो अपने धनुष को टकीरा तो उसमें से वज्र गिरने के समान बड़ा भारी शब्द हुआ ॥५॥

तस्य विष्फारघोषेण धनुषो महता दिशः ।

प्रदिशश्च नभश्चैव सहसा समपूर्यत ॥६॥

उसके महाधनुष की टकार के शब्द से आकाश सहित समस्त दिशाएँ और विदिशाएँ सहसा पूर्ण हो गई ॥६॥

रथेन खरयुक्तेन तमागतमुदीक्ष्य सः ।

हनुमान्वेगसंपन्नो जहर्ष च ननाद च ॥७॥

१ पाठान्तरे—'आजगामातिवेगेन वज्राशनिसमस्वन ।'

वेगवान हनुमानजी, जम्बुमाली को गधों के रथ पर सवार देख, अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने सिहताद किया ॥७॥

तं तोरणविटङ्कस्थं हनुमन्तं महाकपिम् ।

जम्बुमाली महाबाहुर्विव्याध निशितैः शरैः ॥८॥

महाकपि हनुमानजी को तोरणद्वार की गोल पर बैठा देख, महाबाहु जंबुमाली ने उनके पंते बाण मार कर, उनको बंध डाला ॥८॥

अर्धचन्द्रेण वदने शिरस्येकेन कर्णिना ।

बाह्वोर्विव्याध नाराचैर्दशभिस्तं कपीश्वरम् ॥९॥

उसने अर्धचन्द्राकार बाण हनुमानजी के मुख पर और कान के घाकार का एक बाण उनके सिर में मारा । उसने हनुमानजी की भुजाओं में दश नाराच मारे ॥९॥

तस्य तच्छुशुभे ताम्रं शरेणाभिहतं मुखम् ।

शारदीवाम्बुजं फुल्लं विद्धं भास्कररश्मिना ॥१०॥

उस बाण के लगने से हनुमानजी का लाल मुख ऐसा शोभायमान हुआ जैसे कि, शरदःशुक्ल में सूर्य की किरणों के पड़ने से कमल शोभायमान होता है ॥१०॥

तत्तस्य रक्तं रक्तेन रञ्जितं शुशुभे मुखम् ।

तथाऽऽकाशे महापद्मं सिक्तं काञ्चनाब्जिभिः ॥११॥

हनुमानजी का लाल लोह से रंगा हुआ मुख, ऐसा सुशोभित हुआ, मानो आकाश में एक बड़ा कमल का फूल, जिस पर सोने की बूँदें छिंटकी हों, शोभायमान ो रहा हो ॥११॥

चुकोप बाणाभिहतो राक्षसस्य महाकपिः ।

ततः पार्श्वेऽतिविपुलां वदर्श महतीं शिलाम् ॥१२॥

बाणों के लगने से हनुमानजी उस राक्षस पर कुपित हुए । उस समय उन्हें पास ही एक बड़ी शिला देख पड़ी ॥१२॥

तरसा ता समुत्पाद्य चिक्षेप बलवद्बली ।

ता शरैर्दंशभि क्रुद्धस्ताडयामास राक्षस ॥१३॥

बलवान् हनुमानजी ने तुरन्त उसे उखाड़ बड़ जोर से उसे उस राक्षस के ऊपर फेंका । तब उस राक्षस ने दस बाण मार उसे चूर चूर कर डाला ॥१३॥

विपन्न कर्म तद्दृष्ट्वा हनुमाश्चण्डविक्रम ।

साल विपुलमुत्पाद्य भ्रामयामास वीर्यवान् ॥१४॥

प्रचण्ड पराक्रमी हनुमानजी ने उस गिला का फकना व्यर्थ हुआ देखा, एक विशाल साल का वृक्ष उखाड़ लिया । फिर महाबलवान् हनुमानजी ने उसे झन्डी तरह घुमाया ॥१४॥

भ्रामयन्त कपि दृष्ट्वा सालवृक्ष महाबलम् ।

चिक्षेप सुबहून्वाणाञ्जम्बुमाली महाबल ॥१५॥

महाबली हनुमानजी को उस साल वृक्ष को घुमाते देख, महाबली जम्बुमाली ने बहुत से बाण चलाए ॥१५॥

साल चतुर्भिश्चिच्छेद वानर पञ्चभिर्भुजे ।

१शिरस्येकेन बाणेन दशभिस्तु स्तनान्तरे ॥१६॥

चार बाणों से तो उसने उस वृक्ष के टुकड़ कर डाले और पाँच बाण उसने हनुमानजी की भुजा में एक सिर में और दस छाती में मारे ॥१६॥

स शरं पूरिततनु क्रोधेन महता वृत ।

तमेव परिघ गृह्य भ्रामयामास मारुति ॥१७॥

उसने झयन्त क्रुद्ध हो बाणों से हनुमानजी का शरीर भर दिया । तब हनुमानजी ने उस बँड को उठा कर घुमाया ॥१७॥

अतिवेगोऽतिवेगेन भ्रामयित्वा बलोकटः ।

परिधं पातयामास जम्बुमालेर्महोरसि ॥१८॥

अत्यन्त वेगवान् श्रीर उल्कट बलशाली हनुमानजी ने उस बँडे को बड़ी जोर से घुमा कर, जम्बुमाली की छाती में मारा ॥१८॥

तस्य चैव शिरो नास्ति न बाहू न च जानुनी

न घनुर्न रथो नाश्वास्तत्रादृश्यन्त नेपथः ॥१९॥

उस बँडे की चोट से जम्बुमाली के सिर भुजा, जाँघ, घनप, रथ, तीर और रथ के घोडो का पता ही न चला कि, वे सब के सब कहीं गए ॥१९॥

स हतस्तरसा तेन जम्बुमाली महाबलः ।

पपात निहतो भूमौ चूर्णिताङ्गविभूषणः ॥२०॥

महाबलवान् जम्बुमाली हनुमानजी के बँडे के घाघात से मर कर जमीन पर गिर गया और उसका शरीर तथा आभूषण चूर-चूर हो गया ॥२०॥

जम्बुमालि च निहतं किङ्करांश्च महाबलान् ।

चुक्रोध रावणः श्रुत्वा कोपसंरवतलोचनः ॥२१॥

जम्बुमाली और अस्सी हजार महाबली किकर नामक राक्षसों के मारे जाने का सवाद सुन, रावण के दोनों नेत्र मारे क्रोध के लाल हो गए ॥२१॥

स रोषसंवर्तितताम्रलोचनः

प्रहस्तपुत्रे निहते महाबले ।

अमात्यपुत्रानतिधीर्यविक्रमान्

समादिदेशाशु निशाचरेश्वरः ॥२२॥

इति चतुश्चत्वारिंश सर्गं ॥

प्रहस्तपुत्र महाबली जम्बुमाली के मारे जाने पर राक्षसराज रावण ने अत्यन्त पराक्रमी और बलवान् मन्त्रिपुत्रो को युद्ध करने के लिए जाने की आज्ञा दी ॥२२॥

सुन्दरकाण्ड का चौवालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

पञ्चचत्वारिंशः सर्गः

ततस्ते राक्षसेन्द्रेण चोदिता मन्त्रिणा सुताः ।

निर्ययुर्भवनात्तस्मात्सप्त सप्ताचिवर्चसः ॥१॥

तब वे अग्नि के समान कान्तिवाले सात मन्त्रिपुत्र, राक्षसराज की प्रेरणा से रावण के भवन से निकले ॥१॥

महाबलपरीवारा धनुष्मन्तो महाबलाः ।

कृतास्त्रास्त्रविदां श्रेष्ठाः परस्परजयंषिणः ॥२॥

वे सब के सब बड़े बलवान, अस्त्रविद्या में कुशल, अस्त्र जानने वालों में श्रेष्ठ, हनुमानजी को जीतने के अभिलाषी, अतुल पराक्रमी और धनुषधारी थे ॥२॥

हेमजालपरिक्षिप्तैर्ध्वजवद्भिः पताकिभिः ।

तोयदस्वननिर्घोषैर्वाजियुक्तैर्महारथैः ॥३॥

वे ऐसे रथों में बैठ कर चले, जिनके पर सोने की जाली के उधार पड़े हुये थे, ध्वजा पताकाएँ लगी हुई थी, घोड़े जुते हुए थे और उनके चलने पर बादल की गड़गड़ाहट जैसा शब्द होता था ॥३॥

तप्तकाञ्चनचित्राणि चापान्यमितविक्रमाः ।

विष्फारयन्तः सहृष्टास्तडित्वन्त इवाम्बुदाः ॥४॥

वे अमित विक्रमशाली मन्त्रिपुत्र प्रसन्न हो सुवर्णरचित विचित्र धनुषों को टकारते, दामिनी युक्त मेघों की तरह जान पड़ते थे ॥४॥

जनन्यस्तु ततस्तेषां विदित्वा किङ्करान्हतान् ।

बभूवुः शोकसंभ्रान्ताः सबान्धवसुहृज्जनाः ॥५॥

किंकरों का मारा जाना सुन, उन मन्त्रिपुत्रों की माताएँ, बन्धुबान्धव और हेतु नातेदारों सहित, अत्यन्त शोकसन्तप्त हो रही थीं ॥५॥

। ते परस्परसंघर्षात्तप्तकाञ्चनभूषणाः ।

अभिपेतुर्हनुमन्तं तोरणस्थभवस्थितम् ॥६॥

“में आगे पहुँचूँ” “में आगे पहुँचूँ” ऐसी आपस में हिसं करते श्रीर विशुद्ध सुवर्ण के अभूषण धारण किए हुए, वे मन्त्रिकुमार तोरणद्वार पर बठे हुए हनुमानजी के पास जा पहुँचे ॥६॥

सृजन्तो बाणवृष्टिं ते रथगर्जितनिःस्वनाः ।

वृष्टिमन्त इवाम्भोदा विचेरुर्नर्ऋताम्बुदाः ॥७॥

वे राक्षस अपने धनुषों से बादल से जल की वृष्टि की तरह बाणवृष्टि करते श्रीर रथों की गडगडाहट सुनाते वर्षाकालीन मेघों की तरह घूमते थे ॥७॥

अवकीर्णस्ततस्ताभिर्हनुमाञ्शरवृष्टिभिः ।

अभवत्संवृताकारः शैलराडिव वृष्टिभिः ॥८॥

उस बाणवृष्टि से हनुमानजी बाणों के भीतर वैसे ही छिप गए जैसे पर्वतराज जल की वृष्टि से छिप जाता है ॥८॥

स शरान्मोघयामास तेषामाशुचरः कपिः ।

रथवेगं च वीराणां विचरन्विमलेऽम्बरे ॥९॥

तदनन्तर हनुमानजी ऐसी बीघ्रता से आकाश में जा पैतरा बदलने लगे कि, उनके वेगपूर्वक रथों का चलाना श्रीर बाणों का लक्ष्य व्यर्थ जाने लगा । अर्थात् उनके चलाए बाणों में से एक भी हनुमानजी के शरीर में नहीं लगता था ॥९॥

स तैः क्रीडन्धनुष्मद्भिर्व्योम्नि वीरः प्रकाशते ।

धनुष्मद्भिर्व्यथा मेघैर्माहतिः प्रभुरम्बरे ॥१०॥

इस प्रकार पवननन्दन हनुमानजी उन धनुषधारियों के साथ कुछ समय तक खेलते रहे । उस समय आकाश में हनुमानजी इन्द्रधनुष से भूषित मेघों के साथ क्रीडा करते हुए, आकाशचारी पवनदेव की तरह जान पड़ते थे ॥१०॥

स कृत्वा निनदं घोरं त्रासयंस्तां महाचमूम् ।

चकार हनुमान्वेगं तेषु रक्षःसु वीर्यवान् ॥११॥

पराक्रमी हनुमानजी ने उस सेना को डराने के लिए भयकर सिंहनाद किया और वे उन राक्षसों की ओर झपटे ॥११॥

तलेनाभ्यहनत्कांश्चित्पद्भ्यां^१ कांश्चित्परन्तपः ।

मुष्टिनाभ्यहनत्कांश्चिन्नखैः कांश्चिद्व्यदारयत् ॥१२॥

दाब्रह्मन्ता हनुमानजी ने राक्षसी सेना में से किसी को घपेड़े से, किसी को सानो से, किसी को घूसों से और किसी को नखों से चीर-फार कर मार डाला ॥१२॥

प्रममायोरसा कांश्चिद्गुरुभ्यामपराङ्कपिः ।

केचित्तस्य निनादेन तत्रैव पतिता भुवि ॥१३॥

हनुमानजी ने किसी को छाती की ठोकर से और किसी को जाँघों को रण्ड से मार गिराया । कितने ही राक्षस तो हनुमानजी के सिंहनाद को सुन कर ही पृथिवी पर गिर कर मर गए ॥१३॥

ततस्तेष्ववसद्नेषु भूमौ निपतितेषु च ।

तत्संन्यमगमत्सर्वं दिशो दश भयादितम् ॥१४॥

जब वे सठो मन्त्रिपुत्र इस प्रकार मारे जाकर पृथिवी पर गिर गए, तब उनकी सेना भयभीत हो, चारों ओर भाग गई ॥१४॥

-विनेदुर्विस्वरं नागा निपेतुर्भुवि वाजिनः ।

भग्ननीडध्वजच्छत्रैर्भूश्चाकीर्णाऽभवद्रथैः ॥१५॥

सेना के हाथी चिघारने लगे, घोड़े भूमि पर लोट-पोट हो गए । रथों की टूटी हुई ध्वजामो, ध्वजामो के डहों और छत्रों से रणक्षेत्र भर गया ॥१५॥

१ पाठान्तरे—“पादः ।”

स्त्रवता रुधिरैणाथ स्त्रवन्त्यो दशिताः पथि ।

विविधैश्च स्वरैर्लङ्का ननाद विकृतं तदा ॥१६॥

रास्ते में रक्त की नालियाँ बहने लगीं । सारी लङ्का में विविध प्रकार के विकृत स्वरो में घातनाद सुनाई पड़ने लगे ॥१६॥

स तान्प्रवृद्धान्विनिहत्य राक्षसान्

महाबलश्चण्डपराक्रमः कपिः ।

युयुत्सुरन्यैः पुनरेव राक्षसैः

तदेव वीरोऽभिजगाम तोरणम् ॥१७॥

इति पञ्चत्वारिंशः सर्गः ॥

महाबली और प्रचण्ड पराक्रमी वीर हनुमानजी उन प्रधान राक्षसों को मार, पुन युद्ध करने की इच्छा से, छलांग मार फिर फाटक पर जा बंटे ॥१७॥

सुन्दरकाण्ड का पैंतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

— * —

पट्चत्वारिंशः सर्गः

हतान्मन्त्रिसुतान्बुध्वा धानरेण महात्मना ।

रावणः संवृताकारश्चकार १मतिमुत्तमाम् ॥१॥

जब रावण ने सुना कि, वीर हनुमान ने सातों मन्त्रिपुत्रों को मार डाला, तब वह नय को अपने मन में छिपा, पुन सोचने लगा ॥१॥

स विरूपाक्षयूपाक्षौ दुर्धरं चैव राक्षसम् ।

प्रघसं भासकर्णं च पञ्च सेनाप्रनायकान् ॥२॥

विरूपाक्ष, यूपाक्ष, दुर्धर, प्रघस और भासकर्ण नामक पाँच सेनापतियों को ॥२॥

१ मति—चिन्ताम् । (गो०)

संदिदेश दशप्रोवो वीरान्नपविशारदान् ।

हनुमद्ग्रहणे व्यग्रान्वायुवेगसमान् युधि ॥३॥

जो युद्ध में वायु की तरह वेगवान और रण-नीति-विशारद एव नूर थे, रावण ने व्यग्र हो, हनुमानजी को पकड़ने की उनको आज्ञा दी ॥३॥

यात सेनाग्रगाः सर्वे महाबलपरिग्रहाः ।

सवाजिरयमातङ्गाः स कपिः शास्यतामिति ॥४॥

और कहा कि, तुम सब लोग बड़े बलवान सेनापति हो, घोड़ो, रथो तथा हाथियों से युक्त बड़ी भारी सेना अपने साथ ले जाओ और उस वानर को उसकी करनी का मजा चखाओ ॥४॥

यत्तैश्च खलु भाव्यं स्यात्तमासाद्य वनालयम् ।

कर्म चापि समाधेयं देशकालाविरोधिनम् ॥५॥

तुम सब लोग बड़ी सावधानी से उस वनचर के पास जा, देश काल का विचार रखते हुए काम को पूरा करना ॥५॥

न ह्यहं तं कपिं मन्ये कर्मणा प्रतितर्कयन् ।

सर्वथा तन्महद्भूतं महाबलपरिग्रहम् ॥६॥

जब मैं उसकी करनी पर विचार करता हूँ, तब वह मुझे वानर नहीं जान पड़ता—रहिक वह तो कोई महाबली प्राणी जान पड़ता है ॥६॥

भवेद्दिन्द्रेण वा सृष्टमस्मदर्थं तपोबलात् ।

सनागयक्षगन्धर्वा देवासुरमहर्षयः ॥७॥

मेरी समझ में तो इन्द्र ने इसको अपने तपोबल से हम लोगों का नाश करने के लिए उत्पन्न किया है। नाग, गन्धर्व, यक्षा सहित, देवताओं, दैत्यों और महर्षियों को ॥७॥

युष्माभिः सहितैः सर्वमया सह विनिर्जिताः ।

तैरवश्य विधातव्य व्यलीकं किञ्चिदेव नः ॥८॥

मेरी आज्ञा से तथा मेरे साथ भी तुम लोगो ने उन देवताओं को जीता है। इसीसे वे लोग हम लोगो का अनिष्ट करना चाहते हैं। भवश्य ऐसा ही है ॥८॥

तदेव नात्र सन्देहः प्रसह्य परिगृह्यताम् ।

१नावमान्यश्च युष्माभिर्हरिर्घोरपराक्रमः ॥९॥

इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है, भ्रत बरजोरी तुम उसको पकड़ कर आओ। वह बानर घोर और वीर है। भ्रत तुम लोग कहीं उसको तुच्छ मत समझना ॥९॥

दृष्ट्वा हि हरयः पूर्वं मया विपुलविक्रमाः ।

वाली च सहसुग्रीवो जाम्बवांश्च महाबलः ॥१०॥

पूर्वकाल में मैं बड़े-बड़े पराक्रमी एवं बलवान् वाली, सुग्रीव, जाम्बवानादि बानरो को देख चुका हूँ ॥१०॥

नीलः सेनापतिश्चैव ये चान्ये द्विविदादयः ।

नैव तेषां गतिर्भोमा न तेजो न पराक्रमः ॥११॥

सेनापति नील तथा द्विविदादि जो और दूसरे बानर हैं, उनमें न तो ऐसा भयकर वेग है, न ऐसा तेज है और न ऐसा पराक्रम है ॥११॥

न मतिर्न बलोत्साहौ न रूपपरिकल्पनम् ।

महत्सत्त्वमिदं ज्ञेयं कपिरूपं व्यवस्थितम् ॥१२॥

उनमें मे किसी में न ऐसी बुद्धि है, न ऐसा बल है, न ऐसा उत्साह है और न उनमें रूपकल्पना की (शरीर के आकार को घटाने-बढ़ाने अथवा रूप बदलने की) ऐसी शक्ति है। भ्रत हे राजसो! यह तो बानर-रूप-धारी कोई बड़ा बलिष्ठ प्रणी है ॥१२॥

प्रयत्नं महदास्थाय क्रियतामस्य निग्रहः ।

कामं लोकास्त्रयः सेन्द्राः ससुरासुरमानवाः ॥१३॥

तुम लोग बड़े प्रयत्न से उसको पकड़ना । मुझे मालूम है कि, इन्द्रप्रमुख देवता, दैत्य और मनुष्यों के सहित तीनों लोक ॥१३॥

भवतामग्रतः स्यातुं न पर्याप्ता रणाजिरे ।

तथापि तु नयज्ञेन जयमाकांक्षता रणे ॥१४॥

युद्धक्षेत्र में तुम्हारा सामना नहीं कर सकने । तो भी रण-तीनि का ज्ञाता जो जयाभिलाषी हो, उसको उचित है कि, ॥१४॥

आत्मा रक्ष्यः प्रयत्नेन युद्धसिद्धिर्हि चञ्चला ।

ते स्वामिवचनं सर्वे प्रतिगृह्य महौजसः ॥१५॥

प्रयत्नपूर्वक अपनी रक्षा करे । क्योंकि युद्ध में विजयधी बड़ी धचला होती है । अर्थात् यह कोई दावे के साथ नहीं कह सकता कि अमुक की जीत होगी, रावण की आज्ञा मान वे सब महाबलवान् ॥१५॥

समुत्पेतुर्महावेगा हुताशसमतेजसः ।

रथमंतंश्च मातङ्गैर्वाजिभिश्च महाजवैः ॥१६॥

शस्त्रैश्च विविधैस्तीक्ष्णः सर्वैश्चोपचिता बलैः ।

ततस्तं ददृशुर्वीरा दीप्यमानं महाकपिम् ॥१७॥

तथा अग्नि के समान तेजस्वी राक्षस सेनापति रथ, मतवाले हाथी, घोघनामी घोड़े और विविध प्रकार के दैने शस्त्रों से युक्त अपनी-अपनी सेनाएँ सजा प्रस्थानित हुए और युद्धक्षेत्र में जा, उन लोगों ने दीप्तिमुक्त वीर हनुमानजी को देखा ॥१६॥१७॥

रश्मिमन्तमिवोद्यन्तं स्वतेजोरश्मिमालिनम् ।

तोरणत्थं नरास्तत्वं महावेगं महाबलम् ॥१८॥

महामतिं महोत्साहं महाकार्यं महाभुजम् ।

तं समीक्ष्यैव ते सर्वे दिक्षु सर्वास्त्ववस्थिताः ॥१९॥

उस समय उस फाटक के ऊपर बैठे हुए, उदित सूर्य की तरह चमकीले महाबलवान्, महाविश्रमवान्, महावेगवान्, महाबुद्धिमान् महीत्साही, महा-

कपि और महाभुज हनुमानजी को देख और उनसे डर कर वे सब राक्षस दूर ही दूर खड़े हुए ॥१८॥१९॥

तंस्तैः प्रहरणैर्भूमैरभिपेतुस्ततस्ततः ।

तस्य पञ्चायसास्तीक्ष्णाः शिताः पीतमुखाः शराः ॥२०॥

और चारो ओर से भयकर भस्त्र-शस्त्र चलाने लगे । लोहे के बने हुए पत्ते, पीले रंग के पाँच बाण ॥२०॥

शिरस्युत्पलपत्राभा दुर्धरेण निपातिताः ।

स तं पञ्चभिराविद्धः शरैः शिरसि वानरः ॥२१॥

जो कमलपुष्प के आकार के थे, दुर्धर नामक राक्षस ने हनुमानजी को मारे । वे पाँच बाण हनुमानजी के भस्तक में जा कर लगे ॥२१॥

उत्पपात नदन् व्योम्नि दिशो दश विनादयन् ।

ततस्तु दुर्धरो वीरः सरथः सज्यकामुकः ॥२२॥

तब तो हनुमानजी सिहनाद करते और उस सिहनाद से दसो दिशाओ को प्रतिध्वनित करते, आकाश में छलांग मार कर पहुँच गए । यह देख रथ में बैठे हुए दुर्धर ने अपने घनुष पर रोदा चढाया ॥२२॥

किरञ्शरशतैस्तीक्ष्णैरभिपेदे महाबलः ।

स कपिर्वारयामास तं व्योम्नि शरवर्षिणम् ॥२३॥

और सैकड़ो बाण छोड़ता वह हनुमानजी का पीछा करने लगा । उस बाणवृष्टि करने वाले राक्षस के छोड़े बाणों को आकाश में रह कर हनुमानजी ने वैसे ही रोका ॥२३॥

वृष्टिमन्तं पयोदान्ते पयोदमिव मारुतः ।

अद्यमानस्ततस्तेन दुर्धरेणानिलात्मजः ॥२४॥

जैसे शरदऋतु में पवन, बादलों को जल वर्षाने से रोकता है । किन्तु जब दुर्धर राक्षस बाणवृष्टि से हनुमानजी को सताने लगा ॥२४॥

चकार निनदं भूयो व्यवर्धत च वेगवान् ।

स दूरं सहस्रोत्पत्य दुर्धरस्य रथे हरिः ॥२५॥

तब वेगवान् हनुमानजी पुन गजों और उन्होंने अपने शरीर को बढ़ाया । तदनन्तर वे एक साथ बहुत दूर से उछल कर दुर्धर के रथ पर कूद पड़े ॥२५॥

निपपात महावेगो विद्युद्राशिर्गिराविव ।

ततः स मयिताष्टाश्वं रथ भग्नाक्षकूबरम् ॥२६॥

वे जोर से वैसे ही रथ पर गिरे, जैसे विजली पहाड़ पर गिरती है । उनके गिरते ही घोड़े सहित वह रथ, भय धुरे और कूबर के चकनाचूर हो गया ॥२६॥

विहाय न्यपतद् भूमौ दुर्धरस्त्यक्तजीवितः ।

तं विरूपाक्षयूपाक्षौ दृष्ट्वा निपतितं भुवि ॥२७॥

और दुर्धर राजस रथ से पृथिवी पर गिर कर मर गया । तब दुर्धर को पृथिवी पर मरा हुआ पड़ा देख, विरूपाक्ष और यूपान्न ॥२७॥

सञ्जातरोषौ दुर्धर्पावृत्पेततुररिन्दमौ ।

स ताम्यां सहस्रोत्पत्य विष्ठितो विमलेऽम्बरे ॥२८॥

नोट—“विमलेऽम्बरे” का भावार्थ यह है कि उस समय आकाश साफ था । बादल नहीं थे । जिनमें कोई अपने का दिग्ग सक्तता ।

दोनों राजस महाक्रुद्ध हो उछले और हनुमानजी को विमत आकाश में जा धेर लिया ॥२८॥

मुद्गराम्यां महाबाहुर्वक्षस्पभिहतः कपिः ।

तयोर्वेगवतोर्वेगं विनिहत्य महाबलः ॥२९॥

और उन दोनों ने मुद्गरों से हनुमानजी की छाती पर प्रहार किया । तब हनुमानजी ने उनके प्रहार को सह कर और उन वेगवालों के घात को बचा कर ॥२९॥

निपपात पुनर्भूमौ सुपर्णसमविक्रमः ।

स सालवृक्षमासाद्य तमुत्पाद्य च वानरः ॥३०॥

गड के समान वेग के साथ धं पृथिवी पर आए । तदनन्तर उन्होंने, एक छाखू के पेड़ के समीप जा उसको उखाड़ लिया ॥३०॥

तावुभौ राक्षसौ वीरौ जघान पवनात्मजः ।

ततस्तांस्त्रीन्हताञ्जात्वा वानरेण तरस्विना ॥३१॥

फिर उसी पेड़ के प्रापात से उन्होंने उन राक्षसों को मार डाला । बलवान् हनुमानजी द्वारा उन तीनों को मरा हुआ जान, ॥३१॥

अभिपेदे महावेगः प्रहस्य प्रघसो हरिम् ।

भासकर्णश्च संक्रुद्धः शूलमादाय वीर्यवान् ॥३२॥

महावेगवान् प्रघस नामक राक्षस सेनापति प्रवृत्तास करता हुआ, हनुमानजी के निकट गया और बलशाली भासकर्ण भी शूल हाथ में ले और अत्यन्त क्रुद्ध हो ॥३२॥

एकतः कपिशार्दूलं यशस्विनमवस्थितम् ।

पट्टसेन शिताघ्रेण प्रघसः प्रत्ययोधयत् ॥३३॥

यशस्वी हनुमानजी के एक और जाकर उपस्थित हुआ । तब प्रघस, पैनी नोंक के पटे से हनुमानजी से लड़ने लगा ॥३३॥

भासकर्णश्च शूलेन राक्षसः कपिसत्तमम् ।

स तान्यां विक्षतैर्गात्रैरसृग्दिग्धतनूरुहः ॥३४॥

राक्षस भासकर्ण ने हाथ में त्रिशूल ले हनुमानजी पर आक्रमण किया । उन दोनों के समुक्त प्रहार से हनुमानजी के सब शरीर में घाव हो गए और उनके रुधिर बहने लगा ॥३४॥

अभवद्वानरः क्रुद्धो बालसूर्यसमप्रभः ।

समुत्पाद्य गिरेः शृङ्गं समृगव्यालपादपम् ॥३५॥

तब प्रातः कालीन सूर्य के समान कान्ति वाले हनुमानजी अत्यन्त क्रुद्ध हुए । मृग, साँप और पेड़ों सहित एक पहाड़ के शिखर को उखाड़ कर ॥३५॥

जघान हनुमान्वीरो राक्षसो कपिकुञ्जरः ।

ततस्तेष्ववसन्नेषु सेनापतिषु पञ्चसु ॥३६॥

उससे वीर कपिश्रेष्ठ हनुमानजी ने उन दोनों को भी मार डाला । उन पाँचों राक्षस सेनापतियों को मार ॥३६॥

बलं तदवशेषं च नाशयामास वानरः ।

अश्वरश्वान्गजैर्नागान्योर्धैर्योर्धान् रथं रथान् ॥३७॥

हनुमानजी ने बची हुई राक्षस सेना का सहार किया । (उनके, मारने के लिए उन्हें किसी वस्तु की आवश्यकता न पड़ी ।) उन्होंने घोड़े से घोड़े को, हाथी से हाथी को, सैनिक से सैनिक को और रथ से रथ को (मार-मार कर) नष्ट कर डाला ॥३७॥

स कपिर्नाशयामास सहस्राक्ष इवासुरान् ।

हतैर्नागिस्तुरङ्गैश्च भग्नाक्षैश्च महारथैः ।

हतैश्च राक्षसभूमौ रुद्धमार्गा समन्ततः ॥३८॥

उन्होंने उन राक्षसों का वैसे ही सहार किया; जैसे इन्द्र असुरों का करते हैं । उन मरे हुए हाथियों, घोड़ों, टूटे हुए बड़े बड़े रथों से तथा मरे हुए राक्षसों से यह रणक्षेत्र पट गया और हर ओर के मार्गें बंद हो गए ॥३८॥

ततः कपिस्तान्ध्वजिनीपतीन्रणे

निहत्य वीरान्सवलान्सवाहनान् ।

तदेव वीरः परिगृह्य तोरणं

कृतक्षणः काल इव प्रजाक्षये ॥३९॥

इति पट्टचत्वारिंशः सर्गः ॥

पाँच वीर सेनापतियों को उनकी सेना तथा वाहनों सहित युद्ध में मार कर और भवसर पा, वीर हनुमान प्रलयकालीन प्रजाक्षयकारी काल की तरह, पुन उसी फाटक के ऊपर जा बैठे ॥३९॥

मुन्दरकाण्ड का छियालिसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

सप्तचत्वारिंशः सर्गः

सेनापतीन्पञ्च स तु प्रमापितान्

हनूमता सानुचरान्सवाहनान् ।

समीक्ष्य राजा समरोद्धतोन्मुखं

कुमारमक्षं प्रसमंक्षताप्रतः ॥१॥

राक्षसराज रावण ने, जब जाना कि, हनुमानजी ने उन पाँच सेनापतियों को उनकी सेना तथा वाहनो सहित नष्ट कर डाला है, तब उसने लड़ने के लिए उद्यत और अपने सामने बैठे हुए अक्षयकुमार की ओर देखा ॥१॥

स तस्य दृष्ट्यर्पणसंप्रचोदितः

प्रतापवान्काञ्चनचित्रकामुकः ।

समुत्पपाताथ सदस्युदीरितो

द्विजातिमुख्यैर्हविषेव पावकः ॥२॥

रावण के ताकने भर की देर थी कि, प्रतापी और अद्भुत सुवर्णभूषित घनूषघाती अक्षयकुमार तुरन्त वैसे उठ खड़ा हुआ, जैसे ब्राह्मणों द्वारा आहुति पड़ने पर अग्नि की शिखा उठती है ॥२॥

ततो महाद्वालदिवाकरप्रभ

प्रतप्तजाम्बूनदजालसन्ततम् ।

रथं समास्थाय ययौ स वीर्यवान्

महाहरिं तं प्रति नैर्ऋतर्षभः ॥३॥

वह राक्षसश्रेष्ठ महाबली, रावणकुमार, सूर्य के समान दीप्तिमान, सुवर्ण भूषित रथ पर सवार हो, हनुमानजी से लड़ने को खाना हुआ ॥३॥

ततस्तपःसंग्रहसञ्चयार्जितं

प्रतप्तजाम्बूनदजालशोभितम् ।

पताकिनं रत्नविभूषितध्वजं

मनोजवाष्टाश्ववरैः सुयोजितम् ॥४॥

वह रथ बड़ी-तपस्या करके प्राप्त हुआ था और रत्नजडित ध्वजा पताकाओं से भरी मांति सुसज्जित था। मन के समान तेज चलने वाले घोडों से उसमें जुते हुए थे ॥४॥

सुरासुराधृष्यमसङ्गचारिण

रविप्रभं व्योमचर समाहितम् ।

सत्तूणस्रष्टासिनिबद्धबन्धुरं

यथाक्रमावेशितचारतोमरम् ॥५॥

देवता और असुरों से अज्ञेय, बिना किसी के सहारे चलने वाले, सूर्य की तरह चमकीला, आकाश में उड़ने की शक्ति रखने वाला, तीरों से भरे हुए तरकसों से पूरा, आठ खड्गों से युक्त, जिसमें यथोचित स्थानों पर पैंतीस शक्तिशाली और तोमर रखे हुए थे ॥५॥

विराजमानं प्रतिपूर्णवस्तुना

सहैमदाम्ना शशिसूर्यवर्चसा ।

दिवाकराभं रथमास्थितस्ततः

स निजंगामामरतुल्यविक्रमः ॥६॥

जो समस्त साम्राज्य की सामग्री से युक्त, सोने की डोरियों से कसा हुआ एक चन्द्रमा और सूर्य की तरह चमकता था। इस प्रकार के सूर्य के समान चमकीले, रथ पर सवार ही, देवताओं के समान पराक्रमी अक्षयकुमार बाहर निकला ॥६॥

स पूरयन्त्वं च महीं च साचलां

तुरङ्गमातङ्गमहारथस्वनैः ।

बलैः समेतैः स हि तोरणस्थितं

समर्थमासीनमुपागमत्कपिम् ॥७॥

सेना के घोड़ों की हिनहिनाहट, हाथियों की चिघार और रथों के चलने की गडगडाहट से आकाश, पृथिवी और पर्वतों को प्रतिध्वनित करता हुआ अक्षयकुमार सेना की साय लिए हुए, फाटक पर बैठे हुए प्रति समर्थवान् हनुमानजी के निकट आ पहुँचा ॥७॥

स तं समासाद्य हरिं हरीक्षणो

युगान्तकालाग्निमिव प्रजाक्षये ।

श्रवस्थितं विस्मितजातसंभ्रमः

समैक्षताक्षो बहुमानचक्षुषा ॥८॥

सिंह समान क्रूर दृष्टि वाला अक्षयकुमार, विस्मित होकर प्रलयकालीन प्रजाक्षयकारी अग्निदेव के तुल्य हनुमानजी को, आदर की दृष्टि से देखने लगा ॥८॥

स तस्य वेगं च कपेमहात्मनः

पराक्रमं चारिषु पार्थिवात्मजः ।

विचारयन्त्वं च बलं महाबलो

हिमक्षये सूर्य इवाभिवर्धते ॥९॥

महाबलवान् अक्षय, धैर्यवान् हनुमानजी का बल और शत्रु के प्रति उनके पराक्रम तथा अपना बलाबल विचार कर, प्रीप्सुकालीन सूर्य की तरह अपनी उम्रता बढ़ाने लगा ॥९॥

स जातमन्युः प्रसमीक्ष्य विक्रमं

स्थिरं स्थितः संयति दुर्निवारणम् ।

समाहितात्मा हनुमन्तमाहवे

प्रचोदयामास शरैस्त्रिभिः शितैः ॥१०॥

हनुमान द्वारा राक्षसों का विष्वस सोच और सग्राम के लिए उद्यत और दुर्निवार्य हनुमानजी के ऊपर एकाग्रचित्त हो भक्षयकुमार ने तीन पत्थरों को बाण बना कर, उनको युद्ध के लिए तैयार किया ॥१०॥

ततः कपि तं प्रसमीक्ष्य गर्वितं

जितश्रमं शत्रुपराजयोजितम् ।

अवक्षताक्षः समुदीर्णमानसः

स बाणपाणिः प्रगृहीतकार्मुकः ॥११॥

तदनन्तर हनुमानजी को उन बाणों से अविचलित देख, शत्रु को पराजित करने के योग्य, बल से गर्वित और युद्ध के लिए उत्साहित देख, फुर्तिले भक्षय ने बाण सहित घनुष को हाथ में लिया ॥११॥

स हेमनिष्काङ्गदचारुकुण्डलः

समाससादाशुपराक्रमः कपिम् ।

तयोर्बभूवाप्रतिमः समागमः

सुरासुराणामपि संघ्नमप्रदः ॥१२॥

सुवर्ण के बने बाजू और सुन्दर कुण्डल धारण किए, फुर्तिले और पराक्रमी भक्षय ने हनुमानजी पर आक्रमण किया । उन दोनों का यह अनुपम युद्ध-समागम, देवताओं और दैत्यों को भी भयप्रद था ॥१२॥

ररास भूमिर्न तताप भानुमान्

ववौ न वायुः प्रचचाल चाचलः ।

कपेः कुमारस्य च वीक्ष्य संयुगं

ननाद च द्यौर्दधिश्च चुक्षुभे ॥१३॥

हनुमानजी घोर भक्षय की लड़ाई देख, भूमि से एक प्रकार का स्रष्ट निकला, सूर्य की गर्मी मन्द पड़ गई, वायु का चलना बन्द हो गया, पहाड़ कांप उठे, आकाश गूँजने लगा और समुद्र खलबलाने लगा ॥१३॥

ततः स वीरः सुमुखान्पतत्रिणः

सुवर्णपुङ्खान्सविपानिवोरगान् ।

समाधिसंयोगविमोक्षतत्त्ववित्

शरानथ त्रीन्कपिमूर्धन्यपातयत् ॥१४॥

निशाना बंधने, बाण का सन्धान करने और बाणों के चलाने में कुशल वीर भक्षयकुमार ने सुवर्णमय, सुन्दर पुस्तयुक्त एव विषले सर्पों के तुल्य तीन बाण हनुमानजी के सिर में मारे ॥१४॥

स तैः शरैर्मूर्ध्न समं निपातितैः

क्षरन्नसृग्दिग्धविवृत्तलोचनः ।

नवोदितादित्यनिभः शरांशुमान्

व्यरोचतादित्य इवांशुमालिकः ॥१५॥

एक साथ तीन बाणों के लगने से हनुमानजी के सिर से खून की धारा बह निकली, उनके नेत्रों के सामने धुमरी भाने लगी। किन्तु उस समय हनुमानजी ऐसे शोभायमान हुए, जैसे उदयकालीन सूर्य शोभायमान होते हैं। उनके मस्तक में बिघे हुए बाण किरणों की तरह शोभा देने लगे ॥१५॥

ततः स पिङ्गाधिपमन्त्रिसत्तमः

समीक्ष्यतं राजवरात्मजं रणे ।

उदग्रचित्रायुधचित्रकार्मुकं

जहर्ष चापूर्यत चाह्वोन्मुखः ॥१६॥

तब सुषीव के मन्त्रिप्रवर, श्रीहनुमानजी उस राजसराज के पुत्र भक्षय-कुमार को, जो अत्युत्तम धीर अद्भुत धायुषों और धनुष को ले लड़ रहा

या, देव कर प्रसन्न हुए और अपना शरीर बढाया तथा व उससे युद्ध करन को उद्यत हुए ॥१६॥

स मन्दराग्रस्थ इवाशुमालिको

विवृद्धकोपो बलवीर्यसयुत ।

कुमारमक्ष सबल सबाहन

ददाह नेत्राग्निमरीचिभिस्तदा ॥१७॥

मन्दराबल पर स्थित सूय की तरह कान्तिमान बल और विक्रम से युक्त हनुमानजी अत्यन्त क्रुद्ध हुए और नत्राग्नि से सेना सहित अक्षयकुमार को भस्म करन लग ॥१७॥

तत स बाणासनचित्रकार्मुक

शरप्रवर्यो युधि राक्षसाम्बुद ।

शरान्मुमोचाशु हरीश्वराचले

बलाहको वृष्टिमिवाचलोत्तमे ॥१८॥

जिस प्रकार भय पवतो पर जल की वृष्टि किया करते ह, उसी प्रकार उस युद्ध में अक्षयकुमार रूपी बादल हनुमान रूपी पर्वत पर, अपने अद्भुत धनुष से बाणरूपी जल की वृष्टि करन लगा ॥१८॥

तत कपिस्त रणचण्डविक्रम

विवृद्धतेजोबलवीर्यसयुतम् ।

कुमारमक्ष प्रसमोक्ष्य सयुगे

ननाद हर्षाद्घनतुल्यनि स्वन ॥१९॥

जब हनुमानजी न देखा कि अक्षयकुमार बडा प्रचण्ड पराक्रमी है और बडी तेजी से तथा पराक्रम के साथ बाण चलाता हुआ युद्ध कर रहा है तब व प्रसन्न हो भय की तरह गर्जे ॥१९॥

स बालभावाद्युधि वीर्यदर्पित

प्रवृद्धमन्यु क्षतजोपमेक्षण ।

समाससादाप्रतिमं कपिं रणे

गजो महाकूपमिवावृत तृणैः ॥२०॥

कम उग्र होने के कारण भ्रमरकुमार भ्रमने बल पराक्रम का बडा गवं रक्षता या भीरु मारे शीघ्र के उसके दोनों नेत्र सुखं हो गए थे । जिस प्रकार हाथी घास फूस से ढके हुए मधे कुएँ में चला जाता है, उसी प्रकार वह हनुमानजी के पास युद्ध करता हुआ चला जाता था ॥२०॥

स तेन बाणैः प्रसभं निपातितैः

चकार नादं घननादनिःस्वनः ।

समुत्पपाताशु नभः स मारुतिः

भुजोरुविक्षेपणघोरदर्शनः ॥२१॥

बहुत बाणों के लगने से हनुमानजी गर्जते हुए आकाश की ओर उठ । उस समय उनकी भुजाओं और आँधों के हिलने से उनका रूप देख, बडा डर लगता था ॥२१॥

समुत्पतन्तं समभिद्रवद्वली

स राक्षसानां प्रवर प्रतापवान् ।

रथी रथिश्रेष्ठतमः किरञ्शरैः

पयोधरः शंलमिवाश्मवृष्टिभिः ॥२२॥

जब हनुमानजी उठ कर आकाश में पहुँचे तब राक्षसश्रेष्ठ, दूरप्रवर, प्रतापी एव बलवान् भ्रमरकुमार उन पर बाणों की वर्षा वैसे ही करने लगा; जैसे मेघ पर्वत पर ओलों की वर्षा करते हैं ॥२२॥

स ताञ्शरास्तस्य विमोक्षयन्कपिः

चचार वीरः पथि वायुसेविते ।

शरान्तरे मारुतवद्विनिष्पतन्

मनोजवः संयति चण्डविक्रतः ॥२३॥

युद्ध में भयङ्कर विक्रम दिखाने वाले और मन से भी अधिक वेगगामी वीर पवननन्दन हनुमानजी, पवनदेव की तरह बाणों की घात को बचाते बाणों के बीच घूम रहे थे ॥२३॥

तमात्तबाणासनमाहवोन्मुखं

खमास्तृणन्तं विशिखैः शरोत्तमैः ।

अवक्षताक्षं बहुमानचक्षुषा

जगाम चिन्तां च स माहतात्मजः ॥२४॥

जब हनुमानजी ने देखा कि, अक्षय ने तो विविध प्रकार के बाणों से आकाश ही को ढक दिया, तब तो हनुमानजी अक्षय को बहुत सम्मान की दृष्टि से देख कर, मन ही मन सोचने लगे ॥२४॥

ततः शरैर्भिन्नभुजान्तरः कपिः

कुमारवीर्येण महात्मना नदन् ।

महाभुजः कर्मविशेषतत्त्ववित्

विचिन्तयामास रणे पराक्रमम् ॥२५॥

इतने में जब वीर अक्षयकुमार ने हनुमानजी की छाती में अनेक बाण मारे, जिससे उनका वस्त्र-स्यल क्षत-विक्षत हो गया तब कार्यपटु, महाबाहु हनुमानजी गर्जे और अक्षय के युद्ध सम्बन्धी पराक्रम के विषय में विचारने लगे ॥२५॥

अबालवद्वालदिवाकरप्रभः

करोत्ययं कर्म महामहाबलः ।

न चास्य सर्वाह्वकर्मशोभिनः

प्रमापणे मे मतिरत्र जायते ॥२६॥

और मन ही मन कहने लगे कि, प्रातःकालीन सूर्य की तरह कान्तिमान, महाबली एवं धैर्यशाली अक्षय ने वीर पुरुष की तरह कार्य किया है । युद्ध के

सुमस्त कर्मों में यह कुशल है। अतः ऐसे रणकुशल वीर का वध करने की इस समय मेरी इच्छा नहीं होती ॥२६॥

अयं महात्मा च महांश्च वीर्यतः

समाहितश्चातिसहश्च संयुगे ।

असंशय कर्मगुणोदयादयं

सनागयक्षैर्मुनिभिश्च पूजितः ॥२७॥

यह धैर्य-सम्पन्न अक्षय, बड़ा बलवान है, युद्ध करने को तत्पर है और प्रतिशय वनेशसहिष्णु है तथा कार्यकुशल है। कार्यकुशल और गुणवान होने के कारण, नाग, यक्ष और ऋषियो द्वारा यह सम्मान किए जाने योग्य है ॥२७॥

पराक्रमोत्साहविवृद्धमानसः

समौक्षते मां प्रमुखाग्रतः स्थितः ।

पराक्रमो ह्यस्य मनांसि कम्पयेत्

सुरासुराणामपि शीघ्रगामिनः ॥२८॥

देखो, पराक्रम और उत्साह से इसके मन का उत्साह कैसा बढ़ा-बढ़ा हुआ है। यह मेरे सामने खड़ा मेरी ओर देख रहा है, इस फुर्तीले और रणवीरुके का पराक्रम देवताओं और देवों के भी मन को भयभीत करने वाला है ॥२८॥

न खल्वयं नाभिभवैदुपेक्षितः

पराक्रमो ह्यस्य रणे विवर्धते ।

प्रमापणं त्वेव ममास्य रोचते

न वर्धमानोऽग्निरुपेक्षितुं क्षमः ॥२९॥

युद्ध में इसका जैसा उत्तरोत्तर पराक्रम बढ़ता जा रहा है, उस पर ध्यान दे कर, यदि मैं अब इसकी उपेक्षा करूँ, तो यह निस्सन्देह मुझे पराजित करेगा। अतः इसका घात करना ही मुझे अच्छा जान पड़ता है, क्योंकि बढ़ती हुई आग की उपेक्षा करना ठीक नहीं ॥२९॥

इति प्रवेगं तु परस्य तर्कयन्
स्वकर्मयोगं च विधाय वीर्यवान् ।

चकार वेगं तु महाबलस्तदा
मर्ति च चक्रेऽस्य वधे महाकपिः ॥३०॥

इस प्रकार महाबली हनुमानजी शत्रु के पराक्रम को विचार कर और अपना कर्तव्य स्थिर कर, बड़ी शीघ्रता से उसके वध में तत्पर हुए ॥३०॥

स तस्य तानष्टहयान्महाजवान्
समाहितान्भारसहान्विवर्तने ।
जघान वीरः पथि वायुसेविते
तलप्रहारैः पवनात्मजः कपिः ॥३१॥

ऐसा निश्चय कर, पवननन्दन महाबली हनुमानजी ने आकाशगामी और बड़े भार को ढोने वाले तथा अनेक प्रकार के चक्कर काटने में कुशल, प्रलय के रथ के आठों घोड़ों को आकाश ही में थप्पड़ मार-मार कर मार डाला ॥३१॥

ततस्तलेनाभिहतो महारथः
स तस्य पिङ्गाधिपमन्त्रिर्निर्जितः ।

प्रभग्ननीडः^१ परिमुक्तकूबरः^२
पपात भूमौ हतवाजिरम्बरात् ॥३२॥

सुग्रीव के भ्राता हनुमानजी के चपेटों से उस बड़ रथ के घोड़े मारे गए और उसके रथ की बँठक टूट गई और युगधर (रथ का वह भाग जिसमें जुमाँ जुड़ा रहता है) खल जाने के कारण, रथ आकाश से गिरा ॥३२॥

स तं परित्यज्य महारथो रथं
सकामुकः खङ्गधरः खमुत्पतन् ।

१ नीड—रथिस्थानम् । (शि०) २ कूबर—युगधर । (गो०)

तपोभियोगादृषिरुग्रवीर्यवान्

विहाय देहं मरुतामिवालयम् ॥३३॥

महाबलवान् अस्य उस रथ को छोड़, हाथ में तलवार धीर धनुष लेकर, फिर आकाश में वैसे ही जा पहुँचा, जैसे तप प्रभाव से उग्रतपस्वी ऋषि, देह त्याग कर, स्वर्ग में पहुँच जाते हैं ॥३३॥

ततः कपिस्तं विचरन्तमम्बरे

पतत्रिराजानिलसिद्धसेविते ।

समेत्य तं मारुततुल्यविक्रमः

क्रमेण जग्राह स पादयोर्दृढम् ॥३४॥

तब पवनतुल्य पराक्रमी हनुमानजी ने, आकाश में घूमते फिरते धीर युद्ध करते हुए अक्षयकुमार के दोनों पैरों को बड़ी दृढ़ता से पकड़ा ॥३४॥

स तं समाविध्य सहस्रशः कपिः

महोरगं गृह्य इवाण्डजेश्वरः ।

मुमुञ्च वेगात्पितृतुल्यविक्रमो

महीतले संयति वानरोत्तमः ॥३५॥

जैसे गहड़ किसी बड़े साँप को पकड़ झकझोर डालते हैं, उसी प्रकार अक्षय की सहस्रों बार झकझोर धीर घुमा कर, अपने पिता पवन के समान पराक्रमशाली हनुमानजी ने, सभ्रामभूमि में दे पटका ॥३५॥

स भग्नबाहूरुक्कटीशिरोधरः

क्षरन्नसृङ्ग, निर्मथितास्थिलोचनः ।

प्रभिन्नसन्धिः प्रविकीर्णबन्धनो

हतः क्षितौ वायुमुत्तेन राक्षसः ॥३६॥

उस पटकी से अक्षय की बाहें, जाँघें, कमर, सिर धीर धधर चूर चूर हो गए । हड्डी धीर भाँखें भी निक्कल पड़ीं । सब जोड़ खुल गए । शरीर के जोड़ों

के बन्धन भी बिखर गए । इस प्रकार पवननन्दन हनुमानजी ने उस राक्षस को मार डाला ॥३६॥

महाकपिर्भूमितले निपीड्य तं
 चकार रक्षोधिपतेर्महद्भ्रुयम् ।
 महर्षिभिश्चक्रचरंमहाघ्नतः
 समेत्य भूतैश्च सयक्षपन्नगैः ।
 सुरैश्च सेन्द्रैर्भृशजातविस्मयैः
 हृते कुमारैः स कपिर्निरोक्षितः ॥३७॥

हनुमानजी उसी पर कूद पड़े और इस प्रकार उन्होंने रावण के मन में महाभय उत्पन्न कर दिया । अक्षयकुमार के मारे जाने पर महर्षि, ऋह, यक्ष और पन्नग तथा इन्द्र सहित समस्त देवगण वहाँ जा विस्मित हो, हनुमानजी को निहारने लगे ॥३७॥

निहत्य तं वज्रिसुतोपमं रणे
 कुमारमक्षं क्षतजोपमेक्षणम् ।
 तदेव वीरोऽभिजगाम तोरणं
 कृतक्षणः काल इव प्रजाक्षये ॥३८॥

इति सप्तचत्वारिंशः सर्गः ॥

युद्ध में वज्र के समान दृढ़ और लाल नेत्र वाले अक्षयकुमार का वध कर और युद्ध से अवकाश पा, वीर हनुमान, प्रलयकालीन काल की तरह, फाटक के ऊपर पुनः जा बैठे ॥३८॥

सुन्दरकाण्ड का सैतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

अष्टचत्वारिंशः सर्गः

ततस्तु रक्षोधिपतिर्महात्मा

हनूमताञ्क्षे निहते कुमारे ।

मनः समाधाय तदेन्द्रकल्पं

समादिदेशेन्द्रजितं स रोषात् ॥१॥

तदनन्तर हनुमानजी द्वारा मलयकुमार के मारे जाने पर, राक्षसराज रावण ने धर्म धारण कर तथा कुपित हो इन्द्र के समान पराक्रमी इन्द्रजीत मेघनाद को युद्ध में जाने की आज्ञा दी ॥१॥

त्वमस्त्रविच्छस्त्रविदां वरिष्ठः

सुरासुराणामपि शोकदाता ।

सुरेषु सेन्द्रेषु च दृष्टकर्मा

पितामहाराधनसञ्चितास्त्रः ॥२॥

आज्ञा देते हुए उसने मेघनाद से कहा—तुम ब्रह्मास्त्र का चलाना जानने वाले अस्त्र चलाने वालों में श्रेष्ठ और सुरों एवं असुरों को भी शोक के देने वाले हो । इन्द्रादि समस्त देवता तुम्हारे युद्धविक्रम को देख चुके हैं और ब्रह्मानी का आराधन कर तुमने अस्त्रों को पाया है ॥२॥

तवास्त्रधत्तमासाद्य नासुरा न मरुद्गणाः ।

न शोकुः समरे स्यातुं सुरेश्वरसमाश्रिताः ॥३॥

तुम्हारे अस्त्रों के सामने, उनचास पवनों सहित देवगण, इन्द्र का सहारा पाकर भी, युद्ध में खड़े नहीं रह सकते ॥३॥

न कश्चित्त्रिषु लोकेषु संयुगे न गतश्रमः ।

भुजवीर्याभिगुप्तश्च तपसा चाभिरक्षितः ।

देशकालविभागज्ञस्त्वमेव मत्तिसत्तमः ॥४॥

त्रिलोकी में मुझे ऐसा कोई नहीं देख पड़ता, जो युद्ध में तुमसे परास्त न हुआ हो । तुम अपने भुजबल और तपोबल से सब प्रकार से सुरक्षित हो । तुम देश और काल के जानने वाले और बुद्धिमानों में श्रेष्ठ हो ॥४॥

न तेऽस्त्यशक्यं समरेषु कर्मणा

न तेऽस्त्यकार्यं मतिपूर्वमन्त्रणे ।

न सोऽस्ति कश्चित्त्रिषु संग्रहेषु^१ वै

न वेद यस्तेऽस्त्रबलं बलं च ते ॥५॥

युद्धकला में कोई ऐसा कार्य नहीं, जिसे तुम न कर सकते हो । विवेक-पूर्वक विचार करने पर, तुमसे कोई बात भविष्यत नहीं रह सकती । त्रिलोकी में ऐसा कोई नहीं है, जो तुम्हारे अस्त्र-शस्त्र और शारीरिक बल को न जानता हो ॥५॥

ममानुरूप तपसो बलं च ते

पराक्रमश्चास्त्रबलं च संयुगे ।

न त्वां समासाद्य^२ रणावमर्दे^३

मनः^४ श्रमं गच्छति निश्चितार्थम् ॥६॥

तपोबल, शारीरिक बल, पराक्रम अस्त्रबल और युद्धकला में तुम मेरे समान हो । रणसङ्घट के समय मुझे जब तुम्हारा स्मरण हो जाता है, तब मुझे अपने विजय का निश्चय हो जाता है और तब मेरे मन की समस्त चिन्ताएँ और विषाद दूर हो जाते हैं ॥६॥

निहताः किङ्कराः सर्वे जम्बुमाली च राक्षसः ।

अमात्यपुत्रा वीराश्च पञ्च सेनाप्रयायिनः ॥७॥

देखो, अस्सी हजार किङ्कर, राक्षस जम्बुमाली, मन्त्रिपुत्र और वीर पाँच

१ संग्रहा—लोक । (गो०) २ आसाद्य—विचिन्त्य । (गो०)

३ रणावमर्दे—रणसङ्घटे । (गो०) ४ मे मन श्रम न गच्छति—विषाद न गच्छति । (गो०)

सेनापति, हाथी, घोड़े और रथों सहित बड़ी बलवान सेना—ये सब मारे जा चुके हैं ॥७॥

बलानि सुसमृद्धानि साश्वनागरथानि च ।

सहोदरस्ते दयितः कुमारोऽक्षश्च सूदितः ।

न हि तेष्वेव मे सारो यस्त्वप्यरिनिषूदन ॥८॥

तुम्हारा प्यारा सगा भाई अक्षयकुमार भी मारा जा चुका है । हे शत्रु-निषूदन ! मैं उन सब में तुम्हारे समान बल का होना नहीं मानता, तुम उन सब से बड़ कर बलवान हो ॥८॥

इदं हि वृष्ट्वा मतिमन्महद्बलं

कपेः प्रभाव च पराक्रमं च ।

त्वमात्मनश्चापि समीक्ष्य सारं

कुरुष्व वेग स्वबलानुरूपम् ॥९॥

अतः अब तुम उस बन्दर की अन्त शक्ति और पुष्ट्यर्थ तथा अपनी बल विचार कर, सामर्थ्यानुसार अपनी बल दिखाओ ॥९॥

बलावमदस्त्वयि सन्निकृष्टे

यथागते शाम्यति शान्तशत्रौ ।

तथा समीक्ष्यात्मबलं परं च

समारभस्वास्त्रविदा वरिष्ठ ॥१०॥

हे अस्त्रविदों में श्रेष्ठ ! ऐसा करो जिससे तुम्हारे मुद्दशत्रु में जाते ही मेरी सेना का नाश होना बंद हो जाय । अतः तुम अपनी और शत्रु का बल विचार कर, कार्य आरम्भ करना ॥१०॥

न वीर सेना गणशश्च्यवन्ति

न वज्रभादाय विशालसारम् ।

न मास्तस्यास्य गतेः प्रमाणं

न चाग्निकल्पः करणेन हन्तुम् ॥११॥

हे वीर ! अपने साथ सेना ले जाने की भी कुछ आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह बलवान शत्रु के सामने नहीं ठहरती । हनुमान के लिए बड़ा भारी वज्र भी निष्फल है । क्योंकि वह वायु का पुत्र है और वायु की गति का ठीक ही क्या है ? अतः वज्र उसका कुछ नहीं कर सकता । फिर यदि कहो कि, जब वह समीप आवे तब उसे मुक्कों और थपेडों से मारें, तो यह भी ठीक नहीं—क्योंकि वह अग्नितुल्य है । उसके ऊपर घूसो-थपेडों का असर ही क्या हो सकता है ? ॥११॥

तमेवमर्थं प्रममीक्ष्य सम्यक्

स्वकर्मसाम्याद्धि समाहितात्मा ।

स्मरंश्च दिव्यं धनुषोऽस्त्रवीर्यं

ब्रजाक्षतं कर्म समारभस्व ॥१२॥

अतएव पूर्वकथित बातों को ध्यान में रख, अपना प्रयोजन सिद्ध करने के लिए, धन्यूनातिरिक्त एकाग्रचित्त हो और धनुष सम्बन्धी अस्त्रबल का सहारा लेकर, तुम गमन करो और निर्विघ्न अपना कार्य आरम्भ करो अर्थात् बिना मन्त्राभिषिक्त अस्त्रप्रयोग के तुम हनुमान को नहीं पकड़ सकोगे । अतः अस्त्रों के मन्त्रों को याद कर, तुम जाओ ॥१२॥

न खल्वियं मतिः श्रेष्ठा यत्त्वां संप्रेषयाम्यहम् ।

इयं च राजधर्माणां क्षत्रस्य च मतिर्मता ॥१३॥

तुमको युद्ध में भेजना निश्चय ही ठीक नहीं है, परन्तु किया क्या जाय । राजधर्म का विधान और क्षत्रियोचित कर्तव्यपालन इसके लिए मुझे विवश करता है ॥१३॥

नानाशस्त्रैश्च संग्रामे वैशारद्यमरिन्दम ।

अवश्यमेव दोद्धव्यं 'काम्यश्च विजयो रणे ॥१४॥

जो हो, हे शत्रुहन्ता ! युद्ध में विविध अस्त्रों के प्रहार की विधि को अवश्य जान लेना चाहिए और विजयप्राप्ति के लिए प्रार्थी होना चाहिए अर्थात् जयप्राप्ति के लिए सब अस्त्रों के प्रयोग जान लेने चाहिए ॥१४॥

ततः पितुस्तद्वचनं निशान्य

प्रदक्षिणं १दक्षसुतप्रभावः ।

चकार भर्तारिमतित्वरेण

रणाय वीरः प्रतिपन्नबुद्धिः ॥१५॥

अपने पिता के ऐसे वचन सुन, देवों के समान प्रभाव वाला मेषनाद, रावण की परिक्रमा कर और युद्ध करने का निश्चय कर, बिना क्षण भर की देर किए, वहाँ से चल दिया ॥१५॥

ततस्तैः स्वर्गणैरिष्टैरिन्द्रजित्प्रतिपूजितः ।

युद्धोद्धतः कृतोत्साहः संग्रामं प्रत्यपद्यत ॥१६॥

इन्द्रजीत अपने इष्टमित्रों द्वारा सम्मानित हुआ । तदनन्तर वह युद्ध के लिए उत्साहित हो, रणक्षेत्र में जा पहुँचा ॥१६॥

श्रीमान्पद्मपलाशाक्षो राक्षसाधिपतेः सुतः ।

निर्जंगाम महातेजाः समुद्र इव पर्वसु ॥१७॥

उस समय वह रावण का पुत्र, कमलदल के समान बड़े-बड़े नेत्रों वाला, परमतेजस्वी इन्द्रजीत, युद्ध करने के उत्साह से पूर्ण हो, युद्ध करने को वैसे ही आगे बढ़ा जैसे पूर्णमासी के दिन समुद्र बढ़ता है ॥१७॥

स पक्षिराजानिलतुल्यवेगैः

२व्यालैश्चतुर्भिः सिततीक्ष्णदंष्ट्रैः ।

रथं समाधुक्तमसङ्गवेगं

समारुरोहेन्द्रजिदिन्द्रकल्पः ॥१८॥

इन्द्र के समान इन्द्रजीत, गरुड़ की तरह क्षीघ्रगामी और पंखों वाले चार सिंहों से जुते रथ पर सवार हुआ ॥१८॥

१ दक्षसुतप्रभाव — देवा —। (गो०) २ व्यालैः — हिरण्यपशुभिः — सिंहैरिति यावत् । (गो०)

स रथी घन्विनां श्रेष्ठः शस्त्रज्ञोऽस्त्रविदां वरः ।

रथेनाभिययौ क्षिप्रं हनुमान्यत्र सोऽभवत् ॥१६॥

समस्त धनुषधारियो और समस्त शस्त्रो एव अस्त्रो के चलाने की विधि जानने वालो में श्रेष्ठ और युद्धविद्या में पटु हनुजीत, तुरन्त रथ पर सवार हो, वहाँ जा पहुँचा, जहाँ हनुमानजी थे ॥१६॥

स तस्य रथनिर्घोषं ज्यास्वनं कार्मुकस्य च ।

निशम्य हरिवीरोऽसौ संप्रहृष्टतरोऽभवत् ॥२०॥

वानरश्रेष्ठ हनुमानजी उसके रथ के चलने की गडगडाहट और धनुष के रोदे की टकार के शब्द को सुन, अत्यन्त प्रसन्न हुए ॥२०॥

स महच्चापमादाय शितशल्यांश्च सायकान् ।

हनुमन्तमभिप्रेत्य जगाम रणपण्डितः ॥२१॥

रणपण्डित मेघनाद धनुष और तेज फर लगे हुए शर ले, हनुमानजी के सामने जा पहुँचा ॥२१॥

तस्मिस्ततः संयति जातहर्षे

रणाय निर्गच्छति ब्राणपाणौ ।

दिशश्च सर्वाः कलुषा बभूवुः

मृगाश्च रौद्रा बहुधा विनेदुः ॥२२॥

जिस समय मेघनाद हर्षित हो, हाथ में तीर ले कर निकला, उस समय दशों दिशाएँ मलीन हो गईं, शृगाल आदि जन्तु बराबर भयकर चीत्कार करने लगे ॥२२॥

समागतास्तत्र तु नागयक्षा

महर्षयश्चक्रचराश्च^१ सिद्धाः ।

नभः समावृत्य च पक्षिसंघा

विनेदुरुच्चैः परमप्रहृष्टाः ॥२३॥

उस सभ्राम को देखने के लिए नाग, भञ्ज, महर्षि, ग्रह तथा सिद्धों के दल तथा विविध प्रकार के पक्षिगण भी अत्यन्त प्रसन्न हो जोर से चिल्लाते हुए और आकाश को आन्ध्रादित करते हुए, वहाँ जा उपस्थित हुए ॥२३॥

आयान्तं सरथं दृष्ट्वा तूर्णमिन्द्रजितं कपिः ।

विननाद महानादं व्यवर्धत च वेगवान् ॥२४॥

इन्द्रजीत को रथ में बैठ, बड़ी शीघ्रता से आते देख, भति वेग से गम्भीर गर्जन करते हुए, हनुमानजी ने अपना शरीर बड़ाया ॥२४॥

इन्द्रजित्पु रथं दिव्यमास्थितश्चित्रकार्मुकः ।

धनुर्विस्फारयामास तडिद्विजितनिःस्वनम् ॥२५॥

दिव्य रथ पर चढ़ और विचित्र धनुष हाथ में ले, इन्द्रजीत ने अपने धनुष को, जिसकी चमक बिजली के समान थी और जिससे बड़ा शब्द होता था, रोदा चढ़ा कर, तैयार किया ॥२५॥

ततः समेतावतिलीक्षणवेगो

महाबली तौ रणनिर्विशङ्को ।

कपिश्च रक्षोधिपतेश्च पुत्रः

सुरासुरेन्द्राविव बद्धवैरो ॥२६॥

अब वे दोनों भति वेगवान् महाबली हनुमानजी और रावणकुमार इन्द्रजीत जो निभंघ हो युद्ध करते थे और जिनका देवताओं और दैत्यो की तरह बंध बंध गया था, आमने सामने हुए ॥२६॥

स तस्य वीरस्य महारथस्य

धनुष्मतः संयति संमतस्य ।

शरप्रवेगं व्यहन्त्प्रवृद्धः

चचार मार्गो पितुरप्रमेयः ॥२७॥

उस महारथी वीर इन्द्रजीत के धनुष से छूटे हुए तीरो की मार को पिता

के समान ध्रुमेय बलशाली हनुमानजी आकाश में घूमते हुए पंखे बदल, बचाने लगे ॥२७॥

ततः शरानायततीक्ष्णशल्यान्

सुपत्रिणः काञ्चनचित्रपुङ्खान् ।

मुमोच वीरः परवीरहन्ता

सुसन्नतान्वज्रनिपातवेगान् ॥२८॥

यह देख शत्रुहन्ता इन्द्रजीत ने बहुत से ऐसे बड़े-बड़े बाण छोड़े, जिनकी फालें बड़ी तेज थीं और जो पल्लयुक्त, सुवर्ण से चित्रित और बज्र के समान वेगवान थे ॥२८॥

स तस्य तत्स्यन्दननिःस्वनं च

मृदङ्गभेरीपटहस्वनं च ।

विकृत्यमाणस्य च कार्मुकस्य

निशम्य धीषं पुनरुत्पपात् ॥२९॥

हनुमानजी उसके रथ, मृदङ्ग, भेरी और नगाड़े के शब्द को तथा प्रति भयंकर उस घनुष के टकार शब्द को सुन, फिर आकाश में उड़ल कर पहुंच गए ॥२९॥

शराणामन्तरेष्वाशु व्यवर्तत महाकपिः ।

हरिस्तस्याभिलक्ष्यस्य मोक्षयैल्लक्ष्यसंग्रहम् ॥३०॥

वे उसके बाणों की वर्षा में पंखे बदलते और उसके निगाने को बचाते, घूम रहे थे ॥३०॥

शराणामग्रतस्तस्य पुनः समभिवर्तत ।

प्रसार्य हस्तौ हनुमानुत्पपातानिलात्मजः ॥३१॥

बीच-बीच में वे बाणों के सामने भा जाने और फिर वहाँ से हट जाते थे । वे दोनों हाथों को पसारे आकाश में उड़ रहे थे ॥३१॥

तावुभौ वेगसंपन्नौ रणकर्मविशारदौ ।

सर्वभूतमनोग्राहि चक्रतुर्युद्धमुत्तमम् ॥३२॥

वे दोनों ही वेगवान और रणपण्डित थे । वे दोनों ही सब प्राणियों के मन को हरने वाला उत्तम युद्ध करते थे ॥३२॥

हनूमतो वेद न राक्षसोऽन्तरं

न मारुतिस्तस्य महात्मनोऽन्तरम् ।

परस्परं निर्विषहौ बभूवतुः

समेत्य तौ देवसमानविक्रमौ ॥३३॥

न तो हनुमानजी को मेघनाद में कहीं किसी प्रकार की कमी मालूम पड़ी और न मेघनाद को हनुमानजी की कमजोरी देख पड़ी । दोनों ही समान पराक्रमशाली थे । अतएव दोनों आपस में असह्य पराक्रमी हो गए ॥३३॥

ततस्तु लक्ष्ये स विहन्यमाने

शरेष्वमोघेषु च संपतत्सु ।

जगाम चिन्तां महतीं महात्मा

समाधिसंयोगसमाहितात्मा ॥३४॥

तदनन्तर धैर्यवान राक्षसराज का पुत्र मेघनाद अनेक भ्रमोघ बाण चला कर भी जब हनुमान को विद्ध न कर पाया, तब समाधि योग करने वाले की तरह एकाग्रचित्त हो, मेघनाद विचारने लगा ॥३४॥

ततो मति राक्षसराजसूनुः

चकार तस्मिन्ह्रिवीरमुख्ये ।

अवध्यतां तस्य कपेः समीक्ष्य

कथं निगच्छेदिति निग्रहार्यम् ॥३५॥

हनुमानजी को अवध्य जान कर, इनको पकड़ने का क्या उपाय करना चाहिए, यही मेघनाद एकाग्रचित्त हो सोचने लगा ॥३५॥

ततः पितामहं वीरः सोऽस्त्रमस्त्रविदां वरः ।

सन्दधे सुमहातेजास्तं हरिप्रवरं प्रति ॥३६॥

तब अस्त्र जानने वालो में श्रेष्ठ मेघनाद ने पितामह ब्रह्माजी के दिए
ए ब्रह्मास्त्र का प्रयोग हनुमानजी के ऊपर किया ॥३६॥

अवध्योऽयमिति ज्ञात्वा तमस्त्रेणास्त्रतत्त्ववित् ।

निजग्राह महाबाहुर्मरुतात्मजमिन्द्रजित् ॥३७॥

उस अस्त्र के मर्म-वेत्ता मेघनाद ने ब्रह्मास्त्र से भी हनुमानजी को अवध्य
जान, हनुमानजी को ब्रह्मास्त्र से बाँध लिया ॥३७॥

तेन बद्धस्ततोऽस्त्रेण राक्षसेन स वानरः ।

अभवन्निर्विचेष्टश्च पपात च महीतले ॥३८॥

तब ब्रह्मास्त्र से इन्द्रजीत द्वारा बाँधे जाने पर, हनुमानजी निश्चेष्ट हो,
पृथिवी पर गिर पड़े ॥३८॥

ततोऽथ बुद्ध्वा स तदस्त्रबन्धं

प्रभोः प्रभावाद्विगतात्मवेगः ।

पितामहानुग्रहमात्मनश्च

विचिन्तयामास हरिप्रवीरः ॥३९॥

जब हनुमानजी को यह जान पड़ा कि, वह ब्रह्मास्त्र से बाँधे गए हैं और
जब उन्होंने उस अस्त्र का प्रभाव भाजमाया, तब उन्होंने समझा कि, यह
स्वामी का प्रताप है इसीसे मेरा वेग कम नष्ट हुआ है । यह देख हनुमानजी
ने अपने ऊपर ब्रह्माजी का अनुग्रह समझा ॥३९॥

ततः स्वायंभुवैर्मन्त्रैर्ब्रह्मास्त्रमभिमन्त्रितम् ।

हनुमांश्चिन्तयामासं वरदानं पितामहात् ॥४०॥

वह अस्त्र स्वयंभू ब्रह्माजी के मंत्र से अभिमन्त्रित था, अतः हनुमानजी ने
उस वरदान का स्मरण किया जो उन्हें ब्रह्माजी से मिला था ॥४०॥

न मेऽस्य बन्धस्य च शक्तिरस्ति

विमोक्षणे लोकगुरोः प्रभावात् ।

इत्येव मत्वा विहितोऽस्त्रबन्धो

मयाऽऽत्मयोनेरनुवर्तितव्यः ॥४१॥

वे मन ही मन कहने लगे कि लोकगुरु ब्रह्माजी के प्रभाव से इस अस्त्र से छुटकारा पाने की शक्ति मुझमें नहीं है, अतः मुहूर्त भर तक मुझे इसमें बंधा रहना चाहिए । यह विचार हनुमानजी उस अस्त्र के बंधन में बंध गए ॥४१॥

स वीर्यमस्त्रस्य कपिविचार्यं

पितामहानुग्रहमात्मनश्च ।

विमोक्षशक्तिं परिचिन्तयित्वा

पितामहाज्ञामनुवर्तते स्म ॥४२॥

हनुमानजी ब्रह्मास्त्र के बल को तथा ब्रह्माजी के वरदान को, अपने ऊपर उनके अनुग्रह को तथा उस अस्त्र के बन्धन से छूटने की अपनी शक्ति को मली भाँति सोच विचार कर, ब्रह्माजी की आज्ञा का पालन करते रहे ॥४२॥

अस्त्रेणापि हि बद्धस्य भयं मम न जायते ।

पितामहमहेन्द्राभ्यां रक्षितस्यानिलेन च ॥४३॥

उन्होंने यह भी विचार कि, यद्यपि मैं इस ब्रह्मास्त्र से बंध गया हूँ, तथापि मुझे इससे भय नहीं लगता । क्योंकि ब्रह्मा, इन्द्र और पवन मेरी रक्षा कर रहे हैं ॥४३॥

ग्रहणे चापि रक्षोभिर्महान्मे गुणदर्शनः ।

राक्षसेन्द्रस्य संवादिस्तस्माद्गृह्णन्तु मां परे ॥४४॥

इन राक्षसों द्वारा अपने पकड़े जाने से, मुझे तो बड़ा लाम जाग पड़ता है । क्योंकि जब ये लोग मुझे पकड़ेंगे तो राक्षसराज के पास से जायेंगे, तब मेरी

और रावण की बातचीत हो सकेगी । अतः भले ही ये लोग मुझे पकड़ लें ॥४४॥

स निश्चितार्थः परवीरहन्ता

समीक्ष्यकारी विनिवृत्तचेष्टः ।

परंः प्रसह्याभिगतैर्निगूह्य

ननाद तैस्तैः परिभत्स्यमानः ॥४५॥

इस प्रकार अपने लाभ की बात सोच, समझ-बूझ कर काम करने वाले एव शत्रुहन्ता हनुमानजी निश्चेष्ट हो जहाँ के तहाँ पड़े रहे और जब राक्षस पास आ बरबोरी पकड़ कर डपटने और कट्टु वचन कहने लगे, तब उनको सहते हुए, वे उच्चस्वर से सिहनाद करने लगे ॥४५॥

ततस्तं राक्षसा दृष्ट्वा निश्चेष्टमरिन्दमम् ।

बबन्धुः शणवलकैश्च द्रुमचीरैश्च संहतैः ॥४६॥

शत्रुहन्ता हनुमानजी को निश्चेष्ट पडा देख, राक्षस लोग उनको सन के और पेड़ों को छानो के बने रस्तो से कस कर बाँधने लगे ॥४६॥

स रोचयामास परंश्च बन्धनं

प्रसह्य वीरैरभिनिग्रहं च ।

कौतूहलान्मां यदि राक्षसेन्द्रो

द्रष्टुं व्यवस्येदिति निश्चितार्थः ॥४७॥

इस प्रकार अपना बाँधा जाना और शत्रुघ्नो की गालियाँ खाना अथवा उनके वचन में होना, हनुमानजी ने इसलिये पसद किया कि, कदाचित् रावण कौतूहलवश मुझे बुलवावे तो उसके साथ बातचीत भी हो जायगी ॥४७॥

स बद्धस्तेन वल्केन विमुक्तोऽस्त्रेण वीर्यवान् ।

अस्त्रबन्धः स चान्यं हि न बन्धमनुवर्तते ॥४८॥

जब बलवान हनुमानजी को राक्षसों ने रस्ती से बाँधा तब ये अस्त्रबन्धन से छूट गए। क्योंकि अस्त्रबन्धन, अन्य रस्ती आदि के बन्धन को नहीं मानता ॥४८॥

अथेन्द्रजित् त द्रुमचीरबद्धं
विचार्य वीर. कपिसत्तमं तम् ।

विमुक्तमस्त्रेण जगाम चिन्तां
नान्येन बद्धो ह्यनुवर्ततेऽस्त्रम् ॥४९॥

जब इन्द्रजीत ने देखा कि कपिश्रेष्ठ को राक्षस रस्ती से बांध रहे हैं और यह अस्त्रबन्धन से निमुक्त हो गए हैं तब उसे बड़ी चिन्ता हुई और वह सोचन लगा कि अन्य बन्धन से ब्रह्मास्त्र का बन्धन तो विफल हो गया ॥४९॥

अहो महत्कर्म कृतं निरर्थकं
न राक्षसैर्मन्त्रगतिविमूढा ।

पुनश्च नास्त्रे विहृतेऽस्त्रमन्यत्
प्रवर्तते संशयिताः स्म सर्वे ॥५०॥

वह पश्चात्ताप करता हुआ कहने लगा—हा ! राक्षसों ने रास्त्र की शक्ति को जाने बिना ही मेरा बना बनाया यह बड़ा भारी काम मिट्टी में मिला दिया। क्योंकि एक बार ब्रह्मास्त्र के विफल होने से अब पुन इसका प्रयोग भी तो नहीं किया जा सकता। अतः हम लोग फिर इस वातर के सङ्कट में फँस गए ॥५०॥

अस्त्रेण हनुमान्मुक्तो नात्मानमवबुध्यत ।
कृष्यमाणस्तु रक्षोभिस्तश्च बन्धेनिपीडितः ॥५१॥

हनुमानजी ने ब्रह्मास्त्र के बन्धन से मुक्त होकर भी कुछ नहीं किया। राक्षस लोग उनको खींच रहे थे और पीड़ा पहुँचा रहे थे ॥५१॥

हन्यमानस्ततः क्रूरः राक्षसैः काष्ठमुष्टिभिः ।

समीप राक्षसेन्द्रस्य प्राकृष्यत स वानरः ॥५२॥

वे राक्षस हनुमानजी को लकड़ा और धूसो से मार रहे थे और उनको खींच कर रावण के पास लिये जा रहे थे ॥५२॥

अथेन्द्रजित्त प्रसमीक्ष्य भुवतम्

अस्त्रेण बद्ध द्रुमचीरसूत्रं ।

व्यदर्शयत्तत्र महाबल त

हरिप्रवीरं सगणाय राज्ञे ॥५३॥

मेघनाद ने महाबली कपिशष्ठ हनुमानजी को ब्रह्मास्त्र के बन्धन से मुक्त और रस्सो से बंधा देख, उनको ले जाकर मन्त्रियों सहित बैठे हुए रावण के सामने उपस्थित कर दिया ॥५३॥

तं मत्तमिव मातङ्ग बद्ध कपिवरोत्तमम् ।

राक्षसा राक्षसेन्द्राय रावणाय न्यवेदयन् ॥५४॥

राक्षस लोगो ने मत्त हाथी को तरह बंधे हुए हनुमानजी को राक्षसराज रावण के सामने उपस्थित कर दिया ॥५४॥

कोऽयं कस्य कुतो वात्र किं कार्यं को व्यपाश्रयः ।

इति राक्षसवीराणां तत्र संजज्ञिरे कथाः ॥५५॥

यह कौन है ? किसका भेजा हुआ है ? कहां से आया है ? क्यों आया है ? इसके सहायक कौन-कौन हैं ? बस इन्हीं सब प्रश्नों के ऊपर वे राक्षस आपस में बातचीत करते थे ॥५५॥

हन्यतां दह्यता वापि भक्ष्यतामिति चाहरे ।

राक्षसास्तत्र संक्रुद्धाः परस्परमयाद्भुवन् ॥५६॥

अन्य राक्षस जो वहां थे, क्रुपित हो आपस में कह रहे थे कि, इसको मनी मार डालो, सको जता दो । अथवा आपो हम मार कर इसे खा डालें ॥५६॥

अतीत्य मार्गं सहसा महात्मा
 स तत्र रक्षोधिपपादमूले ।
 ददर्श राज्ञः 'परिचारवृद्धान्
 गृहं महारत्नविभूषितं च ॥५७॥

धर्मवान् हनुमानजी ने कृद्ध दूर चल कर सहसा, महामूल्यवान् रत्नों से शोभित राजमन्दिर में, राजसयत्र रावण के चरणों के समीप बड़े-बड़े मन्त्रियों को बैठा हुआ देखा ॥५७॥

स ददर्श महातेजा रावणः कपिसत्तमम् ।
 रक्षोभिर्विकृताकारैः कृप्यमाणमित्तस्ततः ॥५८॥

प्रबल प्रतापी रावण ने देखा कि, विकृताकार राजसयत्र लीग हनुमानजी को पकड़ कर खींचते हुए चले जा रहे हैं ॥५८॥

राक्षसाधिपति चापि ददर्श कपिसत्तमः ।
 लैजोबलसमायुवर्तं तपन्तमिव भास्करम् ॥५९॥

हनुमानजी ने भी देखा कि, राजसयत्र रावण तेज प्रीर बल से सम्पन्न मूर्ध की तरह लय रहा है ॥५९॥

स रोषसंवर्तितताम्रदृष्टिः
 दशाननस्तं कपिमन्त्रवेक्ष्य ।
 अयोपधिष्ठान्कुलशीलवृद्धान्
 समादिशत्तं प्रति मन्त्रिमुख्यान् ॥६०॥

हनुमान को देखते ही रावण की तपोरी चड़ गई । उसने क्रोध के मारे सात नेत्र कर, कुलवान एवं शीलसम्पन्न तथा बृद्ध धरने मुख्य मन्त्रियों को वातर का शान पूछने के लिए आज्ञा दी ॥६०॥

१ परिचारवृद्धान्—समायुवृद्धान् । (गो०)

यथाक्रम तैः स कपिर्विपृष्टः

कार्यार्थमर्थस्य च मूलमादौ ।

निवेदयामास हरीश्वरस्य

दूतः सकाशादहमागतोऽस्मि ॥६१॥

इति अष्टचत्वारिंश सर्गं ॥

जब उन मन्त्रियों ने हनुमानजी से पूछा कि, तुम यहाँ क्यों और किस लिए आए हो ? तब उत्तर में हनुमानजी ने कहा कि मैं कविराज सुग्रीव के पास से आया हूँ और मैं उनका दूत हूँ ॥६१॥

सुन्दरकाण्ड का अड़तालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

— * —

एकोनपञ्चाशः सर्गः

ततः स कर्मणा तस्य विस्मितो भीमविक्रमः ।

हनुमान्रोपताम्राक्षो रक्षाधिपमवैक्षत ॥१॥

भयङ्कर विक्रम सम्पन्न हनुमानजी, मेघनाद के उस बन्धन रूप कर्म से विस्मित हो, क्रोध से लाल नेत्र कर, रावण को देखने लगे ॥१॥

भ्राजमानं महार्हेण काञ्चनेन विराजता ।

मुक्ताजालवृतेनाथ मुकुटेन महाद्युतिम् ॥२॥

उस समय महातेजस्वी रावण बड़ा मूल्यवान् और मोतियों से जड़ा हुआ चमचमाता मुकुट धारण किए हुए था ॥२॥

वज्रसंयोगसंयुक्तेर्महाहंमणिविग्रहैः ।

हैमैराभरणैश्चित्रैर्मनसेव प्रकल्पितैः ॥३॥

उस समय रावण शरीर को जिन अद्भुत भूषणों से भूषित किए हुए था, व सब सुवर्ण के थे और उनमें हीरे तथा बड़ी मूल्यवान् मणियाँ जड़ी हुई थीं वे ऐसे सुन्दर थे, मानो मन लगा कर बनाए गये थे ॥३॥

महार्हक्षीमसंवीतं रक्तचन्दनरूपितम् ।

स्वनुलिप्तं वित्तित्राभिविंविधाभिश्च 'भक्तिभिः ॥४॥

रावण मूल्यवान् रेगमी वस्त्र पहिने हुए था तथा उसके शरीर में लाल चन्दन लगा हुआ था । वह विविध प्रकार के सुगन्धियुक्त कस्तूरी केसरदि शरीर में लगाए हुए था ॥४॥

विपुलदर्शनीयैश्च रक्ताक्षैर्भोमदर्शनैः ।

दीप्ततीक्ष्णमहादंष्ट्रैः प्रलम्बदशनच्छदैः ॥५॥

उस समय वह अत्यन्त दर्शनीय हो रहा था । उसके भय उपजाने वाले लाल-लाल नेत्र थे । उसके पैने और बड़े-बड़े दाँत साफ होने के कारण चमकमा रहे थे । उसके मोठ लम्बे थे ॥५॥

शिरोभिर्दशभिर्वीरं भ्राजमानं महीजसम् ।

नानाव्यालसमाकीर्णैः शिखरैरिव मन्दरम् ॥६॥

परम तेजस्वी वीर रावण, अनेक सर्पों से युक्त मन्दराचल के शिखर की तरह, अपने दस शिरो से शोभायमान हो रहा था ॥६॥

नीलाञ्जनचयप्रख्यं हारेणोरसि राजता ।

पूर्णचन्द्राभवकत्रेण सवलाकमिवाम्बुदम् ॥७॥

उसके शरीर का रङ्ग नीले अञ्जन की तरह था और छाती के ऊपर हार झूल रहा था । उसका मुखमण्डल पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान था । उस समय वह, प्रातःकालीन सूर्य को ढके हुए मेघ की तरह जान पड़ता था ॥७॥

बाहुभिर्बद्धकेयूरैश्चन्दनोत्तमरूपितैः ।

भ्राजमानाङ्गदं पौनैः पञ्चशोर्षैरिवोरगैः ॥८॥

उसकी मोटी मोटी मुजाएँ, जिन पर चन्दन लगा हुआ था और जो केयूरो तथा बाजूबदो से भूषित थीं, पाँच मुखवाले भयङ्कर सर्पों की तरह जान पड़ती थीं ॥८॥

१ भक्तिभिः --देवनीयवस्तुर्वादिभिः । (सि०)

महति स्फाटिके चित्रे रत्नसंयोगसंस्कृते ।

उत्तमास्तरणास्तीर्णे सूपविष्टं वरासने ॥६॥

रावण स्फटिक पत्थर की बनी एक ऐसी बड़ी और उत्तम बैठकी पर बैठा हुआ था, जिसमें जगह-जगह रत्न जड़े हुए थे और जिसके ऊपर उत्तम बिछीना बिछा हुआ था ॥६॥

अलंकृताभिरत्यर्थं प्रमदाभिः समन्ततः ।

बालव्यजनहस्ताभिरारात्समुपसेवितम् ॥१०॥

अनेक आमूषणों से सुसज्जित स्त्रियाँ चमर और बिजन हाथों में लिए उसके चारों ओर खड़ी हुईं, उसकी सेवा कर रही थीं ॥१०॥

दुर्घरेण प्रहस्तेन महापाश्वेन रक्षसा ।

मन्त्रिभिर्मन्त्रतत्त्वज्ञानिकुम्भेन च मन्त्रिणा ॥११॥

वहाँ पर परामर्श देने में निपुण चार मन्त्री थे जिनके नाम दुर्घर, प्रहस्त, महापाश्व और निकुंभ थे ॥११॥

उपोपविष्टं रक्षोभिश्चतुर्भिर्बलर्दापतैः ।

कृत्स्नः परिवृतो लोकश्चतुर्भिरिव सागरैः ॥१२॥

अन्य बड़े बलवान राक्षस भी उसके ममीप बैठे थे । मन्त्रियों के बीच बैठा हुआ रावण, चार समुद्रों से घिरी समूची पृथिवी की तरह जान पड़ता था ॥१२॥

मन्त्रिभिर्मन्त्रतत्त्वज्ञानैश्च शुभबुद्धिभिः ।

अन्वास्यमानं सचिवैः सुरैरिव सुरेश्वरम् ॥१३॥

इस प्रकार मन्त्रकुशल मन्त्रियों तथा अन्य हितैषियों से सेवित रावण देवताओं से सेवित इन्द्र की तरह जान पड़ता था ॥१३॥

अपश्यद्राक्षसपतिं हनुमानतितेजसम् ।

विष्टितं मेरुशिखरे सतोयमिव तोयदम् ॥१४॥

हनुमानजी ने देखा कि, महानैजस्वी रावण को उस समय ऐसी शोभा ही रही है, जैसी मेघशिखर पर, जन मे पूर्ण मेघ की शोभा होती है ॥१४॥

स तैः संपीड्यमानोऽपि रक्षोभिर्भूमिविक्रमैः ।

विस्मयं परमं गत्वा रक्षोधिपमवैक्षत ॥१५॥

यद्यपि भयकर विक्रम सम्पन्न राक्षस हनुमानजी को उत्पोंडित कर रहे थे, तथापि हनुमानजी राक्षसराज रावण को देख कर बड़े विस्मित हुए ॥१५॥

भ्राजमानं ततो दृष्ट्वा हनुमान् राक्षसेश्वरम् ।

मनसा चिन्तयामास तेजसा तस्य मोहितः ॥१६॥

राक्षसराज रावण को इस प्रकार सुशोभित देख, हनुमानजी उसके प्रताप और प्रभाव से मोहित हो, मन हा मन विचार कर कहने लगे ॥१६॥

अहो रूपमहो धैर्यमहो सत्वमहो द्युतिः ।

अहो राक्षसराजस्य सर्वलक्षणयुक्तता ॥१७॥

वाह इस राक्षसराज का कैसा सुन्दर रूप है, कैसा धैर्य है ? कैसा पराक्रम है और कैसी कान्ति है ? वाह ! यह समस्त शुभ लक्षणों से भी सम्पन्न है ॥१७॥

यद्यधर्मो न बलवान्स्यदय राक्षसेश्वरः ।

स्यादयं सुरलोकस्य सशक्रस्यापि रक्षिता ॥१८॥

हा ! यदि यह कहीं ऐसा पापाचारी न होता, तो यह राक्षसराज इन्द्र सहित देवताओं का भी रक्षक हो सकता था ॥१८॥

अस्य क्रूरैर्नृशंसैश्च कर्मभिलोककुत्सितैः ।

तेन विभ्यति खल्वस्माल्लोकाः सामरदानवाः ॥१९॥

किन्तु इसके दुष्ट, नृशंस और लोकाग्रहित कर्मों से निश्चय ही दैत्य, दानव और देवगण सब भयभीत रहा करते हैं ॥१९॥

अयं ह्यत्सहते क्रुद्धः कर्तुमेकार्णवं जगत् ।

इति चिन्तां बहुविधामकरोन्मतिमान्कपिः ।

दृष्ट्वा राक्षसराजस्य प्रभावममितीजसः ॥२०॥

इति एकोनपञ्चाश सर्गः

क्रुद्ध होने पर यह समस्त ससार को एक समुद्रमय कर सकता है, अर्थात् सारी पृथिवी को जल के भीतर डुबो कर नष्ट कर सकता है। बुद्धिमान हनुमानजी अत्यन्त पराक्रमी रावण का प्रताप देख, इस प्रकार की विविध चिन्ताएँ करने लगे ॥२०॥

मुन्दरकाण्ड का उनचासवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

पञ्चाशः सर्गः

तमुद्वीक्ष्य महाबाहुः पिङ्गाक्षं पुरतः स्थितम् ।

रोषेण पहताविष्टो रावणो लोकरावणः ॥१॥

लंबी भुजाओं वाला तथा लोको को हलाने वाला रावण पीले नेत्रों वाले हनुमानजी को अपने सामने खड़ा देख, अत्यन्त क्रुपित हुआ ॥१॥

शङ्काहतात्मा दध्यौ स कपीन्द्रं तेजसा वृतम् ।

किमेव भगवान् नन्दी भवेत्साक्षाद्विहागतः ॥२॥

वह हनुमानजी का तेज पुञ्ज शरीर देख मन ही मन शक्ति हो सोचने लगा कि, कहीं ये साक्षान् भगवान् नन्दी तो यहाँ नहीं गए ॥२॥

येन शप्तोऽस्मि कैलासे मया सञ्चालिते पुरा ।

सोऽहं वानरमूर्तिः स्यात्किं स्वद्वाणोऽपि वासुरः ॥३॥

जिन्होंने पहिले मुझे कैलास पर, उसे हिलाने के लिए शाप दिया था जान पड़ता है वे ही वानर का रूप धर कर यहाँ आए हैं, अथवा यह वाणागुर इस रूप में आया है ॥३॥

स राजा रोषताम्राक्षः प्रहस्तं मन्त्रिसत्तमम् ।

कालयुक्तमुवाचेदं वचो विपुलमथं वत् ॥४॥

१ शकाहतात्मा—शकाव्याप्तचित्तः । (सि०)

इस प्रकार सोचता विचारता राक्षसराज रावण क्रोध के भारे लाल भाँखें कर समयोपयुक्त श्रीर विपुल अर्ययुक्त वचन अपने प्रधान मन्त्री प्रहस्त से बोला ॥४॥

दुरात्मा पृच्छ्यतामेव कुतः किं वास्य कारणम् ।

वनभङ्गे च कोऽस्यार्थो राक्षसानां च तर्जने ॥५॥

इस दुष्ट से पूँछो कि यह कहां से आया है ? क्यों आया है ? अशोक वन उजाड़ने से इसका क्या प्रयोजन है ? श्रीर राक्षसों के तर्जने से इसे क्या लाभ हुआ ? ॥५॥

मत्पुरीमप्रधृष्या वाऽऽगमने किं प्रयोजनम् ।

आयोधने वा किं कार्यं पृच्छ्यतामेव दुर्मतिः ॥६॥

इस दुष्ट से पूँछो कि, मेरी इस अगम्यपुरी में किस लिए आया है श्रीर यह हमारे नीकरो से क्या लडा ? ॥६॥

समाश्वसिहि भद्रं ते न भोः कार्या त्वया कपे ।

रावणस्य वचः श्रुत्वा प्रहस्तो वाक्यमब्रवीत् ॥७॥

रावण के वचन सुन प्रहस्त ने हनुमानजी से कहा—हे कपे ! तुम सावधान हो जाओ श्रीर डरो मत ॥७॥

यदि तावत्त्वमिन्द्रेण प्रेषितो रावणालयम् ।

तत्त्वमाख्याहि मा भूते भयं वानर मोक्ष्यसे ॥८॥

धगर इन्द्र ने तुमको लकापुरी में भेजा हो, तो ठीक-ठीक बतला दो, तुम्हें डरने की आवश्यकता नहीं—क्योंकि हे वानर ! तुम छुड़वा दिए जाओगे ॥८॥

यदि वैश्रवणस्य त्वं यमस्य वरुणस्य वा ।

चारुरूपमिदं कृत्वा प्रविष्टो नः पुरीमिमाम् ॥९॥

अथवा यदि तुम कुबेर के यम के या वरुण के दूत हो श्रीर यह सुन्दर रूप धर कर तुम हमारी इस पुगी में आए हो, तो भी ठीक ठीक बतला दो ॥९॥

विष्णुना प्रेषितो वापि दूतो विजयकाङ्क्षिणा ।

न हि ते वानरं तेजो रूपमात्रं तु वानरम् ॥१०॥

अथवा यदि विजयाकाक्षी विष्णु के दूत बन कर तुम यहाँ आए हो, तो वैसा कह दो । क्योंकि, तुम केवल रूप से तो वानर हो, किन्तु तुम्हारा विक्रम वानरो जसा नहीं है ॥१०॥

तत्त्वतः कथयस्वाद्य ततो वानर मोक्ष्यसे ।

अनुत्तं वदतश्चापि दुर्लभं तव जीवितम् ॥११॥

हे वानर ! यदि तुम सब हाल ठीक-ठीक बतला दोगे तो तुम अभी छुड़वा दिए जाओगे और यदि झूठ बोले तो जान से मरवा दिए जाओगे ॥११॥

अथवा यन्निमित्तस्ते प्रवेशो रावणालये ।

एवमुक्तो हरिवरस्तदा रक्षोगणेश्वरम् ॥१२॥

तुम रावण की इस पुरी में आने का ठीक-ठीक कारण बतला दो । जब प्रहस्त ने इस प्रकार कपिश्रेष्ठ से कहा ॥१२॥

अब्रवीन्नास्मि शक्रस्य यमस्य वरुणस्य वा ।

घनदेन न मे सख्यं विष्णुना नास्मि चोदितः ॥१३॥

तब हनुमानजी ने कहा—मैं न तो इन्द्र का और न यम का दूत हूँ । न कुबेर के साथ मेरा मेल है और न मैं विष्णु की प्रेरणा से यहाँ आया हूँ ॥१३॥

जातिरेव भम त्वेषा वानरोऽहमिहागतः ।

दर्शने राक्षसेन्द्रस्य दुर्लभं तदिदं भया ॥१४॥

वनं राक्षसराजस्य दर्शनार्थं विनाशितम् ।

ततस्ते राक्षसाः प्राप्ता वल्गिनो युद्धकाङ्क्षिणः ॥१५॥

मैं सचमुच वानर हूँ । साधारणतः राक्षसराज से भेंट करना कठिन था । सो मैंने यह भगोकवन, राक्षसराज से भेंट करने के लिए ही उजाड़ा है । बड़े-बड़े बली राक्षस जो लड़ने के लिए मेरे सामने आए ॥१४॥१५॥

रक्षणार्थं तु देहस्य प्रतियुद्धा मया रणे ।
अस्त्रपाशंनं शक्योऽहं बद्धुं देवासुरैरपि ॥१६॥

मैं उनसे अपने शरीर की रक्षा के लिए लड़ा । मुझे क्या देवता और क्या अशुर, कोई भी अस्त्रपाश से नहीं बांध सकता ॥१६॥

पितामहादेव वरो ममाप्येषोऽभ्युपागतः ।
राजानं द्रष्टुकामेन मयास्त्रमनुवर्तितम् ॥१७॥

स्वयं पितामह ब्रह्माजी से ही मुझको यह वर मिला है । सो मैं अपनी इच्छा ही से राजसुराज से भेंटने के लिए, ब्रह्मास्त्र से बंध गया हूँ ॥१७॥

विमुक्तो ह्यहमस्त्रेण राक्षसैस्त्वभिपीडितः ।
केनचिद्राजकार्येण संप्राप्तोऽस्मि तवान्तिकम् ॥१८॥

फिर अस्त्रबन्धन से छूट कर भी मैंने राक्षसों की मार इसलिए सही कि, श्रीरामचन्द्रजी के किमी कार्य के लिए मुझे तुम्हारे पास आना था ॥१८॥

दूतोऽहमिति विज्ञेयो राधवस्यामितौजसः ।
श्रूयतां चापि वचनं मम पथ्यमिदं प्रभो ॥१९॥

इति पञ्चाश सर्गं ॥

हे प्रभो ! तुम मुझे अमित पराक्रमी श्रीरामचन्द्रजी का दूत जानो और मैं जो कुछ तुम्हारी भलाई के लिए कहता हूँ । उसे सुनो ॥१९॥

सुन्दरकाण्ड का पचासवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

— * —

एकपञ्चाशः सर्गः

तं समीक्ष्य महासत्त्वं सत्ववान्हरिसत्तमः ।
वाक्यमर्थवदव्यग्रस्तमुवाच दशाननम् ॥१॥ ।

बलवान् हनुमानजी, महाबली दशानन को देख, बिना धबडाए उससे अपने मतलब की बातें कहने लगे ॥१॥

अहं सुग्रीवसंदेशादिह प्राप्तस्तवालयम् ।

राक्षसेन्द्र हरीशस्त्वां भ्राता कुशलमब्रवीत् ॥२॥

मैं सुग्रीव की आज्ञा से यहाँ तुम्हारी पुरी में आया हूँ । हे राक्षसराज ! वानरराज सुग्रीव ने भाईचारे के विचार से तुमको खुशीराजी कही है ॥२॥

भ्रातुः शृणु समादेशं सुग्रीवस्य महात्मनः ।

धर्मार्थोपहितं वाक्यमिह चामुत्र च क्षमम् ॥३॥

भाई महात्मा सुग्रीव का सन्देश सुनो । उनका सन्देश धर्म और अर्थ से युक्त होने के कारण इस लोक और परलोक दोनों के लिए हितकारी है ॥३॥

राजा दशरथो नाम रथकुञ्जरवाजिमान् ।

पितेव बन्धुलोकस्य सुरेश्वरसमद्युतिः ॥४॥

अनेक रथों, हाथियों और घोडों के अधिपति और इन्द्र की तरह द्युतिमान् महाराज दशरथ अपनी प्रजा के वंसे ही हितैषी थे जैसे पिता अपने पुत्रों का हितैषी होता है ॥४॥

ज्येष्ठस्तस्य महाबाहुः पुत्रः प्रियकरः प्रभुः ।

पितुर्निदेशान्निष्क्रान्तः प्रविष्टो दण्डकावनम् ॥५॥

उनके प्यारे ज्येष्ठ पुत्र महाबाहु श्रीरामचन्द्र, पिता की आज्ञा से घर से निकल, दण्डक वन में आए ॥५॥

लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा सीतया चापि भार्यया ।

रामो नाम महातेजा धर्म्यं पन्थानमाश्रितः ॥६॥

उनके साथ उनके भाई लक्ष्मण और उनकी स्त्री सीता भी वन में आई । राजा श्रीरामचन्द्रजी मङ्गलेश्वरी और धर्मपथाब्ध हैं ॥६॥

तस्य भार्या वने नष्टा सीता पतिमनुव्रता ।

वैदेहस्य सुता राज्ञो जनकस्य महात्मनः ॥७॥

उनकी पतिव्रता भार्या सीता को, जो महारमा राजा विदेह जनक की बेटी है, वन में किसी ने हर लिया ॥७॥

स मार्गमाणस्तां देवीं राजपुत्रः सहानुजः ।

ऋष्यमूकनुप्राप्तः सुग्रीवेण च सङ्गतः ॥८॥

अपने छोटे भाई लक्ष्मण सहित वे राजकुमार सीता देवी को ढूँढ़ते हुए, ऋष्यमूक के समीप पहुँचे और वहाँ सुग्रीव से उनका समागम हुआ ॥८॥

तस्य तेन प्रतिज्ञातं सीतायाः परिमार्गणम् ।

सुग्रीवस्यापि रामेण हरिराज्य निवेदितम् ॥९॥

सुग्रीव ने सीता का पता लगाने की श्रीरामचन्द्रजी से प्रतिज्ञा की और श्रीरामचन्द्रजी ने भी सुग्रीव को राज्य दिलाने का वचन दिया ॥९॥

ततस्तेन मृधे हत्वा राजपुत्रेण वालिनम् ।

सुग्रीवः स्थापितो राज्ये हर्यक्षाणां गणेश्वरः ॥१०॥

तदनन्तर राजकुमार ने युद्ध में बालि का वध कर, सुग्रीव को राज-सिंहासन पर बिठा, उन्हें बानरो का राजा बना दिया ॥१०॥

त्वया विज्ञातपूर्वश्च वाली वानरपुङ्गवः ।

रामेण निहतः संख्ये शरेणैकेन वानरः ॥११॥

तुम तो बानरश्रेष्ठ बालि के बलपराक्रम को भली भाँति पहिले से जानते ही हो । उस बालि को श्रीराम ने युद्ध में एक ही धाण से मार डाला ॥११॥

स सीतामार्गणे व्यग्रः सुग्रीवः सत्यसङ्गरः ।

हरीन्संप्रेषयामास दिशः सर्वा हरीश्वरः ॥१२॥

तां हरीणां सहस्राणि शतानि नियुक्तानि च ।

दिक्षु सर्वासु मार्गन्ते ह्यधश्चोपरि चाम्बरे ॥१३॥

सत्यप्रतिज्ञ कपिराज सुग्रीव ने सीता का पता लगाने के लिए व्यग्र ही, समस्त दिशाओं में वानरो को भेजा । लाखों करोड़ों वानर सब दिशाओं ही में नहीं बल्कि आकाश पाताल में भी सीता का पता लगाने को धूम रहे हैं ॥१२॥१३॥

वैनतेयसमाः केचित्केचित्तत्रानिलोपमाः ।

असङ्गगतयः शीघ्रा हरिवीरा महाबलाः ॥१४॥

जो वानर सीता का पता लगाने को भेजे गए हैं, उनमें बहुत से गहड़ के समान और बहुत से पवन के समान हैं । वे महाबली वानर बेरोकटोक शीघ्रगामी हैं ॥१४॥

अहं तु हनुमान्नाम मारुतस्यौरसः सुतः ।

सीतायास्तु कृते तूर्णं शतयोजनमायतम् ॥१५॥

समुद्रं लङ्घयित्वैव तां दिदृक्षुरिहागतः ।

भ्रमता च मया दृष्टा गृहे ते जनकात्मजा ॥१६॥

मैं पवनदेव का औरस पुत्र हूँ और मेरा नाम हनुमान है । मैं सीता की खोज में तुरन्त सौ योजन समुद्र को लाँच उसको (सीता को) देखने के लिए यहाँ आया हूँ । लङ्का में घूमते फिरते, मुझे तुम्हारे घर में सीता देख पड़ी है ॥१५॥१६॥

तद्भ्रवान्दृष्टधर्मायिंस्तपःकृतपरिग्रहः ।

परदारान्महाप्राज्ञ नोपरोद्धुं त्वमर्हसि ॥१७॥

हे महाप्राज्ञ ! तुम धर्म और अर्थ को भली भाँति जानते हो, और तपःप्रभाव से तुमने यह ऐश्वर्य सम्पादन किया है । अतः तुमको पराई स्त्री को अपने घर में बंद कर रखना उचित नहीं ॥१७॥

न हि धर्मविरुद्धेषु बह्वपायेषु कर्मसु ।

मूलघातिषु सज्जन्ते बुद्धिमन्तो भवद्विधाः ॥१८॥

भाप जैसे बुद्धिमान को ऐसे धर्मविरुद्ध अनर्थकारी तथा जड़ से नाश करने वाले कामों के करने में, भासकन होना उचित नहीं ॥१८॥

कश्च लक्ष्मणमुक्तानां रामकोपानुवर्तिनाम् ।

शराणामप्रतः स्यातुं शक्तो देवासुरेष्वपि ॥१६॥

देखिए, देवतामो मयवा असुरो में ऐसा कौन है जो लक्ष्मण के छोटे हुए और क्रुद्ध हुए श्रीरामचन्द्रजी के फेंके हुए, बाणों के सामने टिक सके ॥१६॥

न चापि त्रिषु लोकेषु राजन्विद्येत कश्चन ।

राघवस्य व्यलीकं यः कृत्वा सुखमवाप्नुयात् ॥२०॥

हे राजन् ! तीनों लोकों में ऐसा कोई पुष्प नहीं है, जो श्रीरामचन्द्र के साथ बिगाड़ कर, सुखी रह सके ॥२०॥

तत्रिकालहितं वाक्यं धर्म्यमर्थानुबन्धि च ।

मन्यस्व नरदेवाय जानकी प्रतिदीयताम् ॥२१॥

मतः हे रावण ! मैंने जो कुछ कहा है वह भूत, भविष्यद् और वर्तमान तीनों कालों के लिए हितकर, धर्मयुक्त और शास्त्रसम्मत है, मत मेरा कहा मान कर, नरेन्द्र श्रीरामजी को जानकी लीटा दो ॥२०॥

दृष्ट्वा हीयं मया देवो लब्धं यदिह दुर्लभम् ।

उत्तरं कर्म यच्छ्रेयं निमित्तं तत्र राघवः ॥२२॥

और मैंने तो सीता को देख ही लिया । मुझे तो दुर्लभ वस्तु का लाभ ही चुका । अब रहा इसके भाग्य का कर्तव्य मर््यात् जानकीजी का ले जाना सो श्रीरामचन्द्रजी जाने ॥२२॥

लक्षितेयं मया सीता तथा शोकपरायणा ।

गूह्यं यां नाभिजगनासि पञ्चास्यामिव पन्नगीम् ॥२३॥

जिस सीता को तुमने अपने घर में बंद कर रखा है, उसे मैंने यहाँ बहुत दुःखी पाया है, सो यह मत समझना कि यह तुम्हारे वश में हो गई । किंतु इसे तुम पाँच फनों वाली साँपिन की तरह धपना काल जानना ॥२३॥

नेय जरायितुं शक्या सासुरैरमरैरपि ।

वियसंतृष्टमत्ययं भुक्तमन्नमिवौजतः ॥२४॥

क्या दैत्य और क्या देवता, कोई भी ऐसा नहीं जो इच्छे पचा जाय, जैसे विय मिले अन्न को पचाने की शक्ति किन्तु में नहीं होती ॥२४॥

तपः सन्तापलङ्घस्ते योऽय धर्मपरिग्रहः ।

न स नाशयितुं न्याय्य आत्मप्राणपरिग्रह ॥२५॥

तुमने कठोर तप कर विल धर्मफल स्वरूप एतन्न और दीर्घकालन जीवन को पाया है उत धमविहङ्ग कार्य कर नष्ट करना उचित नहीं ॥२५॥

अवध्यतां तपोभिर्या भवत्समनुपश्यति ।

आत्मनः सासुरैर्देवैर्हेतुस्तत्राप्ययं महान् ॥२६॥

आप कतन रहे हैं कि मैं तपःपराय स प्राप्त बरदान द्वारा देवताओं और दैत्या से भवत्य हूँ—तो इतने भी एक बड़ी बठ ध्यान देने को है ॥२६॥

सुग्रीवो न हि देवोऽयं नासुरो न च राक्षसः ।

न दानवो न गन्धर्वो न यक्षो न च पन्नगः ॥२७॥

वह नहि कि, सुग्रीव न तो देवता है, न राक्षस है, न दानव है, न गन्धर्व है, न यक्ष है और न पन्नग ही है ॥२७॥

तस्मात्प्राणपरित्राणं कथं राजन्करिष्यति ।

न तु धर्मोपसंहारमधर्मफलसंहितम् ॥२८॥

तदेव फलमन्वेति धर्मश्चाधर्मनाशनः ।

प्राप्तं धर्मफलं तावद्भुवना नात्र संशयः ॥२९॥

सा हे राजन ! सुग्रीव स आप कतन प्रार्थों का क्या बज कर सकेंगे ? यह ठीक है कि, धर्म द्वारा अधर्म का नाश होता है किन्तु त्रिनके अधर्म के

१ सन्तान—तपस्वर्षा ।

विपाक का समय उपस्थित होने वाला है उसे धर्म का फल कभी प्राप्त नहीं होता अर्थात् तुम्हारे धर्म से तुम्हारा अधर्म बलवान है । हे राजन् ! धर्म का फल तो आप निस्सन्देह पा ही चुके हैं ॥२८॥२६॥

२ फलमस्याप्यधर्मस्य क्षिप्रमेव प्रपत्स्यसे ।

जनस्थानवधं बुद्ध्वा बुद्ध्वा बालिवधं तथा ॥३०॥

रामसुग्रीवसख्य च बुध्यस्व हिमात्मनः ।

कामं खल्वहमप्येकं सवाजिरथकुञ्जराम् ॥३१॥

१ सीताहरणरूपी इस अधर्म का फल भी तुमको शीघ्र मिलेगा । अब तुम जनस्थानवासी चौदह हजार राक्षसों के तथा बालि के वध पर विचार करो तथा श्रीराम और सुग्रीव की मंत्रों का स्मरण कर, अपना हित जिसमें होता हो सो, विचारो । यदि चाहें तो निश्चय में अकेला ही, घोड़ों और हाथियों सहित ॥३०॥३१॥

लङ्का नाशयितुं शक्तस्तस्यैष तु न निश्चयः ।

रामेण हि प्रतिज्ञातं ह्यृक्षगणसन्निधौ ॥३२॥

तुम्हारी लका को नष्ट कर सकता हूँ, पर श्रीरामचन्द्रजी ने मुझे ऐसी आज्ञा नहीं दी—बोकि उन्होंने वानरों और रीदों के सामने प्रतिज्ञा की है कि, ॥३२॥

उत्सादनमभिप्राणा सीता यंस्तु प्रर्थायिता ।

अपकुर्वन्हि रामस्य साक्षादपि पुरन्दरः ॥३३॥

जिसने सीता को हरा है उसको मैं उचिद्धत कहूँगा अर्थात् नाश कहूँगा । फिर यदि इन्द्र ही क्यों न हो और श्रीरामचन्द्रजी का अपकार करें तो ॥३३॥

न सुखं प्राप्नुयादन्यः किं पुनस्त्वद्विधो जनः ।

या सीतेत्यभिजानासि येयं तिष्ठति ते स्वशे ॥३४॥

वे कभी भी सुखी नहीं रह सकते । फिर तुम जैसे लोगों की तो बात ही क्या है । हे रावण ! जिसे तुम सीता समझ रहे हो और जो इस समय तुम्हारे पजे में कैदी हुई है ॥३४॥

कालरात्रोति तां विद्धि सर्वलङ्काविनाशिनीम् ।

तदलं कालपाशेन सीताविग्रहरूपिणा ॥३५॥

उसे तुम सारी लका का नाश करने वाली कालरात्रि समझो । बस, अब तुम सीतारूपी काल की फाँसी को ॥३५॥

स्वयं स्वन्धावसक्तेन क्षेममात्मनि चिन्त्यताम् ।

सीतायास्तेजसा दग्धां रामकोपप्रपीडिताम् ॥३६॥

अपने हाथ से अपने गने में डालने के समय, तुम अपना क्षेम कुशल तो विचार लो । सीता के तेज से दग्ध और श्रीरामचन्द्रजी के कोप से ॥ ३६ ॥

दह्यमानामिमां पश्य पुरीं साट्टप्रतोलिकाम् ।

स्वानि मित्राणि मन्त्रोश्च ज्ञातीन्भ्रातृन्सुतान्हितान् ॥३७॥

पीडित हो, तुम इस का को प्रटा अटारियो सहित भस्म हुई समझो । अब तुम अपने मित्रों, मंत्रियों, जाति-विरादरी, भाइयों, पुत्रों और हितैषियों को ॥३७॥

भोगान्दारांश्च लङ्कां च मा विनाशमुपानय ।

सत्यं राक्षसराजेन्द्र शृणुष्व वचनं मम ॥३८॥

रामदासस्य दूतस्य वानरस्य विशेषतः ।

सर्वाल्लोकान्सुसंहृत्य सभूतान्सचराचरान् ॥३९॥

तया ऐश्वर्यं के भोगों का, अपनी स्त्रियों का तथा लका का नाश मत करवाओ । हे राक्षसेन्द्र ! मैं तो श्रीरामचन्द्रजी का दूत और विशेष कर वानर ही हूँ, किन्तु मैं जो कुछ कह रहा हूँ, वह सत्य है, अब तुम उस पर कान दो । चर-अचर समस्त प्राणियों सहित समस्त लोको का सहार कर ॥३८॥३९॥

पुनरेव तथा स्रष्टुं शक्तो रामो महायशाः ।

देवासुरनरेन्द्रेषु यक्षरक्षोगणेषु च ॥४०॥

विद्याधरेषु सर्वेषु गन्धर्वेषूरगेषु च ।

सिद्धेषु किन्नरेन्द्रेषु पतत्रिषु च सर्वतः ॥४१॥

सर्वभूतेषु सर्वत्र सर्वकालेषु नास्ति सः ।

यो रामं प्रतियुध्येत विष्णुतुल्यपराक्रमम् ॥४२॥

महायशस्वी श्रीरामचन्द्र पुन उनकी सृष्टि करने की शक्ति रखते हैं । फिर देव, असुर, मनुष्य, यक्ष, राक्षस, विद्याधर, गन्धर्व, उरग, सिद्ध, क्रिन्नर, पक्षी— इन सब प्राणियों में सर्वत्र और सर्वकाल ऐसा कोई नहीं है, जो विष्णु के समान पराक्रमी श्रीरामचन्द्रजी का युद्ध में सामना कर सके ॥४०॥४१॥४२॥

सर्वलोकेश्वरस्यैवं कृत्वा विप्रियमीदृशम् ।

रामस्य राजसिंहस्य दुर्लभ तव जीवितम् ॥४३॥

अतः सर्वलोकेश्वर एव राजसिंह श्रीरामचन्द्रजी से इस प्रकार बिगाड़ कर तुम जीवित नहीं रह सकते ॥४३॥

देवाश्च दैत्याश्च निशाचरेन्द्र

गन्धर्वविद्याधरनागयक्षाः ।

रामस्य लोकत्रयनायकस्य

स्यातुं न शक्ताः समरेषु सर्वे ॥४४॥

हे निशाचरेन्द्र ! देव, दैत्य, गन्धर्व, विद्याधर, नाग और यक्ष, इनमें से कोई भी युद्ध में त्रिलोकीनाय श्रीरामचन्द्रजी के सामने खड़े रहने को ममयं नहीं ॥४४॥

ब्रह्मा स्वयंभूश्चतुराननो वा

रुद्रस्त्रिनेत्रस्त्रिपुरान्तको वा ।

इन्द्रो महेन्द्रः सुरनायको वा

त्रातुं न शक्ता युद्धि रामवध्यम् ॥४५॥

स्वयम् 'चतुरानन ब्रह्मा अथवा त्रिपुरासुर को मारने वाले त्रिलोचन रुद्र अथवा देवताओं के राजा महेन्द्र इन्द्र ही क्यों न हो, श्रीरामचन्द्र जी के सामने वे युद्ध में नहीं ठहर सकते ॥४५॥

स सौष्ठवोपेतमदीनवादिनः

कर्पेनिशम्याप्रतिभोजप्रियं वचः ।

दशाननः कोपविवृत्तलोचनः

समादिशत्तस्य वधं महाकपेः ॥४६॥

इति एकपञ्चाशः सर्गः ॥

जब हनुमानजी ने, ऐसे सुन्दर, चापनूची से रहिन एवं अनुमम वचन कहे तब रावण को ये बहुत बुरे लगे । मारे क्रोध के उसके नेत्र लाल हो गए और उसने हनुमान के वध की आज्ञा दी ॥४६॥

सुन्दरकाण्ड का एकावतनवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

द्विपञ्चाशः सर्गः

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा वानरस्य महात्मनः ।

आज्ञापयत्तस्य वधं रावणः क्रोधमूर्च्छितः ॥१॥

महावीर हनुमानजी के, उन वचनों को सुन, रावण ने क्रुद्ध हो, उनके मारे जाने की आज्ञा दी ॥१॥

वधे तस्य समाजप्ते रावणेन दुरात्मना ।

निवेदितवतो दौत्यं नानुमेने विभीषणः ॥२॥

जब दुष्ट रावण ने हनुमानजी को मार डालने की आज्ञा सुना दी तब दूतधर्मानुसार वचन कहने वाले हनुमान के मारे जाने के सम्बन्ध में, रावण को दी हुई आज्ञा, विभीषण को मान्य नहीं हुई । ॥२॥

तच्च रक्षोधिपं क्रुद्धं तच्च कार्यमुपस्थितम् ।

विदित्वा चिन्तयामास कार्यं कार्यविधौ स्थितः ॥३॥

१ निवेदितवतो दौत्य—स्वनिष्ठदूतधर्म निवेदितवतो हनुमत । (शि०)

२ नानुमेने—वधमित्यनुवर्तनीय । (गो०) ३ तच्च कार्यं—दूतवधरूपकार्यं ।

(गो०) ४ कार्यविधौ स्थित—यथोचितकृत्यसम्पादने स्थित रावणेन मस्यापि । (गो०)

रावण को क्रुद्ध हुआ जान और उसकी हतुमान के वध की आज्ञा को, कार्यरूप में परिणत होने की तैयारियाँ देख, रावण द्वारा यथोचित कृत्य पूरा कराने के लिए नियुक्त विभीषण, अपने कर्त्तव्य के विषय में विचार करने लगे ॥३॥

निश्चितार्थस्ततः साम्ना पूज्य शत्रुजिदग्रजम् ।

उवाच हितमत्यर्थं वाक्यं वाक्यविशारदः ॥४॥

शत्रु को जीतने वाले तथा वचन बोलने वालों में चतुर विभीषण ने अपना कर्त्तव्य स्थिर कर और अपने बड़े भाई का सम्मान कर, अत्यन्त हितकर वचन, साम नीति का अवलंबन कर रावण से कहना प्रारम्भ किया ॥४॥

क्षमस्व रोषं त्यज राक्षसेन्द्र

प्रसीद मद्वाक्यमिदं शृणुष्व ।

वधं न कुर्वन्ति परावरजा

दूतस्य सन्तो वसुधाधिपेन्द्राः ॥५॥

हे राक्षसेन्द्र ! क्रोध को शान्त कर और क्षमा को ग्रहण कर, प्रसन्न चित्त से आप मेरी इन बातों को सुनिए । हे राजन् ! पूर्वापर का विवेक रखने वाले राजा लोग दूत को कदापि नहीं मारते ॥५॥

राजधर्मविरुद्धं च लोकवृत्तेश्च गर्हितम् ।

तव चासदृशं वीर कपेरस्य प्रमापणम् ॥६॥

हे वीर ! इस दूत वानर का वध करना, केवल राजधर्म विरुद्ध ही नहीं है किन्तु लोकाचार से निन्द्य भी है । यह कार्य तुम्हारे स्वरूप के विरुद्ध भी है ॥६॥

धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च राजधर्मविशारदः ।

परावरजो भूतानां त्वमेव परमार्थवित् ॥७॥

तुम धर्मज्ञ, कृतज्ञ, राजनीतिविशारद पूर्वापर के जानने वाले और प्राणियों में सबसे अधिक परमार्थतत्व के ज्ञाता हो ॥७॥

१ प्रमापणम्—मारण । (गो०)

गृह्यन्ते यदि रोपेण त्वादृशोऽपि विपश्चितः ।

ततः शास्त्रविपश्चित्त्वं श्रम एव हि केवलम् ॥८॥

यदि तुम जैसे पण्डित भी श्लोक के वशवर्ती हो जायें और ऐसे अनुचित कार्य कर बैठें तब तो शास्त्र पढ़ना केवल श्रम उठाना ही ठहरा ॥८॥

तस्मात्प्रसीद शत्रुघ्न राक्षसेन्द्र दुरासद ।

युक्तायुक्तं विनिश्चित्य दूते दण्डो विधीयताम् ॥९॥

अतएव हे शत्रुघ्न एव दुरासद राक्षसेन्द्र ! प्रसन्न होकर, पहले तुम योग्यायोग्य का विचार कर लो, तब दूत को दण्ड देना ॥९॥

विभीषणवचः श्रुत्वा रावणो राक्षसेश्वरः ।

रोपेण महताविष्टो वाक्यमुत्तरमब्रवीत् ॥१०॥

राक्षसेश्वर रावण, विभीषण के वचन सुन कर और भी अधिक क्रुद्ध हुआ और उनकी बातों के उत्तर देता हुआ कहने लगा ॥१०॥

न पापानां वधे पापं विद्यते शत्रुसूदन ।

तस्मादेनं वधिष्यामि बानरं पापकारिणम् ॥११॥

हे शत्रुसूदन ! पापी को मारने से पाप नहीं लगता । अतएव मैं इस पापकर्म करने वाले बानर का वध करवाऊंगा ॥११॥

अधर्ममूल बहुदोषयुक्तम्

अनायंजुष्टं वचनं निशम्य ।

उवाच वाक्यं परमार्थतत्त्वम्

विभीषणो बृद्धिमतां वरिष्ठः ॥१२॥

बृद्धिमानों में श्रेष्ठ विभीषण, रावण के अधर्ममूलक, अनेक दोषों से युक्त और अभद्रोचित वचनों को सुन, परमार्थतत्त्वयुक्त वचन बोले ॥१२॥

प्रसीद लङ्केश्वर राक्षसेन्द्र

धर्मार्थयुक्तं वचनं शृणुष्व ।

दूतानवध्यान्समयेषु राजन्

'सर्वेषु सर्वत्र वदन्ति सन्तः ॥१३॥

हे लङ्केश्वर ! हे राक्षसेन्द्र ! तुम प्रसन्न होभीर मेरे धर्म एवं धर्म युक्त वचनों को सुनो । हे राजन् ! सब जातियों के समस्त सन्त जनों का सर्वत्र यही कथन पाया जाता है कि, दूत को किसी भी समय न मारना चाहिए ॥१३॥

असंशयं शत्रुरयं प्रवृद्धः

कृतं ह्यनेनाप्रियमप्रमेयम् ।

न दूतवध्यां प्रवदन्ति सन्तो

दूतस्य दृष्ट्वा बहवो हि दण्डाः ॥१४॥

यद्यपि यह बड़ा शत्रु है भीर इसने भयराव भी बड़ा भारी किया है, तथापि साधुमतानुसार दूत होने के कारण इसका वध करवाना अनुचित है । हाँ, इसका वध न करा कर इसे, दूत को देने योग्य मनेक अन्य दण्डों में से कोई दण्ड दिया जा सकता है ॥१४॥

वैरूप्यमङ्गेषु कशाभिघातो

मोण्डयं तथा 'लक्षणसन्निपातः ।

एतान्हि दूते प्रवदन्ति दण्डान्

वधस्तु दूतस्य न नः श्रुतोऽस्ति ॥१५॥

दूत के लिए ये दण्ड भी बतनाए हैं, दूत को पद्म मङ्ग कर देना, दूत के चाबुक लगवाना, दूत का सिर मुड़वा देना, दूत के शरीर में कोई चिह्न दगवा देना । किन्तु दूत का वध करवाना तो मैंने कभी नहीं सुना ॥१५॥

१—सर्वेषु—सर्वजातियु । (गो०) २ लक्षणसन्निपात —दूतयोग्याङ्कन सम्बन्धः । (गो०)

कथं च धर्मार्थविनीतबुद्धिः^१

'परावरप्रत्ययनिश्चिन्तार्थः ।

भवद्विधः कोपवशे हि तिष्ठेत्

कोपं नियच्छन्ति हि सत्त्ववन्तः^३ ॥१६॥

किर भाव जैसे धर्मार्थ शिक्षित बुद्धि वाले तथा शब्द-बुरे को जान कर निर्णय करने वाले लोग भला किस प्रकार क्रोध के वश होते हैं । व्यवसायवन्तो को तो क्रोध भ्रमण भ्रमने वश में रखना ही चाहिए ॥१६॥

न धर्मवादे न च लोकवृत्ते

न शास्त्रबुद्धिग्रहणेषु चापि ।

विद्येत कश्चित्तत्र वीर तुल्यः

त्वं ह्युत्तमः सर्वसुरासुराणाम् ॥१७॥

हे वीर ! धर्मशास्त्र के ज्ञान में, लोकाचार में और शास्त्र के विचार में तुम्हारी टक्कर का कोई भी तो नहीं देख पड़ता । इस समय तो इन विषयों के ज्ञान में तुम सुर और असुर सब ही में सर्वोत्तम माने जाते हो ॥१७॥

पराक्रमोत्साहमनस्वितां च

सुरासुराणामपि दुर्जयेन ।

त्वयाऽप्रमेयेन सुरेन्द्रसंघा

जिताश्च युद्धेष्वसकृन्नरेन्द्राः ॥१८॥

अधिक कहाँ तक कहें—पराक्रम, उत्साह और शौर्यवान जो देवता और असुर हैं, उन सबसे तुम दुर्जेय हो । अनेक बार तुम इनको तथा अनेक राजाओं को जीत चुके हो ॥१८॥

१ धर्मार्थविनीतबुद्धि — धर्मार्थयोश्शिक्षितबुद्धिः । (गो०) २ परावर-
प्रत्ययनिश्चिन्तार्थं — उत्कृष्टापकृष्टपरिज्ञाननिश्चिन्तार्थं । (गो०) ३ सत्त्व-
वन्त — व्यवसायवन्त । (गो०)

इत्येविद्यस्यामरदेत्यशत्रोः

शूरस्य वीरस्य तवाजितस्य ।

कुर्वन्ति मूढा मनसो व्यलीकं

प्राणैर्वियुक्ता ननु ये पुरा ते ॥१९॥

जो मूढ पुरुष मन में भी तुम जैसे शूर-वीर अथवा धीर देवों-दानवों के शत्रु का प्रतिष्ठ अथवा कोई धरताव करते हैं, तो उनका नाश बैठे ही करवा डाला जाता है, मानो वे पहिले कभी ये ही नहीं ॥१९॥

न चाप्यस्य कपेर्घाति कञ्चित्पश्याम्यहं गुणम् ।

तेष्वयं पात्यतां दण्डो धैर्यं प्रेषितः कपिः ॥२०॥

मुझे तो इस वानर के मरवा डालने में कुछ भी अच्छाई नहीं देख पड़ती । बल्कि यह दण्ड तो उभे देना चाहिए जिसका मेजा यह यहाँ भाया है ॥२०॥

साधुर्वा यदि वाऽसाधुः पररेण समर्पितः ।

श्रुवन्परार्थं परवान्न दूतो वचमर्हति ॥२१॥

यह स्वयं अच्छा है या बुरा, यह प्रदत्त ही नहीं, परन्तु मेजा तो यह दूसरे का है और दूसरे ही का भेद कहता है । अतएव इस परवच दूत को मारना ठीक नहीं है ॥२१॥

अपि चास्मिन्हृते राजन्नान्यं पश्यामि खेचरम् ।

इह यः पुनरागच्छेत्परं पारं महोदधेः ॥२२॥

(इसके अतिरिक्त एक और विचारणीय बात है ।) हे राजन् !, इसके भारे जाने पर, मुझे दूसरा ऐसा आकाशचारी देन भी तो नहीं पड़ता, जो समुद्र पार कर फिर यहाँ आ सके ॥२२॥

तत्मात्रास्य वधे यत्नः कार्यः परपुरञ्जय ।

भवान्सेन्द्रेषु देवेषु यत्नमास्यातुमर्हति ॥२३॥

हे शत्रुपुरजयो ! मतएव इसके बष के लिए यत्न न करना चाहिए । बल्कि यदि बष करने ही की इच्छा है, तो आप देवताओं पर चडाई करने की तैयारियाँ कीजिए ॥२३॥

अस्मिन्विनष्टे न हि दूतमन्यं
पश्यामि यस्तौ नरराजपुत्रौ ।

युद्धाय युद्धप्रिय दुर्विनीता-
बुधोजयेद्दीर्घपथावरुद्धौ ॥२४॥

हे युद्धप्रिय ! यदि यह दूत मार डाला गया तो फिर ऐसा दूसरा दूत न मिलेगा, जो इननों दूर और ऐसे अवरुद्ध मार्ग से जाकर, उन दोनों दुर्विनीत और तुम्हारे बँरी राजकुमारों को लडने के लिए उत्साहित करे ॥२४॥

अस्मिन्हते वानरयूथमुख्ये
सर्वापवादं प्रवदन्ति सर्वे ।

न हि प्रपश्यामि गुणान्यशो वा
लोकाप्रवादो भवति प्रसिद्धः ॥२५॥

इस वानरयूथपति के मार डालने से सब लोग तुम्हारी सर्वत्र निन्दा करेंगे । ऐसा करने से मुझे तो इसमें न तो तुम्हारे लिए दण की और न कोई भलाई की बात ही देख पडती है । प्रत्युत इसके तो ससार भर में तुम्हारी निन्दा फैल जायगी ॥२५॥

पराक्रमोत्साहमनस्विनां च
सुरासुराणामपि दुर्जयेन ।
त्वया मनोनन्दन नैर्ऋतानां
युद्धायतिर्नाशयितुं न युक्ता ॥२६॥

हे राक्षस मनोनन्दन ! बडे-बडे पराक्रमी और उत्साही देवता और दैत्य भी तुमको नहीं जीत सकते । मत राक्षसों के मन की मुद्द सम्बन्धों उत्सैल को भङ्ग करना तुमको उचित नहीं ॥२६॥

हिताश्च शूराश्च समाहिताश्च
कुलेषु जाताश्च महागुणेषु ।

मनस्विनः शस्त्रभृतां वरिष्ठाः

कोट्यग्रतस्ते सुभृताश्च योधाः ॥२७॥

क्योंकि ये सब योद्धा लोग तुम्हारे हिनेपी हैं, बड़े शूर वीर हैं; सावधान रहने वाले हैं, कुलीन हैं, मनस्वी हैं और शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ हैं। इनकी सख्या भी करोड़ों पर ही है ॥२७॥

तदेकदेशेन बलस्य तावत्

केचित्तवादेशकृतोऽभियान्तु ।

तौ राजपुत्रौ विनिगृह्य मूढौ

परेषु ते भावयितुं प्रभावम् ॥२८॥

मेरी सम्मति से तो इस समय तुम्हारी कुछ सेना बर्हा जाय और उन दोनों मूढ़ राजकुमारों को पकड़ लावे, जिससे कि तुम्हारा प्रभाव उनको मालूम हो जाय ॥२८॥

तस्यानुजस्याधिकमर्यतत्त्वं

विभीषणस्योत्तमवाक्यमिष्टम् ।

जग्राह बुद्ध्या सुरलोकशत्रुः

महाबलौ राक्षसराजमुख्यः ॥२९॥

देवताओं के शत्रु राक्षसेन्द्र महाबली रावण ने अच्छी तरह समझ-बुझ कर, विभीषण के कहे हुए उत्तम वचनों को, अपने काम का जान, मान लिया ॥२९॥

क्रोधं च जातं हृदये निरुध्य

विभीषणोक्तं वचनं सुपूज्य ।

उवाच रक्षोधिपतिर्महात्मा

विभीषणं शस्त्रभृतां वरिष्ठम् ॥३०॥

इति द्विपञ्चाशः सर्गः ॥

उत्पन्न हुए क्रोध को मगने हृदय में रोक और विभीषण के कहे हुए वचनों का मली नाति भावर कर, धैर्यवान राजसुराज रावण, राक्षसपारिवर्षों में श्रेष्ठ विभीषण से बोला ॥३०॥

सुन्दरकाण्ड का बावनवां सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

त्रिपञ्चाशः सर्गः

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा दशग्रीवो 'महात्मनः ।

देशकालहितं वाक्यं भ्रातुरुत्तरमब्रवीत् ॥१॥

महाबली रावण, महात्मा विभीषण के देवाकालोचित वचनों को सुन कर, मगने भाई से कहने लगा ॥१॥

सम्यगुक्तं हि भवता दूतवध्या विगर्हिता ।

अवश्यं तु वधादन्यः क्रियतामस्य निग्रहः ॥२॥

भाप का कहना ठीक है, सचमुच दूत का वध करना निन्द्य कर्म है । परन्तु वध के प्रतिरिक्त इसे कोई अन्य दण्ड तो अवश्य ही दिया जायगा ॥२॥

कपीनां किल लाडगूलमिष्टं भवति भूषणम् ।

तदस्य दीप्यतां शीघ्रं तेन दग्धेन गच्छतु ॥३॥

वानरों की पूँछ उनका प्रति प्यारा भूषण है, सो इसकी पूँछ जला दी जाय और यह बली पूँछ लेकर यहाँ से जाय ॥३॥

ततः पश्यन्त्विसं दीनमङ्गवरूप्यकर्षितम् ।

समित्रजातयः सर्वे बान्धवाः समुहज्जनाः ॥४॥

जिससे इसके सब इष्टमित्र, भाई-बन्धु और हितैषी, इसको प्रङ्गमग होने के कारण दीन हुआ देखें ॥४॥

आज्ञापयद्राक्षसेन्द्रः पुरं सर्वं सचत्वरम् ।

लाङ्गूलेन प्रदीप्तेन रक्षोभिः परिणीयताम् ॥५॥

रावण ने आज्ञा दी कि, राक्षस लोग इसकी पूँछ में आग लगा, इसको चौराहो पर घुमाते हुए सारे नगर में घुमावें ॥५॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा राक्षसाः 'कोपकर्कशाः ।

वेष्टयन्ति स्म लाङ्गूलं जीर्णैः कार्पासकैः पटैः ॥६॥

रावण की यह आज्ञा सुन वे महाक्रोधी राक्षस, हनुमानजी की पूँछ में गूदह लपेटने लगे ॥६॥

संवेष्ट्यमाने लाङ्गूले व्यवर्धत महाकपिः ।

शुष्कमिन्धनमासाद्य चनेष्विव हुताशनः ॥७॥

ज्यों-ज्यों हनुमानजी की पूँछ में गूदह लपेटा जाता था त्यों-त्यों हनुमानजी वैसे ही बढ़ते जाते थे, जैसे सूखे ईंधन को पा, वन में आग बढ़ती है ॥७॥

तैलेन परिपिच्यथ तेऽग्निं तत्रावपातयन् ।

लाङ्गूलेन प्रदीप्तेन राक्षसांस्तानपातयत् ॥८॥

कपड़े लपेटने के बाद उसे तेल से तर कर, पूँछ में आग लगा दी गई । तब हनुमानजी जलती हुई पूँछ से, उन राक्षसों को मार-मार कर गिराने लगे ॥८॥

स तु 'रोपपरीतात्मा बालसूर्यसमाननः ।

लाङ्गूलं संप्रदीप्तं तु दृष्ट्वा तस्य हनूमतः ॥९॥

जब पूँछ की आग घकघक कर जलने लगी, तब क्रोध में भरे हनुमानजी का मुख, प्रातः कालीन सूर्य की तरह लाल देख पड़ने लगा ॥९॥

१ पाठान्तरे—“कोपकशिता ।” २ पाठान्तरे—“रोपामपंपरीतात्मा ।”

सहस्रत्रोवालवृद्धाश्च जग्मुः प्रीतिं निशाचराः ।

स भूयः सङ्गतः क्रूरैः राक्षसैर्हरिसत्तमः ॥१०॥

हनुमानजी की पूँछ को जलते दख स्त्रियाँ, बालक और बूढ़े राक्षस बहुत प्रसन्न हुए और बहुत से क्रूर स्वभाव राक्षस (उनको खिजाने के लिए) उनके साथ हो लिए ॥१०॥

निबद्धः कृतवान्वीरस्तत्कालसदृशो मतिम् ।

कामं खलु न मे शक्नोति निबद्धस्यापि राक्षसाः ॥११॥

बंधे हुए हनुमानजी ने उस समय के अनुरूप यह विचार स्थिर किया कि, निश्चय ही मुझे बंधे हुए का भी, ये राक्षस कुछ बिगाडना चाहें, तो नहीं बिगाड सकते ॥११॥

छित्त्वा पाशान्स्तमुत्पत्य हन्यामहमिमांस्पुनः ।

यदि भर्तृहितार्थाय चरन्तं भर्तृशासनात् ॥१२॥

बध्नन्त्येते दुरात्मानो न तु मे निष्कृतिः कृता ।

सर्वेषामेव पर्याप्तो राक्षसानामहं युधि ॥१३॥

मैं इन बन्धनों को तोड़ कर और उद्यत कूद कर इन राक्षसों का नाश कर सकता हूँ । इस समय मैं श्रीरामचन्द्रजी के हितसाधन के लिए यहाँ भ्राया हूँ । ऐसी दशा में यदि इन दुष्टों ने, रावण की आज्ञा से मुझे बंध लिया तो इनकी जितनी हानि मैं पहिले कर चुका हूँ, उसका यषायं बदला मुझे ये सभी तक नहीं ले पाए । मैं तो भकेला हूँ इन सब राक्षसों से लड़ने के लिए पर्याप्त हूँ ॥१२॥१३॥

किंतु रामस्य प्रीत्यर्थं विषहिष्येऽहमोदृशम् ।

लङ्घ्वा चारयितव्या वै पुनरेव भवेदिति ॥१४॥

तथापि श्रीरामचन्द्रजी की प्रसन्नता के लिए मैं इस प्रकार के भनादर को भी सह लूँगा । ये लोग मुझे सका में घुमावें तो इससे अच्छा ही होगा ॥१४॥

१ पाठान्तरे—“प्रीता ।”

रात्रौ न हि सुदृष्टा मे दुर्गस्मविधानतः ।

अवश्यमेव द्रष्टव्या मया लज्जा निशाक्षये ॥१५॥

ज्योंकि, रात्र में मे अर्द्धा तरह न नका क गुप्त स्थानों का नहीं देख सका । सा दिन में मुझे इस लज्जातुरी का बना भाँति देख लेना चाहिए ॥१५॥

काम वदृश्च मे भूय पुच्छस्योद्दीपनेन च ।

पीडा कुर्वन्तु रक्षसि न मेऽस्ति मनसः श्रमः ॥१६॥

ये चाहें ता मुझे फिर बाँध लें । इसका मुझ कुछ चिंता नहीं । पूँछ वला कर मुझे वे लाग जा पीडा पहुँचा रहे हैं इसमें भी मेरा मन दुःखी नहीं होता ॥१६॥

ततस्ते संवृताकार सत्त्ववन्त महाकपिम् ।

परिगृह्य ययुर्हंष्टा राक्षसाः कपिकुञ्जरम् ॥१७॥

शङ्खभेरीनिनादंस्तं घोषयन्त. स्वकर्मनिः ।

राक्षसा. नूरकर्मणिश्चारयन्ति स्म ता पुरीम् ॥१८॥

शृङ्खलाव रागन नागों न शृङ्खलाव, महाबला धीर दानरघेष्ट हनुमानका का पकड़ धीर गज्जु धीर मेरा बरात तथा हनुमानकी का अरराप नागों का मुनात हुए, उनका नगर में घुमाया ॥१७॥१८॥

अन्वीयमानो रक्षोनिर्णयो सुखमरिन्दमः ।

हनुमाश्चारयामाम राक्षमाना महापुरीम् ॥१९॥

रागनों का माप शृङ्खलों का दमन करन दाते हनुमानका सुख न चन जन्त ये । इस प्रकार हनुमानकी ने रागनों का दम महापुरा का भली भाँति देखा ॥१९॥

१ नद्वृत्तकार—शृङ्खलाव । (गा०) २ चारयामास—शाषयानास ।
(गा०)

अथापश्यद्विमानानि विचित्राणि महाकपिः ।
 संवृतान्भूमिभागांश्च सुविभक्तांश्च ^१चत्वरान् ॥२०॥
 वीथीश्च गृहसंवाधा अपि शृङ्गाटकानि च ।
 तथा रथ्योपरथ्याश्च तथैव ^२गृहकान्तरान् ॥२१॥
 गृहांश्च मेघसङ्काशान्ददर्श पवनात्मजः ।
 चत्वरेषु चतुष्केषु राजमार्गे तथैव च ॥२२॥

हनुमानजी ने वहाँ घूम फिर कर रंग बिरंगी छटाखियाँ, गुप्त-स्थान, अनेक प्रकार के बने चबूतरे, बड़ी-बड़ी गलियाँ, सघन घरों के मोहल्ले, चौराहे छोटी बड़ी गलियाँ, घरों के छिपे हुए द्वार और बादलों के समान बड़ी ऊँची ऊँची हवेलियाँ देखी । चौराहे, चौबारे और सड़को पर ॥२०॥२१॥२२॥

घोषयन्ति कपि सर्वे चारीक इति राक्षसाः ।
 स्त्रीबालवृद्धा निर्जग्मुस्तत्र तत्र कुतूहलात् ॥२३॥
 तं प्रदीपितलाङ्गूलं हनुमन्तं दिदृक्षवः ।
 दीप्यमाने ततस्तस्य लाङ्गूलाग्रे हनूमतः ॥२४॥

हनुमानजी को जासूस (भेदिया) बतना कर, राक्षस लोग घोषणा करते जाते थे । घोषणा सुन और कुतूहलवरा हो स्त्रियाँ, बालक और बूढ़े, जलती हुई पूँछ सहित हनुमानजी की पूँछ के जलाए जाने पर ॥ २३ ॥ २४ ॥

राक्षस्यस्ता विरूपाक्ष्यः शंसुर्देव्यास्तदप्रियम् ।
 यस्त्वया कृतसंवादः सीते ताम्रमुखः कपिः ॥२५॥
 लाङ्गूलेन प्रदीप्तेन स एष परिणीयते ।
 श्रुत्वा तद्वचनं क्रूरमात्मापहरणोपनम् ॥२६॥

१ चत्वरान्—गृहबहिरङ्गणानि । (गो०) २ शृङ्गाटकानि—
 धनुष्पणानि । (गो०) ३ गृहकान्तरान्—प्रच्छन्नद्वाराणि ।

तव यकर नेत्रो वाली राक्षसियो ने सीताजी को यह अप्रिय सवाद सुनाया—हे सीते ! जिस झलमुहे बानर ने तुमसे बातचीत की थी, उसकी पूछ जला कर, वह नगरी में धुमाया जा रहा है। उनके ऐसे क्रूर और प्राणों का नाश करने वाले (जान निकाल लेने वाले) वचन सुन ॥२५॥२६॥

वैदेही शोकसन्तप्ता हुताशनमुपागमत् ।

मङ्गलाभिमुखी तस्य सा तदाऽऽसीन्महाकपेः ॥ २७ ॥

ीताजी शोक से सन्तप्त हो, हनुमानजी के मङ्गल की कामना से अग्नि की स्तुति करके कहने लगीं ॥२७॥

उपतस्थे विशालाक्षी प्रयता हव्यवाहनम् ।

यद्यस्ति पतिशुश्रूषा यद्यस्ति चरितं तपः ॥२८॥

यदि चास्त्येकपत्नीत्वं शीतो भव हनूमतः ।

यदि किञ्चिदनुक्रोशस्तस्य मप्यस्ति धीमतः ॥२९॥

यदि वा भाग्यशेषो मे शीतो भव हनूमतः ।

यदि मां वृत्तसंपन्नां तत्समागमलालसाम् ॥३०॥

स विजानाति धर्मात्मा शीतो भव हनूमतः ।

यदि मां तारयेदार्यः सुग्रीवः सत्यसङ्गरः ॥३१॥

विशालाक्षी सीता पवित्र हो अग्नि की उपासना करती हुई बोलीं । हे अग्निदेव ! यदि मैंने पति की शुश्रूषा सच्चे मन से की हो, यदि मैंने कुछ भी तपस्या की हो, यदि मैं पतिव्रता होऊँ तो तुम हनुमानजी के लिए शीतल हो जाओ । यदि अब श्रीमान् श्रीरामचन्द्रजी की मेरे ऊपर कुछ भी कृपा हो, अपवा मेरा सीभाग्य अभी कुछ भी शेष हो, यदि मुझ चरित्रवती की श्रीरामचन्द्रजी के समागम को लालसा को, वे धर्मात्मा जानते हो, तो तुम हनुमानजी के लिए शीतल हो जाओ । यदि सत्यशक्तिज ध्येष्ठ सुग्रीव मुझे ॥२८॥२९॥३०॥

॥३१॥

१ पाठांतरे—“किञ्चिदनुक्रोश ।”

अस्माद्दुःखाम्बुसंरोधाच्छीतो भव हनूमतः ।

ततस्तीक्ष्णार्चिरव्यग्रः प्रदक्षिणशिखोऽनलः ॥३२॥

जज्वाल मृगशावाक्ष्याः शंसन्निव शिवं कपेः ।

हनूमज्जनकश्चापि पुच्छानलयुतोऽनिलः ॥३३॥

इस दुःखसागर से पार कर, इस कंद से छुड़ाने वाले हो, तो हे अग्निदेव ! तुम हनुमानजी के लिए शीतल बन जाओ । सीताजी की इस स्तुति से, वह अग्नि जो घपघप कर बड़ी तेजी से जल रही थी, दक्षिणावर्त शिखा को घुमा, जानकी के सम्मुख हो मानो हनुमानजी का शुभ सवाद देने के लिए प्रज्वलित हो उठा । इसी बीच में जलती हुई पूँछ वाले हनुमानजी के पिता पवनदेव भी ॥३२॥३३॥

ववौ 'स्वास्थ्यकरो देव्याः प्रालेयानिलशीतलः ।

दह्यमाने च लाङ्गूले चिन्तयामास वानरः ॥३४॥

बर्फ की तरह शीतल हो सीताजी के लिए सुखप्रद हो गए । उधर पूँछ को जलती हुई देख कर हनुमानजी सोचने लगे कि ॥३४॥

प्रदीप्तोऽग्निरयं कस्मान्न मां दहति सर्वतः ।

दृश्यते च महाज्वालः न करोति च मे रुजम् ॥३५॥

क्या कारण है जो चारों ओर से जलने पर भी यह अग्नि मुझे नहीं जलाता । मैं देख रहा हूँ कि, आग घपघप कर बड़ी ज्वाला से जल रही है । किन्तु मुझे तो कुछ भी कष्ट नहीं हो रहा है ॥३५॥

शिशिरस्येव सम्पातो लाङ्गूलाग्रे प्रतिष्ठितः ।

अथवा तदिदं व्यक्तं यद्दृष्टं प्लवता मया ॥३६॥

रामप्रभावादाश्चर्यं पर्वतः सरितां पतौ ।

यदि तावत्समुद्रस्य मैनाकस्य च धीमतः ॥३७॥

रामायं संभ्रमस्तादृक्कमगिनं करिष्यति ।

सीतायाश्चानृशंस्येन तेजसा राघवस्य च ॥३८॥

मुझे तो ऐसा जान पड़ता है, माताँ मेरी पूँछ पर बँधे रहो ! भयवा श्रीरामचन्द्रजी के प्रभाव से समुद्र पार करते समय समुद्र में जैसा मैंने पर्वतरूप आश्चर्य देखा था, वैसा ही उन्हीं के प्रताप ने यह भी हो रहा है । जब बुद्धिमान् श्रीरामचन्द्रजी के विषय में मंताक का ऐसा आदर है, तब क्या अग्नि श्रीरामचन्द्रजी का कुछ विचार न करेगा । मुझे तो निश्चय है कि, सीता जी की वृथा से श्रीरामचन्द्रजी के प्रताप से ॥३६॥३७॥३८॥

पितुश्च मम सख्येन न मां दहति पावकः ।

भूयः स चिन्तयामास मूर्हतं कपिकुञ्जरः ॥३९॥

श्रीरामचन्द्रजी के साथ मैत्री होने के कारण अग्निदेव मुझे नहीं जलावे । फिर हनुमानजी ने मूर्त नर कुछ विचारा ॥३९॥

उत्पपाताय वेगेन ननाद च महाकपिः ।

पुरद्वार ततः श्रीमाञ्शलशृङ्गमिवोन्नतम् ॥४०॥

उदनन्तर वे उढ़ने श्रीरामचन्द्रजी की ओर से गरजे । फिर वे पर्वत शिखर के समान ऊँचे नगर के फाटक पर ॥४०॥

विभवतरक्षः संवाघमाससादानिलात्मजः ।

स भूत्वा शैलसङ्काशः क्षणेन पुनरात्मवान् ॥४१॥

वहाँ राक्षसों की भीटनाह न थी, पर्वतकार ही था चढ़े । क्षण ही नर बाद उन्हींने पुनः भगने ॥४१॥

ह्रस्वतां परमां प्राप्तो वन्धनान्यवशात्तयत् ।

विभुवतरक्षानवच्छेदीमान्पुनः पर्वतसन्निभः ।

वीक्षमाणश्च ददृशे परिधं तोरणाश्रितम् ॥४२॥

शरीर को बहुत छोटा कर लिया श्रीरामचन्द्रजी ने सब बधन काट गिराए । बधन से छूट उन्हींने पुनः पर्वतकार रूप धारण कर लिया । फिर श्वर-उपर देखने पर उनकी उस फाटक का बँधा दिखनाई पडा ॥४२॥

स तं गृह्य महाबाहुः कालायसपरिष्कृतम् ।

रक्षिणस्तान्पुनः सर्वान्सूदयामास भारतिः ॥४३॥

महाबाहु हनुमानजी ने उस लोहे के चमचमाते बड़े को ले, पुन वहाँ के रखवाले राजसो को मार गिराया ॥४३॥

स तान्निहत्वा रणचण्डविक्रमः

समोक्षमाणः पुनरेव लङ्काम् ।

प्रदीप्तलाङ्गूलकृतार्चिमाली

प्रकाशितादित्य इवार्चिमाली ॥४४॥

इति त्रिपञ्चाश. सर्ग ॥

युद्ध में प्रचंड विक्रम प्रदर्शन करने वाले हनुमानजी रखवालों को मार लङ्का को देखने लगे । उस समय उनकी पूंछ से जो अग्नि की लपटें निकल रही थीं, उनसे उस समय उनकी बैंगी ही शोभा हो रही थी; जैसी कि, किरणों द्वारा प्रकाशित मध्याह्नकालीन सूर्य की होती है ॥४४॥

सुन्दरकांड का त्रिरपनवां सर्ग पूरा हुआ ।

—:~—

चतुःपञ्चाशः सर्गः

वीक्षमाणस्ततो लङ्कां कपिः कृतमनोरथः ।

वर्धमानसमुत्साहः कार्यशेषमचिन्तयत् ॥१॥

मनोरथ सिद्ध हो जाने से हनुमानजा उत्साहित हुए । वह लका की ओर देल, मन ही मन शेष कर्त्तव्य को विचारने लगे ॥१॥

किं नु खल्ववशिष्टं मे कर्त्तव्यमिह साम्प्रतम् ।

यदेषां रक्षसां भूयः सन्तापजननं भवेत् ॥२॥

कपि ने विचारा कि, मैं धर क्या करूँ जिससे राजसो के मन में और अधिक सुताप उत्पन्न हो ॥२॥

वनं तावत्प्रमथितं प्रकृष्टा राक्षसा हताः ।

बलकदेशः क्षपितः शेषं दुर्गविनाशनम् ॥३॥

इस बीच में, मैंने रावण का प्रमदावन को उजाड़ डाला, बड़े-बड़े नामी वीर राक्षसों को मार डाला, सेना का एक बड़ा भाग भी नष्ट कर डाला; अब तो मुझे रावण के दुर्ग का नाश करना और बाकी रह गया है ॥३॥

दुर्गे विनाशिते कर्म भवेत्सुखपरिश्रमम् ।

अल्पयत्नेन कार्येऽस्मिन्मम स्यात्सफलः श्रमः ॥४॥

अतः, दुर्ग के नाश करने से मेरा परिश्रम सफल हो जायगा और इसे उजाड़ने में मुझे बहुत सा श्रम भी न उठाना पड़ेगा । थोड़े ही परिश्रम से यह काम भी पूरा ही जायगा ॥४॥

यो ह्ययं मम लाङ्गूले दीप्यते हव्यवाहनः ।

अस्य सन्तर्पणं न्याय्यं कर्तुमेभिर्गृहोत्तमैः ॥५॥

मेरी पूँछ में अग्निदेव जल रहे हैं और मुझे शीतल जान पड़ते हैं, सो इनको भली भाँति तृप्त करना भी तो उचित है । अतः इन बढिया भवनों को भस्म कर, मैं इनको तृप्त करना हूँ ॥५॥

ततः प्रदीप्तलाङ्गूलः सविद्युदिव तोयदः ।

भवनाग्रेषु लङ्काया विचचार महाकपिः ॥६॥

इस प्रकार निश्चय कर दामिनीयुक्त मेघ की तरह, जलती हुई पूँछ को लिए हुए, हनुमानजी भवनों की अटारियों पर [या छज्जा पर] घूमने लगे ॥६॥

गूहाद्गूहं राक्षसानामुद्यानानि च वानरः ।

वीक्षमाणो ह्यसन्वस्तः प्रासादांश्च चचार सः ॥७॥

हनुमानजी राक्षसों के एक घर से दूसरे घर पर और दूसरे से तीसरे घर पर चढ़ जाते और निर्भय हो वहाँ के उद्यान को देखते य ॥७॥

अवप्लुत्य महावेगः प्रहस्तस्य निवेशनम् ।

अग्निं तत्र स निक्षिप्य श्वसनेन - समो बली ॥८॥

पवन के समान वेगवान् हनुमानजी धूमते फिरते प्रहस्त के घर पर जा चढ़े । प्रहस्त के घर में आग लगा ॥८॥

ततोऽन्यत्पुप्लुवे वेश्म महापाशर्वस्य वीर्यवान् ।

भुमोच हनुमानग्निं कालानलशिखोपमम् ॥९॥

फिर वे बनवान् महापाशर्व के मकान पर कूद पड़े और कामाग्नि के तुल्य अग्नि उस भवन में लगा ॥९॥

वज्रदंष्ट्रस्य च तथा पुप्लुवे स महाकपिः ।

शुकस्य च महातेजाः सारणस्य च धीमतः ॥१०॥

वे वज्रदंष्ट्र के भवन पर कूद पड़े और उसमें माँ आग लगा, उन्होंने महातेजस्वी शुक और बुद्धिमान सारण के घर जलाए ॥१०॥

तथा चेन्द्रजितो वेश्म ददाह हरियूथपः ।

जम्बुमालेः सुमालेश्च ददाह भवनं ततः ॥११॥

वहाँ से मेघनाद के भवन पर कूद, उन्होंने उसको फूँका । फिर जम्बुमाली और सुमाली के घरों को जलाया ॥११॥

रश्मिकैतोश्च भवनं सूर्यशत्रोस्तथैव च ।

ह्रस्वकर्णस्य दंष्ट्रस्य रोमशस्य च रक्षतः ॥१२॥

युद्धोन्मत्तस्य मत्तस्य ध्वजग्रीवस्य रक्षतः ।

विद्युज्जिह्वस्य घोरस्य तथा हस्तिमुखस्य च ॥१३॥

करालस्य पिशाचस्य शोणिताक्षस्य चैव हि ।

कुम्भकर्णस्य भवनं मकराक्षस्य चैव हि ॥१४॥

यज्ञशत्रोश्च भवनं ब्रह्मशत्रोस्तथैव च ।

नरान्तकस्य कुम्भस्य निकुम्भस्य दुरात्मनः ॥१५॥

तदनन्तर उन्होंने रश्मिकेतु, सूर्यशत्रु, ह्रस्वकर्ण, युद्धोन्मत्त, स्वजप्रोव, भयकर, विद्युज्जिह्व, हस्तिमुख, कराल, पिशाच, शोणिताक्ष, कुम्भकर्ण, मकराक्ष, यज्ञशत्रु ब्रह्मशत्रु नरान्तक, कुम्भ और दुरात्मा निकुम्भ नामक राक्षसों के घर फूँक ॥१२॥१३॥१४॥१५॥

वर्जयित्वा महातेजा विभीषणगृहं प्रति ।

क्रमभाणः क्रमेणैव ददाह हरिपुङ्गवः ॥१६॥

हनुमानजी ने और राक्षसों के घर तो क्रम से जलाए, किंतु प्रकेले विभीषण का घर छोड़ दिया ॥१६॥

तेषु तेषु महार्हेषु भवनेषु महायशाः ।

गृहेष्वृद्धिमतामृद्ध ददाह स महाकर्षिः ॥१७॥

लक्षापुरी निवासी घनो राक्षसों के घरों में जो-जो मुख्यवान धन, वस्त्र, द्रव्य आदि सामग्री थी, हनुमानजी ने उस सब को भस्म कर डाला ॥१७॥

सर्वेषां समतिक्रम्य राक्षसेन्द्रस्य वीर्यवान् ।

श्राससादाथ लक्ष्मीवान् रावणस्य निवेशनम् ॥१८॥

इन सब भवनों को जला कर, हनुमानजी बलवान राक्षसराज रावण के घर पर कूद गए ॥१८॥

ततस्तस्मिन्गृहे मुख्ये नानारत्नविभूषिते ।

मेरुमन्दरसङ्काशे 'सर्वमङ्गलशोभिते ॥१९॥

रावण के मेरुपर्वत के समान विजाल मुख्य भवन में, जो विविध प्रकार के रत्नों से भूषित था और समस्त माङ्गलिक द्रव्यों से परिपूर्ण था, ॥१९॥

प्रदीप्तमग्निमुत्सृज्य लाङ्गूलाग्रे प्रतिष्ठितम् ।

ननाद हनुमान्वीरो युगान्तजलदो यथा ॥२०॥

१ सर्वमङ्गलशोभिते—सर्वमङ्गलद्रव्ययुक्ते । (गो०) २ पाठान्तरे—
“युगान्ते जलदो ।”

अपनी पूँछ से आग लगा, हनुमानजी ऐसे जोर से गर्जे जैसे प्रलयकालीन मेघ गरजते हैं ॥२०॥

श्वसनेन च संयोगादतिवेगो महाबलः ।

कालाग्निरिव ऽसन्दीप्तः प्रावर्धत हुताशनः ॥२१॥

हवा का सहायता पा, अति वेगवान् अग्नि, कालाग्नि की तरह घपघप कर बढ़ने लगा ॥२१॥

प्रबृद्धमग्निं पवनस्तेषु वेश्मस्वचारयत् ।

अभूच्छ्वसनसंयोगादतिवेगो हुताशनः ॥२२॥

उम प्रज्वलित आग को, पवनदेव अत्यन्त प्रचण्ड कर, एक धर से दूसरे धर में पहुँचा देते थे ॥२२॥

तानि काञ्चनजालानि मुक्तामणिमयानि च ।

भवन्नान्यवशीर्यन्त रत्नवन्ति महान्ति च ॥२३॥

सोने के झरोखों से मुक्ता, रत्न-राशि-विभूषित, बड़े-बड़े मुक्ता-मणि-सूचित जो भवन थे ॥२३॥

तानि भग्नविमानानि निपेतुर्धरणीतले ३ ।

भवनानीव सिद्धानामम्बरात्पुण्यसंक्षये ॥२४॥

उनकी अटारियां टूट-टूट कर नीचे जमीन पर गिर पड़ीं । वे भवन टूट-टूट कर इस प्रकार बहराए, जिस प्रकार सिद्धों के भवन पुण्यक्षीण होने पर, आकाश से टूट कर नीचे गिरते हैं ॥२४॥

सजज्ञे तुमुलः शब्दो राक्षसानां भधावताम् ।

स्वगृहस्थ परित्राणे भग्नोत्साहोजितश्रियाम् ॥२५॥

दौडते हुए उन राक्षसों का जो अपने घरों की रक्षा करने के लिए, उद्योग कर, हतोत्साह और नष्टश्री हो रहे थे, बड़ा कोलाहल मचा ॥२५॥

१ पाठान्तरे—“ज्ज्वाल ।” २ पाठान्तरे—“प्रदीप्तमग्नि । ३ पाठान्तरे—
मुघातले ।”

नूनमेषोऽग्निरायातः कपिरूपेण हा इति ।

क्रन्दन्त्यः सहसा पेतुः स्तनन्धयधराः स्त्रियः ॥२६॥

वे लोग चिल्ला चिल्ला कर कह रहे थे कि, हाय निश्चय ही कपि का रूप घर यह अग्निदेव ही आए हैं । छोटे-छोटे दुधमुँहे बच्चों को गोद में लिये हुए रोती हुई स्त्रियाँ, प्राग में सहसा गिर पड़ती थी ॥२६॥

काश्चिदग्निपरीतेभ्यो हर्म्येभ्यो मुवतमूर्धजाः ।

पतन्त्यो रेजिरेऽभ्रेभ्यः सौदामिन्य इवाम्बरात् ॥२७॥

बहुत-सो स्त्रियाँ चारों ओर से अग्नि से घिर कर, सिर के बाल खोले झटारियो पर से नीचे कूद पड़ती थी मानो मेष से दामिनी निकल कर पृथिवी पर घा गिरी हो ॥२७॥

वज्रविद्रुमवैडूर्यमुवतारजतसंहितान् ।

विचित्रान्भवनान्धातूस्त्यन्दमानान्ददर्श सः ॥२८॥

हीरा, मूँगा, पत्ता, मोती और चाँदी आदि अनेक धातुएँ अग्नि के ताप से पिघल कर, बहती हुई हनुमानजी ने देखी ॥२८॥

नाग्निस्तृप्यति काष्ठाना तृणानां च यथा तथा ।

हनुमन्राक्षसेन्द्राणां वधे किञ्चिन्न तृप्यति ॥२९॥

जिस प्रकार अग्निदेव, काठ और घास फूस को जलाते-जलाते नहीं मघाते, उसी प्रकार हनुमानजी प्रधान-प्रधान राक्षसों को मारते-मारते नहीं मघाते ॥२९॥

न हनूमद्विशस्तानां राक्षसानां वसुन्धरा ।

ववर्चित्कशुकसङ्काशाः ववचिच्छाल्मलिसन्निभाः ।

ववचित्कुङ्कुमसङ्काशाः शिखा वह्लेश्चकाशिरे ॥३०॥

और न हनुमानजी के मारे हुए राक्षसों के वध से वसुन्धरा ही मघाती थी । कहीं पर तो प्राग की लौ की रगम किशुक के फूल जैसी, कहीं शाल्मली के फूल जैसी और कहीं कुकुम के रंग जैसी देख पड़ती थी ॥३०॥

१ पेतुरन्नावित्तिषेय । (रा०) २ पाठान्तरे—“हृत्पृषप”।

हनूमता वेगवता वानरेण नहात्मना ।
लङ्कापुरं प्रदग्धं तद्रुद्रेण त्रिपुरं यथा ॥३१॥

जिस प्रकार महादेवजी ने त्रिपुरासुर को भस्म किया था, उसी प्रकार महाबली वानरश्रेष्ठ हनुमानजी ने लकापुरी को जला कर भस्म कर डाला ॥३१॥

ततस्तु लङ्कापुरपर्वतापे
समुत्थितो भीमपराक्रमोऽग्निः ।
प्रसार्य चूडावलयं प्रदीप्ता
हनूमता वेगवता विसृष्टः ॥३२॥

अब कर पराक्रमी हनुमानजी की लगाई हुई धाग, अपने ज्वालामण्डल को फैला कर, लकापुरी के पर्वत तक प्रज्वलित हो गई मानी पर्वत तक पहुँच गई ॥३२॥

युगान्तकालानलतुल्यरूपः
समाप्तोऽग्निर्वबृधे दिवस्पृक् ।
विधूमरश्मिर्भवनेषु सक्तो
रक्षःशरीराज्यसमर्पिताच्चिः ॥३३॥

फिर वह अग्नि पवन को सहायता पाकर, प्रलयकालीन अग्नि की तरह, प्रकाश को स्पर्श करता हुआ, बढने लगा । लका के घरों में राक्षसों के शरीर-रूपी धी को पा कर, धूमरहित अग्नि चारों ओर प्रकाश फैलाने लगा ॥३३॥

आदित्यकोटीसदृशः सुतेजा
लङ्कां समस्तां परिवार्य तिष्ठन् ।
शब्दैरनेकैरशनिप्ररूढै-
भिन्दन्निवाण्डं प्रबभौ महाग्निः ॥३४॥

उस समय करोड़ों मूर्तों की तरह चमचमाता अग्नि, समस्त लवापुरी को धर कर वज्रपाद के समान धीरे नाद से ब्रह्माण्ड को फोड़ता हुआ, घोभायमान हुआ ॥३४॥

तन्नाम्बरादग्निरतिप्रबृद्धो

रूक्षप्रभः किशुकपुष्पचूडः ।

निर्वाणधूमाकुलराजयश्च

नीलोत्पलाभाः प्रचकाशिरेऽभ्राः ॥३५॥

बढ़ते-बढ़ते वह अग्नि आकाश तक व्याप्त हो गया और अपनी रूखी प्रभा से ऐसा जान पड़ता, मर्नों पलाश वन में पलाश पुष्प फूले हुए हों । जब अग्नि नीचे से भभक कर धुआँ निकालना, तब वह आकाश में जा नील कमल के तुल्य मेघमण्डल जैसा जान पड़ता था ॥३५॥

वज्री महेन्द्रस्त्रिदशेश्वरो वा

साक्षाद्यमो वा वरुणोऽनिलो वा ।

रौद्रोऽग्निरर्को घनदश्च सोमो

न वानरोऽय स्वयमेव कालः ॥३६॥

उस समय लवापुरी निवासी अनेक राक्षस एकत्र हो, कह रहे थे—या तो यह वानर वज्रधारी स्वर्ग का राजा इन्द्र है अथवा साक्षात् यम है अथवा वरुण है अथवा पवन है अथवा रुद्र है अथवा अग्नि है अथवा सूर्य अथवा कुबेर है अथवा सोम है । यह वानर नहीं है प्रत्युत साक्षात् काल है ॥३६॥

किं ब्रह्मणः सर्वपितामहस्य

लोकस्य धातुश्चतुराननस्य ।

इहागतो वानररूपधारी

रक्षोपसंहारकरः प्रकोपः ॥३७॥

हमें तो ऐसा जान पड़ता है कि, लोकसृष्टिकर्ता, सब के बाबा, सोकों

के धारण करने वाले और चार मुख वाले ब्रह्माजी का क्रोध, वानर का रूप धर कर, राक्षसा का नाश करने के लिए यहाँ आया है ॥३७॥

किं वैष्णवं वा कपिरूपमेत्य
रक्षोविनाशाय परं सुतेजः ।

अचिन्त्यमव्यक्तमनन्तमेकं
स्वमायया सांप्रतमागतं वा ॥३८॥

अथवा अचिन्त्य, अव्यक्त, अनन्त और अद्वितीय विष्णु भगवान का यह महातेज है जो राक्षसकुल का सहार करने के लिए इस समय अपनी माया के बल से कपि का रूप धारण कर, यहाँ आया है ॥३८॥

इत्येवमूचुर्ब्रह्मो ^१विशिष्टा
रक्षोगणास्तत्र समेत्य सर्वे ।

सप्राणिसंघा सगृहां सवृक्षां
दग्धां पुरीं तां सहसा समीक्ष्य ॥३९॥

प्राणियो, घरो और वृक्षो सहित लकापुरी को सहसा भस्म हुई देख, वहाँ के समझदार राक्षसनेता एकत्र हो, इस प्रकार कल्पनाएँ कर रहे थे ॥३९॥

ततस्तु लङ्का सहसा प्रदग्धा
सराक्षसा साश्वरथा सनागा ।

सपक्षिसंघा समृगाः सवृक्षा
रुरोद दीना तुमुलं सशब्दम् ॥४०॥

राक्षसो, घोडो, रथो, हाथियो, पक्षियों, मृगो, वृक्षों सहित जब लका सहसा भस्म हो गई, तब वहाँ के बचे हुए निवासी राक्षस बिकल हो रोने और चिल्लाने लगे ॥४०॥

१ विशिष्टा — ज्ञानाधिकाः (गो०)

हा तात हा पुत्रक कान्त मित्र
 हा जीवितेशांग हतं सुपुण्यम् ।
 रक्षोभिरेवं बहुधा ब्रुवद्भिः
 शब्दः कृतो घोरतरः सुभीमः ॥४१॥

हा तात ! हा पुत्र ! हा कान्त ! हा मित्र ! हा प्राणनाथ ! हमारे
 प्रतिकण्ड से उपाजित समस्त पुण्य-फल शीण हो गए । इस प्रकार बहुधा
 शान्ति-लाप करते अनेक राक्षसों ने बड़ा भयकर कोलाहल मचाया ॥४१॥

हुताशनज्वालसमावृता सा
 हतप्रवीरा परिवृत्तयोधा ।
 हनूमतः क्रोधबलाभिभूता
 बभूव शापीपहतेव लङ्का ॥४२॥

उस समय अग्नि की ज्वाला से घिरी हुई, बड़े-बड़े शूरवीरों घोंघाओं से
 युक्त और हनुमानजी के क्रोध और बल से पराजित वह लका दीपहत
 (शापित) की तरह जान पड़ने लगी ॥४२॥

स संभ्रमं ग्रस्तविषण्णराक्षसां
 समुज्ज्वलज्वालहुताशनाङ्घ्रिताम् ।
 ददर्श लङ्कां हनुमान्महामनाः
 स्वयंभुरोषोपहतामिवावनिम् ॥४३॥

उस समय वेचे हुए लकावासी राक्षस पबडाए हुए और विषाद युक्त थे ।
 अत्यन्त प्रज्वलित भाग से घप घप कर जलती हुई लका महामनस्वी हनुमानजी
 को वंदी ही जान पड़ी, जेंसी कि, शिवजी के कोप से दग्ध पृथिवी जान
 पड़ती है ॥४३॥

भक्ष्त्वा वनं पादपरत्नसङ्कुलं
 हत्वा तु रक्षांसि महान्ति संयुगे ।

दग्ध्वा पुरीं तां गृहरत्नमालिनीं

तस्यौ हनूमान्पवनात्मजः कपिः ॥४४॥

श्रेष्ठ वृक्षों से परिपूर्ण अशोकवन को उजाड़, युद्ध में बड़े-बड़े राक्षस वीरों को मार, गृहों और रत्नों से परिपूर्ण लका को जला कर, पवननन्दन कपि हनुमानजी शान्त हुए ॥४४॥

त्रिकूटशृङ्गाग्रतले विचित्रे

प्रतिष्ठितो वानरराजसिंहः ।

प्रदीप्तलाङ्गूलकृतार्चिमाली

व्यराजतादित्य इवांशुमाली ॥४५॥

वानरराजसिंह हनुमानजी त्रिकूटपर्वत के शिखर पर जा बैठे । उस समय उनकी जलनी हुई पूँछ से जो लपटें निकल रही थी, उनकी ऐसी शोभा हुई, जैसी किरणों द्वारा प्रकाशित मध्याह्नकालीन सूर्य की होती है ॥४५॥

स राक्षसांस्तान्मुबहंश्च हत्वा

वनं च भङ्क्त्वा बहुपादपं तत् ।

विसृज्य रक्षोभवनेषु चार्गिन

जगाम रामं मनसा महात्मा ॥४६॥

वे महाबली हनुमानजी बहुत से राक्षसों का सहार कर, बहुत से वृक्षों से युक्त अशोकवन को उजाड़ और राक्षसों के घर फूँक, मन द्वारा श्रीरामचन्द्रजी के पास पहुँच गए ॥४६॥

ततस्तु त वानरवीरमुख्यं

महाबलं मास्ततुल्यवेगम् ।

महामतिं वायुसुतं वरिष्ठं

प्रतुष्टुबुद्धेवगणाश्च सर्वे ॥४७॥

मम सी वन मानाधमस्य महाकाव्ये तत्र कृत्व पद्यकृतं, ननु तत्र
मनमानेऽपीत्येवं हनुमान्नी का मय्येवमस्ति ननु मय्ये ॥४६०॥

अष्टाकाया या महानैत्रा हृत्वा गद्यामि मयुरे ।

दाष्ट्यात्तन्नायुर्गे रम्या गगन म महाकपि ॥४६१॥

हनुमान्नी का हृत्वा अष्टमे गगनो का मय्ये दूर रम्यात् ननु तत्र
का मय्ये महाकाव्ये महाकपि हनुमान्नी गगना का मय्ये ॥४६०॥

ननु हेदा मन्वयो निष्ठाश्च परमर्षय ।

हृत्वा तद्धा अद्गधा ता विन्मय परम रता ॥४६१॥

हृत्वा मय्ये हनुमान्नी का मय्ये निष्ठाश्च मय्ये मय्ये तत्र तत्र
का मय्ये हनुमान्नी का मय्ये विन्मय ॥४६१॥

त हृत्वा यानरथे हनुमन् महाकपिन् ।

मालागिरिणि मच्चिन्त्य मच्चनूनाति तत्रनु ॥४६०॥

हनुमान्नी का मय्ये मय्ये मय्ये महाकपि यानरथे हनुमान्नी का
का मय्ये मय्ये मय्ये मय्ये मय्ये मय्ये ॥४६०॥

हेकाश्च ननु मुनिपुङ्गवाश्च

मय्ये मय्ये मय्ये मय्ये मय्ये मय्ये ॥४६१॥

हनुमान्नी का मय्ये मय्ये मय्ये मय्ये

मय्ये मय्ये मय्ये मय्ये मय्ये मय्ये ॥४६१॥

मय्ये मय्ये मय्ये मय्ये

मय्ये मय्ये मय्ये मय्ये मय्ये मय्ये मय्ये मय्ये मय्ये मय्ये मय्ये मय्ये
मय्ये मय्ये मय्ये मय्ये मय्ये मय्ये मय्ये मय्ये मय्ये मय्ये मय्ये ॥४६१॥

मय्ये मय्ये मय्ये मय्ये मय्ये मय्ये

पञ्चपञ्चाशः सर्गः

लङ्कां समस्तां सन्दीप्य लाङ्गूलाग्नि महाबलः ।

निर्वापयामास तदा समुद्रे हरिसत्तमः ॥१॥

जब अपनी पूँछ की आँच से महाबली कपिश्रेष्ठ हनुमानजी समस्त लका में आग लगा चुके, तब उन्हाने समुद्र के जल में अपनी पूँछ की आग बुझाई ॥१॥

सन्दीप्यमानां विध्वस्तां त्रस्तरक्षोगणां पुरीम् ।

अवेक्ष्य हनुमाँल्लङ्कां चिन्तयामास वानरः ॥२॥

जलतो हुई शीर विध्वस्त लका को तथा भयभीत राक्षसों को देख, हनुमानजी सोचने लगे ॥२॥

तस्याभूत्सुमहांस्त्रासः कुत्सा चात्मन्यजायत ।

लङ्कां प्रदहता कर्म किं स्विकृतमिदं मया ॥३॥

सोचते-भोचते उनके मन में बड़ा भय उत्पन्न हो गया और वे अपनी निन्दा कर कहने लगे कि, यह मैंने क्या किया जो लका को फूँक दिया ॥३॥

धन्यास्ते पुरुषश्रेष्ठा ये बृद्ध्या कोपमुत्थितम् ।

निरुन्धन्ति महात्मानो दीप्तमग्निमिवाग्भसा ॥४॥

वे पुरुषश्रेष्ठ धन्य हैं, जो समझ बूझ कर उपजे हुए क्रोध को उगी प्रकार ठंडा कर डालते हैं, जिन प्रकार दहकती हुई आग को ॥४॥

ऋद्धः पापं न कुर्यात्कः क्रुद्धो हन्याद्गुरुनपि ।

क्रुद्धः परुषया वाचा नरः साधूनधिक्षिपेत् ॥५॥

क्रोध के बराबर्ती लोग क्या नहीं कर डालत । क्रोध के आवेश में लोग अपने पूज्यों को मार डालते हैं और क्रोध में भर लोग सज्जना को भी कुत्तव्य कह बैठते हैं ॥५॥

वा० रा० सु०—३०

वाच्यावाच्यं प्रकुपितो न विजानाति कर्हिचित् ।

नाकार्यमस्ति क्रुद्धस्य नावाच्यं ! विद्यते क्वचित् ॥६॥

क्रुद्ध होने पर मनुष्य को कहनी अनकहनी बात का विवेक नहीं रहता । क्रोध के लिए न तो कोई अनकरना काम ही है और न अनकहनी कोई बात ही है ॥६॥

यः समुत्पतितं क्रोधं क्षमयैव निरस्यति ।

यथोरगस्त्वचं जीर्णं स वै पुरुष उच्यते ॥७॥

किन्तु जो आदमी क्रोध आने पर उसको क्षमा द्वारा वैसे ही निकाल बाहर करता है जैसे सपे पुरानी केंचुल को, वही आदमी ; आदमी कहलाने योग्य है ॥ ७॥

धिगस्तु मां सुदुर्बुद्धिं निर्लज्जं पापकृत्तमम् ।

अचिन्तयित्वा तां सीतामग्निदं स्वामिघातकम् ॥८॥

धिक्कार है मुझ बड़े भारी दुर्बुद्धि, निर्लज्ज और पापी को, जिसने सीता का ध्यान न रख लका जला डाली और उसके साथ ही अपने स्वामी को भी नष्ट कर डाला भयवा स्वामी का बना बनाया काम बिगाड़ डाला ॥८॥

यदि दग्धा त्वयं लङ्का नूनमार्यापि जानकी ।

दग्धा तेन मया भर्तुर्हृतं कार्यमजानता ॥९॥

क्योंकि, यदि यह सारी की सारी लका जल गई तो सती सीता जी भी अवश्य ही मरम हो गई होंगी । मैंने भक्तानुवश स्वामी का काम ही बिगाड़ डाला ॥९॥

यदयमयमारम्भस्तत्कार्यमवसादितम् ।

मया हि दहता लङ्कां न सीता परिरक्षिता ॥१०॥

जिस काम के लिए इतना श्रम उठाया वही नष्ट हो गया । हा ! लका जलाते समय मैंने सीता की रक्षा न की ॥१०॥

ईपत्कार्यमिदं कार्यं कृतमासीन्नसंशयः ।

तस्य क्रोधाभिभूतेन मया मूलक्षयः कृतः ॥११॥

इसमें सन्देह नहीं कि, लंका का जलना एक मामूली काम था, किन्तु मैंने तो क्रोधान्ध होकर मूल ही का नाश कर डाला ॥११॥

विनष्टा जानकी नून न ह्यदग्धः प्रदृश्यते ।

लङ्कायां कश्चिदुद्देशः सर्वा भस्मीकृता पुरी ॥१२॥

जब लंका का कोई भी स्थान धनजला नहीं दीप्त पड़ता और समस्त लंका-पुरी भस्म हो गई है, तब निश्चय ही जानकीजी भी भस्म हो गई हैं ॥१२॥

यदि तद्विहतं कार्यं मम प्रज्ञाविपर्ययात् ।

इहैव प्राणसंन्यासो ममापि ह्यद्य रोचते ॥१३॥

यदि मैंने अपनी नासमझी से कार्यं नष्ट कर डाला है, तो मुझे यही पर अपनी प्राण त्याग करना ठीक जान पड़ता है ॥१३॥

किमग्नीं निपताम्यद्य आहोस्विद्वडवामुखे ।

शरीरमाहो सत्त्वानां दग्धि सागरवासिनाम् ॥१४॥

क्या मैं अग्नि में गिर कर भस्म हो जाऊँ अथवा समुद्र के बड़वानल में कूद पड़ूँ अथवा समुद्रवासी अलक्षरो को अपना शरीर दे डालूँ ॥१४॥

कथं हि जीवता शक्यो मया द्रष्टुं हरीश्वरः ।

तौ वा पुरुषशार्दूलौ कार्यसर्वस्वघातिना ॥१५॥

समस्त कार्यों को नाश कर, मैं क्योंकर जीता-जागता कपिराज मुग्धीव और उन दोनों पुरुषसिंहों के सामने जा सकता हूँ ॥१५॥

मया खलु तदेवेदं रोपदोषात्प्रदर्शितम् ।

प्रथितं त्रिषु लोकेषु कपित्वमनवस्थितम् ॥१६॥

तीनों लोकों में यह बात प्रसिद्ध है कि, घानर के स्वभाव वा क्या ठीक—सो मैंने क्रोध के आवेश में भा, इस लोकोक्ति को चरितायं कर के दिखला दिया ॥१६॥

धिगस्तु राजसम्भावमनीशमनवस्थितम् ।

ईश्वरेणापि यद्रागन्मिया सीता न रक्षिता ॥१७॥

राजसिकभाव अर्थात् रजोगुण को धिक्कार है, जो लोगो को मनभुखी और अव्यवस्थित बना देता है। मने सामर्थ्य रहते भी रजोगुण से प्रेरित हो, सीता की रक्षा न की ॥१७॥

विनष्टायां तु सीतायां तावुभौ विनशिष्यतः ।

तयोर्विनाशे सुग्रीवः सवन्धुर्विनशिष्यति ॥१८॥

सीता के नष्ट होने से वे दोनों राजकुमार भी मर जायेंगे। उनके मरने से बन्धुबान्धव सहित सुग्रीव भी मर जायेंगे ॥१८॥

एतदेव वचः श्रुत्वा भरतौ भ्रातृवत्सलः ।

धर्मात्मा सहशत्रुघ्नः कथं शक्यति जीवितुम् ॥१९॥

फिर इस बात को सुन भ्रातृवत्सल भरतजी, धर्मात्मा शत्रुघ्न सहित क्योंकर जीवित रह सकेंगे ॥१९॥

इक्ष्वाकुवंशे धर्मिष्ठे गते नाशमसंशयम् ।

भविष्यन्ति प्रजाः सर्वाः शोकसन्तापपीडिताः ॥२०॥

धर्मिष्ठ इक्ष्वाकुवंश का नाश हो जाने पर निस्सन्देह सारी प्रजा शोक-सन्ताप से पीडित हो जायगी ॥२०॥

तदहं भाग्यरहितो लुप्तधर्मार्थिसंग्रहः ।

रोषदोषपरीतात्मा व्यवतं लोकविनाशनः ॥२१॥

अतः निश्चय ही मैं हतभागो हूँ और रोष-दोष से भरा हुआ हूँ जो इस लोक का नाशक है। मेरा जो कुछ उपाजित धर्मार्थ था वह भी लुप्त हो गया। अथवा मैं बड़ा अभागो हूँ। मने क्रोध के बशवर्ती हो उस धर्मार्थ को भी नष्ट कर डाला, जिसके नष्ट होने से परलोक भी विनष्ट हो जाता है ॥२१॥

इति चिन्तयन्स्तस्य निमित्तान्पुनरेदिरे ।

पूर्वमप्युपलभ्यानि साक्षात्पुनरचिन्तयत् ॥२२॥

इस प्रकार हनुमान्जी चिन्ता में मग्न थे कि इतने में उनको विविध प्रकार के गुन गुन या पहिच भी देख पड़े म देख पड़े, उस ती वे पुन मावने लगे ॥२२॥

अथवा चाण्डवाङ्गी रक्षिता स्वेन तेजसा ।

न नशियति कल्याणी नाग्निरग्नी प्रवर्तते ॥२३॥

सदाज्ञानना और नौनाशकनी जानना अपने पात्रिद्व घन-भजन क प्रमान से सर्वत्र सुरक्षित है वह कमा नष्ट नहीं हो सकती। क्योंकि अग्नि मला अग्नि क क्या जनवण ॥२३॥

न हि धर्माग्निस्तस्य भार्याग्निस्तेजसः ।

स्वचरित्राभिगुप्ता ता स्प्रष्टुमर्हति पावकः ॥२४॥

द्विरे मनुन तबन्ध धर्माणा औरानवर्जों की पत्नी को या अपने पात्रिद्व घन से सुरक्षित है, अग्नि स्त्री नहीं कर सकता ॥२४॥

नूनं रानप्रभावेन वैदेह्याः सुकृतेन च ।

यन्मा दहनकर्माज्यं नादहृद्व्यवाहनः ॥२५॥

उन ता अरानचन्द्रों के प्रतन और सृष्टि क पुण्य प्रभाव से जनने वाच अग्नि ने मुझे नहीं जाना—यह बात निश्चय है ॥२५॥

त्रयाणा भरतादीना भ्रातृणा देवना च या ।

रानस्य च मनकान्ता सा कथं विनशियति ॥२६॥

जो भरतादि तीनों नरनों की दकडा है और अरानचन्द्रों की प्रणवन्ना है मला वह कौन नष्ट हों ॥२६॥

यद्वा दहनकर्माज्यं सर्वत्र प्रभुरव्ययः ।

न मे दहति लाद्रगूल कथनार्या प्रशस्यति ॥२७॥

अथवा सब वस्तुओं को जलाने की सामर्थ्य रखने वाले और नाशरहित अग्नि ने, जब मंत्री पूछ ही को नहीं जलाया, तब वे सती सीता को किस प्रकार मरम करेंगे ॥२७॥

पुनश्चाच्चिन्तयत्तत्र हनुमान्विस्मितस्तदा ।

हिरण्यनाभस्य गिरेर्जलमध्ये प्रदर्शनम् ॥२८॥

तदुपरान्त सोच-विचार कर, फिर हनुमानजी श्रीसीताजी के प्रभाव से, समुद्र के बीच हिरण्यनाभ मंनारुपर्वत के निकल आने की सुधि बर, विस्मित हो गए और मन ही मन कहने लगे ॥२८॥

तपसा सत्यवाक्येन श्रतन्मत्त्वाच्च भर्तारि ।

अपि सा निर्वहेर्दाग्निं न तामग्निः प्रघक्ष्यति ॥२९॥

सीताजी अपने तप-प्रभाव, सत्यभाषण तथा अपने पति में अनन्य भक्ति रखने के प्रभाव से अग्नि को स्वयं भले ही भस्म कर दें, किन्तु अग्नि उनको नहीं जला सक्ता ॥२९॥

स तथा चिन्तयंस्तत्र देव्या धर्मपरिग्रहम् ।

शुश्राव हनुमान्वाक्यं चारणानां महात्मनाम् ॥३०॥

हनुमानजी इस प्रकार सीताजी की धर्मनिष्ठा को सोच ही रहे थे कि, इतने में हनुमानजी को महात्मा चारणों के ये वचन सुन पड़े ॥३०॥

अहो खलु कृतं कर्म दुष्करं हि हनूमता ।

अग्निं विसृजताऽभीक्ष्णं भीमं राक्षससञ्चयि ॥३१॥

आहा निश्चय ही हनुमानजी ने बड़ा ही दुष्कर काम कर डाला कि राक्षसों के घरों में भयकर आग लगा दी ॥३१॥

प्रपलायितरक्षःस्त्रीबालबृद्धसमाकुला ।

जनकोलाहलाध्माता क्रन्दन्तीवादिकन्दरे ॥३२॥

जिससे राक्षसों की स्त्रियाँ, बालक, बूढ़े, सब घबड़ा कर भाग खड़े हुए और बड़ा कोलाहल मचा और लकापुरी पर्वत की कन्दरा की तरह कोलाहल से प्रतिध्वनित हो गई ॥३२॥

दग्धेयं नगरी सर्वा सादृप्राकारतोरणा ।

जानकी न च दग्धेति विस्मयोऽद्भुत एव नः ॥३३॥

भटारियो, प्राकारो और तोरणद्वारो सहित, सारी की सारी लका मस्म कर दी, किन्तु हमको यह बड़ा आश्चर्य जान पड़ता है कि, जानकी न जली ॥३३॥

स निमित्तैश्च दृष्टार्यैः कारणैश्च महागुणैः ।

ऋषिवाक्यैश्च हनुमानभवत्प्रोतमानसः ॥३४॥

हनुमानजी पूर्व में अनुभूत शुभफलप्रद शुभशकुनो को देख और ऋषियो (चारणों) के उपर्युक्त वाक्यों को सुन, मन ही मन बहुत प्रसन्न हुए ॥३४॥

ततः कपिः प्राप्तमनोरथार्थः

तामक्षतां राजसुतां विदित्वा ।

प्रत्यक्षतस्तां पुनरेव दृष्ट्वा

प्रतिप्रयाणाय मतिं चकार ॥३५॥

इति पञ्चपञ्चाशः सर्गः ॥

चारण लोगों के वचनों से सीताजी के शरीर को कुशल जान हनुमानजी का मनोरथ पूरा हुआ । फिर सीताजी को अपनी छाँखों से प्रत्यक्ष (सकुशल) देख, हनुमानजी ने लका से लौटने का निश्चय किया ॥३५॥

सुन्दरकाण्ड का पचपनवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

पट्टपञ्चाशः सर्गः

१ततस्तां शिशपामूले जानकीं पर्यवस्थिताम् ।

अभिवाद्याब्रवीद्दृष्ट्या पश्यामि त्वामिहाक्षताम् ॥१॥

तदनन्तर वे शिशुपा वृक्ष के नीचे बैठी हुई जानकीजी को प्रणाम कर बोले कि, हे देवी ! मैं तुमको सीभाग्यवश ही भ्रमत देख रहा हूँ ॥१॥

ततस्तं प्रस्थितं सीता वीक्षमाणा पुनः पुनः ।

भर्तृस्नेहान्वित वाक्यं हनुमन्तमभाषत ॥२॥

तदनन्तर सीताजा ने जाने के लिए तैयार हनुमानजी को बार-बार देख, पति के स्नेह से युक्त हो, ये वचन कहे ॥२॥

काममस्य त्वमेवैकः कार्यस्य परिसाधने ।

पर्याप्तः परवीरघ्न यशस्यस्ते बलोदयः ॥३॥

हे शत्रुघातिन् ! इस कार्य के साधन में भकेले तुम्हीं काफी (पर्याप्त) हो, क्योंकि, तुम्हारे दन का उदय मुझे बड़ा यशोयुक्त दीप्त पड़ता है ॥३॥

शरैः सुसङ्कुलां कृत्वा लङ्कां परबलार्दनः ।

मां नयेद्यदि काकुत्स्थस्तत्तस्य सदृशं भवेत् ॥४॥

किन्तु यदि श्रीरामचन्द्रजी भ्रमने बाणों से लकापुरी को परिपूर्ण कर, मुझे यहाँ से ले जायें, तो यह कार्य उनके योग्य होगा ॥४॥

तद्यथा तस्य विक्रान्तमनुरूपं महात्मनः ।

भवेदाहवशूरस्य तथा त्वमुपपादय ॥५॥

अतएव उन धैर्यवान् श्रीरामचन्द्रजी का विश्रमयुक्त धीर उनके योग्य यह कार्य सिद्ध हो मत तुमको बैसा ही उपाय करना चाहिए ॥५॥

तदर्थोपहितं वाक्यं प्रश्नितं हेतुसंहितम् ।

निशम्य हनुमांस्तस्या वाक्यमुत्तरमब्रवीत् ॥६॥

सीताजी के अर्थयुक्त तथा युक्तियुक्त स्नेह सने वचन सुन वीर हनुमानजी उत्तर देते हुए कहने लगे ॥६॥

क्षिप्रमेव्यति काकुत्स्थो हर्षक्षप्रवरैर्युतः ।

यस्ते युधि विजित्यारीञ्शोकं व्यपनयिष्यति ॥७॥

हे देवि ! श्रीरामचन्द्रजी वानर और भालुओं की सेना ले कर शीघ्र ही यहाँ भावेंगे और युद्ध में शत्रु को परास्त कर तुम्हारे शोक को दूर करेंगे ॥७॥

एवमाश्वास्य वैदेहीं हनूमान्मारुतात्मजः ।

गमनाय मतिं कृत्वा वैदेहीमभ्यवादयत् ॥८॥

इस प्रकार पवननन्दन हनुमानजी ने, सीताजी को घोरज बंधा और वहाँ से प्रस्थानित होने का विचार कर, जनकनदिनी को प्रणाम किया ॥८॥

ततः स कपिशार्दूलः स्वामिसन्दर्शनोत्सुकः ।

आरुरोह गिरिश्रेष्ठमरिष्टमरिमर्दनः ॥९॥ ।

तदनन्तर स्वामी को देखने के लिए उत्सुक हो, कपिशार्दूल और शत्रु को मर्दन करने वाले हनुमानजी, अरिष्ट नामक ऊँचे पर्वत पर चढ़ गए ॥९॥

तुङ्गपद्मकजुष्टाभिर्नीलाभिर्वनराजिभिः ।

सोत्तरीयमिवाम्भोदैः शृङ्गान्तरविलम्बिभिः ॥१०॥

बोध्यमानमिव प्रोत्या दिवाकरकरैः शुभैः ।

उन्मिषन्तमिवोद्धूतैर्लोचनैरिव धातुभिः ॥११॥

उस पर्वत पर बड़े बड़े भोजपत्र के वृक्ष शोभित थे । वन में हरियाली छाई हुई थी । उसके शिखरों के ऊपर लटकते हुए मेघ टुपट्टे की तरह जान पड़ते थे । उस पर सूर्य की किरणें गिर कर, मानो प्रेमपूर्वक उसको नीद से जगा रही थीं । विविध भाँति की धातुओं से मण्डित मानो वह पर्वत, अपने नेत्र खोले हुए देख रहा था ॥१०॥११॥

तोषीधनिःस्वनैर्मन्द्रैः प्राधीतमिव 'सर्वतम् ।

प्रगीतमिव विस्पष्टैर्नानाप्रस्त्रवणस्वनैः ॥१२॥

झरनों की जलघार के गिरने ने एसा शब्द हो रहा था, मानो पर्वत अध्ययन कर रहा हो और जो नदियाँ वह रही थी उनका स्पष्ट बलकल शब्द ऐसा जान पड़ता था मानो पर्वत गान कर रहा हो ॥१२॥

देवदारुभिरत्युच्चैरूर्ध्वबाहुमिव स्थितम् ।

प्रपातजलनिर्घोषैः प्राक्रुष्टमिव सर्वतः ॥१३॥

उसके ऊपर जो बड़े-बड़े देवदारु के पेड़ थे, वे ऐसे जान पड़ते थे मानो पर्वत ऊपर को झुजा उठाए हुए खड़ा हो । सर्वत्र जलप्रपात का शब्द होने से ऐसा जान पड़ता था, मानो पर्वत पुकार रहा हो ॥१३॥

क्षेपमानमिव श्यामैः कम्पमानैः शरद्घनैः ।

वेणुभिर्मस्तोद्धूतैः कूजन्तमिव कीचकैः ॥१४॥

वायु से डोलते हुए शरत्कालीन हरे-हरे वृक्षों द्वारा पर्वत कांपता हुआ सा जान पड़ता था । पोले बांसों में जब वायु भरता था, तब उनसे ऐसा शब्द निकलता, मानो पर्वत बांसुरी बजा रहा हो ॥१४॥

निःश्वसन्तमिवामर्षाद्घोरैराशीविषोत्तमैः ।

नीहारकृतगम्भीरैर्ध्यायन्तमिव गह्वरैः ॥१५॥

वहाँ बड़े बड़े जहरीले साँपो का शोष में भर फुँफकारें छोड़ना ऐसा जान पड़ता था, मानो पर्वत साँस ले रहा हो । छाए हुए अत्यन्त अन्धकारमय कुहरे से तथा अपनी गहरी गुफाओं से, वह ऐसा जान पड़ता था मानो पर्वत ध्यानावस्थित हो ॥१५॥

मेघपादनिभैः पादैः प्रक्रान्तमिव सर्वतः ।

जृम्भमाणमिवाकाशे शिखरैरभ्रशालिभिः ॥१६॥

मेघ के टुकड़ों की तरह अपने खण्डपर्वतरूप पर्वों से ऐसा जान पड़ता था, माना पर्वत चलना ही चाहता है । अपने आकाशस्पर्शी टेढ़ेमेढ़े शिखरों से मानो वह पर्वत अपने शरीर को टेढ़ामेढ़ा कर, जँभा (या जँमाई) रहा हो ॥१६॥

कूटैश्च बहुधाकीर्णैः शोभितं बहुकन्दरैः ।

सालतालाश्वकर्णैश्च वंशैश्च बहुभिर्वृतम् ॥१७॥

सतावितानैर्विततैः पुष्पवद्भिर्लंकृतम् ।

नानामृगगणाकीर्णैः धातुनिप्यन्दभूषितम् ॥१८॥

बड़े-बड़े शिखरो, बड़ी-बड़ी कन्दराओ से तथा साखू, ताड़, अश्वकर्ण, बेंसवारी एव विविध प्रकार की फूली हुई लताओ से वह पर्वत परिपूर्ण और भूषित था । उस पर बहुत से मृग थे और घातुओ के झरने से वह शोभित था ॥१७॥१८॥

बहुप्रस्रवणोपेतं शिलासञ्चयसङ्कुटम् ।

महर्षियक्षगन्धर्वकिन्नरोरगसेवितम् ॥१९॥

उस पर्वत पर अनेक जल के झरने झर रहे थे । शिलाओ की चट्टानें पड़ी थीं । महर्षि, यक्ष, गन्धर्व, किन्नर और उरग उस पहाड़ पर रहते थे ॥१९॥

लतापादपसम्बार्धं सिंहाध्युषितकन्दरम् ।

व्याघ्रसङ्घसमाकीर्णं स्वादुमूलफलोदकम् ॥२०॥

वह पर्वत, लता-वृक्षा से परिपूर्ण था और उसकी कन्दराओ में सिंह रहते थे । व्याघ्रो के झुंड के झुंड वहाँ थे तथा उस पर लगे फल-फूल और वहाँ का जल बड़े स्वादिष्ट थे ॥२०॥

तमारोहं हनुमान्पर्वतं प्लवगोत्तमः ।

रामदर्शनशीघ्रेण प्रहर्षेणाभिचोदितः ॥२१॥

वानरश्रेष्ठ हनुमानजी इस प्रकार के उस अरिष्ट नामक पर्वत के ऊपर चढ़ गए । क्योंकि, श्रीरामचन्द्रजी से मिलने की उनको जल्दी थी और कार्य-सिद्धि होने के कारण वे बहुत प्रसन्न थे ॥२१॥

तेन पादतलाक्रान्ता रम्येषु गिरिसानुषु ।

सधोपः समशीर्यन्त शिलाश्चूर्णोक्तास्ततः ॥२२॥

उस रमणीक पर्वत के शिखर की शिलाएँ हनुमानजी के पैरों के आघात से टूट कर धूर-धूर हो गईं और शब्द करती हुई नीचे गिर पड़ी ॥२२॥

स तमारुह्य शैलेन्द्रं व्यवर्धत महाकपिः ।

दक्षिणादुत्तरं पारं प्रार्थयेल्लवणाम्भसः ॥२३॥

उस पर्वतराज पर चढ़ कर हनुमानजी ने अपना शरीर बढ़ाया और समुद्र के दक्षिणतट से उत्तरतट की ओर जाने की प्रार्थना की ॥२३॥

अधिरुह्य ततो वीरः पर्वतं पवनात्मजः ।

ददर्श सागर भीमं मीनोरगनिषेधितम् ॥२४॥

उस पर्वत पर चढ़ वीर पवननन्दन ने मछलियों की ओर साँपो से भरा भयंकर समुद्र देखा ॥२४॥

स मारुत इवाकाशं मारुतस्यात्मसम्भवः ।

प्रपेदे हरिशार्दूलो दक्षिणादुत्तरां दिशम् ॥२५॥

पवननन्दन हनुमानजी, आकाशचारी पवन की तरह, प्रति शीघ्र दक्षिण-से उत्तर दिशा की ओर उड़ चले ॥२५॥

स तदा पीडितस्तेन कपिना पर्वतोत्तमः ।

ररास सह तैर्भूतैः प्रविशन्वसुधातलम् ॥२६॥

हनुमानजी के पैर के बोझ से दब जाने के कारण अनेक प्राणियों के चीत्कार के साथ गम्भीर शब्द करता हुआ वह पर्वत पृथिवी में समा गया ॥२६॥

कम्पमानैश्च शिखरैः पतद्भिरपि च द्रुमैः ।

तस्योरुवेगोन्मथिताः पादपाः पुष्पशालिनः ॥२७॥

उसके समस्त शिखर और वृक्ष काँपने हुए नीचे गिर पड़े । हनुमानजी की जघामो के बंग से उल्ट-उल्ट कर, विविध प्रकार के फूल हुएपड़े ॥२७॥

निपेतुर्भूतले रुग्णाः शक्रायुधहता इव ।

कन्दरोदरसंस्थानां पीडितानां महौजसाम् ॥२८॥

टूट-टूट कर पृथिवी पर गिर पड़े, मानो इन्द्र के बजाघात से टूटे हों । उसकी कन्दराओं के भीतर रहने वाले, महाबलवान् किन्तु पीडित ॥२८॥

सिंहानां निनदो भीमो नभो भिन्दन्प्रशुश्रुवे ।
 त्रस्तव्याविद्धवसना व्याकुलीकृतभूषणाः ॥२९॥
 विद्याधर्यः समुत्पेतुः सहसा धरणीधरात् ।
 अतिप्रमाणा बलिनो दीप्ताजिह्वा महाविषाः ॥३०॥

सिंह भयकर रूप से दहाड़े जिससे जान पड़ा, मानो आकाश फट जायगा ।
 उस पर्वत पर विहार करने वाली विद्याधरियो के शरीर के वस्त्र मारे डर के
 खिसक पड़े । भ्रान्भूषण उलटे सीधे हो गए । वे सहसा पर्वत को छोड़, उड़ कर
 आकाश में जा पहुँची । बड़े-बड़े सवे, बलवान, प्रखलित जिह्वा वाले और
 महा विषले ॥२९॥३०॥

निपीडितशिरोग्रीवा व्यवेष्टन्त' महाहयः' ।
 किन्नरोरगगन्धर्वयक्षविद्याधरास्तदा ॥३१॥

बड़े-बड़े सर्प, फनो और गरदनो के दब जाने से कुण्डलियाँ मारे हुए थे ।
 वहाँ के किन्नर, उरग, गन्धर्व, यक्ष तथा विद्याधर ॥३१॥

पीडितं तं नगधरं त्यक्त्वा गगनमास्थिताः ।
 स च भूमिधरः श्रीमान्बलिना तेन पीडितः ॥३२॥
 सवृक्षशिखरोद्ग्रः प्रविवेश रसातलम् ।
 दशयोजनविस्तारस्त्रिंशद्योजनमुच्छ्रितः ॥३३॥

उस पर्वतश्रेष्ठ को पीडित देख और उस छोड़ कर, आकाश में चले गए ।
 हनुमानजी द्वारा पीडित ही, वह शोभायमान पर्वत अपने शिखरो और पेड़ो
 सहित रसातल में चला गया । वह पर्वत दस योजन सवा और तीस योजन
 ऊँचा था । सो वह पर्वत पृथिवी में समा गया ॥३२॥३३॥

१ व्यवेष्टन्त—कुण्डलीकृतदेहा धनवन् । (शि०) २ महाहय—
 महोरगाः । (शि०)

धरण्यां समतां यातः स बभूव धराधरः ।
 स लिलङ्घयिपुर्भोमं सलीलं लवणाणं वम् ।
 कल्लोलास्फालवेलान्तमुत्पपात नभो हरिः ॥३४॥

इति षट्पञ्चाश सर्ग ॥

घोर जहाँ वह पहिले था वहाँ की भूमि बराबर हो गई । बड़ी-बड़ी सहरो से लहराते हुए, तटों से युक्त, खारी घोर भयकर महासागर को खिलवाड की तरह, लाँघने के लिए, हनुमानजी कूद कर आकाश में चले गए ॥ ३४॥

सुन्दरकाण्ड का छप्पनवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

— * —

सप्तपञ्चाशः सर्गः

[आप्लुत्य च महावेगः पक्षवानिव पर्वतः ।]

सचन्द्रकुमुदं रम्यं सार्ककारण्डवं शुभम् ।

तिष्यश्रवणकादम्यमश्रशैवलशाद्वलम् ॥१॥

बड़े बलवान हनुमानजी पक्षधारी पर्वत की तरह आकाश रूपी समुद्र में उड़ कर चले । चन्द्रमा मानो आकाश रूपी समुद्र का कुमुद है । सूर्य मानो जलमृग है, पुष्य घोर श्रवण नक्षत्र मानो हंस की तरह शोभायमान हैं घोर मेषसमूह मानो सिवार हैं ॥१॥

पुनर्वंसुमहामीनं लोहिताङ्गमहाप्रहम् ।

ऐरावतमहाद्वीपं स्वातीहंसविलोलितम् ॥२॥

पुनर्वंसु नक्षत्र मानो बड़ा भारी मत्स्य है घोर मगल मानो बड़ा मगर (नक्र) है । ऐरावत मानो उस समुद्र का महाद्वीप है, स्वानी नक्षत्र मानो हंस है जो घसमें तैर रहा है ॥२॥

वातसङ्घातजातोमि चन्द्रांशुशिशिराम्बुवत् ।

भुजङ्गयक्षगन्धर्वं प्रबुद्धकमलोत्पलम् ॥३॥

वायु मानो तरगे हैं और चन्द्रमा की किरणरूपी शीतल जल से बह पूर्ण हैं; मुजङ्ग, यक्ष और गन्धर्व मानो फूले हुए कमल के फूल हैं ॥३॥

हनुमान्मारुतगतिर्महानौरिव सागरम् ।

अपारमपरिश्रान्तः पुप्लुवे गगनार्णवम् ॥४॥

हनुमानजी बड़े वेग से उसी प्रकार चले, जैसे सागर में नाव चलती है और बिना थके थे उस अपार आकाशरूपी सागर में चले जाते थे ॥४॥

प्रसमान इवाकाशं ताराधिपमिवोल्लिखन्^१ ।

हरन्निव^२ सनक्षत्रं गगनं सार्कमण्डलम् ॥५॥

जाते हुए हनुमानजी ऐसे जान पड़ते थे, मानो आकाश को प्रसे ही लेते हों और अपने नखों से मानो आकाश में चन्द्रमा बनाते जाते हों और नक्षत्रों तथा सूर्य सहित आकाशमण्डल को वे मानो पकड़े लेते हों ॥५॥

मारुतस्यात्मजः श्रीमान्कपिव्योमचरो महान् ।

हनुमान्मेघजालानि विकर्षन्निव गच्छति ॥६॥

महावपुधारी पवननन्दन श्रीमान् हनुमानजी मेघसमूहों को चीरते हुए, अपार आकाश में चले जाते थे ॥६॥

पाण्डुरारुणवर्णानि नीलमाञ्जिष्ठकानि च ।

हरितारुणवर्णानि महाभ्राणि चकाशिरे ॥७॥

उस समय सफेद, लाल, नीले, मजीठ रंग के और हरे रंग के बड़े-बड़े चादल आकाश में शोभायमान हो रहे थे ॥७॥

प्रविशन्भ्रजालानि निष्क्रमंश्च पुनः पुनः ।

प्रच्छन्नश्च प्रकाशश्च चन्द्रमा इव लक्ष्यते ॥८॥

१ ताराधिपमिवोल्लिखन् इवनक्षैरिति योगः (रा०) २ हरन्निव—
गुह्यन्निव । (रा०)

हनुमानजी उसी प्रकार बार-बार मेघों में घुसते और निकलते दिसलाई पड़ते थे, जिस प्रकार चन्द्रमा कभी बादल में छिपता और कभी निकल आता देल पड़ता है ॥८॥

विविधाभ्रघनापन्नगोचरो धवलाम्बरः ।

दृश्यादृश्यतनुर्वारस्तदा चन्द्रायतेऽम्बरे ॥९॥

सफेद कपड़े पहिने हुए घोर हनुमानजी विविध प्रकार के बादलों के भीतर कभी प्रकट कभी अप्रकट हो, आकाश में चन्द्रमा की तरह जान पड़ते थे ॥९॥

ताक्षर्यायमाणो गगने बभासे वायुनन्दनः ।

दारयन्मेघवृन्दानि निष्पतंश्च पुनः पुनः ॥१०॥

आकाश में गड़गड़ की तरह बादलों को चीरते फाड़ते और बार-बार उनके भीतर बाहर पंठते एव निकलते हनुमानजी शोभायमान हो रहे थे ॥१०॥

नदन्नादेन महता मेघस्वनमहास्वनः ।

प्रवरान्राक्षसान्हृत्या नाम विश्राव्य चात्मनः ॥११॥

आकुलां नगरीं कृत्वा व्यथयित्वा च रावणम् ।

अर्दयित्वा बलं घोरं वैदेहीमभिवाद्य च ॥१२॥

हनुमानजी इस प्रकार मुख्य-मुख्य राक्षसों को मार, धपना नाम सब को सुना, मेघ की तरह महानाद कर के गजंते, लका को धिक्कर कर, रावण को पीड़ा दे, राक्षसों की भयकर सेना को मथ और सीताजी को प्रणाम कर, ॥११॥१२॥

श्राजगाम महातेजाः पुनर्मध्येन सागरम् ।

पर्वतेन्द्रं सुनाभं च समुपस्पृश्य वीर्यवान् ॥१३॥

ज्यामुक्त इव नाराचो महावेगोऽभ्युपागतः ।

स किञ्चिदनुसम्प्राप्तः समालोक्य महागिरिम् ॥१४॥

महेन्द्रं मेघसंकाशं ननाद हरिपुङ्गवः ।

स पूरयामास कर्पिदिशो दश समन्ततः ॥१५॥

समुद्र के बीचो बीच पहुँचे । महातेजस्वी घोर बली हनुमानजी, पवंतराज
मैनाक का स्पर्श द्वारा सम्मान कर, घनुष के रोदे से छूटे हुए तीर की तरह बड़े
वेग से गमन करने लगे । जब उत्तर-तटवर्ती मेघ की तरह विशाल महेन्द्रपर्वत
कुछ ही दूर रह गया तब उसे देख हनुमानजी बड़े जोर से गर्जे । उनका यह
सिहनाद समस्त दिशाओं में प्रतिध्वनित हुआ ॥१३॥१४॥१५॥

नदघ्नादेन महता मेघस्वनमहास्वनः ।

स तं देशमनुप्राप्तः सुहृद्दर्शनलालसः ॥१६॥

वे मेघ की तरह बड़े जोर से गर्जते हुए, उत्तरतट पर, अपने हितैषियों से
मिलने के लिए सन्तानित हो, जा पहुँचे ॥१६॥

ननाद हरिशार्ङ्गं लो लाङ्गूलं चाप्यकम्पयत् ।

तस्य नानद्यमानस्य सुपर्णाचरिते पथि ॥१७॥

हनुमानजी गर्जते थे अपनी पूँछ भी हिला रहे थे । आकाश में गरुड़जी
के मार्ग का झलझलन किए हुए हनुमानजी के घोर गर्जने के ॥१७॥

फलतीवास्य घोषेण गगनं सार्कमण्डलम् ।

ये तु तत्रोत्तरे तीरे समुद्रस्य महाबलाः ॥१८॥

सूर्यमण्डल सहित प्रावाणमण्डलं मानो फटा पड़ता था । महासागर के
उत्तरतीर पर जो महाबली ॥१८॥

पूर्वं संविष्टिताः शूरा वायुपुत्रदिदृक्षवः ।

महतो वायुनुन्नस्य तोयदस्येव गर्जितम् ॥१९॥

रीछ तथा वानर पहिले से वीर हनुमान जी के लौटने की प्रतीक्षा में बैठे
थे । वायु द्वारा टककर दिए हुए बड़े-बड़े मेघों के गर्जन की तरह ॥१९॥

शुश्रुवुस्ते तदा घोषमूर्खवेगं हनूमतः ।

ते दीनवदनाः सर्वे शुश्रुवुः काननीकसः ॥२०॥

वानरेन्द्रस्य निर्घोषं पर्जन्यनिनदोपमम् ।

निशम्य नदतो नादं वानरास्ते समन्ततः ॥२१॥

बभ्रुवुहस्तुकाः सर्वे सुहृद्दर्शनकाङ्क्षिणः^१ ।

जाम्बवांस्तु हरिश्रेष्ठः प्रीतिसंहृष्टमानसः ॥२२॥

उन वानरो ने हनुमानजी का गर्जन और उनकी जघों के वेग से निकला शब्द सुना । उन दुखियारे वानरो ने बादल की गर्जन की तरह, हनुमानजी के गर्जन का घोंप सुना । नगद करते हुए हनुमानजी का शब्द सुन कर, वे सब वानर अपने बन्धु का दर्शन करने को उत्सुक हो उठे । भालुओं में सर्वश्रेष्ठ जाम्बवान ने अत्यन्त प्रसन्न हो ॥२०॥ २१॥ २२॥

उपामन्त्र्य हरीन्सर्वानिदं वचनमब्रवीत् ।

सर्वथा कृतकार्योऽसौ हनुमान्नात्र संशयः ॥२३॥

सब वानरो को अपने पास बुला यह कहा—इसमें सन्देह नहीं कि, हनुमानजी सब प्रकार से अपना काम पूरा कर आए ॥२३॥

न ह्यस्याकृतकार्यस्य नाद एवविधो भवेत् ।

तस्य बाहूरुवेगं च निनादं च महात्मनः ॥२४॥

यदि वे अपने कार्य में सकल न हुए होते तो इस प्रकार की गर्जना न करते । हनुमानजी की भुजाओं और जाघों से निकले हुए सनसनाहट तथा गर्जन का शब्द ॥२४॥

निशम्य हरयो हृष्टाः खमुत्पेतुस्ततस्ततः ।

ते नगाग्रान्नगप्राणि शिखराच्छिखराणि च ॥२५॥

सुन कर, सब वानर प्रसन्न हुए और पर्वत के एक शिखर से दूसरे शिखर पर कूद-कूद कर चढ़ने लगे ॥२५॥

प्रहृष्टाः समपद्यन्त हनूमन्तं दिदृक्षवः ।

ते प्रीताः पादपात्रेषु गृह्य शाखाः सुपुष्पिताः ॥२६॥

वे हनुमानजी को देखने के लिए अत्यन्त प्रसन्न हो और अच्छी फूली हुई वृक्षों की डालों को हाथ में ले, वृक्षों की फुनगियों पर चढ़ गए ॥२६॥

वासांसीव प्रशाखाश्च समाविध्यन्त वानराः ।

गिरिगह्वरसंलीनो यथा गर्जति मारुतः ॥२७॥

वानर लोग कपड़े की तरह उन शाखाओं को हिला रहे थे । जिस प्रकार पहाड़ी गुफाओं में रुकी हुई हवा शब्द करती है ॥२७॥

एवं जगर्ज बलवान्हनूमान्मारुतात्मजः ।

तमभ्रघनसङ्काशमापतन्तं महाकपिम् ॥२८॥

उसी प्रकार बलवान पवननन्दन हनुमानजी गर्जे और उन वनरो ने देखा कि एक बड़े बादल की तरह हनुमानजी आकाश मार्ग से चले आ रहे हैं ॥२८॥

दृष्ट्वा ते वानराः सर्वे तस्थुः प्राञ्जलयस्तदा ।

ततस्तु वेगवांस्तस्य गिरेर्गिरिनभः कपिः ॥२९॥

हनुमानजी को देखते ही सब वानर हाथ जोड़े हुए खड़े हो गए । तब पर्वत-कार और वेगवान हनुमानजी ॥२९॥

निपपात महेन्द्रस्य शिखरे पादपाकुले ।

हर्षेणापूर्यमाणोऽसौ रम्ये पर्वतनिर्झरे ॥३०॥

छिन्नपक्ष इवाकाशात्पपात धरणीधरः ।

ततस्ते प्रीतिमनसः सर्वे वानरपुङ्गवाः ॥३१॥

उसी महेन्द्राक्षर शिखर पर, जिस पर बहुत से पेड़ लगे हुए थे, आ कर कूद पड़े । हनुमानजी हर्षित हो, आकाश से पक्ष कटे पर्वत की तरह रमणीक पर्वत के उस स्थान पर कूदे, जहाँ पानी का झरना क्षर रहा था । तब प्रीतिपूर्णहृदय से समस्त वानरपुङ्गव ॥३०॥३१॥

हनूमन्तं महात्मानं परिवार्योपतस्थिरे ।

परिवार्य च ते सर्वे परां प्रीतिमुपागताः ॥३२॥

महारामा हनुमानजी को चारों ओर से घेर कर खड़े हो गये । हनुमानजी को घेर कर वे सब बहुत प्रसन्न हुए ॥३२॥

प्रहृष्टवदनाः सर्वे तमरोगमुपागतम् ।

उपायनानि चादाय मूलानि च फलानि च ॥३३॥

हनुमानजी को कृशलपूर्वक अग्या हुआ देख, वे सब के सब बहुत प्रसन्न हुए और फूलों की भेंटें ला कर, ॥३३॥

प्रत्यर्चयन्हरिश्रेष्ठं हरयो मादतात्मजम् ।

हनुमांस्तु गुरुन्बृद्धाञ्जाम्बवत्प्रमुखांस्तदा ॥३४॥

कपिश्रेष्ठ पवननन्दन हनुमानजी का पूजन करने लगे । तब हनुमानजी ने पूज्य और बृद्ध जाम्बवान प्रमुख वानरों और मातृश्रो को ॥३४॥

कुमारमङ्गलं चैव सौख्यवन्त महाकपिः ।

स तान्यां पूजितः पूज्यः कपिभिश्च प्रसादितः ॥३५॥

तथा युवराज अङ्गद को प्रणाम किया । उन दोनों ने हनुमानजी की प्रशंसा की तथा अग्य वानरों ने भी उनको प्रसन्न किया ॥३५॥

दृष्ट्वा सीतेति विक्रान्तः संक्षेपेण न्यवेदयत् ।

निपसाद च हस्तेन गृहीत्वा वालिनः सुतम् ॥३६॥

तदनन्तर हनुमानजी ने उन सब से सीताजी के देखने का वृत्तान्त संक्षेप से कहा । तदनन्तर हनुमानजी वालिपुत्र अङ्गद का हाथ पकड़ ॥३६॥

रमणीये वनोद्देशे महेन्द्रस्य गिरेस्तदा ।

हनुमानप्रवीत्पृष्टस्तदा तान्वानरपर्यभान् ॥३७॥

महेन्द्राचल की रमणीक वनभूमि में जा बैठे और जब वानरों ने उनसे पूछा तब वे उन वानरश्रेष्ठों से कहने लगे ॥३७॥

अशोकवनिकासंस्थ्या दृष्ट्वा सा जनकात्मजा ।

रक्ष्यमाणा सुघोराभी राक्षसीभिरनिन्दिता ॥३८॥

मैंने अशोकवाटिका में बैठी हुई सुन्दरी सीता को देखा । उसकी रक्षवाली करने को बड़ी भयंकर शबलमूर्ख की राक्षसियों नियुक्त थीं ॥३८॥

एकवेणीधरा १दोना रामदर्शनलालसा ।

उपवासपरिश्रान्ता जटिला मलिना कृशा ॥३६॥

वे एक वेणी धारण किए हुए हैं । बड़ी दु खी हैं और श्रीरामचन्द्रजी के दर्शन के लिए उत्कण्ठित हैं । उपवास करते-करते वे थक गई हैं और उनका शरीर बिल्कुल दुबला हो गया है । वे मैली कुचैली बनी रहती हैं । उनके केशों को सटें बन गई हैं ॥३६॥

ततो दृष्टेति वचनं महार्थममृतोपमम् ।

निशम्य मारुतेः सर्वे मुदिता वानराभवन् ॥४०॥

“मैंने सीता को देखा”—इस अमृत के तुल्य और महार्थयुक्त अर्थात् कार्यसाधक वचन हनुमानजी के मुख से निकलते ही समस्त वानरमण्डली आनन्दित हो गई ॥४०॥

क्ष्वेलन्त्यन्ये २ नदन्त्यन्ये गर्जन्त्यन्ये महाबलाः ।

चक्रुः किलिकिलामन्ये प्रतिगर्जन्ति चापरे ॥४१॥

उनमें से कोई वानर सिहनाद करने लगे, कोई बलवान वानर गर्जने लगे, कोई किलकिलाने लगे और दूसरे को गर्जते देखकर स्वयं गर्जने लगे ॥४१॥

केचिदुच्छ्रितलाङ्गूलाः प्रहृष्टाः कपिकुञ्जराः ।

अञ्चितायतदीर्घाणि लाङ्गूलानि प्रविच्यधुः ॥४२॥

कोई-कोई कपिकुञ्जर पूँछों को सडो कर प्रसन्नता प्रकट करने लगे । कोई-कोई अपनी लम्बी पूँछों को बार-बार फटकारने लगे ॥४२॥

अपरे च हनूमन्तं श्रीमन्तं वानरोत्तमम् ।

आप्लुत्य गिरिशृङ्गेभ्यः संस्पृशन्ति स्म हर्षिताः ॥४३॥

हाथी के समान डीलडोल के भव्य वानर, हर्षित हो और पर्वतशिखर से कूद-कूद कर हनुमानजी को छूने लगे ॥४३॥

१ पाठान्तरे—“वाला” । २ क्ष्वेलन्ति—सिहनाद कुर्वन्ति । (गो०)

उक्तवाक्यं हनूमन्तमङ्गदस्तमथाब्रवीत् ।

सर्वेषां हरिवीराणां मध्ये ष्वाचमनुत्तमाम् ॥४४॥

हनुमानजी के बोल चुकने पर, अङ्गद ने कहा । अर्थात् सब वीर वानरो के बीच बैठे हुए अङ्गद ने हनुमानजी से ये उत्तम वचन कहे ॥४४॥

सत्त्वे वीर्ये न ते कश्चित्समो वानर विद्यते ।

यदवप्लुत्य विस्तीर्णं सागरं पुनरागतः ॥४५॥

हे हनुमान् ! बल और पराक्रम में तुम्हारे समान और कोई अन्य वानर नहीं है, तुम इतने चौड़े समुद्र को लांघ गए फिर लांघ कर लौट भी आए ॥४५॥

अहो स्वामिनि ते भक्तिरहो वीर्यमहो धृतिः ।

दिष्ट्या दृष्ट्वा त्वया देवी रामपत्नी यशस्विनी ॥४६॥

वाह ! तुम्हारी स्वामि सम्बन्धिनी भक्ति का क्या कहना है । वाह ! तुम्हारा बल और वाह तुम्हारा धैर्य । भाग्य ही से तुम यशस्विनी श्रीराम-पत्नी सीता को देख आये हो ॥४६॥

दिष्ट्या त्यक्ष्यति काकुत्स्थः शोकं सीतावियोगजम् ।

ततोऽङ्गदं हनूमन्तं जाम्बवन्तं च वानराः ॥४७॥

यह बड़े सीभाग्य की बात है कि सीता के वियोग से उत्पन्न श्रीराम-चन्द्रजी का शोक अब दूर हो जायगा । तदनन्तर वानर, अङ्गद, हनुमान, और जाम्बवान को ॥४७॥

परिवार्यं प्रमुदिता भेजिरे विपुलाः शिलाः ।

श्रोतुकामाः समुद्रस्य लङ्घनं वानरोत्तमाः ॥४८॥

दर्शनं चापि लंकायाः सीताया रावणस्य च ।

तस्युः प्राञ्जलयः सर्वे हनुमद्वदनोन्मुखाः ॥४९॥ ।

चारों ओर छ घेर ओर हयं में नर, उनके बँटने के लिए बजा-बजी
 शिलाएँ उठा साएँ । वे सब वानर हनुमानवा क मुख छ उनक समुद्र नर्मिने
 का तथा सका, सीडा और रावण के दखने का वृत्तान्त सुनना चाहत य ।
 भव वे सब हापवाडे हनुमानवा क प्रार मुख कर बँड पर ॥४८॥४९॥

तस्यौ तत्राङ्गद श्रीमान्वातरैर्वह्निभिर्वनः ।

उपात्स्यमानो विबुधैर्दिवि देवपतिर्यथा ॥५०॥

सुरान इन्द्र विद्य प्रकार दखनाओं क बीच बँडत है, बँड ही याना
 मङ्गदवी बहुत छ वानरों क बीच बँड हुए य ॥५०॥

हनुमता कीर्तिमता यशस्विना

तयाङ्गदेनाङ्गदबद्धबाहुना

मृदा तदाध्यासित्तनुनतं महन्

महीपराय ज्वलितं श्रियाज्जवत् ॥५१॥

इति हनुमन्वाग सर्ग ॥

कीर्तिशाली हनुमानवा और मशह्या मङ्गदवी, जिनका वनों मुबार
 बाबूबदों स सु-निद्र थी, हय में भरे बँड हुए थे, उनक वहाँ बँटने से उन
 बहुत ठेके पथर का शिखर, अत्यन्त शान्तमान जान पड रहा था ॥५१॥

सुन्दरकाण्ड का सप्तवनवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

अष्टपञ्चागः सर्गः

ततस्तस्य गिरेः शृङ्गे महेशस्य महाबलाः ।

हनुमप्रमुखा प्रीति हरयो जग्नुरत्तनान् ॥१॥

उस समय हनुमान कादि महाबल वानरएग, मङ्गदबद्ध पर्वत क
 शिखर पर बँडे हुए अत्यन्त हर्षित हो रहे य ॥१॥

त तत प्रीतिसहृष्टः प्रीतिमन् महाकपिन् ।

जाम्बवान्कामिवृत्तान्तमप्यदितिलान्जन् ॥२॥

तब हनुमानजी को प्रसन्न देख, जाम्बवान ने पवननन्दन हनुमानजी से उनकी यात्रा का वृत्तान्त पूछा ॥२॥

कथं दृष्ट्वा त्वया देवी कथं या तत्र वर्तते ।

तस्यां वा स कथंवृत्तः क्रूरकर्मा दशाननः ॥३॥

उन्होंने पूछा कि, हे हनुमान ! यह तो बतलाओ कि, तुमने सीताजी को कौसे देखा और वे वहाँ किस तरह रहती हैं, क्रूरकर्मा रावण उनके साथ कैसा बर्ताव करता है ॥३॥

तत्त्वतः सर्वमेतन्नः प्रब्रूहि त्वं महाकपे ।

श्रुतार्थाश्चिन्तयिष्यामो भूयः कार्यविनिश्चयम् ॥४॥

हे हनुमान् ! तुम यह समस्त वृत्तान्त भली भाँति यथावत् कहो जिससे उसे सुनने के बाद, हम आगे का कर्तव्य निश्चय कर सकें ॥४॥

यश्चार्थस्तत्र वक्तव्यो गतरस्माभिरात्मवान् ।

रक्षितव्यं^१ च यत्तत्र तद्ब्रुवान्ब्रुवाकरोतु नः ॥५॥

श्रीरामचन्द्रजी के पास चलने पर जो बात उनसे ही कहने की हो उसे छोड़ आप और सब हमसे कहें ॥५॥

स नियुक्तस्ततस्तेन सम्प्रहृष्टतनूरुहः ।

प्रणम्य शिरसा देव्यै सीतायै प्रत्यभाषत ॥६॥

जाम्बवानजी के ऐसे वचन सुन, हनुमानजी के रोंगटे खड़े हो गए । वे सीता देवी को सीस नवा प्रणाम कर, कहने लगे ॥६॥

प्रत्यक्षमेव भवतां महेन्द्राग्रात्खमाप्लुतः ।

उद्धर्देक्षिणं पारं काङ्क्षमाणः समाहितः ॥७॥

यह तो आप लोगों के सामने ही की बात है कि, मैं इस महेन्द्राचल के शिखर से, समुद्र के दक्षिण तट पर जाने की इच्छा से, बड़ी सावधानी से उठा था ॥७॥

१ रक्षितव्य—गोप्तव्य । (गो०)

गच्छतश्च हि मे घोरं विघ्नरूपमिवाभवत् ।
काञ्चनं शिखरं दिव्यं पश्यामि सुमनोहरम् ॥५॥

जाते जाते रास्ते में एक बड़ा विघ्न उपस्थित हुआ । मुझे एक अत्यन्त सुन्दर और काञ्चनमय शिखरयुक्त एक पर्वत देख पड़ा ॥५॥

स्थितं पन्थानमावृत्य मेने विघ्नं च तं नगम् ।
उपसंगम्य तं दिव्यं काञ्चनं नगसत्तमम् ॥६॥

उस पहाड़ को रास्ता रोक कर खड़े देख, मैंने उसे विघ्न रूप समझा । फिर उस सुवर्णमय पर्वतश्रेष्ठ के समीप जा ॥६॥

कृता मे मनसा बुद्धिर्भेत्तव्योऽयं मयेति च ।
प्रहतं च मया तस्य लाङ्गूलेन महागिरेः ॥१०॥
शिखरं सूर्यसङ्काशं व्यशीर्यत सहस्रधा ।
व्यवसायं च तं बुद्ध्वा सहोवाच महागिरिः ॥११॥
पुत्रेति मधुरां वार्णां मनः प्रह्लादयन्निव ।
पितृष्यं चापि मां विद्धि सखायं मातरिश्वनः ॥१२॥

मैंने अपने मन में विचारा कि, मैं उस पर्वत को तोड़ डालूँ और मैंने ऐसा ही किया । मैंने अपनी पूंछ उस पर ऐसे जोर से भारी कि, उसका सूर्य के समान प्रकाशमान शिखर, हजार टुकड़े होकर गिर पड़ा । अपने शिखर के टुकड़े-टुकड़े हुए देख, वह महागिरि मधुरवाणी से मुझको प्रसन्न करता हुआ बोला—हे पुत्र ! मैं तुम्हारा चाचा हूँ, क्योंकि तुम्हारे पिता पवनदेव मेरे मित्र हैं ॥१०॥११॥१२॥

मैनाक इति विख्यातं निवसन्तं महोदधौ ।
पक्षवन्तः पुरा पुत्र बभूवुः पर्वतोत्तमाः ॥१३॥

मैं मैनाक पर्वत के नाम से प्रसिद्ध हूँ और इस महासागर के भीतर रहता हूँ । हे पुत्र ! पूर्वकाल में पर्वतों के पक्षी हुआ करते थे ॥१३॥

छन्दतः पृथिवीं चेरुर्बाधिमानः समन्ततः ।

श्रुत्वा नगानां चरितं महेन्द्रः पाकशासनः ॥१४॥

वे इच्छानुसार समस्त पृथिवी पर धूम-फिर कर प्रजापति को कष्ट दिया करते थे । जब यह बात इन्द्र को मालूम पड़ी ॥१४॥

चिच्छेद भगवान्पक्षान्वज्ज्रेणैषां सहस्रशः । .

अहं तु मोक्षितस्तस्मात्तव पित्रा महात्मना ॥१५॥

तब उन्होंने वज्र से हजारों पर्वतों के पक्ष काट डाले, किन्तु इस विपत्ति से तुम्हारे महात्मा पिता पवनदेव ने मुझे बचा लिया ॥१५॥

मारुतेन तदा वत्स प्रक्षिप्तोऽस्मि महार्णवे ।

रामस्य च मया साह्ये वर्तितव्यमरिन्दम ॥१६॥

हे वत्स ! उस समय पवनदेव ने मुझे इस महासागर में डकेल दिया । हे अरिन्दम ! सो मैं श्रीरामचन्द्रजी का साहाय्य करने को तैयार हूँ ॥१६॥

रामो धर्मभृतां श्रेष्ठो महेन्द्रसमविक्रमः ।

एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्य मैनाकस्य महात्मनः ॥१७॥

क्योंकि श्रीरामचन्द्रजी धर्मात्मापति मैं श्रेष्ठ हैं और इन्द्र के समान पराक्रमी हूँ । उस महात्मा मैनाक के ये वचन सुन ॥१७॥

कार्यमावेद्य तु गिरेरुद्यतं च मनो मम ।

तेन चाहमनुज्ञातो मैनाकेन महात्मना ॥१८॥

मैंने अपने मन का अभिप्राय उसको बतलाया । तब महात्मा मैनाक ने मुझे जाने की अनुमति दी ॥१८॥

स चाप्यन्तर्हितः शैलो मानुषेण वपुष्मता ।

शरीरेण महाशैलः शैलेन च महोदधौ ॥१९॥

श्रीरामचन्द्रजी पर्वत जिस मनुष्य शरीर को धारण कर मुझसे बातचीत कर रहा था, उसे उसने छिपा लिया और वह विशाल पर्वत समुद्र के जल के भीतर डूब गया ॥१९॥

उत्तमं जवमास्थाय शेषं पन्थानमास्थितः ।

ततोऽहं सुचिरं कालं वेगेनाभ्यगमं पथि ॥२०॥

तब मैं बड़ी तेजी से शेष मार्ग पूरा करने के लिए आगे बढ़ा और बहुत देर तक उसी चाल से रास्ता तै करता रहा ॥२०॥

ततः पश्याम्यहं देवीं सुरसां नागमातरम् ।

समुद्रमध्ये सा देवी वचनं मामभाषत ॥२१॥

तदनन्तर मैंने नागमाता सुरसा को देखा । समुद्र में खड़ी हुई सुरसा, मुझसे वे वचन बोली ॥२१॥

मम भक्षः प्रदिष्टस्त्वममरैर्हरिसत्तम ।

अतस्त्वां भक्षयिष्यामि विहितस्त्वं ! हि मे सुरैः ॥२२॥

हे कपिश्रेष्ठ ! तुम तो मेरे भक्ष्य बन कर यहाँ आ गए हो । तुम्हारा पता मुझे देवताओं ने दिया है । अत मैं तुझको खा जाऊँगी ॥२२॥

एवमुक्तः सुरसया प्राञ्जलिः प्रणतः स्थितः ।

विवर्णवदनो भूत्वा वाक्यं चेदमुदीरयन् ॥२३॥

सुरसा के ऐसे वचन सुन, मैं अत्यन्त विनीत हो और हाथ जोड़ कर तथा मुझे फीका कर, उनके सामने खड़ा हो गया और उससे बोला ॥२३॥

रामो दाशरथिः श्रीमान्प्रविष्टो दण्डकावनम् ।

लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा सीतया च परन्तपः ॥२४॥

किं महाराज दशरथ के पुत्र परन्तप धीरामचन्द्रजी, लक्ष्मण और सीता को साथ ले, दण्डक वन में आए थे ॥२४॥

तस्य सीता हृता भार्या रावणेन दुरात्मना ।

तस्याः सकाशं दूतोऽहं गमिष्ये रामशासनात् ॥२५॥

उनकी भार्या सीता को दुष्ट रावण हर ले गया है । सो मैं धीरामचन्द्रजी की आज्ञा से सीता के पास उनका दूत बन कर जाऊँगा ॥२५॥

१ पाठान्तरे—“चिरस्य मे ।”

कर्तुमर्हसि रामस्य साहाय्यं विषये सति ।

अथवा मैथिलीं दृष्ट्वा रामं चाक्लिष्टकारिणम् ॥२६॥

तू भी तो उन्हीं के राज्य में रहती है, मतः तू भी इसमें कुछ सहायता दे ।
अथवा सीता को देख और उनका हाल जब अक्लिष्टकर्मा श्रीरामचन्द्रजी को
सुना भाऊं ॥२६॥

आगमिष्यामि ते वक्त्रं सत्यं प्रतिश्रुणोमि ते ।

एवमुक्ता मया सा तु सुरसा कामरूपिणी ॥२७॥

अब्रवीद्भातिवर्तत कश्चिदेव वरो मम ।

एवमुक्तः सुरसया दशयोजनमायतः ॥२८॥

तब मैं तेरे मुख में चला आऊँगा (अर्थात् तू मुझको खा डालना) मैं
तुझसे यह सत्य-सत्य प्रतिज्ञा करके कहना हूँ । जब मैंने इस प्रकार उससे कहा
तब वह कामरूपिणी सुरसा कहने लगी, मुझे रत्नघन कर कोई नहीं निकल
सकता । क्योंकि, मुझे ऐसा ही धर मिला हुआ है । उसके यह कहने पर मैं दस
योजन का हो गया ॥२७॥२८॥

ततोऽर्धगुणविस्तारो बभूवाहं क्षणेन तु ।

मत्प्रमाणाधिकं चैव व्यादितं तु मुखं तथा ॥२९॥

फिर क्षण भर ही मैं मैं पन्द्रह योजन का हो गया । परन्तु सुरसा ने मेरे
शरीर की लंबाई से अपना मुख और भी अधिक फैलाया ॥२९॥

तद्दृष्ट्वा व्यादितं चास्यं ह्रस्वं ह्यकरवं वपुः ।

तस्मिन्मुहूर्ते च पुनर्बभूवाङ्गुष्ठमात्रकः ॥३०॥

तब मैंने उसको बड़ा भारी मुख खोले हुए देख, अपना शरीर बहुत छोटा
कर लिया । यहां तक कि, उस समय मैंने अपना शरीर अँगूठे के बराबर कर
लिया ॥३०॥

अभिपत्याशु तद्वक्त्रं निर्गतोऽहं ततः क्षणात् ।

अब्रवीत्सुरसा देवी स्वेन रूपेण मां पुनः ॥३१॥

और उसके मख में प्रवेश कर मैं उसी क्षण बाहर निकल आया । तब सुरसा ने अपना पूर्ववत् रूप धारण कर मुझसे कहा ॥३१॥

अर्थसिद्धयै हरिश्रेष्ठ गच्छ सौम्य यथासुखम् ।

समानय च वैदेहीं राघवेण महात्मना ॥३२॥

हे सौम्य ! तुम सुखपूर्वक जाओ और अपना काम पूरा करो तथा महात्मा श्रीरामचन्द्रजी से सीताजी को मिलाओ ॥३२॥

सुखी भव महाबाहो प्रीताऽस्मि तव वानर ।

ततोऽहं साधु साध्वीति सर्वभूतैः प्रशंसितः ॥३३॥

हे महाबाहो ! तुम सुखी हो । मैं तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हूँ । उस समय सब प्राणियों ने बाह ! बाह ! कह कर मेरी प्रशंसा की ॥३३॥

ततोऽन्तरिक्षं विपुलं प्लुतोऽहं गरुडो यथा ।

छाया मे निगृहीता च न च पश्यामि किञ्चन ॥३४॥

तदनन्तर मैं गरुडजी की तरह बड़ी तेजी से रास्ता तँ करने लगा । इसी बीच मैं मेरी छाया को किसी ने पकड़ लिया, किन्तु जब मुझे छाया पकड़ने वाला कोई न देख पडा ॥३४॥

सोऽहं विगतवेगस्तु विशो दश विलोकयन् ।

न किञ्चित्तत्र पश्यामि येन मेऽपहृता गतिः ॥३५॥

तब गति रुक जाने से मैं चारों ओर देखने लगा । किन्तु मेरी चाल को रोकने वाला मुझे कोई न देख पडा ॥३५॥

ततो मे बुद्धिरुत्पन्ना किं नाम गमने मम ।

ईदृशो विघ्न उत्पन्नो रूपं यत्र न दृश्यते ॥३६॥

तब मैं यह सोचने लगा कि, जिसने मेरे गमन में इस प्रकार का विघ्न डाला है और जिसका रूप भी नहीं दिखलाई देता, उसका क्या नाम है या वह कौन है ॥३६॥

अधोभागेन मे दृष्टिः शोचता पातिता मया ।

ततोऽद्राक्षमहं भीर्मा राक्षसीं सलिलेशयाम् ॥३७॥

यह मैं सोच ही रहा था कि इतने में मेरी दृष्टि नीचे की ओर गई और मैंने देखा कि, एक भयकर राक्षसी समुद्र के जल में लेटी है ॥३७॥

प्रहस्य च महानादमुक्तोऽहं भीमया तया ।

अवस्थितमसंभ्रान्तमिदं वाक्यमशोभनम् ॥३८॥

उस भयकर राक्षसी ने अट्टहास कर तथा गरज कर और निर्भीक हो यह अनुचित वचन मुझसे कहा ॥३८॥

वद्वासि गन्ता महाकाय क्षुधिताया ममेप्सितः ।

भक्षः प्रीणय मे देह चिरमाहारवर्जितम् ॥३९॥

हे महाकाय ! तुम मेरे ईप्सित भक्ष्य हो कर घब कहीं जा सकते हो । मैं बहुत दिनों से भूखी हूँ, सा तुम मेरा भक्ष्य बन कर मेरे शरीर को तृप्त अर्थात् पुष्ट करा ॥३९॥

बाढमित्येव तां वाणीं प्रत्यगृह्णामहं ततः ।

आस्यप्रमाणादधिकं तस्याः कायमपूरयम् ॥४०॥

तब मैंने "बहुत अच्छा" कह कर उसकी बात मान ली और उसके मुख की लबाई-चौड़ाई से कहीं अधिक मैंने अपना शरीर लबा-चौड़ा कर लिया; जिससे मेरा शरीर उनके मुख ही में न घुसे ॥४०॥

तस्याश्चास्यं महद्भीमं वर्धते मम भक्षणे ।

न च मां 'सा तु बुबुधे मम या निकृतं कृतम् ॥४१॥

उसने अपना भयकर मुख मुझे खा जाने के लिए बढ़ाया किन्तु न तो वह मेरे सामर्थ्य को जान पाई और न मेरी चतुराई ही को ॥४१॥

ततोऽहं विपुलं रूपं संक्षिप्य निमिषान्तरात् ।

तस्या हृदयमादाय प्रपतामि नभःस्थलम् ॥४२॥

१ पाठान्तरे—“साधु ।”

मैंने पलक मारते अपने विशाल शरीर को छोटा बना लिया और झपट कर उसका कलेजा निकाल मैं पुन आकाश में चला आया ॥४२॥

सा विसृष्टभुजा भीमा पपात लवणाम्भसि ।

मया पर्वतसङ्काशा निकृत्तहृदया सती ॥४३॥

वह पर्वतान्कार दुष्टा राक्षसी हृदय के फट जाने से दोनो हाथ फैला खारी समुद्र में डूब गई ॥४३॥

शृणोमि खगतानां च सिद्धानां चारणैः सह ।

राक्षसी सिंहिका भीमा क्षिप्रं हनुमता हता ॥४४॥

तब मैंने आकाशचारी सिद्धों और चारणो को यह कहते सुना कि, हनुमानजी ने भयकर सिंहिका राक्षसी को बात की बात में मार डाला ॥४४॥

तां हत्वा पुनरेवाहं कृत्यमात्ययिकं स्मरन् ।

शत्वा चाहं महाध्वानं पश्यामि नगमण्डितम् ॥४५॥

दक्षिणं तीरमुदधेर्लङ्का यत्र च सा पुरी ।

अस्तं दिनकरे याते रक्षसां निलयं पुरम् ॥४६॥

उसको मार मुझे विलंब हो जाने का स्मरण ही घाया । तब बहुत दूर चलने के बाद मुझे पर्वतयुक्त समुद्र का वह दक्षिणतट जिस पर वह लकापुरी बसी हुई थी, देख पडा । जब सूर्य छिप गए तब मैं राक्षसो के रहने की पुरी लका में ॥४५॥४६॥

प्रविष्टोऽहमविज्ञातो रक्षोभिर्भोमविक्रमैः ।

तत्र प्रविशतश्चापि कल्पान्तघनसन्निभा ॥४७॥

उन भयकर पराक्रमी राक्षसो को बिना जनाए, घुसा । किन्तु उस पुरी में घुसने के समय प्रलयकालीन मेघ जैसा ॥४७॥

अट्टहासं विमुञ्चन्ती नारी काऽप्युत्थिता पुरः ।

जिघासन्तीं ततस्ता तु ज्वलदग्निशिरोरुहाम् ॥४८॥

शरीर वाली कोई एक स्त्री अट्टहास करती हुई मेरे सामने आ खड़ी हुई । वह मुझे मार डालना चाहती थी । उसके सिर के केश प्रज्वलित अग्नि की तरह चमकना रहे थे ॥४८॥

सव्यमुष्टिप्रहारेण पराजित्य सुभैरवाम् ।

प्रदोषकाले प्रविशन् भीतयाऽहं तयोदितः ॥ ४९॥

उस महाभयकर राक्षसी को काम हाथ के धूँसे से परास्त कर, मैं सन्ध्या समय पुरी में आगे बढ़ा । उस समय उसने भयभीत हो मुझसे कहा ॥४९॥

अहं लंकापुरी वीर निर्जिता विक्रमेण ते ।

यस्मात्तस्माद्विजेतासि सर्वरक्षांस्यशेषतः ॥५०॥

हे वीर ! मैं इस लंकापुरी की अधिष्ठात्री देवी हूँ । तुमने अपने पराक्रम से मुझे जो हराया है, सो मानो तुमने समस्त राक्षसों को जीत लिया । अर्थात् तुम अब समस्त लंकापुरीवासी राक्षसों को जीत लोगे ॥५०॥

तत्राहं सर्वरात्रं तु विचिन्वञ्जनकात्मजाम् ।

रावणान्तःपुरगतो न चापश्यं सुमध्यमाम् ॥५१॥

मैं वहाँ जानकीजी की खोज में सारी रात घूमता-फिरता ही रहा । मैं रावण के रनबास में भी गया, किन्तु वहाँ भी उस सुन्दरी सीता को न पाया ॥५१॥

ततः सीतामपश्यंस्तु रावणस्य निवेशने ।

शोकसागरमासाद्य न पारमुपलक्षये ॥५२॥

तब तो रावण के अन्त पुर में सीताजी को न पाकर मैं शोकसागर में ऐसा डूबा कि, मुझे उसका आर पार न देख पड़ा ॥५२॥

शोचता च मया दृष्टं प्राकारेण समावृतम् ।

काञ्चनेन विकृष्टेन गृहोपवनमुत्तमम् ॥५३॥

शोचते-शोचते मुझे सोने के परकोटे से घिरा एक सुन्दर गृहाद्यान देख पड़ा ॥५३॥

तं प्राकारमवप्लुत्य पश्यामि बहुपादपम् ।

अशोकवनिकामध्ये शिशुपापादपो महान् ॥५४॥

उस परकोटे को नाघने पर [मुझे बहुत से वृक्ष देख पड़े । उस अशोक-
उपवन में एक बड़ा शोशम का वृक्ष था ॥५४॥

तमारुह्य च पश्यामि काञ्चनं कदलीवनम् ।

अदूरे शिशुपावृक्षात्पश्यामि वरवणिनीम् ॥५५॥

उस पर चढ़ कर मैंने उसके निकट ही काञ्चनवर्ण कदली वन तथा
सुन्दरी सीता को देखा ॥५५॥

श्यामां कमलपत्राक्षीमुपवासकृशाननाम् ।

तदेकवासःसंवीतां रजोध्वस्तशिरोरुहाम् ॥५६॥

उपवास करते-करते कमलदल जैसे नेत्रो वाली उस श्यामा सीता का मुख
उतर गया है । वह केवल एक वस्त्र पहिने हुए है और उसके सिर के बालों में
घूल मरी हुई है ॥५६॥

शोकसन्तापदीनाङ्गीं सीता भर्तृहिते स्थिताम् ।

राक्षसीभिर्विरूपाभिः क्रूराभिरभिसंवृताम् ॥५७॥

वह शोकसन्ताप से दीन, पति की हितकामना में तत्पर है । बड़ी-बड़ी
विकृत रूपवाची और क्रूर स्वभाव की राक्षसियाँ उसे बँसे ही घेरे रहती
हैं ॥५७॥

मांसशोणितभक्षाभिव्याघ्रीभिर्हरिणीमिव ।

सा मया राक्षसीमध्ये तर्ज्यमाना मुहुर्मुहुः ॥५८॥

जैसे मांस खाने वाली और रक्त पीने वाली बाघिनें हिरणी को घेर लेती
हैं । राक्षसियों के बीच बँठी हुई और बार बार उनके द्वारा डाँटी-डपटी हुई
सीता को मैंने देखा ॥५८॥

एकवेणीधरा दीना भर्तृचिन्तापरायणा ।

भूमिशय्या विवर्णाङ्गी पद्मिनीव हिमागमे ॥५९॥

शीतकाल में जिस प्रकार कमलिनी का रूप-रङ्ग फीका पड़ जाता है, वैसे ही जानकीजी का शरीर श्रीरामचन्द्रजी की चिन्ता में फीका पड़ गया है। वह एक बेणी धारण किए हुए है। अत्यन्त दीनभावयुक्त है और जमीन में सोया करती है ॥५६॥

रावणाद्विनिवृत्तार्था मर्तव्यकृतनिश्चया ।

कथंचिन्मृगशावाक्षी तूर्णमासादिता मया ॥६०॥

वह रावण से किसी प्रकार का भी सम्बन्ध न रखती हुई, प्राण दे देने का निश्चय किए हुए है। ऐसी मृगनयनी सीता को मने किसी तरह शीघ्र पाया ॥६०॥

तां दृष्ट्वा तादृशीं नारीं रामपत्नीं यशस्विनीम् ।

तत्रैव शिशुपावृक्षे पश्यन्नहमवस्थितः ॥६१॥

उन श्रीरामचन्द्रजी की यशस्विनी सीताजी की ऐसी दशा देखता हुआ मैं उसी शीतल के पेड़ पर बैठा हुआ था ॥६१॥

ततो हलहलाशब्दं काञ्चीनूपुरमिश्रितम् ।

शृणोम्यधिकगम्भीरं रावणस्य निवेशने ॥६२॥

कि, इतने में पायजेव और विद्धुभो की झकार से मिश्रित गम्भीर शब्द रावण के आवास-स्थान के निकट मुझे सुनाई पड़ा ॥६२॥

ततोऽहं परमोद्विग्नः स्वरूपं प्रतिसंहरन् ।

अहं तु शिशुपावृक्षे पक्षीव गहने स्थितः ॥६३॥

तब तो मैं घबड़ाया और अपना शरीर छोटा कर पक्षी की तरह सघन पत्तों में छिप कर बैठ गया ॥६३॥

ततो रावणदाराश्च रावणश्च महाबलः ।

तं देशं समनुप्राप्ता यत्र सीताऽभवत्स्थिता ॥६४॥

इतने में महाबली रावण और रावण कीस्त्रियां वहाँ आ पहुँचीं जहाँ सीता जी बैठी हुई थी ॥६४॥

तद्दृष्ट्वाज्य वरारोहा सीता रक्षोमहाबलम् ।

सङ्क्रुच्योरु स्तनी पीनौ बाहुन्यां परिरन्य च ॥६५॥

उस महाबली राक्षस रावण को देख सीता जी ने अपने दोनों गोंड समेट लिए और दोनों बड़े-बड़े स्तना को बाँहों से ढक लिया ॥६५॥

वित्रस्तां परमोद्विग्नां वीक्षमाणां ततस्ततः ।

त्राणं किञ्चिदपश्यन्ती वेपमानां तपस्विनीम् ॥६६॥

अप्यन्त डर के मारे उसका मन बहुत उद्विग्न हो गया और वह इसर उधर ठाकने लगी, किन्तु जब उसे अपनी रक्षा के लिए कुछ भी सहारा न देख पडा तब वह दुःखिदारी डर के मारे काँपने लगी ॥६६॥

तानुवाच दशप्रिवः सीतां परमदुःखिताम् ।

अथाक्शिराः प्रपतितो बहु मन्यस्व मामिति ॥६७॥

उस अप्यन्त दुःखिदारी सीताजी से दशानन ने कहा—मैं चिर झुका कर तुझे प्रणाम करता हूँ, तू मुझे भली माँठि मान ॥६७॥

यदि चेत्त्वं तु दर्पान्मां नाभिनन्दसि गर्विते ।

द्वौ मासावन्तरं सीते पात्यामि रुधिरं तव ॥६८॥

हे गर्विली ! यदि तू अभिमानवश मेरा अभिनन्दन न करेगी; तो दो महीने बाद मैं तेरा लोह पीऊँगा ॥६८॥

एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्य रावणस्य दुरात्मनः ।

उवाच परमक्रुद्धा सीता वचनमुत्तमम् ॥६९॥

दुरात्मा रावण के ये वचन सुन, सीता ने अप्यन्त क्रुपित हो, उस वचन के लिए उत्तम ये वचन कहे ॥६९॥

राक्षसाधम रामस्य भार्याममिततेजसः ।

इक्ष्वाकुकुलनायस्य स्नुषां दशरथस्य च ॥७०॥

हे राक्षसाधन ! अग्नि तेरास्वी श्रीरामचन्द्रजी की पत्नी और इक्ष्वाकु कुलनाथ महाराज दशरथ की बहू से ॥७०॥

अवाच्यं वदतो जिह्वा कथं न पतिता तव ।

किञ्चिद्वीर्यं तवानार्य यो मां भर्तुरसन्निधौ ॥७१॥

तू ऐसे दुबंजन कहता है, सो तेरी जिह्वा क्यों गिर नहीं पड़ती, भरे बर्बर ! क्या यही तेरा बल पराक्रम है कि तू मुझे मेरे पति के पास से ॥७१॥

अपहृत्यागतः पाप तेनादृष्टो महात्मना ।

न त्वं रामस्य सदृशो दास्येऽप्यस्य न युज्यसे ॥७२॥

उनकी अनुपस्थिति में हर लाया । भरे पापी! तू श्रीराम की बराबरी तो कर ही क्या सकता है, तू उनका टहनुभा बनने योग्य भी तो नहीं है ॥७२॥

१अजेयः सत्यवाञ्छूरो रणश्लाघी च राघवः ।

जानक्या परुषं वाक्यमेवमुक्तो दशाननः ॥७३॥

क्योंकि, श्रीरामचन्द्रजी अजेय, सत्यवादी, दूर और रणविद्या में बड़े कुशल हैं । सीताजी के ऐसे कठोर वचन सुन कर, दशानन रावण ॥७३॥

जज्वाल सहसा कोपाच्चितास्थ इव पावकः ।

विवृत्य नयने क्रूरे मुष्टिमुद्यम्य दक्षिणम् ॥७४॥

क्रोध के मारे जल उठा, जैसे चिता की भाग घबक उठती है । वह झल्ले तरेर और दाहिना धूँसा तान ॥७४॥

मैथिलीं हन्तुमारब्धः स्त्रीभिर्हाहाकृतं तदा ।

स्त्रीणां मध्यात्समुत्पत्य तस्य भार्या दुरात्मनः ॥७५॥

जब सीता को मारने के लिए तैयार हुआ, तब उसके साथ जो स्त्रियाँ थी, वे हैं कह कर चिल्ला उठीं । उस समय जन्ही स्त्रियो में उस दुरात्मा की पत्नी ने ॥७५॥

वरा मन्द्रोदरो नाम तथा स प्रतिषेधितः ।

उवतश्च मधुरां वाणीं तथा स मदनार्दिता ॥७६॥

जिसका नाम मन्दीदरी था और जो बड़ी सुन्दरी थी, उसे मना किया और मीठे वचन कह-कह कर, उस कामातुर को समझाया ॥७६॥

[नोट—अशोकवन में मन्दीदरी का नाम नहीं धान्य मालिनी का नाम प्राया है । देखो सर्ग २२ श्लो० ३६]

सीतया तव किं कार्यं महेन्द्रसमविक्रम ।

देवगन्धर्वकन्याभिर्यक्षकन्याभिरेव च ॥७७॥

वह कहने लगी—हे इन्द्र के समान पराक्रमी ! सीता से तुम्हें क्या करना है तुम्हारे यहाँ तो देवकन्याएँ और गन्धर्वकन्याएँ मौजूद हैं ॥७७॥

सार्धं प्रभो रमस्वेह सीतया किं करिष्यसि ।

ततस्ताभिः समेताभिर्नारीभिः स महाबलः ॥७८॥

सो हे स्वामी ! तुम मेरे साथ और इनके साथ विहार करो, सीता को लेकर क्या करोगे ? तदनन्तर वे सब स्त्रियाँ मिल कर महाबली रावण को ॥७८॥

प्रसाद्य सहसा नीतो भवनं स्वं निशाचरः ।

याते तस्मिन्दशग्रीवे राक्षस्यो विकृताननाः ॥७९॥

इस प्रकार प्रसन्न कर, सहसा उसको घर ले गई । जब दशानन रावण वहाँ से चला गया, तब बिकट रूप वाली राक्षसियाँ ॥७९॥

सीतां निर्भत्संयामासुर्वाक्यैः क्रूरैः सुदारुणैः ।

तूणवद्भाषितं तासां गणयामास जानकी ॥८०॥

बड़े कठोर और क्रूर वचन कहकर, सीताजी को डराने धमकाने लगी । किन्तु जानकीजी ने उनके धमकाने की तिनके के बराबर भी परवाह न की ॥८०॥

तर्जितं च तदा तासां सीतां प्राप्य निरर्थकम् ।

वृथागर्जितनिश्चेष्टा राक्षस्यः पिशिताशनाः ॥८१॥

अतः उनका सीताजी को डराना-धमकाना सब व्यर्थ हुआ । मास खाने वाली राक्षसियों का डराना-धमकाना तथा अन्य सब प्रयत्न (लोभ आदि दिखाना) विफल गए ॥८१॥

रावणाय शशंसुस्ताः 'सीताव्यवसितं महत् ।
 ततस्ताः सहिताः सर्वा विहताशा निरुद्यमाः ॥८२॥
 परिक्षिप्य समन्तात्तां निद्रावशमुपागताः ।
 तासु चैव प्रसुप्तासु सीता भर्तृहिते रता ॥८३॥

तब रावण के निकट जा उन्होंने कहा कि, सीता को मरना कबूल है, किन्तु आपका कहना कबूल नहीं। तदनन्तर वे सब की सब हतोत्साह और हतोद्योग हो एव बहुत थक कर सीताजी के चारों ओर पड़ कर सो गईं। जब वे सो गयीं, तब श्रीरामचन्द्रजी के हित में रत सीताजी ॥८२॥८३॥

विलप्य करुणं दीना प्रशुक्षोव सुदुःखिता ।
 तासां मध्यात्समुत्थाय त्रिजटा धाक्यमब्रवीत् ॥८४॥

दीनतापूर्वक अत्यन्त दुःखी हो और करुणापूर्ण विलाप कर, अत्यन्त चिन्तित हुईं। एक राक्षसी जिसका नाम त्रिजटा था, उठ बैठी और बोली ॥८४॥

आत्मानं खादत क्षिप्रं न सीता विनशिष्यति ।

जनकस्यात्मजा साध्वी स्नुषा दशरथस्य च ॥८५॥

तुम सब अपने आपको भले ही खा डालो; किन्तु सती सीताजी को, जो राजा जनक की बेटी और महाराज दशरथ की पुत्रवधू है, न खा सकोगी ॥८५॥

स्वप्नो ह्यद्य मया दृष्टो दारुणो रोमहर्षणः ।

रक्षसां च विनाशाय भर्तुरस्मा जयाय च ॥८६॥

क्योंकि आज मैंने एक बड़ा भयकर स्वप्न देखा है। उसके देखने से मेरे रोगटें सड़े हो गए। उस स्वप्न का फल यह है कि, राक्षसों का नाश और इसके (सीता के) पति की जीत ॥८६॥

१ सीताव्यवसितं महत्—मर्त्यव्यनतुत्त्वमङ्गीकर्तव्य इत्येतद्रूप । (रा०)

अलमस्मात्परित्रातुं राघवाद्राक्षसीगणम् ।

अभियाचाम वैदेहीमेतद्धि मम रोचते ॥८७॥

सो मुझे तो अब यह अच्छा जान पड़ता है कि श्रीरामचन्द्रजी के हाथ से बचने के लिए हम सीता से प्रार्थना करें। अब उसे डरामो-धमकामो मत ॥८७॥

यस्या ह्येवंविधः स्वप्नो दुःखितायाः प्रदृश्यते ।

सा दुःखैर्विविधैर्मुक्ता सुखमाप्नोत्यनुत्तमम् ॥८८॥

क्योंकि, इस प्रकार का स्वप्न जिस दुखियारी स्त्री के विषय में देख पड़ता है, वह विविध प्रकार के दुःखों से छूट कर, उत्तम सुख पाती है ॥८८॥

प्रणिपातप्रसन्ना हि मैथिली जनकात्मजा ।

सतः सा ह्यीमती बाला भर्तुर्विजयहर्षिता ॥८९॥

हम लोगो के साष्टाङ्ग प्रणाम से सीताजी निश्चय ही हम पर प्रसन्न हो जायगी। यह सुन वह लजीली बाला सीता अपने पति के विजय की बात सुन हर्षित हुई ॥८९॥

अबोचद्यदि तत्तथ्यं भवेयं शरणं हि वः ।

तां चाहं तादृशीं दृष्ट्वा सीताया दारुणां दशाम् ॥९०॥

मैं बोलो कि, यदि त्रिजटा का कहना सत्य निकला तो मैं तुम्हारी रक्षा करूँगी। हनुमानजी कहने लगे हे वानरो! सीताजी की ऐसी दारुण दशा देख ॥९०॥

चिन्तयामास विश्रान्तो न च मे निर्वृतं मनः ।

संभाषणार्थं च मया जानक्याश्चिन्तितो विधिः ॥९१॥

कुछ देर तक मैं सोचता रहा किन्तु मेरे मन का दुःख किसी प्रकार दूर न हुआ। मैं सोच रहा था कि सीताजी से किस प्रकार वार्तालाप करूँ ॥९१॥

इक्ष्वाकूणां हि वंशस्तु ततो मम पुरस्कृतः ।

श्रुत्वा तु गदितां वाचं राजर्षिगणपूजिताम् ॥६२॥

अन में मैंने इक्ष्वाकुवंशियों की प्रशंसा की । उक्त राजर्षियों की विरुदावली का सुन, ॥६२॥

प्रत्यभायत मां देवी वाष्पंः पिहितलोचना ।

कस्त्वं केन कथं चेह प्राप्तो वानरपुङ्गव ॥६३॥

श्रीश्री में श्रीमू भर सीता देवी ने मुझसे कहा—हे वानरश्रेष्ठ ! तुम कौन हो ? किसके भेजे आए हो और कैसे यहाँ आए हो ॥६३॥

का च रामेण ते प्रीतिस्तन्मे शंसितुमर्हसि ।

तस्यास्तद्वचनं श्रुत्वा ह्यहमप्यब्रुवं वचः ॥६४॥

श्रीरामचन्द्रजी से तुम्हारी कौसी प्रीति है ? तो तब मुझसे कहो । सीताजी के ये वचन सुन मैंने भी कहा ॥६४॥

देवि रामस्य भर्तुस्ते सहायो । भीमविक्रमः ।

सुग्रीवो नाम विक्रान्तो वानरेन्द्रो महाबलः ॥६५॥

देवि ! तुम्हारे भर्ता श्रीरामचन्द्रजी के सहायक, महाबली, भीम, पराक्रमी सुग्रीव नामक वानरों के राजा है ॥६५॥

तस्य मां विद्धि भृत्यं त्वं हनुमन्तमिहागतम् ।

भर्त्राहं प्रेषितस्तुभ्यं रामेणाक्लिष्टकर्मणा ॥६६॥

तुम मुझे उसी का सेवक समझो । मेरा नाम हनुमान है और मैं तुम्हारे प्रति अक्लिष्टकर्मा श्रीरामचन्द्रजी का भेजा हुआ तुम्हारे पास यहाँ आया हूँ ॥६६॥

इदं च पुरुषव्याघ्रः श्रीमान्दाशरथिः स्वयम् ।

अद्भुतगुणमभिज्ञानमदात्तुभ्यं यशस्विनि ॥६७॥

हे यशस्विनी ! पुरुषसिंह श्रीमान् दशरथनन्दन ने स्वयं तुमको यह अपनी श्रेष्ठ विद्वान्ता के लिए भेजा है ॥६७॥

तदिच्छामि त्वयाऽऽप्तं देवि किं करवाण्यहम् ।

रामलक्ष्मणयोः पार्श्वं नयामि त्वां किमुत्तरम् ॥६८॥

तो हे देवि ! अब मुझे माता दो कि मैं क्या करूँ ? क्या मैं तुमको श्रीरामचन्द्रजी और लक्ष्मण के पास ले चलूँ ? तो तुम मेरी इन बातों का क्या उत्तर देनी हो ? ॥६८॥

एतच्छ्रुत्वा विदित्वा च सीता जनकनन्दिनी ।

आह रावणमुत्साद्य राघवो मां नयत्विति ॥६९॥

यह सुन कर और सब हात जान कर, जनकनन्दिनी सीताजी कहने लगी श्रीरामचन्द्रजी रावण को मार मुझे यहाँ से ले जायें ॥६९॥

प्रणम्य शिरसा देवीमहमार्यामनिन्दिताम् ।

राघवस्य ममोह्लादमभिज्ञानमयाचिषम् ॥१००॥

हनुमानजी बोले—हे वानरो ! तब मैंने अनिन्दिता सती सीताजी को सिर झुका कर प्रणाम किया और श्रीरामचन्द्रजी को ध्यानन्दित करने वाली कोई चिन्हानी मांगी ॥१०१॥

अथ मामवतीक्ष्णीता गृह्यतामयमुत्तमः ।

मणिर्येन महाबाहू रामस्त्वां बहु मन्यते ॥१०१॥

तब सीताजी ने मुझसे कहा—तुम इस उत्तम चूडामणि को तो इससे महाबाहू श्रीरामचन्द्रजी तुमको बहुत मानेंगे ॥१०१॥

इत्युक्त्वा तु वरारोहा मणिप्रवरमद्भुतम् ।

प्रायच्छत्परमोद्विग्ना वाचा तां सन्दिदेश ह ॥१०२॥

यह कह कर सुन्दरी सीताजी ने वह अद्भुत उत्तम मणि मुझे दो और अत्यन्त उद्विग्न हो मुझसे श्रीरामचन्द्रजी के लिए यह संदेश कहा ॥१०२॥

ततस्तस्यं प्रणम्याहं राजपुत्र्यं समाहितः ।

प्रदक्षिणं परिक्राममिहान्युद्गतमानसः ॥१०३॥

तब मैं सावधानतापूर्वक राजपुत्री सीताजी को प्रणाम किया और उनकी परिक्रमा कर यहाँ आने को मैं तयार हुआ ॥१०३॥

उक्तोऽहं पुनरेवेद निश्चित्य मनसा तथा ।

हनुमन्मम वृत्तान्तं वक्तुमर्हसि राघवे ॥१०४॥

जब सीताजी ने अपने मन में कोई बात स्पष्ट कर पुन मुझसे कहा—
हे हनुमान् ! तुम मेरा हाल श्रीरामचन्द्रजी से कहना ॥१०४॥

यथा श्रुत्वैव न चिरात्तावुभौ रामलक्ष्मणौ ।

सुग्रीवसहितौ वीरावुपेयाता तथा कुरु ॥१०५॥

और ऐसा करना जिससे वे दोनों वीर राजकुमार श्रीरामचन्द्रजी और लक्ष्मण अपने साथ सुग्रीव को ले शीघ्र ही यहाँ आ पहुँच ॥१०५॥

यद्यन्यथा भवेदेतद्द्वौ मासौ जीवितं मम ।

न मा द्रक्ष्यति काकुत्स्थो म्रिये साऽहमनाथवत् ॥१०६॥

यदि वे शीघ्र न आए तो जान लो मेरे जीवन की अवधि केवल दो मास की है । दो मास बाद मैं मनासिनी की तरह मर जाऊँगी और फिर श्रीरामचन्द्रजी मुझ देख न पावेंगे ॥१०६॥

तच्छ्रुत्वा करुण वाक्यं क्रोधो मामभ्यवर्तत ।

उत्तरं च मया दृष्टं कार्यशेषमनन्तरम् ॥१०७॥

सीता के ऐसे करुणवचन सुन मुझको बड़ा क्रोध उपजा और इस काम के आग का अपना कर्तव्य मन सोचा ॥१०७॥

ततोऽवर्धत मे कायस्तदा पर्वतसन्निभ ।

युद्धाकाङ्क्षी वनं तच्च विनाशयितुमारभे ॥१०८॥

मेरा शरीर पर्वताकार हो गया । युद्ध की अभिलाषा से मैंने रावण के उस वन को नष्ट करना आरम्भ किया ॥१०८॥

तद्भ्रूग्नं वनपण्डुं तु भ्रान्तत्रस्तमृगद्विजम् ।

प्रतिबुद्धा निरीक्षन्ते राक्षस्यो विकृतानना ॥१०९॥

उस वनप्रदेश को नष्ट करने से वहाँ जो मृग और पक्षी थे वे डर के मारे व्याकुल हो गए और जरमुँहो राक्षसियाँ जाग गईं तथा वे उस भग्न वन की दुर्दशा निहारने लगी ॥१०६॥

मां च दृष्ट्वा वने तस्मिन्समागम्य ततस्ततः ।

ताः समभ्यागताः क्षिप्रं रावणायाचक्षिरे ॥११०॥

मुझ वहाँ देख, वे सब इधर-उधर मिल कर भाग गईं और रावण के पास गईं और उससे तुरन्त सारा हाल कहा ॥११०॥

राजन्वनमिदं दुर्गं तव भग्नं दुरात्मना ।

वानरेण ह्यविज्ञाय तव वीर्यं महाबलः ॥१११॥

रावण से उन्होंने कहा—“हे रावण ! तुम्हारे बलवीर्य को न जानकर, एक दुरात्मा वानर ने तुम्हारा दुर्गम वन नष्ट कर डाला है ॥१११॥

दुर्वृद्धेस्तस्य राजेन्द्र तव विप्रियकारिणः ।

वधमाज्ञापय क्षिप्रं यथाऽसौ विलयं व्रजेत् ॥११२॥

हे राजेन्द्र ! तुम्हारा अप्रिय कार्य करने वाले वानर की यह बड़ी दुर्वृद्धि है । तुम उसके वध की शीघ्र आज्ञा दो, जिससे वह यहाँ से भाग न जाय ॥११२॥

तच्छ्रुत्वा राक्षसेन्द्रेण विसृष्टा भृशदुर्जयाः ।

राक्षसाः किङ्करा नाम रावणस्य मनोनुगाः ॥११३॥

यह सुन राक्षसराज रावण ने अत्यन्त दुर्जेय और उसकी इच्छानुसार कार्य करने वाले किङ्कर नाम घरी राक्षसों को आज्ञा दी ॥११३॥

तेषामशीतिसाहस्रं शूलमुद्गरपाणिनाम् ।

मया तस्मिन्वनोद्देशे परिधेण निपूदितम् ॥११४॥

उनको सस्या अस्सी हजार थी उनके हाथों में त्रिशूल तथा मुद्गर थे । मैंने उस अशोक वन ही में एक परिध (बँडे) से उनको मार डाला ॥११४॥

तेषां तु हतशेषा ये ते गत्वा लघुविक्रमाः ।

निहतं च महत्सैन्यं रावणायाचक्षिरे ॥११५॥

उनमें से जो मारे जाने से बच गए थे, उन्होंने भाग कर रावण को उस महती सेना के नष्ट किए जाने का समाद सुनाया ॥११५॥

ततो मे बुद्धिदत्पत्ना चैत्यप्राप्तादमाक्रमम् ।

तत्रस्थान् राक्षसान् हत्वा शतं स्तम्भेन च पुनः ॥११६॥

इतने में मुझे मण्डपाकार भवन को नष्ट करने की सूझ पड़ी। सो मैंने उसे उखाड़ कर उसी के खम्भे से उस भवन के सौ राक्षस रक्षकों को मार डाला ॥११६॥

ललामभूतो लङ्कायाः स च विध्वंसितो मया ।

ततः प्रहस्तस्य सुतं जम्बुमालिनमादिशत् ॥११७॥

वह मण्डपाकार भवन लका का एक भूषण था, उसे मैंने उखाड़ दिया। तब रावण ने प्रहस्तपुत्र जम्बुमाली को भेजा ॥११७॥

राक्षसैर्बहुभिः सार्धं घोररूपैर्भयानकैः ।

तमहं बलसंपन्नं राक्षसं रणकोविदम् ॥११८॥

वह बड़े बड़े भयकर रूपधारी बहुत से राक्षसों को साथ ले गया। मैंने बड़ी सेना लेकर घाए हुए रणक्षुर राक्षस को ॥११८॥

परिघेणातिघोरेण सूदयामि सहानुगम् ।

तच्छ्रुत्वा राक्षसेन्द्रस्तु मन्त्रिपुत्रान्महाबलान् ॥११९॥

पदातिबलसंपन्नान्प्रेषयामास रावणः ।

परिघेणैव तान्सर्वान्प्रियामि यमसादनम् ॥१२०॥

उसको सेनासहित प्रति घोर परिघ (बैठे) से मार गिराया। जम्बुमाली के मारे जाने का समाद सुन, राक्षसराज रावण ने महाबली (सात) मन्त्रिपुत्रों को पैदल राक्षसों की सेना के साथ भेजा। मैंने उन्हीं बैठे से उन सब को भी यमालय भेज दिया ॥११९॥१२०॥

मन्त्रिपुत्रान्हताञ्श्रुत्वा समरे लघुविक्रमान् ।

पञ्च सेनाप्रगाञ्शूरान्प्रेषयामास रावणः ॥१२१॥

मन्त्रिपुत्रों के मारे जाने का वृत्तान्त सुन रावण ने पाँच सूतवीर सेनापतियों को, जो रणविद्या में बड़े चतुर और कुर्बानि थे भेजा ॥१२१॥

तानहं सहसैन्यान्वै सर्वानैवान्धसूदयम् ।

ततः पुनर्दशग्रीवः पुत्रमक्षं महाबलम् ॥१२२॥

बहुभिः राक्षसैः सार्धं प्रेषयामास रावणः ।

तं तु मन्दोदरीपुत्रं कुमारं रणपण्डितम् ॥१२३॥

सहसा खं समुत्क्रान्तं पादयोश्च गृहीतवान् ।

चर्मसिनं शतगुणं भ्रामयित्वा व्यपेययम् ॥१२४॥

मैंने उन पाँचों को उनकी समस्त सेना सहित मार डाला । तब दशानन रावण ने अपने महाबली पुत्र मन्त्रयकुमार को बहुत से राक्षसों के साथ भेजा । मैंने सहस्रा आकाश में जा, ढाल तलवार लिए हुए मन्दोदरी के रणपण्डित कुमार को, परं पकड़ कर सैकड़ों बार घुमाया और जमीन पर दे मारा ॥१२२॥१२३॥१२४॥

तमक्षमागतं भग्नं निशम्य स दशाननः ।

तत इन्द्रजितं नाम द्वितीयं रावणः सुतम् ॥१२५॥

मन्त्रयकुमार के मारे जाने का वृत्तान्त सुन, रावण ने भग्न हुए पुत्र इन्द्रजीत को ॥१२५॥

व्यादिदेश सुसंक्रुद्धो चलितं युद्धदुर्मदम् ।

तच्चाप्यहं बलं सर्वं तं च राक्षसपुङ्गवम् ॥१२६॥

नष्टौजसं रणे कृत्वा परं हर्षमुपागमम् ।

महता हि महाबाहुः प्रत्ययेन महाबलः ॥१२७॥

प्रेपितो रावणेनैव सह वीरैर्मदोत्कटैः ।

सोऽविपह्यं हि मां ब्रुध्वा स्वसैन्यं चावमदितम् ॥१२८॥

जा बडा बलवान और रणदुर्मंद था अत्यन्त क्रुद्ध हो, आज्ञा दी । सेना सहित उस राक्षसघेष्ठ का भी पराक्रम नष्ट कर, मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई । महाबाहु महाबली मेघनाद पर पूर्ण विश्वास कर रावण ने, उसे लहने के लिए भजा था और उसके साथ बड़े-बड़े वीर कर दिए थे । किन्तु इन्द्रवीर ने अपनी सना की मदित देख और मुझे अपने मान का न जान ॥१२६॥१२७॥ ॥१२८॥

द्राहोणास्त्रेण स तु मां प्रावध्नाच्चातिवेगितः ।

रज्जुभिरचाभिवध्नन्ति ततो मां तत्र राक्षसाः ॥१२९॥

बडा धीम्रता से ब्रह्मास्त्र से मुझे बाँध लिया । तदनन्तर राक्षस लोगों ने मुझे रस्सों में जकड़ कर बाँधा ॥१२९॥

रावणस्य समीपं च गृहीत्वा मामुपानयन् ।

दृष्ट्वा सम्भाषितश्चाहं रावणेन दुरात्मना ॥१३०॥

और मुझे पकड़ कर रावण के पास ले गए । वहाँ मैंने दुरात्मा रावण को देखा और उससे बातचीत भी की ॥१३०॥

पृष्टश्च लङ्कागमनं राक्षसानां च तं वधम् ।

तत्सर्वं च मया तत्र सीतार्यमिति जल्पितम् ॥१३१॥

रावण ने मुझसे लका में जाने का तथा राक्षसों के मारने का कारण पूँछा । तब मैंने यही कहा कि ये सब मैंने सीता के लिए ही किया है ॥१३१॥

अस्याहं दर्शनाकाङ्क्षी प्राप्तस्त्वद्भुवनं विभो ।

मारुतस्योरसः पुत्रो वानरो हनुमानहम् ॥१३२॥

हे महाराज ! मैं उसी को देखने तुम्हारे भवन में आया हूँ । मैं पवनदेव का घोरस पुत्र हूँ और हनुमान मेरा नाम है ॥१३२॥

रामदूतं च मां विद्धि सुग्रीवसचिर्वं कपिम् ।

सोऽहं दूत्येन रामस्य त्वत्सकाशमिहागतः ॥१३३॥

मुझको तुम श्रीरामचन्द्रजी का दूत और सुग्रीव का मनी जानो । मैं श्रीरामचन्द्रजी का दूत बने कर तुम्हारे पास आया हूँ ॥१३३॥

सुग्रीवश्च महातेजाः स त्वां कुशलमब्रवीत् ।

धर्मार्थकामसहितं हितं पथ्यमुवाच च ॥१३४॥

महातेजस्वी सुग्रीव ने तुमसे कुशल कहा है और धर्म, अर्थ और काम से युक्त तथा हितकर और उचित यह सदेश भी तुम्हारे लिए भेजा है ॥१३४॥

वसतो ऋष्यमूके मे पर्वते विपुलद्रुमे ।

राघवो रणविक्रान्तो मित्रत्वं समुपागतः ॥१३५॥

विपुल वृक्षों से युक्त ऋष्यमूक पर्वत पर रहते समय, मेरी मित्रता, रण-पराक्रमी श्रीरामचन्द्रजी से हो गई है ॥१३५॥

तेन मे कथितं राज्ञा भार्या मे रक्षसा हृता ।

तत्र साहाय्यमस्माकं कार्यं सर्वात्मना त्वया ॥१३६॥

उन्होंने मुझसे कहा कि मेरी स्त्री को राजस हर ले गया है सो तुमको इस काम में सब प्रकार से हमारी सहायता करनी चाहिए ॥१३६॥

मया च कथितं तस्मै बालिनश्च बधं प्रति ।

तत्र साहाय्यहेतोर्मे समयं कर्तुमर्हसि ॥१३७॥

तब मैंने बालि के बध के लिए उनसे कहा और कहा कि इस कार्य में मेरी सहायता करने का समय नियत कर दो ॥१३७॥

बलिना हृतराज्येन सुग्रीवेण सह प्रभुः ।

चक्रेऽग्निसाक्षिकं सख्यं राघवः सहलक्ष्मणः ॥१३८॥

बालि द्वारा हरे हुए राज्य वाले सुग्रीव के साथ, अग्नि के सामने श्रीरामचन्द्रजी और लक्ष्मण के साथ मेरी मैत्री हो गई ॥१३८॥

तेन बालिनमुत्पाद्य शरणैकेन संयुगे ।

वानराणां महाराजः कृतः स प्लवतां प्रभुः ॥१३६॥

तदनन्तर युद्ध में एक ही बाण चला कर श्रीरामचन्द्रजी ने बालि को मार डाला और सुग्रीव को वानरों का राजा बनाया ॥१३६॥

तस्य साहाय्यमस्माभिः कार्यं सर्वात्मना त्विह ।

तेन प्रस्थापितस्तुन्यं समीपमिह धर्मतः ॥१४०॥

अब उनकी सब प्रकार से सहायता करता हूँ, जो उचित है। अतः इन्होंने निमन्त्रण को निवाहते हुए, धर्मपूर्वक मुझे दूत बनाकर, तुम्हारे पास भेजा है ॥१४०॥

क्षिप्रमानीयतां सीतां दीयतां राघवाय च ।

यावन्न हरयो वीरा विधमन्ति बलं तव ॥१४१॥

वीर वानरा द्वारा अपनी सेना का नाश होने के पूर्व ही तुम सीता को लाकर तुरन्त श्रीरामचन्द्रजी को दे दो ॥१४१॥

वानराणां प्रभावो हि न केन विदितः पुरा ।

देवतानां लकाशं च ये गच्छन्ति निमन्त्रिताः ॥१४२॥

अब तक वानरों का प्रभाव किसी से छिपा नहीं है। वे देवताओं से निमन्त्रण पा कर उनके पास (उनकी सहायता के लिए) जाते हैं ॥१४२॥

इति वानरराजस्तथामाहेत्यभिहितो मया ।

मानैक्षत ततः क्रुद्धश्चक्षुषा प्रदहन्निव ॥१४३॥

हे रावण ! इस प्रकार वानरराज ने तुमसे सदेश कहलाना है, जो मैंने तुमसे कह दिया। हनुमानजी ने वानरा से कहा कि यह सुन रावण ने क्रोध में भर मेरी ओर ऐसे घूर कर देखा मानो मुझे वह भस्म कर डालेगा ॥१४३॥

तेन बध्योऽहमाज्ञप्तो रक्षसा रौद्रकर्मणा ।

मत्प्रभावमविज्ञाय , रावणेन दुरात्मना ॥१४४॥

भयङ्कर कर्म करने वाले उस राक्षस ने मेरे वध की आज्ञा दी । क्योंकि, यह दुरात्मा रावण मेरा प्रभाव तो जानता ही न था ॥१४४॥

ततो विभीषणो नाम तस्य भ्राता महामतिः ।

तेन राक्षसराजोऽसौ याचितो मम कारणात् ॥१४५॥

तदनन्तर उसके एक बड़े समझदार भाई ने, जिसका नाम विभीषण है, मुझे बचाने के लिए रावण से प्रार्थना की ॥१४५॥

नैवं राक्षसशार्दूल त्यज्यतामेप निश्चयः ।

राजशास्त्रव्यपेतो हि मार्गः संसेव्यते त्वया ॥१४६॥

घोर कहा कि, हे राक्षसशार्दूल ! आप इस निश्चय का त्याग दीजिए क्योंकि, यह तुम्हारा निश्चय राजनीति शास्त्र के विरुद्ध है अथवा तुम राजनीति के विरुद्ध मार्ग पर चलते हो ॥१४६॥

दूतवध्या न दृष्ट्वा हि राजशास्त्रेषु राक्षस ।

दूतेन वेदितव्यंच यथार्थं हितवादिना ॥१४७॥

हे राक्षस ! राजनीति के किसी भी शास्त्र में दूत का वध नहीं देख पड़ता । हितवादी दूत को अपने स्वामी का ज्यो का त्यो सदेश कहना ही पड़ता है ॥१४७॥

सुमहत्यपराधेऽपि दूतस्यातुलविक्रम ।

विरूपकरणं दृष्टं न वधोऽस्तीह शास्त्रतः ॥१४८॥

हे अतुल पराक्रमी ! भले ही दूत बड़े से बड़ा अपराध ही क्यों न कर डाले, तो भी शास्त्रानुसार उसका वध उचित नहीं । हाँ, उसकी नाक या कान काट कर उसको विरूप करने की व्यवस्था तो शास्त्र में है ॥१४८॥

विभीषणेनैवमुक्तो रावणः सन्दिदेश तान् ।

राक्षसानेतदेवास्य लाङ्गूलं दह्यतामिति ॥१४९॥

जब विभीषण ने इस प्रकार समझाया, तब रावण ने राक्षसों को आज्ञा दी कि उसकी पूँछ जला दो ॥१४९॥

ततस्तस्य वचः श्रुत्वा मन पुच्छं तनन्ततः ।

वेष्टितं शनवलकैश्च जीर्णैः कार्पातिकैः पटैः ॥१५०॥

उसके को आज्ञा सुन उल्लङ्घों ने नेपे पूँछ में उन के कपडे तथा पुजने की वस्त्र (गूदड़) नयेट दिए ॥१५०॥

राक्षसाः सिद्धसन्नाहास्ततस्ते चण्डविक्रमाः ।

तदावहन्त मे पुच्छं निघ्नन्तः काण्ठनुष्टिभिः ॥१५१॥

कवच उत्सर्गदि धारण किए हुए प्रबन्ध विक्रमी उल्लङ्घों ने मुझे सक्की केँडों और नुकीं के भाग और नेपे पूँछ में धार लगा दी ॥१५१॥

बद्धस्य बहुभिः पार्श्वेन्वितस्य च राक्षसैः ।

ततस्ते राक्षसाः शूरा बद्धं मामग्निसंबृतम् ॥१५२॥

उल्लङ्घों ने मुझे खूब बद्ध कर बहुत सी राक्षसों से बाँधा और उन्होंने मुझे पीछे भी बहुत दों तथा मुझे बंधे हुए को पूँछ में धार लगा दी ॥१५२॥

[नोट—प्राकृतिक उर्कवादी कोर्-कोर् सेहक हनुमानकी के पूँछ का होना नहीं बरखात्रे, किन्तु इस उत्साहीन इतिहास में हनुमानकी अपनी पूँछ का उत्सेह स्वरुं करते हैं । ठीक ही है जिनकी स्वरुं पूँछ नहीं वे पीछे की पूँछ क्यों नानने लगे ।]

अधोपयन्राजमार्गं नगरद्वारमागताः ।

ततोऽहं सुनहृद्दृष्यं संक्षिप्य पुनरात्मनः ॥१५३॥

ऊनल्ल नगरी के राजमार्गों में मुझे घुना कर मेरे धरुधर को घोसना की । जब मैं नगरी के द्वार पर पहुँचा, तब मैंने अपने उस बड़े विशाल दरवार को छोड़ कर सिना ॥१५३॥

दिनोचयित्वा तं बन्धं प्रकृतित्यः स्थितः पुनः ।

आयत्तं परिधे गृह्य तानि रक्षांत्यनूदयन् ॥१५४॥

इससे मेरे बन्धन अपने आप ढीले पड़ कर गिर पड़े। तब मैंने अपने को ज्यो का ल्यो बना लिया और लोहे का एक बंडा उठा, उन राक्षसों को (जिन्होंने मुझे बाँध कर पुरी में घुमाया था) मार डाला ॥१५४॥

ततस्तन्नगरद्वारं वेगेन प्लुतवानहम् ।

पुच्छेन च प्रदीप्तेन तां पुरीं साट्टगोपुराम् ॥१५५॥

नगरद्वार को वेग से लाँघ कर मैंने अपनी पूँछ की आग से, भवनो और छाटकों सहित उस पुरी को ॥१५५॥

दहाम्यहमसम्भ्रान्तो युगान्ताग्निरिव प्रजाः ।

ततो मे ह्यभवत्त्रासो लङ्कां दग्ध्वा समीक्ष्य तु ॥१५६॥

उसी तरह जला दिया, जिस तरह प्रलयकालीन अग्नि प्रजाओं को जलाता है। लङ्का को जली हुई देख मेरे मन में बड़ा भय उत्पन्न हुआ ॥१५६॥

विनष्टा जानकी व्यक्तं न ह्यदग्धः प्रदृश्यते ।

लङ्कायां कश्चिदुद्देशः सर्वा भस्मीकृता पुरी ॥१५७॥

मने विचारा कि, लङ्का में ऐसा कोई स्थान नहीं जो भस्म न हुआ हो, सो स्पष्ट है कि, इसके साथ सीता भी भस्म हो गयी ॥१५७॥

दहता च मया लङ्कां दग्धा सीता न संशयः ।

रामस्य हि महत्कार्यं मयेदं वितथीकृतम् ॥१५८॥

लङ्का को भस्म कर मैंने सीता को भी जला डाला इसमें सन्देह नहीं। ऐसा कर के मैंने श्रीरामचन्द्रजी का काम बिगाड़ डाला ॥१५८॥

इति शोकसमाविष्टश्चिन्तामहमुपागतः ।

अथाहं वाचमश्रुयं चारणानां शुभाक्षराम् ॥१५९॥

इस प्रकार मैं चिन्तित हो रहा था कि इतने में मैंने चारणों के शुभ वचन सुने ॥१५९॥

जानकी न च दग्धेति विस्मयोदन्तभाषिणाम् ।

ततो मे बुद्धिरुत्पन्ना श्रुत्वा तामद्भुतां गिरम् ॥१६०॥

अदग्धा जानकीत्येव निमित्तैश्चोपलक्षिता ।

दीप्यमाने तु लाङ्गूले न मां दहति पावकः ॥१६१॥

वे कह रहे थे कि, देखो, इस वानर ने कैसा अद्भुत कार्य किया कि, इस भाग से जानकीजी नहीं जली । उस समय ऐसी अद्भुत बात सुन तथा अन्य शुभ शकुनो को देख, मैंने धाना कि, जानकी जी दग्ध नहीं हुई । पहिले भी एक अद्भुत बात हुई थी कि मेरी पूँछ जलाई गई तब मैं नहीं जला ॥१६०॥१६१॥

हृदयं च प्रहृष्टं मे वाताः सुरभिगन्धिनः ।

तैर्निमित्तैश्च दृष्टार्थैः कारणैश्च महागुणैः ॥१६२॥

मेरा मन प्रसन्न था, पवन भी सुगन्धयुक्त चल रहा था । इन शुभ-शकुनो और महाफलप्रद कारणो से ॥१६२॥

ऋषिवाक्यैश्च सिद्धार्थैरभवं हृष्टमानसः ।

पुनर्दृष्ट्वा च वैदेहीं विसृष्टश्च तथा पुनः ॥१६३॥

और सफल ऋषिवाक्यो से मेरा मन प्रसन्न हो गया । मैंने पुनः जा कर जानकीजी को अपनी आँखो से देखा और उनसे विदा हुआ ॥१६३॥

ततः पर्वतमासाद्य तत्रारिष्टमहं पुनः ।

प्रतिप्लवनमारेभे युष्मद्दर्शनकाङ्क्षया ॥१६४॥

तदनन्तर म पुन उसी अरिष्ट नामक पर्वत पर पहुँचा और तुम सब लोगो को देखने की आकाशा से मैंने वहाँ से उडान भरना आरम्भ किया ॥१६४॥

ततः पवनचन्द्रार्कसिद्धगन्धर्वसेवितम् ।

पन्थानमहमाक्रम्य भवतो दृष्टवानिह ॥१६५॥

तदुपरान्त में पवन, सूर्य, मिद्ध और गन्धर्वों से सेवित आकाशमार्ग से चना और यहाँ आकर आप लोगों के दर्शन किए ॥१६५॥

[नोट—जो लेखक हनुमानजी का लड्डा को समुद्र तैर कर और रास्ते के टापुओं पर दम लेने हुए जाना लिखते हैं वे क्या इस इलाक के अर्थ पर विचार करेंगे । पवन, चन्द्र सूर्य और गन्धर्वों से सेवित मार्ग से (अर्थात् आकाश से) हनुमानजी का लड्डा से लौटना दम इलाक में मिद्ध है । यदि हनुमानजी समुद्र को तैर कर लका में पहुँचे थे, तो उन्हें तैर कर ही लौट कर आना भी था । किन्तु इस बात का स्पष्टीकरण स्वयं हनुमानजी की उक्ति में ही जाता है ।]

राघवस्य प्रभावेण भवतां चैव तेजसा ।

सुग्रीवस्य च कार्यार्थं मया सर्वमनुष्ठितम् ॥१६६॥

श्रीरामचन्द्रजी की कृपा और आप लोगों के प्रभाव से, सुग्रीव के काम को पूरा करने के लिए मैंने यह सब किया ॥१६६॥

एतत्सर्वं मया तत्र यथावदुपपादितम् ।

अत्र यत्र कृतं शेषं तत्सर्वं क्रियतामिति ॥१६७॥

इति षष्ठपञ्चाश सर्ग ॥

लका में जो कुछ मैंने किया था वह सब ज्यों का त्यों मैंने आप लोगों के सामने वर्णन किया, अब जो और कोई काम यहाँ रह गई हो, उसे आप लोग पूरा कर लें ॥१६७॥

सुन्दरकाण्ड का अष्टावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

एकोनपष्टितमः सर्गः

एतदाख्याय तत्सर्वं हनुमान्मारुतात्मजः ।

भूयः सनुपचक्राम वचनं वक्तुमुत्तरम् ॥१॥

इस प्रकार समस्त वृत्तान्त कह, पवनतन्दन हनुमानजी फिर और आगे कहने लगे ॥१॥

सफलो राघवोद्योगः सुग्रीवस्य च सम्भ्रमः^१ ।

शौलमासाद्य सौताया मम च प्रीणितं मनः ॥२॥

श्रीरामचन्द्रजी का उद्योग और सुग्रीव का उत्साह सफल हुआ । श्रीराम-चन्द्रजी में सीता को निष्ठा देख, मेरा मन प्रसन्न हो गया ॥२॥

तपसा धारयेल्लोकान्शुद्धो वा निर्दहेदपि ।

सर्वयातिप्रवृद्धीज्ज्ञौ रावणो राक्षसाधिपः ॥३॥

सीता अपने तपोबल से समस्त लोकों को धारण कर सकती हैं और यदि वे शुद्ध हो जायें, तो वे समस्त लोकों को जला कर भस्म भी कर सकती हैं । राक्षसराज रावण भी तपोबल से सब प्रकार चढ़ा बढ़ा है ॥३॥

तस्य तां स्पृशतो गात्रं तपसा न विनाशितम् ।

न तदग्निशिखा कुर्यात्संस्पृष्टा पाणिना सती ॥४॥

जनकस्यात्मजा कुर्यादित्क्रोधकलुषीकृता ।

जाम्बवत्प्रमुखांसर्वाननुज्ञाप्य महाहरोन् ॥५॥

इसी से तो सीता का शरीर स्पर्श करते समय अपने तपोबल से वह नाश को प्राप्त नहीं हुआ । पतिव्रता जानका क्रोध में भर जो कुछ कर सकती हैं वह हाथ से छूने पर भी अग्नि की ज्वाला नहीं कर सकती । जाम्बवान इत्यादि मुख्य-मुख्य कपियों की आज्ञा से ॥५॥५॥

अस्मिन्नेवंगते कार्ये भवतां च निर्देदिते ।

न्याप्यं स्म सह वैदेह्या द्रष्टुं तो पार्यिवात्मजौ ॥६॥

इस प्रकार के कार्य में, जो मैं अपनी प्राय लोगों के सामने निवेदन कर चुका हूँ, उचित ही यही जान पड़ता है कि, हम लोग सीता को लेकर उन दोनों राजकुमारों में मिलें ॥६॥

अहमेकोऽपि पर्याप्तः सराक्षसगणां पुरीम् ।

तां लङ्कां तरसा हन्तुं रावणं च महाबलम् ॥७॥

१ सम्भ्रमः—उत्साह इत्यर्थः । (रा०)

मैं भकेता ही राक्षसों सहित सारी लड्डापुत्री तथा रावण को नष्ट कर सकता हूँ ॥७॥

किं पुनः सहितो वीरैर्वलवद्भिः कृतात्मभिः ।

कृतास्त्रैः प्लवगैः शूरैर्भवद्भिविजयैपिभिः ॥८॥

तित पर यदि आप जैसे अस्त्र-सञ्चालन-विद्या में कुशल और बलवान् विजय की प्रमिलाया रखने वाले समर्थ वीर मेरे साथ लड़ा में चले चलें ॥८॥

अहं तु रावणं युद्धे ससैन्यं सपुरःसरम् ।

सहपुत्रं वधिष्यामि सहोदरयुतं युधि ॥९॥

तो मैं रावण को युद्ध में सेना, पुत्र, मार्द-बन्धु, नौकर-चाकर और प्रजा सहित मार डालूँगा ॥९॥

ब्राह्ममैत्रं च रौद्रं च वायव्यवारुणं तथा ।

यदि शक्रजितोऽस्त्राणि दुर्निरोक्षाणि संयुगे ॥१०॥

तान्यहं विधमिष्यामि निहनिष्यामि राक्षसान् ।

भवतामन्यनुज्ञातो विक्रमो मे रुणद्धि तम् ॥११॥

ब्रह्मास्त्र, इन्द्रास्त्र, रौद्रास्त्र, वायव्यास्त्र तथा वारुणास्त्र एव युद्ध में अन्य दुर्निरोक्ष्य अस्त्र-शस्त्रभी यदि इन्द्रजीत मेघनाद चलावेगा तो, मैं उन सबको नष्ट कर, समस्त राक्षसों को मार डालूँगा किन्तु आप लोगों की स्वीकृति के बिना मैं करूँगा ॥१०॥११॥

मयातुला विसृष्टा हि शैलवृष्टिर्निरन्तरा ।

देवानपि रणे हन्यात्किं पुनस्ताग्निशाचरान् ॥१२॥

मेरी पंकी हुई लगातार पत्थरों की वर्षा देवताओं का भी नाश कर सकती है, फिर उन राक्षसों की बिना ही क्या है ॥१२॥

सागरोऽप्यतियाद्वेलां मन्दरः प्रचलेदपि ।

न जाम्बवन्तं समरे कम्पयेदरिवाहिनी ॥१३॥

सागर भले ही अपनी सीमा का लांघ जाय, मन्दराचल भले ही ढिग जाय, किन्तु युद्ध में जाम्बवान को शत्रु की सेना चलायमान नहीं कर सनी ॥१३॥

सर्वराक्षससंघाना राक्षसा ये च पूर्वकाः ।

अलमेको विनाशाय वीरो वालिसुतः कपिः ॥१४॥

किर समस्त राक्षसदलों को तथा उनके नेताओं के भारने के लिए तो वालिसुतनय वीर अद्भुत ही पर्याप्त है ॥१४॥

पनसस्योरुवेगेन नीलस्य च महात्मनः ।

मन्दरोऽपि विशीर्येत कि पुनर्युधि राक्षसाः ॥१५॥

पनस और महात्मा नील की लांघों के वेग से जब मन्दराचल भी फट सकता है, तब युद्ध में राक्षसों की बात ही क्या है ॥१५॥

सदेवासुरयक्षेषु गन्धर्वोरगपक्षिषु ।

मैन्दस्य प्रतियोद्धारं शंसत द्विविदस्य चा ॥१६॥

देव, गन्धर्व, दैत्य, यज्ञ, नाग और पक्षियों में भी मन्द, द्विविद का युद्ध में सामना करने वाला कौन है, सो आप लोग बतलावे न ? ॥१६॥

अश्विपुत्री महाभागावेतौ प्लवगसत्तमौ ।

एतयोः प्रतियोद्धारं न पश्यामि रणाजिरे ॥१७॥

अश्विनीकुमारों के इन दो वानरश्रेष्ठ वीर पुत्रों का युद्ध में सामना करने वाला मुझे कोई नहीं देख पड़ता ॥१७॥

पितामहवरोत्सेकात्परमं दर्पमास्थितौ ।

अमृतप्राशिनावेतौ सर्ववानरसत्तमौ ॥१८॥

ये दोनों पितामह ब्रह्माजी के वरदान से दर्पित तथा अमृत पान करने वाले एव सब वानरों में श्रेष्ठ हैं ॥१८॥

अश्विनोर्मनिनार्थं हि सर्वलोकपितामहः ।

सर्वावध्यत्वमतुलमनयोर्दत्तवान्पुरा ॥१९॥

शश्विनीकुमारो के सम्मानार्थं सर्वलोकपितामह ब्रह्माजी ने, पूर्वकाल में इन दोनों को अतुल बल पराश्रमी और सत्र प्राणियों से अव्यय होने का वरदान दिया है ॥१६॥

वरोत्सेकेन मत्तौ च प्रमथ्य महर्तौ चमूम् ।

सुराणाममृतं वीरौ पीतवन्तौ प्लवङ्गमौ ॥२०॥

ब्रह्माजी के वर से मतवाले हो, इन दोनों वानरश्रेष्ठों ने देवताओं की मेला को व्याकूल कर, अमृत पिया था ॥२०॥

एतावेव हि संक्रुद्धौ सवाजिरथकुञ्जराम् ।

लङ्कां नाशयितुं शक्तौ सर्वे तिष्ठन्तु वानराः ॥२१॥

यदि ये क्रुद्ध हो जायें तो वानरो के देखते-देखते, (भकेले) ये दोनों ही घोड़ों, रथों और हाथियों सहित लङ्का को नष्ट कर डालने की शक्ति रखते हैं ॥२१॥

मयैव निहता लङ्का दग्धा भस्मीकृता पुनः ।

राजमार्गेषु सर्वत्र नाम विश्रावितं मया ॥२२॥

मैंने ही बहुत से राक्षस मार डाले और लका फूंक दी तथा लका की सड़कों पर सर्वत्र अपना नाम सबको सुना दिया ॥२२॥

जयत्यतिबलो रामो लक्ष्मणश्च महाबलः ।

राजा जयति सुग्रीवो राघवेणाभिपालितः ॥२३॥

श्रीरामचन्द्रजी की जै, महाबली लक्ष्मणजी की जै, श्रीरामचन्द्रजी रक्षित वानरराज सुग्रीव को जै ॥२३॥

अहं कोसलराजस्य दासः पवनसम्भवः ।

हनुमानिति सर्वत्र नाम विश्रावितं मया ॥२४॥

मैं कोसलाधीश श्रीरामचन्द्रजी का दास हूँ और पवन का पुत्र हूँ। मेरा नाम हनुमान है। ये बातें मैंने लका में सर्वत्र सबको सुना दीं ॥२४॥

अशोकवनिकामध्ये रावणस्य दुरात्मनः ।

अथस्ताच्छिशुपावृक्षे साध्वी करुणमास्थिता ॥२५॥

दुष्ट रावण के अशोकवन में शीशम के पेड़ के नीचे पतिव्रता सीता, अत्यन्त दुःखिनी हो बैठी है ॥२५॥

राक्षसीभिः परिवृता शोकसन्तापकशिता ।

मेघलेखापरिवृता चन्द्रलेखेव निष्प्रभा ॥२६॥

सीता को चारों ओर से राक्षसियाँ घेरे हुए हैं और वे शोक एव सन्ताप से पीड़ित हैं । मेघशक्ति से घिरी हुई चन्द्ररेखा जैसी निष्प्रभ देख पड़ती है, वैसे ही उन राक्षसियों से घिरी सीता प्रभाहीन देख पड़ती है ॥२६॥

अचिन्तयन्ती वंदेही रावणं बलदापितम् ।

पतिव्रता च सुश्रोणी अवष्टब्धा च जानकी ॥२७॥

तिस पर भी बल से दमित उस रावण को, सीता कुछ भी परवाह नहीं करती । ऐसी पतिव्रता और सुन्दरी सीता को रावण ने अपने यहाँ बन्द कर रखा है ॥२७॥

अनुरक्ता हि वंदेही रामं सर्वात्मना शुभा ।

अनन्यचित्ता रामे च पौलोमीव पुरन्दरे ॥२८॥

साध्वी सीता, उनी प्रकार सदा सर्वदा अनन्यचित्त हो श्रीरामचन्द्रजी के ध्यान में मग्न रहती हैं, जिस प्रकार शची इन्द्र के ध्यान में रहती हैं ॥२८॥

तदेकवातःसंवीता रजोध्वस्ता तथैव च ।

शोकसन्तापदीनाङ्गी सीता भर्तृहिते रता ॥२९॥

उसके शरीर पर केवल एक वस्त्र है और उसके शरीर में धूल लपटो हुई है । शोक और सताप से उसके समस्त अङ्ग दीनभाव को धारण किए हुए हैं ! सीता की ऐसी दुर्दशा तो है, किन्तु इस पर भी वह अपने पति की हित-कामना में सदा लगी रहती है ॥२९॥

सा मया राक्षसोमध्ये तर्ज्यमाना मुहुर्मुहुः ।

राक्षसोभिर्विरूपाभिर्वृष्टा हि प्रमदावने ॥३०॥

मैंने अपने भ्रातृओं से देखा है कि, असोकवन में बेचारी सीता, मुहजरी राक्षसियों के बीच में बैठी हुई थीं और राक्षसियाँ उन्हें बार बार डरा रही थी ॥३०॥

एकवेणीधरा दीना भर्तृचिन्तापरायणा ।

अधःशय्याविवर्णाङ्गी पद्मिनीव हिमागमे ॥३१॥

वे एक वेणी धारण किए दीनभाव को प्राप्त हो, पति की चिन्ता में मग्न रहती हैं । वे जमीन पर सोती हैं । उनके शरीर की कान्ति वैसी ही फीकी पड़ गई है जैसी कि, हेमन्तऋतु में कमलिनी की फीकी पड़ जाती है ॥३१॥

रावणाद्विनिवृत्तार्था मर्तव्यकृतनिश्चया ।

कथञ्चिन्मृगशावाक्षी विश्वासमुपपादिता ॥३२॥

रावण की ओर से वे विरक्त हैं । अपने मरने का निश्चय किए हुए हैं । मैंने तो बड़ी कठिनाई के साथ उसी मृगशावकनयनी जानकी का विश्वास अपने ऊपर जमा पाया था ॥३२॥

ततः सम्भाषिता चैव सर्वमर्थं च दर्शिता ।

रामसुप्रीवसख्यं च श्रुत्वा प्रीतिमुपागता ॥३३॥

तदनन्तर मैंने उनसे बातचीत की और सब बातें उनको दर्शा दी । वे श्रीरामचन्द्रजी और सुप्रीव की मन्त्री का वृत्तान्त सुन प्रसन्न हुई थी ॥३३॥

नियतः समुदाचारो भक्तिर्भर्तृरि चोत्तमा ।

यन्न हन्ति दशप्रीव स महात्मा कृतागसम् ॥३४॥

वे बड़ी चरित्रवती हैं और श्रीरामचन्द्रजी में उनकी पूर्ण भक्ति है । रावण जो अभी तक नहीं मरा, सो इसका मुख्य कारण ब्रह्माजी का दिया हुआ चरदान है ॥३४॥

निमित्तमात्रं रामस्तु वधे तस्य भविष्यति ।

सा प्रकृत्यैव तन्वङ्गी तद्वियोगाच्च कर्शिता ॥३५॥

रावण क वध में श्रीरामचन्द्रजी तो केवल निमित्त मात्र होंगे । वह माया जायगा सती साध्वी सीता हरण जन्य घोर पापक के फल से । सीता वैसे ही लटी दुबली थी, तिस पर उन्हें श्रीरामचन्द्रजी के विरह से उत्पन्न शोक सहना पडा ॥३५॥

प्रतिपत्पाठशीलस्य विद्येव तनुर्ता गता ॥३६॥

सीताजी तो ऐसी क्षीण हो रही हैं जैसी कि, प्रतिपदा के दिन पड़ने वाले की विद्या क्षीण हुआ करती है ॥३६॥

एवमास्ते महाभागा सीता शोकपरायणा ।

यदत्र प्रतिकर्तव्यं तत्सर्वमुपपद्यताम् ॥३७॥

जनककुमारी सीता शोक में मग्न, इस प्रकार वहाँ दिन काट रही हैं । अब आप लोगो से जो बन पावे सो आप लोग करें ॥३७॥

सुन्दरकाण्ड का उनसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

पण्डितमः सर्गः

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा वालिसूनुरभापत ।

अयुक्तं तु विना देवी दृष्टवद्भिश्च वानराः ॥१॥

समीपं गन्तुमस्माभिः राघवस्य महात्मनः ।

दृष्ट्वा देवी न चानीता इति तत्र निवेदनम् ॥२॥

हनुमानजी के वचन सुन, वालितनय अगद बोले—सीता की देख लेने पर भी, बिना सीता को माय लिये हम लोगो का महात्मा श्रीरामचन्द्रजी के पास जा कर, यह कहना कि, हम जानकी को देख तो चाहें किन्तु लाए नहीं ॥१॥२॥

अयुक्तमिव पश्यामि भवद्भिः ख्यातविक्रमैः ।

न हि नः प्लवने कश्चिन्नापि कश्चित्पराक्रमे ॥३॥

मेरी समझ में तो आप जैसे प्रसिद्ध पराक्रमी वानरो के स्वरूपानुरूप नहीं हैं । न तो कूदने उड़लने में और न पराक्रम ही में ॥३॥

तुल्यः सामरदैत्येषु लोकेषु हरिसत्तमाः ।

तेष्वेवं हतवीरेषु राक्षसेषु हनूमता ।

किमन्यदत्र कर्तव्यं गृहीत्वा याम जानकीम् ॥४॥

इन वानरश्रेष्ठों का सामना करने वाला न तो मुझे कोई दैत्यो ही में देख पड़ता है और न अन्य लोको ही में । फिर हनुमानजी बहुत से राक्षसों को मार ही चुके हैं, अब बचे बचाए राक्षसों को मार कर, जानकी को ले आने के सिवाय और कौन-सा काम हमें करने को रह गया है ॥४॥

तमेवं कृतसङ्कल्पं जाम्बवान्हरिसत्तमः ।

उवाच परमप्रोतो ^१वाक्यमर्थवदद्भदम् ॥५॥

भङ्गदजी को ऐसा निश्चय किए हुए जान, वानरश्रेष्ठ जाम्बवान् परम प्रसन्न हो, उनके अर्थ भरे वचन बोले ॥५॥

नानेतुं कपिराजेन नैव रामेण धीमता ।

कथंचिन्निजितां सीतामस्माभिर्वाभिरोचयेत् ॥६॥

सीताजी को साथ लाने की न तो कपिराज सुग्रीव ने और न बुद्धिमान श्रीरामचन्द्रजी ने ही हम लोगों को आज्ञा दी है ॥६॥

राघवो नृपशार्दूलः कुलं व्यपदिशन्स्वकम् ।

प्रतिज्ञाय स्वयं राजा सीता विजयमग्रतः ॥७॥

क्योंकि, श्रीरामचन्द्रजी राजाघो में शार्दूल हैं और उन्हें अपने विशाल कुल का भी गर्व है । वे शत्रु को जीप कर सीता को स्वयं लाने की प्रतिज्ञा कर चुके हैं ॥७॥

१ पाठान्तरे—'वाक्यमर्थवदर्थवित् ।'

सर्वेषां कपिमुख्यानां कथं मिथ्या करिष्यति ॥८॥

तो मुख्य-मुख्य वानरो के सामन की हुई उस अपनी प्रतिज्ञा को वे क्यों कर अन्याय करेंगे ॥८॥

विफलं कर्म च कृतं भवेत्तुष्टिर्न तस्य च ।

वृथा च दर्शितं वीर्यं भवेद्धानरपुङ्गवाः ॥९॥

अतः हमारा किया कराया सब व्यर्थ जायगा और जिनके लिए हम इतना परिश्रम करेंगे वे भी सन्तुष्ट न होंगे । अतः हे वानरश्रेष्ठो ! हम लोगों के बल पराक्रम का व्यर्थ प्रयत्न होगा ॥९॥

तस्माद्गच्छाम वै सर्वे यत्र रामः सलक्ष्मणः ।

सुग्रीवश्च महातेजाः कार्यस्यास्य निवेदने ॥१०॥

अतएव आप्तो भाइयो, हम सब लोग वहीं चले, जहाँ लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्रजी तथा महातेजस्वी सुग्रीव हैं और उनसे समस्त वृत्तान्त निवेदन करें ॥१०॥

न तावदेषा मतिरक्षमा नो

यथा भवान्पश्यति राजपुत्र ।

यथा तु रामस्य मतिर्निविष्टा

तथा भवान्पश्यतु कार्यसिद्धिम् ॥११॥

इति पथितम सगं ।

हे राजपुत्र ! आपके विचार अयुक्त नहीं प्रत्युत ठीक ही हैं, किन्तु हम लोगों को तो श्रीरामचन्द्रजी की मनोगति के अनुसार ही उनके कार्य को पूर्ण हुआ देखना उचित है । अर्थात् वे जो कहें वही करना उचित है ॥११॥

सुन्दरकाण्ड का साठवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

एकपण्डितमः सर्गः

ततो जाम्बवतो वाक्यमगृह्णन्त वनोक्तसः ।

अङ्गदप्रमुखा वीरा हनूमाश्च महाकपिः ॥१॥

तदनन्तर अङ्गदादि वीर वानरों ने तथा महाकपि हनुमानजी ने जाम्बवान की बात मान ली ॥१॥

प्रोतिमन्तस्ततः सर्वे वायुपुत्रपुरःसराः ।

१महेन्द्राद्रि परित्यज्य पुप्लुवुः प्लवगर्षभाः ॥२॥

श्रीर पवननन्दन हनुमानजी को भागे कर प्रसन्न होते हुए समस्त वानर महेन्द्राक्ष को छोड़, उछलते-कूदते चल दिए ॥२॥

मेरुमन्दरसङ्काशा मत्ता इव महागजाः ।

द्वादयन्त इवाकाशं महाकाया महाबलाः ॥३॥

मेरुपर्वत की तरह महाकाय, महाबली वानरों ने मतवाले हाथियों की तरह मानों आकाश को ढक लिया ॥३॥

सभाज्यमानं भूतंस्तमात्मवन्तं महाबलम् ।

हनुमन्तं महावेगं वहन्त इव दृष्टिभिः ॥४॥

ये सब, सिद्धपुरुषों से भली भाँति प्रशंसित, आत्मज्ञ, महावेगवान् श्रीर महाबलवान पवननन्दन ही की ओर टक्टकी लगाए चले जाते थे । मानों वे हनुमानजी की दृष्टि के बल उड़ाए लिए जाते थे ॥४॥

राघवे चार्थनिर्वृत्तिं कर्तुं च परमं यशः ।

समाधाय समुद्धार्याः कर्मसिद्धिभिरुन्नताः ॥५॥

१ पाठान्तरे—“महेन्द्राप्र ।” २ सभाज्यमान—सम्पूज्यमान । (गो०)
३ भूतं—सिद्धिद्वि । (रा०) ४ अर्थनिर्वृत्ति—अर्थसिद्धि । (गो०)
५ समुद्धार्या—सिद्धकार्या । (गो०) ६ कर्मसिद्धिभि—कार्यसिद्धिभि
(गो०) ७ उन्नता—इतरेभ्य उत्कृष्टा । (गो०)

उन्होंने अपने मन में निश्चय कर लिया था कि वे श्रीरामचन्द्रजी का कार्य पूरा करके अब सफलमनोरथ ही चुके हैं और इससे उनको यश प्राप्त हो चुका है। अतः कार्य पूरा करने के कारण, वे कपि अपने को अग्न्य वानरो से उत्कृष्ट समझ रहे थे ॥५॥

प्रियाख्यानोन्मुखा सर्वे सर्वे युद्धाभिनंदिनः ।

सर्वे रामप्रतीकारे निश्चितार्था मनस्विनः ॥६॥

सभी वानर श्रीरामचन्द्रजी की यह मुख बवाद सुनाने को उत्सुक हो रहे थे, सब लोग युद्ध का अभिनन्दन करने का तरार थे। वे मनस्वी वानर (रावण से) श्रीरामचन्द्रजी का बदला लेने का दृढ़ संकल्प किए हुए थे ॥६॥

प्लवमानाः खमुत्पत्य ततस्ते काननौकसः ।

नन्दनोपमभासेदुर्वनं द्रुमलतापुत्रम् ॥७॥

इस प्रकार वह मनस्वी वानरदल, आकाश में उड़लता कूदता इन्द्र के नन्दनवन की तरह दक्षी और जताग्रो से युक्त उपवन के समीप पहुँचा ॥७॥

यत्तन्मधुवनं नाम सुग्रीवस्याभिरक्षितम् ।

अधृष्यं सर्वभूताना सर्वभूतमनोहरम् ॥८॥

उस उपवन का नाम मधुवन था और सुग्रीव उसके मालिक थे। उसमें कोई भी वानर जाने नहीं पाता था, वह उपवन अपनी दोभा से सभी का मन हर लिया करता था ॥८॥

यद्रक्षति महावीर्यः सदा दधिमुखः कपिः ।

मातुलः कपिमुरयस्य सुग्रीवस्य महात्मनः ॥९॥

उस उपवन की रक्षवाली महाबली दधिमुख नामक वानर सदा किया करता था। वह दधिमुख, महात्मा वानरराज सुग्रीव का मामा था ॥९॥

ते तद्वनमुपागम्य बभूवुः परमोत्कटाः^१ ।

वानरा वानरेन्द्रस्य मनःकान्ततमं महत् ॥१०॥

वे वानर वानरेन्द्र सुग्रीव के अत्यन्त प्यारे उस महावन के समीप पहुँच, उस वन के फल खाने के लिए बड़े सज्जायित थे ॥१०॥

१ परमोत्कटा — परमोत्तुका । (गो०)

उस बड़े लंबे-चौड़े मधुवन को देख कर, मधु की तरह पीले रंग वाले ये वानर प्रसन्न हो गए और उन मधुफलों का मधु पीने के लिए उन्होंने अङ्गद से याचना की ॥११॥

ततः कुमारस्तान्वृद्धाञ्जाम्बवत्प्रमुखान्कपीन् ।

अनुमान्य ददौ तेषां निसर्गं^१ मधुभक्षणे ॥१२॥

तब अङ्गद ने जाम्बवान आदि बड़े और प्रमुख कपियों से सलाह कर वानरों को मधुवन में जाने की तथा वहाँ मधुफल खाने की आज्ञा दी ॥१२॥

ततश्चानुमताः सर्वे सम्प्रहृष्टा वनौकसः ।

मुदिताः प्रेरिताश्चापि प्रनृत्यन्ति ततस्ततः ॥१३॥

आज्ञा पाते ही सब वानर अत्यन्त हर्षित हो गए और मुदित हो मधुवन में जा कर, इधर-उधर नाचने-कूदने लगे ॥१३॥

गायन्ति केचित्प्रणमन्ति केचित्

नृत्यन्ति केचित्प्रहसन्ति केचित् ।

पतन्ति केचिद्विचरन्ति केचित्

प्लवन्ति केचित्प्रलपन्ति केचित् ॥१४॥

उस समय उन वानरों में से कोई-कोई तो गाना गा रहे थे, कोई-कोई आपस में प्रणाम कर रहे थे । कोई-कोई नाच रहे थे, कोई-कोई बड़ी जोर से हँस रहे थे, कोई-कोई गिर-गिर पड़ते थे, कोई-कोई मधुवन में इधर-उधर घूम-फिर रहे थे, कोई-कोई उछल-कूद रहे थे और कोई-कोई व्ययं की वक्बाद कर रहे थे ॥१४॥

परस्परं केचिदुपाश्रयन्ते

परस्परं केचिदुपाक्रमन्ते ।

परस्परं केचिदुपद्रुवन्ते

परस्परं केचिदुपारमन्ते ॥१५॥

१ निसर्गं—विसर्जन । (गो०)

कोई कोई आपस में लिपट रहे थे, कोई-कोई आपस में भिड़ रहे थे, किसी किसी में आपस में कहासुनी हो रही थी और कोई-कोई आराम कर रहे थे ॥१५॥

द्रुमाद्द्रुमं केचिदभिद्रवन्ते
क्षितौ नगाग्रान्निपतन्ति केचित् ।

महीतलात्केचिदुदीर्णवेगा

महाद्रुमाग्राण्यभिसम्पतन्ति ॥१६॥

कोई-कोई वृक्षों ही वृक्षों पर दौड़ते फिरते थे, कोई-कोई पेड़ पर चढ़ कर जमीन पर कूदते थे और कोई-कोई पृथिवी से उछल कर, बड़ी तेजी से बड़े ऊँचे-ऊँचे वृक्षों की फुनगी पर चढ़ जाते थे ॥१६॥

गायन्तमन्यः प्रहसन्नुपैति
हसन्तमन्तः प्ररुदन्नुपैति ।

रुदन्तमन्यः प्रणदन्नुपैति

नदन्तमन्यः प्रणुदन्नुपैति ॥१७॥

उनमें से कोई गाता था तो कोई हँसता हुआ उसके पास पहुँचता था । कोई हँसता था तो दूसरा रोता हुआ उसके पास जाता था । एक रोता था तो दूसरा उसके रोने की नकल करता हुआ उसके पास जाता था । जब एक चिल्लाता था, तब दूसरा उससे भी अधिक चिल्लाता हुआ उसके पास जाता था ॥१७॥

समाकुलं तत्कपिसैन्यमासी-
न्मधुप्रपानोत्कटसत्त्वचेष्टम् ।

न चात्र कश्चिन्न बभूव मत्तो

न चात्र कश्चिन्न बभूव तृप्तः ॥१८॥

उस कपिवाहिनी में उस समय इस प्रकार तुमुल शब्द हो रहा था । उस सेना में ऐसा कोई 'वानर न था जिसने पेट भर उत्सुकतापूर्वक मधु न पिया

हो और जो मधुपान कर मनवाचा न हो हाथ और न कोई ऐसा ही या जो मधुपान करके तृप्त न हुआ हो ॥१८॥

ततो वनं तैः परिभक्ष्यमाणं

द्रुमांश्च विध्वंसितपत्रपुष्पान् ।

समीक्ष्य कोपाद्दधिवक्त्रनामा

निवारयामास कपिः कर्पोस्तान् ॥१९॥

मधुवन के समस्त फलो को बानरों ने खा डाला या और पेड़ों के पत्तों और फूलों को नष्ट कर डाला या । यह देख दधिमुख नामक बानर कुपित हुआ और उसने उन बानरों को बरखा ॥१९॥

स तैः प्रवृद्धैः परिभत्स्यमानो

वनस्य गोप्ता हरिवीरवृद्धः ।

चकार भूयो मतिमुग्रतेजा

वनस्य रक्षां प्रति वानरेभ्यः ॥२०॥

किन्तु वे बानर मला कब मानने वाले थे । उन्होंने उस बूढ़े दधिमुख ही को डाँटा-ढेरा । तब तो वह तेजस्वी बानर भी उन बानरों से वन की रक्षा के लिए उपाय करने लगा ॥२०॥

उवाच ॥ कांश्चित्पत्स्याणि घृष्टम्

असक्तमन्यांश्च तल्लजघान ।

समेत्य कांश्चित्कलहं चकार

तथैव साम्नोपजगाम कांश्चित् ॥२१॥

जिसो को उसने गालियाँ दी, अपने से निर्बल किसी के बप्टव जमा दिए, किसी से कहावुनी करने लगा और जिसो को समझाने बुझाने लगा ॥२१॥

स तैर्मंदात्सम्परिवार्य वाक्यैः

वलाच्च तेन प्रतिवार्यमाणैः ।

प्रघर्षितस्त्यक्तभयैः समेत्य

प्रकृष्यते चाप्यनवेक्ष्य दोषम् ॥२२॥

बिन्दु नदी में चूर होने के कारण भता वे वन किसी के रोके रुकने वाले थे । इन वानरो को सीता का सवाद साने के कारण, भय ही किसी का था ही नहीं, सो वे अपने धरराष पर ध्यान न दे और इकट्ठे ही दधिमुख को पकड़ कर खींचने लगे ॥२२॥

नखैस्तुदन्तो दशनंदंशन्तः

तलैश्च पादैश्च समापयन्तः ।

मदात्कपि तं कपयः समग्रा

महावनं निर्विषयं च चक्रुः ॥२३॥

इति एकषष्टितमं सर्गं ॥

साथ ही मतवालेपन से वे उभे नखों से खसोटते, दाँतों से काटते, दम्पड जमाते और लातें मारते थे । अन्त में मारते-मारते दधिमुख को उन लोगों ने मृतप्राय कर भूद्धित कर दिया और उस विशाल मधुवन को ही बिल्कुल चौपट ही कर आया ॥२३॥

सुन्दरकाण्ड का इकसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

द्विषष्टितमः सर्गः

तानुवाच हरिश्रेष्ठो हनुमान्वानरर्षेभः ।

अव्यग्रमनसो यूयं मधु सेवत वानराः ॥१॥

अहमावारयिष्यामि युष्माकं परिपन्थिनः ।

श्रुत्वा हनुमतो वाक्यं हरीणां प्रवरोऽद्भुदः ॥२॥

इस पर वानरोत्तम हनुमानजी ने उनकी पीठ ठोक दी और कहा तुम सब मन भर कर मधुफल खाओ । जरा भी मत घबडाओ । तुम्हारे

मधुफलभक्षण में जो बाधा डालेंगे, उन्हें मैं स्वयं रोकूंगा । हनुमानजी के ये वचन सुन वानरो में थोड़ा भङ्गदजी ॥१॥२॥

प्रत्युवाच प्रसन्नात्मा पिबन्तु [हरयो मधु ।

अवश्यं कृतकार्यस्य वाक्यं हनुमतो मया ॥३॥

ने प्रसन्न हो (हनुमानजी की बात का समर्थन करते हुए) कहा— वानर लोग अवश्य मधुपान करें । क्योंकि हनुमानजी काथ पूरा कर आए हैं ॥३॥

अकार्यमपि कर्तव्यं किमङ्ग पुनरीदृशम् ।

अङ्गदस्य मुखाच्छ्रुत्वा वचनं वानरर्षभाः ॥४॥

यदि यह कोई अनुचित काम भी करने को कहें तो भी हम लोगों को उसे करना चाहिये और उनकी इस कही हुई उचित बात की तो कोई बात ही नहीं है । बड़े-बड़े वानरो ने भङ्गद के मुख से ये वचन सुन ॥४॥

साधु साध्विति संहृष्टा वानराः प्रत्यपूजयन् ।

पूजयित्वाऽङ्गदं सर्वे वानरा वानरर्षभम् ॥५॥

प्रत्यन्त प्रसन्न हो और “वाह-वाह” कह कर, भङ्गद के प्रति सम्मान प्रदर्शित किया । तदनन्तर वानरथोष्ठ भङ्गद के प्रति सम्मान प्रदर्शित कर, सब बड़े-बड़े वानर ॥५॥

जग्मुर्मधुवनं यत्र नदीवेगा इव द्रुतम् ।

ते प्रविष्टा मधुवनं पालानाक्रम्य वीर्यतः ॥६॥

नदी की वेगवान धार की तरह उस मधुवन में बड़े वेग से धुस गये और बलपूर्वक वहाँ के रसको पर भाक्षण किया अथवा वनरसक वानरो को पकड़ा ॥६॥

अतिसर्गाच्च पटवो दृष्ट्वा श्रुत्वा च मैथिलीम् ।

पपुः सर्वे मधु तदा रसवत्फलमाददुः ॥७॥

अङ्गदजी की आज्ञा पाने, जानकीजी को देखने और उनका सदेसा पाने से वे वानर अत्यन्त उद्वेग हो मधु पीने लगे और रखीले फल खाने लगे ॥७॥

उत्पत्य च ततः सर्वे वनपालान्समागतान् ।

ताडयन्ति स्म शतशः सक्तान्मधुवने तदा ॥८॥

जो सैकड़ों वनरक्षक उन्हें आकर बरजते, उन्हें वे सब के सब उद्धल-उद्धल कर मारते थे ॥८॥

मधूनि 'द्रोणमात्राणि बाहुभिः परिगृह्य ते ।

पिबन्ति सहिताः सर्वे निघ्नन्ति स्म तथापरे ॥९॥

वे लोग आढक (तोल विशेष) परिमाण मधु हाथों की अञ्जलि बनाकर पी जाते थे और सब इकट्ठे हो कर वनरक्षकों को मारते भी थे ॥९॥

केचित्पीत्वाऽपविध्यन्ति मधूनि मधुपिङ्गलाः ।

१मधूच्छिष्टेन केचिच्च जघ्नुस्न्योन्यमुत्कटाः २ ॥१०॥

मधु के समान पीले रङ्ग के वे वानर मधु पीते भी थे और फँलाते भी थे । कोई तो मदमस्त हो, छत्ते के भोम से दूसरे वानरों को मारते थे ॥१०॥

अपरे वृक्षमूले तु शाखां गृह्य व्यवस्थिताः ।

अत्यर्थं च मदग्लानाः पर्णान्याऽस्तीर्य शेरते ॥११॥

उनमें से कोई कोई पेड़ की जड़ों में वृक्षों की शाखाएँ पकड़ कर खड़े हुए थे और कोई-कोई नशे से बेहोश हो पत्तों को विछा कर सो रहे थे ॥११॥

उन्मत्तभूताः प्लवगा मधुमत्तारच हृष्टवत् ।

क्षिपन्ति ४ च तदान्योन्यं स्वलन्ति च तथापरे ॥१२॥

१ द्रोणमात्राणि—आढकप्रमाणानि । (गो०) २ मधूच्छिष्टेन—सिक्केन । (गो०) ३ उत्कटा—मत्ता । (गो०) ४ क्षिपन्ति—उरिक्षिप्य पातयन्ति । (गो०)

मधुपान करने से, ये वानर उन्मत्त से हो रहे थे और प्रसन्न देख पड़ते थे । उनमें से कोई-कोई तो दूसरे वानरों को उठा-उठा कर पटक रहे थे और कोई-कोई लडखडा कर स्वयं ही गिर पड़ते थे ॥१२॥

केचित्क्ष्वेलां^१ प्रकुर्वन्ति केचित्कूजन्ति हृष्टवत् ।

हरयो मधुना मत्ताः केचित्सुप्ता महीतले ॥१३॥

कोई-कोई तो प्रसन्न हो सिहनाद कर रहे थे, कोई-कोई पक्षियों की तरह कूज रहे थे । अनेक वानर मतवाले हो पृथिवी पर पड़े मो रहे थे ॥१३॥

कृत्वा किञ्चिद्धसन्त्यन्ये केचित्कुर्वन्ति चैतरत् ।

कृत्वा किञ्चिद्धसन्त्यन्ये केचिद् सुध्यन्ति चैतरत् ॥१४॥

कोई कोई गंवारपन कर हँस रहे थे, कोई-कोई तरह-तरह की चेष्टाएँ कर रहे थे, कोई-कोई कुछ बक्ते और कोई-कोई उसका अर्थ और का और ही सगा रहे थे ॥१४॥

येऽप्यत्र मधुपालाः स्युः प्रेष्या दधिमुखस्य तु ।

तेऽपि तैर्वानरैर्भोमैः प्रतिपिद्धा दिशो गताः ॥१५॥

वहाँ पर दधिमुख के नीचे काम करने वाले जो मधुवनरक्षक थे, वे भी इन भयङ्कर वानरों को मार ने भाग गए थे ॥१५॥

जानुभिस्तु प्रकृष्टाश्च देवमार्गं च दर्शिताः ।

अब्रुवन्परमोद्विग्ना गत्वा दधिमुखं वचः ॥१६॥

अनेक रक्षकों को तो घुटनों से रगड़-रगड़ कर इन वानरों ने यमालय भेज दिया था । जो भाग कर बच गए थे, उन्होंने जाकर दधिमुख से कहा ॥१६॥

हनूमता दत्तवरंहंतं मधुवनं बलात् ।

वयं च जानुभिः कृष्टाः देवमार्गं च दर्शिताः ॥१७॥

१ "क्ष्वेला तु सिहनाद स्यात्" इत्यमर ।

हनुमानजी द्वारा भ्रमपदान पाकर वानरों ने मधुवन को उजाड़ डाला है। हम लोगों ने जब उनको रोका तब हममें से बहूतो को घुटनों से रगड़-रगड़ कर उन लोगों ने यमालय भेज दिया ॥१७॥

ततो दधिमुखः क्रुद्धो वनपस्तत्र वानरः ।

हतं मधुवनं श्रुत्वा सान्त्वयामास तान्हरीन् ॥१८॥

दधिमुख ने उन वनरक्षक वानरो के वचन सुन और मधुवन को नष्ट हुआ देख, क्रुद्ध हो उन रखवालों को धीरज बँधाय ॥१८॥

इहागच्छत गच्छामो वानरान्बलदर्पितान् ।

बलेन वारयिष्यामो मधु भक्षयतो वयम् ॥१९॥

तदनन्तर कहा— यहाँ आओ, चलो उन बलदर्पित वानरों को हम बलपूर्वक रोकें और देखें कि वे कैसे मधुपान करते हैं ॥१९॥

श्रुत्वा दधिमुखस्येदं वचनं वानरर्षभाः ।

पुनर्वीरा मधुवनं तेनैव सहिता ययुः ॥२०॥

दधिमुख के ये वचन सुन, वे वानरथ्येष्ठ उस वीर के साथ पुनः मधुवन में गए ॥२०॥

मध्ये चैषां दधिमुखः सुप्रगृह्य महा तरुम् ।

समन्वयावन् वेगेन ते च सर्वे प्लवङ्गमाः ॥२१॥

उनके बीच में जाते हुए दधिमुख ने एक बड़ा वृक्ष उखाड़ और उसे ले उन वानरों पर आक्रमण किया। दधिमुख के साथ उसके साथी वानर भी दौड़े ॥२१॥

ते शिलाः पादपांश्चापि पापाणानपि वानराः ।

गृहीत्वान्यागमन्क्रुद्धा यत्र ते कपिकुञ्जराः ॥२२॥

उनमें से बहूतो ने शिलायाँ, बहूतो ने वृक्षों और बहूतो ने बड़े-बड़े पत्थरों को हाथ में ले लिया और क्रोध में भरे हुए वे उन हनुमानादि वानरो के समीप जा पहुँचे ॥२२॥

• ते स्वामिवचनं वीरा हृदयेष्ववसज्य तत् ।

त्वरया ह्यम्यधावन्त सालतालशिलायुधाः ॥२३॥

वे अपने स्वामी दधिमुख को आज्ञा से उत्साहित हो, बड़ी शीघ्रता से सालवृक्षों, तालवृक्षों तथा शिलारूपी आयुधों को से बड़े वेग से दौड़े ॥२३॥

वृक्षस्थांश्च तलस्थाश्च वानरान्बलदर्पितान् ।

अम्यक्रामंस्ततो वीराः पालास्तत्र सहस्रशः ॥२४॥

हजारों वनरक्षक वीर वानरों ने उन वृक्षों पर चढ़े हुए तथा वृक्षों के नीचे बैठे हुए वानरों पर आक्रमण किया ॥२४॥

अथ दृष्ट्वा दधिमुखं क्रुद्धं वानरपुङ्गवाः ।

अम्यधावन्त वेगेन हनुमत्प्रमुखास्तदा ॥२५॥

वानरश्रेष्ठ दधिमुख को क्रुद्ध देख, हनुमानादि बड़े-बड़े वानर उस पर दौड़ पड़े ॥२५॥

तं सवृक्षं महाबाहुमापतन्तं महाबलम् ।

आर्यकं प्राहरत्तत्र बाहुभ्यां कुपितोऽङ्गदः ॥२६॥

इतने में दधिमुख ने बड़े जोर से वह वृक्ष फेंका । अपने चाचा के मामा के चलाए हुए उस वृक्ष को, क्रुद्ध अङ्गद ने उछल कर बीच ही में दोनों हाथों से पकड़ लिया ॥२६॥

मदान्धश्च न वेदैर्नमार्यकोऽयं ममेति तः ।

अथैनं निष्पिपेषाशु वेगवद्बसुधातले ॥२७॥

उस समय अङ्गद ऐसे मशान्ध हो रहे थे कि उन्होंने अपने चाचा सुग्रीव के मामा का भी कुछ विचार न किया । उन्होंने शट दधिमुख को पकड़ कर, बड़े जोर से जमीन पर पटक दिया ॥२७॥

स भग्नबाहू भुजो विह्वलः शोणितोक्षितः ।

भुमोह सहसा वीरो मुहूर्तं कपिकुञ्जरः ॥२८॥

उस पटकी के लगने से दधिमुख की बाँहें, जाँघें और मुख में चोट लगी । तब वह सोहलुहान तथा विकल हो, मुहूर्त भर मूर्च्छित पड़ा रहा ॥२८॥

स कथञ्चिच्चद्विमुक्तस्तैर्वानरैर्वानरर्यभः ।

उवाचैकान्तमाश्रित्य भृत्यान्स्वान्समुपागतान् ॥२९॥

किसी प्रकार उन वानरो से छूट और एकान्त में जा, वह अपने साथ भाए हुए भनुचरों से बोला कि ॥२९॥

एते तिष्ठन्तु गच्छामो भर्ता नो यत्र वानरः ।

सुग्रीवो विपुलग्रीवः सह रामेण तिष्ठति ॥३०॥

इनको यहाँ का यही छोड़ दो और घासो हम लोग वहाँ चले जहाँ हमारे राजा विपुलग्रीव सुग्रीव श्रीरामचन्द्रजी सहित विराजमान हैं ॥३०॥

सर्वं चैवाङ्गदे दोषं श्रावयिष्यामि पार्थिवे ।

अमर्षो वचनं श्रुत्वा घातयिष्यति वानरान् ॥३१॥

हम लोग चल कर अपने राजा से अङ्गद की शिकायत करेंगे । राजा क्रोधी स्वभाव के हैं ही, सो शिकायत सुन भवश्य ही इन वानरों को मार डालेंगे ॥३१॥

इष्टं मधुवनं ह्येतत्सुग्रीवस्य महात्मनः ।

पितृपैतामहं दिव्यं देवैरपि दुरासदम् ॥३२॥

क्योंकि यह मधुवन सुग्रीव की अत्यन्त प्यारा है । अधिकता यह है कि यह उनके बाप दादे के समय का है और बड़ा सुन्दर है । देवता लोग भी इसके भीतर नहीं जा सकते ॥३२॥

स वानरानिमान्सर्वान्मधुलुब्धान्नातायुषः ।

शपातयिष्यति दण्डेन सुग्रीवः ससुहृज्जनान् ॥३३॥

१ पाठान्तरे—“शपातयिष्यति ।”

सो वे कपिराज इन मधुबोलूपो और मरणासन्न वानरो को दण्ड देंगे और बन्धु-बान्धवो सहित मार डालेंगे ॥३३॥

वध्या ह्येते दुरात्मानो नृपाज्ञापरिभाविनः ।

अमर्षप्रभवो रोषः सफलो नो भविष्यति ॥३४॥

ये सब दुष्ट, जो राजा की अवज्ञा करने वाले हैं, मार डालने ही योग्य हैं। जब ये मार डाले जायेंगे तभी हम लोगों का यह अक्षमाजन्य क्रोध सार्थक होगा ॥३४॥

एवमुक्त्वा दधिमुखो वनपालान्महाबलः ।

जगाम सहस्रोत्पत्य वनपालैः समन्वितः ॥३५॥

मधुवन के रखवालो से महाबली दधिमुख इस प्रकार कह उन अनुचरो को लिए हुए सहमा उडा ॥३५॥

निमेषान्तरमात्रेण स हि प्राप्तो वनालयः' ।

सहस्रांशुसुतो धीमान्सुग्रीवो यत्र वानरः ॥३६॥

और एक निमेष में वहाँ जा पहुँचा जहाँ पर सूर्य के पुत्र बुद्धिमान वानर सुग्रीव थे ॥३६॥

रामं च लक्ष्मणं चैव दृष्ट्वा सुग्रीवमेव च ।

*समप्रतिष्ठां जगतीमाकाशाशान्निपपात ह ॥३७॥

वहाँ उसने श्रीरामचन्द्र, लक्ष्मण और सुग्रीव को बैठे हुए देखा। फिर समतल भूमि देख वह आकाश से उस भूमि पर उतरा ॥३७॥

सन्निपत्य महावीर्यः सर्वैस्तैः परिवारितः ।

हरिर्दधिमुखं पालैः पालाना परमेश्वरः ॥३८॥

उन वानरो के साथ भूमि पर उतर वह मधुवन के रखवालो का स्वामी महाबली दधिमुख वानर ॥३८॥

स दीनवदनो भूत्वा कृत्वा शिरसि चाञ्जलिम् ।

सुग्रीवस्य शुभो मूर्ध्ना चरणे प्रत्यपीडयत् ॥३६॥

इति द्विपष्टितम सर्गं ॥

दीन मुख हो घोर जोड़े हुए दोनों हाथों को सिर पर रख वह सुग्रीव के चरणों में गिर पड़ा ॥३६॥

सुन्दरकाण्ड का वासठवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

त्रिपष्टितमः सर्गः

ततो मूर्ध्ना निपतित वानरं वानरर्षभः ।

दृष्ट्वैवधोद्विग्नहृदयो वाक्यमेतदुवाच ह ॥१॥

सिर के बल दधिमुख को चरणों पर पड़ा देख सुग्रीव उद्विग्न हो बोले ॥१॥

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ कस्मात्त्वं पादयोः पतितो मम ।

अभयं ते 'भयं वीर सर्वमेवाभिधीयताम् ॥२॥

उठो-उठो, तुम क्यों मेरे पैरों पर पड़े हुए हो । मैं तुम्हें अभय करता हूँ, अब जो हात हो सो सब मुझसे कह दो ॥२॥

स समाश्वासितस्तेन सुग्रीवेण महात्मना ।

उत्थाय स महाप्राज्ञो वाक्यं दधिमुखोऽब्रवीत् ॥३॥

जब महात्मा सुग्रीव ने इस प्रकार धीरज बंधाया तब वह बुद्धिमान दधिमुख पैरों से सिर उठा कहने लगा ॥३॥

नैवर्क्षरजसा राजन्न त्वया नापि बालिना ।

वनं 'निसृष्टपूर्वं हि भक्षितं तत्तु वानरैः ॥४॥

हे राजन् ! आपने या बालि ने या ऋक्षराज ने पहिले जिस मधुवन को कभी (किसी को) इच्छानुसार भोग करने नहीं दिया--उस वन के फलों को वानरों में खा डाला ॥४॥

१ पाठान्तरे०—“मवेदीर ।” २ निसृष्टपूर्वं—यद्येच्छभोगाय न दत्तपूर्वं ।

(गो०)

एभिः प्रर्धापिताश्चैव श्वारिता वनरक्षिभिः ।

मधून्यचिन्तयित्वेमान्भक्षयन्ति पिवन्ति च ॥५॥

जब मंने अपने अनुचरो के साथ उनको रोका तब उन लोगो ने मेरा तिरस्कार कर इच्छानुसार मधुफल खाया और मधुपान किया ॥५॥

‘शिष्टमत्रापविष्यन्ति’ भक्षयन्ति तथा परे ।

निवार्यमाणास्ते सर्वे भ्रुवो^५ वै दर्शयन्ति हि ॥६॥

यही नहीं, प्रत्युत जो फल खाने से बच रहे हैं उन्हें वे मूढ कर रहे हैं और जब मेरे अनुचर उन्हें मना करते हैं, तब वे भीड़ें टेढ़ी कर भाँड़ें दिखाते हैं ॥६॥

इमे हि^५ सरव्यतरास्तथा तैः सम्प्रर्धापिताः ।

वारयन्तो वनात्स्मात्क्रुद्धैर्वानरपुङ्गवैः ॥७॥

जब मेरे अनुचर उनको रोकने लगे, तब उन वानरपुङ्गवो ने इनको डराया घमकाया और उस वन से इनको निकाल दिया ॥७॥

ततस्तैर्बहुभिर्वीरैर्वनिरैर्वनिरर्षभ ।

संरवतनयनैः क्रोधाद्धरयः प्रविचालिताः ॥८॥

तदनन्तर बहुत से बड़े-बड़े वानरो ने क्रोध में भर और नेत्र लाल-साल कर, हमारे अनुचरो को मार कर भगा दिया ॥८॥

पाणिभिर्निहताः केचित्केचिज्जानुभिराहताः ।

प्रकृष्टाश्च यथाकामं देवमार्गं च दर्शिताः ॥९॥

किसी को घण्टों से और किसी को सातों से मारा तथा किसी-किसी को खींच कर आकाश में लुका दिया ॥९॥

१ पाठान्तरे—“वानरा ।” २ शिष्ट—अवशिष्टम् । (गो०)

३ अपविष्यन्ति—ध्वसयन्ति । (गो०) ४ भ्रुवो—वक्रे भ्रुवो । (रा०)

५ सरव्यतराः—निवारणाय यत्नवन्त । (रा०)

एवमेते हताः शूरास्त्वपि तिष्ठति भर्तरि ।

कृत्स्नं मधुवनं चैव प्रकामं द्यूतैः प्रभक्ष्यते ॥१०॥

हे राजन् ! तुम जैसे मालिक के रहते ये सब मेरे वीर अनुधर इस प्रकार मारे-पीटे गये और अब भी सब वानर मधुवन में मनमानी कर खा-पी रहे हैं ॥१०॥

एवं विज्ञाप्यमानं तु सुग्रीवं वानरर्यभम् ।

श्रपृच्छत्त महाप्राज्ञो लक्ष्मणः परवीरहा ॥११॥

जिस समय दधिमुख वानर कपिश्रेष्ठ सुग्रीवजी से निवेदन कर रहा था उस समय शत्रुहन्ता एव महाप्राज्ञ लक्ष्मण ने पूछा ॥११॥

किमयं वनपो राजन्भवन्तं प्रत्युपस्थितः ।

कं चार्थमभिनिदिश्य दुःखितो वाक्यमब्रवीत् ॥१२॥

हे राजन् ! यह वनपाल वानर किस लिए आपके पास आया है और दुखी हो आपसे क्या कह रहा है ? ॥१२॥

[नोट—जान पड़ता है दधिमुख ने सुग्रीव से वानरी भाषा में शिकायत की जिसे श्रीराम और लक्ष्मण न समझ सके ।]

एवमुक्तस्तु सुग्रीवो लक्ष्मणेन महात्मना ।

लक्ष्मणं प्रत्युवाचेदं वाक्यं वाक्यविशारदः ॥१३॥

जब महात्मा लक्ष्मण ने इस प्रकार पूछा तब वाक्यविशारद सुग्रीव ने लक्ष्मण के प्रश्नों का उत्तर देते हुए कहा ॥१३॥

आर्यं लक्ष्मण संप्राह वीरो दधिमुखः कपिः ।

अद्भुतप्रमुखैर्वीरैर्भक्षितं मधु वानरैः ॥१४॥

हे आर्य ! यह वीर दधिमुख वानर कह रहा है कि अद्भुत आदि वीर वानरों ने मधुवन के मधुफलों को खा डाला है ॥१४॥

१ पाठान्तरे—“वानरो ।”

विचित्य दक्षिणामाशामागतं हंरिपुङ्गवैः ।

नैयामकृतकृत्यानामीदृशः स्यादुपक्रमः ॥१५॥

इससे जान पड़ता है कि दक्षिण दिशा में सीताजी का पता लगा वे वानरश्रेष्ठ आ गए हैं क्योंकि बिना कार्य पूरा किए वे ऐसी डिठाई नहीं कर सकते थे ॥१५॥

आगतेश्च प्रमथितं यथा मधुवनं हि तैः ।

धर्षितं च वनं कृत्स्नमुपयुक्तं^१ च वानरैः ॥१६॥

आकर समस्त वन को नष्ट करना और मना करने पर मना करने वालों को मारना-पीटना तथा मधुफलों को खाना—यह सब वे तभी कर सकते हैं जब वे अपने कार्य को पूरा कर चुके हों ॥१६॥

वनं यदाऽभिपन्नास्ते साधितं कर्म वानरैः ।

दृष्ट्वा देवी न संदेहो न चान्येन हनूमता ॥१७॥

यदि उन वानरों ने वन में आकर उपद्रव किया है तो निश्चय ही वे लोग और विशेष कर हनुमान सीता को देख आए हैं ॥१७॥

न ह्यन्यः साधने हेतुः कर्मणोऽस्य हनूमतः ।

कार्यसिद्धिर्मतिश्चैव तस्मिन्वानरपुङ्गवे ॥१८॥

क्योंकि हनुमान को छोड़, यह काम दूसरा नहीं कर सकता हनुमानजी में कार्य पूरा करने की बुद्धि है ॥१८॥

व्यवसायश्च वीर्यं च श्रुतं चापि प्रतिष्ठितम् ।

जाम्बवान्यत्र नेता स्यादङ्गदशच महाबलः ॥१९॥

वे उद्योगी हैं, बलवान हैं और पण्डित हैं । फिर जहाँ जाम्बवान् और गद नेता हों ॥१९॥

हनूमांश्चाप्यधिष्ठाता न तस्य गतिरन्यथा ।

अङ्गदप्रमुखैर्वीरैर्हंतं मधुवनं किल ॥२०॥

१ उपयुक्त—भूक्त । (रा०)

और जिस काम के हनुमानजी अधिष्ठाता हो वहाँ, पर कोई कार्य अधूरा नहीं रह सकता। इससे मगदप्रमुख वीर वानरो ने मधुवन को नष्ट कर डाला है ॥२०॥

वारयन्तश्च सहितास्तथा जानुभिराहताः ।

एतदर्थमयं प्राप्तो वक्तुं मधुरवाग्निह ॥२१॥

और मना करने पर मना करने वाली को लातो से मारा है। ये ही बातें कहने के लिए यह मधुरभाषी वानर भेरे पास आया है ॥२१॥

नाम्ना दधिमुल्लो नाम हरिः प्रख्यातविक्रमः ।

दृष्ट्वा सीता महाबाहो सौमित्रे पश्य तत्त्वतः ॥२२॥

इनका नाम दधिमुल्ल वानर है और यह एक प्रसिद्ध पराक्रमी है। हे महाबाहु लक्ष्मण ! देखो वास्तव में बात यह है कि, उन लोगों ने सीता का पता लगा लिया है ॥२२॥

अभिगम्य तथा सर्वे पिबन्ति मधु वानराः ।

न चाप्यदृष्ट्वा वंदेहो विश्रुताः पुरुषर्षभ ॥२३॥

तभी तो वे सब वानर आकर मधुपान कर रहे हैं। हे पुरुषश्रेष्ठ ! बिना सीता को देखे वे विख्यात वानर लोग ॥२३॥

वनं दत्तवरं दिव्यं धर्षयेद्युर्वनौकसः ।

ततः प्रहृष्टो धर्मात्मा लक्ष्मणः सहराघवः ॥२४॥

देवताओं के द्वारा प्राप्त दिव्य मधुवन को कभी उजाड़ नहीं सकते थे। तब तो धर्मात्मा श्रीरामचन्द्रजी और लक्ष्मणजी बहुत प्रसन्न हुए ॥२४॥

श्रुत्वा कर्णसुखां वाणी सुप्रीववदनाच्च्युताम् ।

प्रहृष्यत भृशं रामो लक्ष्मणश्च महाबलः ॥२५॥

सुप्रीव के मुख से इस सुखसंवाद का सुन, महाबलवान श्रीरामचन्द्रजी और लक्ष्मणजी बहुत प्रसन्न हुए ॥२५॥

१ दत्तवर—शुशरजसे ब्रह्मणादत्तमित्यवगम्यते । (गो०)

श्रुत्वा दधिमुखस्येदं सुग्रीवस्तु प्रहृष्य च ।

वनपालं पुनर्वाक्यं सुग्रीवः प्रत्यभाषत ॥२६॥

दधिमुख क मुत्र से डम मवाद का मुत्र मुग्रीव प्रसन्न होकर उस वनरक्षक दधिमुख से बोले ॥२६॥

प्रीतोऽस्मि सोऽहं यद्भुवतं वन तैः कृतकर्मभिः ।

मपितं मर्षणीयं चै चैष्टितं कृतकर्मणाम् ॥२७॥

मैं उन कृतकर्मा वानरा द्वारा मधुफलो के खाए जाने से प्रसन्न हूँ क्योंकि उन्होंने बड़ा भारी काम किया है मगर उन्होंने जो दृष्टान्त अथवा उत्पात किए हैं वे क्षन्नव्य हैं ॥२७॥

इच्छामि शीघ्रं हनुमत्प्रधाना-

ञ्शाखामृगास्तान्मृगराजदर्पान् ।

द्रष्टुं कृतार्थान्तह राघवाभ्या

श्रोतुं च सीताधिगमे प्रयत्नम् ॥२८॥

उन सिंह समान पराक्रमी तथा कृतकर्मा हनुमानादि वानरो को मैं शीघ्र देखना चाहता हूँ और श्रीरामचन्द्र तथा लक्ष्मण सहित मैं सीताजी के पास उनके पहुँचने का वृत्तान्त सुनना चाहता हूँ ॥२८॥

प्रीतिस्फीताक्षौ^१ सम्प्रहृष्टौ कुभारौ

दृष्ट्वा त्तिद्वार्यौ^२ वानराणां च राजा ।

अङ्गैः सहृष्टैः कर्मसिद्धिं विदित्वा

बाह्वोरासन्नां सोऽतिमात्रं ननन्द ॥२९॥

इति त्रिपष्टितम सर्गं ॥

१ स्फीताक्षी—विक्रान्तनेत्री । (रा०) २ बाह्वोरासन्ना—हस्तप्राप्त-
मिव । (रा०)

यह सवाद सुनने से श्रीरामचन्द्रजी व लक्ष्मणजी पुलकित हो गए और भारे प्रसन्नता के उनके दोनों नेत्र विकसित हो गए । इन शुभ लक्षणों को देख सुग्रीव को ऐसा जान पडा मानो कार्य की सफलता हाथ में आ गई हो और यह जान वे अत्यन्त प्रसन्न हुए ॥२६॥

मुन्दरकाण्ड का तिरसठवां सर्ग पूरा हुआ ।

— ० —

चतुःपण्डितमः सर्गः

सुग्रीवेणैवमुक्तस्तु हृष्टो दधिमुखः कपिः ।

राघवं लक्ष्मणं चैव सुग्रीवं चाभ्यवादयत् ॥१॥

जब सुग्रीव ने इस प्रकार कहा तब दधिमुख प्रसन्न हुआ और श्रीराम-चन्द्रजी लक्ष्मण तथा सुग्रीव को प्रणाम किया ॥१॥

स प्रणम्य च सुग्रीवं राघवौ च महाबली ।

वानरैः सह तैः शूरैर्दिवमेवोत्पपात ह ॥२॥

सुग्रीव तथा महाबली श्रीरामचन्द्रजी और लक्ष्मण को प्रणाम कर और अपने अनुचरो को साथ ले वह आकाशमार्ग से चला गया ॥२॥

स यथैवागतः पूर्वं तथैव त्वरितो गतः ।

निपत्य गगनाद्भूमौ तद्वनं प्रविवेश ह ॥३॥

पूर्व में जैसी शीघ्रता से वह आया था वगैरे ही शीघ्रता से वह लौट गया और आकाश से भूमि पर उतर मधुवन में गया ॥३॥

स प्रविष्टो मधुवनं ददर्श हरियूथपान् ।

विमतानुत्थितान्स्त्वान्मेहमानान्मधूदकम् ॥४॥

उत्तने वन में जाकर उन वानर यूथपतियों को देखा कि वे 'मतवाले' और उद्धत हो मधु के समान मूत्र मूत्र रहे हैं ॥४॥

स तानुपागमद्वीरो बद्ध्वा करपुटाञ्जलिम् ।

उवाच वचनं श्लक्ष्णमिदं हृष्टवदङ्गदम् ॥५॥

वीर दधिमुख हाथ जोड़े हुए उन वानरो के पास गया और प्रसन्न हो
मङ्गल से ये मधुर वचन बोला ॥१॥

सौम्य रोपो न कर्तव्यो यदेनिरनिवारितः ।

अज्ञानाद्रक्षिभिः क्रोधाद्भ्रुवन्तः प्रतिषेधिताः ॥६॥

हे नोम्य ! जो उन लोगों ने आपको रोका, इनके लिए आप क्रुद्ध न हों;
क्योंकि इनकी अज्ञानी बात मानूँ न थी इसी से इन लोगों ने क्रोध में भर
रोका था ॥६॥

युवराजस्त्वमीशश्च वनस्यास्य महाबल ।

मौर्ह्यात्पूर्वं कृतो दोषस्तं भवान्क्षन्तुमर्हति ॥७॥

हे महाशक्ती ! आप युवराज होने के कारण स्वयं ही इस मधुवन के
मालिक हैं। पूर्व में मुखनाबग हम लोगों से जो अपराध बन पड़ा है—उसे
आप क्षमा करें ॥७॥

आस्यातं हि मया गत्वा पितृव्यस्य तवानघ ।

इहोपयातं सर्वेषामेतेषां वनचारिणाम् ॥८॥

हे अनघ मैंने आपके चाचा के पास जाकर इन सब वानरो के मधुवन में
आने का वृत्तान्त कहा ॥८॥

स त्वदागमनं श्रुत्वा सहनिर्हरियूथपैः ।

प्रहृष्टो न तु हृष्टोऽसौ वनं श्रुत्वा प्रघर्षितम् ॥९॥

वे सब वानरों सहित, आपका आगमन और इस मधुवन के उजाड़े जाने
का संवाद सुन, बहुत प्रसन्न हुए, अप्रसन्न नहीं ॥९॥

प्रहृष्टो मां पितृव्यस्ते सुग्रीवो वानरेश्वरः ।

शीघ्रं प्रेषय सर्वास्तानिति हौवाच पार्यिवः ॥१०॥

आपके चाचा अनिराज मुझे ने अत्यन्त प्रसन्न हो मुझे कहा है कि—
“समस्त वानरा को यौघ्र मेरे पास भेज दो” ॥१०॥

श्रुत्वा दधिमुखस्यैतद्वचनं श्लक्ष्णमङ्गदः ।

अब्रवीत्तान्हरिश्रेष्ठो वाक्यं वाक्यविशारदः ॥११॥

बचन बोलने में चतुर अङ्गद, दविमुख के ये मधुर बचन सुन । सब धानरो से बोल ॥११॥

शङ्के^१ श्रुतोऽयं वृत्तान्तो रामेण हरियूथपाः ।

'तत्क्षमं नेह नः स्थातुं कृते कार्ये परन्तपाः ॥१२॥

हे धानर यूथपतियो ! मुझे ऐसा जान पड़ता है कि हमारे आने का वृत्तान्त श्रीरामचन्द्रजी को विदित हो चुका है । सो हे परन्तप ! यहाँ अब अधिक समय तक रहना उचित नहीं है, क्योंकि यहाँ जो काम करना था सो तो हो चुका ॥१२॥

पीत्वा मधु यथाकामं विश्रान्ता धनचारिणः ।

कि शेषं गमनं तत्र सुग्रीवो यत्र मे गुरुः ॥१३॥

आप सब लोग पेट भर कर मधु पी चुके और थकावट भी मिटा चुके, अब कौन काम बाकी रह गया है अतः मेरी समझ में जहाँ मेरे पूज्य पितृव्य सुग्रीव हैं वहाँ अब चलना चाहिए ॥१३॥

सर्वे यथा मां वक्ष्यन्ति समेत्य हरियूथपाः ।

तथाऽस्मि कर्त्ता कर्त्तव्ये भवद्भिः^२ परवानहम् ॥१४॥

अब आप सब धानरश्रेष्ठ मिल कर जैसा मुझसे कहें मैं वैसा ही करूँ । क्योंकि मैं आप ही लोगों के अधीन हूँ ॥१४॥

नाज्ञापयितुमीशोऽहं^३ युवराजोऽस्मि यद्यपि ।

अयुक्तं कृतकर्मणो^४ यूयं धर्ययितुं मया ॥१५॥

यद्यपि मैं युवराज हूँ और स्वतंत्र हूँ, तथापि मैं आप लोगों को कोई आज्ञा नहीं दे सकता क्योंकि उपकार करने वालों को परतंत्र बनाना मेरे लिए ठीक नहीं ॥१५॥

१ शङ्के—अनुमिनोनि । (शि०) २ पाठान्तरे—“तत्क्षण ।” ३ भवद्भिः परवानहम्—भवदधीन इत्यर्थं । (रा०) ४ ईश—स्वतंत्रः । (गो०)
५ कृतकर्मणः—कृतोपकाराः । (गो०)

ब्रुवतश्चाङ्गदस्यैवं श्रुत्वा वचनमुत्तमम् ।

प्रहृष्टमनसो वाक्यमिदमूचुर्वनीकसः ॥१६॥

वनवासी वानर लोग अङ्गद के ऐसे विनम्र वचन सुन कर और हर्षित हो यह बोले ॥१६॥

एवं वक्ष्यति को राजन्प्रभुः सन्वानरपंभ ।

ऐश्वर्यमदमतो हि सर्वोऽहमिति मन्यते ॥१७॥

हे राजन् ! स्वामी होकर ऐसे वचन कौन कहेगा ? क्योंकि ऐश्वर्य का मद ऐसा है जो सब को गर्वोता मयवा महकारी बना देता है ॥१७॥

तव चेदं सुसदृशं वाक्यं नान्यस्य कस्यचित् ।

सन्नतिर्हि तवाख्याति भविष्यच्छुभभाग्यताम् ॥१८॥

ये वचन आप ही के स्वल्पानुलून हैं, आप जैसा उच्च पदवी वाला अन्य कोई जन ऐसे वचन नहीं कहना । आप में जैसा विनम्रता और विनय है उससे जान पड़ता है कि आगे आपका भाग्योदय होने वाला है ॥१८॥

सर्वे वयमपि प्राप्तास्तत्र गन्तुं कृतक्षणाः^३ ।

स यत्र हरिवीराणां सुग्रीवः पतिरर्घ्यधः ॥१९॥

इस समय वीर वानरों के राजा जहाँ विराजमान हैं वहाँ चलने के लिए हम सब उत्कण्ठित हैं ॥१९॥

त्वया ह्यनुवर्तंहरिभिर्नैव शक्यं पदात्पदम् ।

यवचिद्गन्तुं हरिश्रेष्ठ द्रूमः सत्यमिदं तु ते ॥२०॥

हम लोग आप से सत्य ही सत्य कहते हैं कि बिना आपकी आज्ञा के वानर लोग वही भी जाने के लिए एक पग भी आगे नहीं बढ़ा सकते ॥२०॥

एवं तु वदतां तेषामङ्गदः प्रत्यभाषत ।

ब्राह्मं गच्छाम इत्युक्त्वा उत्पपात महीतलात् ॥२१॥

१ प्रहृष्टमिति मन्यते—प्रहृष्टो भवतीति । (गो०) २ सन्नतिः—विनय । (गो०) ३ कृतक्षणा—दृष्टीमाहा । (रा०)

जब उन वानरो ने इस प्रकार कहा तब उनको उत्तर देते हुए अङ्गद कहने लगे बहुत अच्छा—आओ अब चलो—यह कह वे सब वानर पृथिवी से उछल कर आकाश में पहुँचे ॥२१॥

उत्पतन्तमनूत्पेतुः सर्वे ते हरियूथपाः ।

कृत्वाऽऽकाशं निराकाशं यन्त्रोत्क्षिप्ता इवोपलाः ॥२२॥

अङ्गदादि वानरा का उछल कर आकाश में जाते देख अन्य सब वानरों ने भी कल से फेंके हुए पत्थरों की तरह आकाश में जा आकाश को छा लिया ॥२२॥

तेऽम्बरं सहस्रोत्पत्य वेगवन्तः प्लवङ्गमाः ।

विनदन्तो महानादं घना वातेरिता यथा ॥२३॥

वे वेगवन्त वानर सहसा आकाश में जा, वायु की तरह महानाद करते हुए चले ॥२३॥

अङ्गदे समनुप्राप्ते सुग्रीवो वानराधिपः ।

उवाच शोकोपहतं रामं कमललोचनम् ॥२४॥

अङ्गद को आते देख वानरराज सुग्रीव ने शोकसन्तप्त एव कमललोचन श्रीरामचन्द्रजी से कहा ॥२४॥

समाश्वसिहि भद्रं ते दृष्ट्वा देवी न संशयः ।

न गन्तुमिह शक्यं तैरतीते समये हि नः ॥२५॥

भापका मङ्गल हो । भाप अब धीरज धरो । सीता का पता लग गया । क्योंकि यदि सीता का पता न लगा होता तो अबधि बीत जाने पर वे यहाँ कभी नहीं आ सकते थे ॥२५॥

न मत्सकाशमागच्छेत्कृत्ये हि विनिपातिते ।

युवराजो महाबाहुः प्लवतां प्रवरोऽङ्गदः ॥२६॥

वानरों में श्रेष्ठ श्रीर महाबाहु युवराज अङ्गद यदि काम पूरा न होता तो मेरे समीप कभी न आते ॥२६॥

यद्यप्यकृतकृत्यानामीदृशः स्यादुपक्रमः ।

भवेत्स दीनवदनो भ्रान्तविप्लुतमानसः ॥२७॥

यदि काम न कर सकते तो (ये लोग) इस तरह मधुवन विध्वंस न करते और यदि हमारे सामने आते तो वे (अङ्गद) उदास होते और उनका मन मलिन और भ्रान्त होता ॥२७॥

पितृपैतामहं चतत्पूर्वकैरभिरक्षितम् ।

न मे मधुवनं हन्यादहृष्टः प्लवगेश्वरः^१ ॥२८॥

जानकीजी को देख बिना, बिना हमारे पितामहादि पुरुषों का और उनके द्वारा रक्षित मधुवन को अंगद कभी न उगाडते ॥२८॥

कौसल्या सुप्रजा राम समाश्वसिहि सुव्रत ।

दृष्ट्वा देवी न सन्देहो न चान्येन हनूमता ॥२९॥

हे सुव्रत ! हे श्रीराम ! कौसल्याजी आपको उत्पन्न कर सत्पुत्रवती हुई है । अब आप सावधान हो जायें । ये सीता को अवश्य देख कर आयें हैं । तो भी उनमें से किसी अन्य ने नहीं, किन्तु हनुमानजी ने सीता को देखा है ॥२९॥

न ह्यन्यः साधने हेतुः साधनेऽस्य हनूमतः ।

हनूमति हि सिद्धिश्च मतिश्च मतिसत्तम ॥३०॥

क्योंकि यदि हनुमान ने सीता को न देखा होता तो परमोत्तम बुद्धिसम्पन्न हनुमान वाटिका विध्वंस रूप काय को कभी होने न देते । अतः मेरी समझ में तो श्रेष्ठ-बुद्धि-सम्पन्न हनुमान ने ही इस काम को सिद्ध किया है (शि०) ॥३०॥

व्यवसायश्च वीर्यं च सूर्यं तेज इव ध्रुवम् ।

जाम्बवान्यत्र नेता स्यादङ्गदश्च बलेश्वरः^२ ॥३१॥

क्योंकि निश्चय ही हनुमानजी में अध्ववसाय है, बल है और वे सूर्य की तरह तेजस्वी हैं । फिर जिसमें जाम्बवान नेता हो, अङ्गद सेनापति हो ॥३१॥

हनुमांश्चाप्यधिष्ठाता^१ न तस्य गतिरन्यथा ।

मा भूश्चिन्तासमायुवतः सम्प्रत्यमितविक्रम ॥३२॥

और हनुमान सरसक हो, उस काम में कभी विफलता ही ही नहीं
सकनी । हे धर्मितपराकमी ! अब आप चिन्ता न करें ॥३२॥

ततः किलकिलाशब्दं शुश्रावासन्नमम्बरे ।

हनुमत्कर्मदृप्ताना नर्दतां काननौकसाम् ॥३३॥

इतन ही में आकाशमार्ग में आते हुए, वानरो की किलकारियाँ सुनाई पड़ीं ।
वे वानर, हनुमानजी द्वारा कार्य पूरा होने से, गर्वित हो गर्ज रहे थे ॥३३॥

किष्किन्धामुपयातानां सिद्धिं कथयतामिव ।

ततः श्रुत्वा निनादं तं कपीना कपिसत्तमः ॥३४॥

किष्किन्धा की ओर आते हुए उन वानरो का उस समय का गर्जना मानो
कार्यसिद्धि को सूचित कर रहा था तदनन्तर उन कपियो का गर्जना सुन,
कपियो में श्रेष्ठ सुग्रीव ने ॥३४॥

आयताञ्चितलाङ्गुलः सोऽभवद्धृष्टमानसः ।

आजग्मुस्तेऽपि हरयो रामदर्शनकाङ्क्षिणः ॥३५॥

अपनी पूँछ लंबी फैलाकर, फिर उसे चक्करदार कर समेट ली और वे
बहुत ही प्रसन्नचित्त हो गए । इतने में वे कपि भी, धीरामचन्द्रजी के दर्शन
की आकांक्षा से, वहाँ आ पहुँचे ॥३५॥

अङ्गदं पुरतः कृत्वा हनूमन्तं च वानरम् ।

तेऽङ्गदप्रमुखा वीराः प्रहृष्टाश्च मुदान्विताः ॥३६॥

वे सब वानर अङ्गद और हनुमानजी को आगे कर आए । वे अङ्गदादि
वीर वानरगण मारे हर्ष के पुलकित हो रहे थे ॥३६॥

निपेतुर्हरिरराजस्य समीपे राघवस्य च ।

हनुमांश्च महाबाहुः प्रणम्य शिरसा ततः ॥३७॥

वे धानरगण, धावाश स उत जगह भूमि पर उारे, जिस जगह कपिराज सुग्रीव और श्रीरामचन्द्रजी बठे हुए थे । तदनन्तर सबसे पहिले महाबाहु हनुमानजी ने सीस नवापर प्रणाम किया ॥३७॥

१नियतामक्षता^१ देवी राघवाय न्यवेदयत् ।

निश्चिंतार्थस्ततस्तस्मिन्सुग्रीव पवनात्मजे ।

लक्ष्मण प्रीतिमान्प्रीत बहुमानादवक्षत ॥३८॥

श्रीर श्रीरामचन्द्रजी से निवेदन किया कि सीताजी सरोर से कुशल है और पातिव्रतधर्म पर दृढ़ हं । हनुमानजी में सीताजी को दलने का निश्चय रखा जाने सुग्रीव का प्रीतिमान लक्ष्मणजी न बड़ी प्रीति और सम्मान के साथ दखा ॥३८॥

प्रीत्या च रममाणोऽथ राघव परवीरहा ।

बहुमानेन महता हनुमन्तमवक्षत ॥३९॥

इति चतु पण्डितम सर्ग ॥

परवीरहन्ता श्रीरामचन्द्रजी भी अत्यन्त प्रीति और घादर के साथ, यपि श्रेष्ठ हनुमानजी को देखने लगे ॥३९॥

सुन्दरकाण्ड का चौसठवां सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

पञ्चपण्डितमः सर्गः

ततः प्रस्रवण शंल ते गत्वा चित्रकाननम् ।

प्रणम्य शिरसा राम लक्ष्मण च महाबलम् ॥१॥

तदनन्तर हनुमानादि वानरो ने उस रम्य बिरमे पुष्पा म शोभित वागन मुक्त प्रस्रवण पर्वत पर जा महाबली श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण को सिर नवा कर प्रणाम किया ॥१॥

१ नियतां—पातिव्रत्यसम्पत्तां । (१०) २ घदाती—सरोरेण कुशलिनीम् । (१०)

युवराज पुरस्कृत्य सुग्रीवमभिवाद्य च ।
प्रवृत्तिमथ सीताया प्रवक्तुमुपचक्रमु ॥२॥

फिर युवराज अङ्गद का आग्रह कर श्रीर सुग्रीव को प्रणाम कर व सीता का वृत्तान्त कहन लग ॥२॥

रावणान्त पुरे रोध राक्षसीभिश्च तर्जनम् ।
रामे समनुराग च यश्चाय समय वृत्त ॥३॥

सीता को रावण के रनवास में रोक् रखा जाना राक्षसियों द्वारा डराया-धमकाया जाना, श्रीरामचन्द्रजी में साता क अनुराग और रावण द्वारा सीता के मारे जान की धमकी नियत किया जाना ॥३॥

एतदाख्यान्ति ते सर्वे हरयो रामसन्निधौ ।
वन्देहीमक्षता श्रुत्वा रामस्तूत्तरमब्रवीत् ॥४॥

यह समस्त वृत्तान्त श्रीरामचन्द्रजा से उन वानरा ने कहा । सीताजी की राजीक्षुशा का सवाद सुन श्रीरामचन्द्रजी ने कहा ॥४॥

इव सीता वर्तते देवी कथं च मयि वर्तते ।
एतन्मे सर्वमाख्यातं वन्देहीं प्रति वानरा ॥५॥

हे वानरा ! साता त्वा कहीं हे धीर मरे विषय में उनका मन कैसा है ? मा तुम यह सब सीता का वृत्तान्त मुझसे कहो ॥५॥

रामस्य गदित श्रुत्वा हरयो रामसन्निधौ ।
चोदयन्ति हनूमन्त सीतावृत्तान्तकोविदम् ॥६॥

वानरों ने श्रीरामचन्द्रजी का यह कथन सुन सीता का समस्त वृत्तान्त जानन वाल हनुमानजी से वृत्तान्त सुनान का कहा ॥६॥

श्रुत्वा तु वचनं तेषां हनुमान्मारतात्मज ।
प्रणम्य शिरसा देव्यं सीतायै तां दिश प्रति ॥७॥

उन वानरों के वचन सुन पवननन्दन हनुमानजी ने दक्षिण दिशा की ओर मूँह कर श्रीर सास नयाकर जानकी माता को प्रणाम किया ॥७॥

उवाच वाक्यं वाक्यज्ञः सीताया दर्शनं यथा ।

समुद्रं लङ्घयित्वाऽहं शतयोजनमायतम् ॥८॥

तदनन्तर बातचीत करने में चतुर हनुमानजी ने वह सारा वृत्तान्त कहा, जिस प्रकार उन्होंने सीताजी को देखा था । वे बोले हे रावण ! मैं शतयोजन समुद्र को लांघ कर ॥८॥

अगच्छं जानकीं सीतां मार्गमाणो दिदृक्षया ।

तत्र लङ्केति नगरी रावणस्य दुरात्मनः ॥

सीता को देखने की इच्छा से समुद्र के पार गया । वहीं पर उय दुरात्मा रावण की लङ्का नाम की पुरो है ॥९॥

दक्षिणस्य समुद्रस्य तीरे वसति दक्षिणे ।

तत्र दृष्टामया सीता रावणान्तःपुरे सती ॥१०॥

दक्षिण-समुद्र के दक्षिणी तट पर वह लकानगरी बसी हुई है । उस नगरी में रावण के अन्त पुर में मैंने पतिव्रता जानकी को देखा ॥१०॥

सन्यस्य त्वयि जीवन्ती रामा राम^१ मनोरथम् ।

दृष्टा मे राक्षसीमध्ये तर्ज्यमाना मुहुर्मुहुः ॥११॥

हे श्रीरामचन्द्रजी ! सीता केवल तुम्हारे दर्शन की आशा से जीवित हूँ मैंने उन्हें राक्षसियों के बीच बैठी हुई देखा । राक्षसियाँ बार-बार उन्हें डरा-धमका रही थी ॥११॥

राक्षसोभिविरूपाभि रक्षिता प्रमदावने ।

दुःखमापद्यते देवी त्वया वीर सखोचिता ॥१२॥

प्रमदावन में मुँहजली राक्षसियाँ उनकी रखवाली किया करती हैं । सीता-जी सदा तुम्हारे साथ सुख भोगती रही हैं; किन्तु इस समय वे दुःखी हो रही हैं ॥१२॥

रावणान्तःपुरे रुद्ध्वा राक्षसीभिः सुरक्षिता ।

एकवेणीधरा दीना त्वयि चिन्तापरायणा ॥१३॥

एक तो व रावण के रनवास में कैद है, दूसरे राक्षसियाँ उनकी बड़ी सावधानी से चौकसी करती रहती हैं । वे सिर के बेशा को बाँध उन सब की एक चोटी बनाए हुए हैं (अर्थात् शृङ्गार रहिन हैं ।) वे सदा उदास रहती हैं और तुम्हाग ही ध्यान किया करती हैं ॥१३॥

अथ शय्या वियर्णाङ्गी पद्मिनीव हिमागमे ।

रावणाद्विनिवृत्तार्था मर्तव्यकृतनिश्चया ॥१४॥

वे पृथ्वी पर पड़ी रहती हैं उनका रंग वैसा ही फाका पड़ गया है जैसा कि हेमन्त ऋतु में कमिलिनी का फीका पड़ जाता है । रावण से कुछ भी सराकार न रख व जान देने का निश्चय किए हुए हैं ॥१४॥

देवी कथञ्चित्काकुत्स्थ त्वन्मना मार्गिता मया ।

इक्ष्वाकुवंशविख्यातिं शनैः कीर्तयताऽनघ ॥१५॥

हे काकुत्स्थ ! बड़ पारथम्य से किसी न किसी तरह मंन सीता को ढूँढ पाया और ह अनघ ! इक्ष्वाकुवंश का कीर्ति को बखान कर, ॥१५॥

सा मया नरशार्दूल विश्वासमुपपादिता ।

ततः सम्भाषिता देवी सर्वमर्थं च दर्शिता ॥१६॥

हे नरशार्दूल ! मंने उनका विश्वास अपने ऊपर जमा पाया । तदनन्तर उन देवी के साथ बातचीत कर उनको सब हाल बह मुनाया ॥१६॥

रानसुग्रीवसख्यं च श्रुत्वा प्रीतिमुपागता ।

नियतः समुदाचारो भवितश्चास्यास्तथा त्वयि ॥१७॥

वे तुम्हारी और सुग्रीव की मैत्री का वृत्तान्त सुन प्रसन्न हुईं । तुममें उनकी अनन्य भक्ति है और उनका पातिव्रत भी अटल बना हुआ है ॥१७॥

एवं मया महाभाग दृष्टा जनकनन्दिनी ।

उप्रेण तपसा युक्ता त्वद्भक्त्या पुरुषर्षभ ॥१८॥

हे महाभाग ! ऐसी दशा में मैंने जानकी को देखा है। हे पुण्योत्तम ! तुममें उनकी बड़ी प्रीति है और वे बठार तपस्था कर रही हैं— अर्घान् बड़े कष्ट सह रही हैं ॥१८॥

अभिज्ञानं च मे दत्तं यथावृत्तं तवान्तिके ।

चित्रकूटे महाप्राज्ञ वायस प्रति राघव ॥१९॥

हे राघव ! हे महाप्राज्ञ ! चित्रकूट में तुमने कोए के प्राण जो लीला की थी, वह सब मुझ विद्वानो स्वल्प तुमने निबंदन करने का आनन्द ह ॥१९॥

विज्ञाप्यश्च नरव्याधो रामो वायुसुत त्वया ।

अखिलेनेह यददृष्टमिति मामाह जानकी ॥२०॥

और हे नरव्याध ! मुझसे यह भी कहा है कि, जना तुम यही दग्ने जाते हो वैसा जो का त्यों तुम श्रीरामचन्द्रजा क आगे कह देना । २०॥

अग्रं चास्मै प्रदातव्यो यत्नात्सुपरिरक्षितः ।

ब्रुवता वचनान्येव सुग्रीवस्पोषश्रुण्वतः ॥२१॥

एष चूडामणिः श्रीमान्नया सुपरिरक्षितः ।

मनःशिलायास्तिलको गण्डपाशर्वे निवेशितः ॥२२॥

त्वया प्रनष्टे तिलके तं किल स्मर्तुमर्हसि ।

एष निर्यातितः श्रीमान्मया ते वारिसम्भवः ॥२३॥

और इस चूडामणि को, जिसे मैंने उडे यत्न से बचा पाया है, श्रीरामचन्द्रजी को सुग्रीव के सामने देना और यह कहना कि मैंने इस चूडामणि को प्रथम से सुरक्षित रखा है और उनसे कहना कि तिलक मिट जाने पर तुमने जो मेरे गण्डपाशर्व में मनसिल का तिलक लगाया था, उसका स्मरण तो तुमको भवदय ही होगा। मैं अंगूठी के बदले तुमको जलोत्पन्न चूडामणि भेजती हूँ ॥२१॥

॥२२॥२३॥

एतं दृष्ट्वा प्रमोदिष्ये व्यसने त्वामिबानध ।

जीवितं धारयिष्यामि मासं दशरथात्मज ॥२४॥

हे धनध ! इसको देखने से तुमको हर्ष और विपाद दोनों ही होंगे । हे दशरथनन्दन ! मैं एक मास तक तुम्हारी प्रतीक्षा करती जीवित रहूंगी ॥२४॥

ऊर्ध्वं मासान्न जीवेयं रक्षसां यशमागता ।

इति मामन्नवीत्सीता कृशाङ्गी वरवर्णिनी ॥२५॥

एक मास बीतने पर मैं जान दे दूंगी क्योंकि मैं इन राक्षसों के पजे में आ पैंसी हूँ । हे राघव ! उन वृशाङ्गी और वरवर्णिनी (श्रेष्ठ रग वाली) सीता ने इस प्रकार के बचन मुझसे कहे हैं ॥२५॥

रावणान्तःपुरे रुद्धा मृगीवोत्फुल्ललोचना ।

एतदेव मयाख्यातं सर्वं राघव यद्यथा ।

सर्वथा सागरजले सन्तारः प्रविधीयताम् ॥२६॥

हिरनी के समान प्रफुल्लित नेत्रवाली जानकी रावण के रजवास में कैद हैं । हे राघव ! जो वृत्तान्त या वह सब मैंने तुमसे कहा । अब तुम जैसे ही जैसे समुद्र के पार होने का यत्न करो ॥२६॥

तौ जाताश्वासौ राजपुत्रौ विदित्वा

तच्चाभिज्ञानं राघवाय प्रदाय ।

द्वैव्या चाख्यातं सर्वमेवानुपूर्व्या-

द्वाचा सम्पूर्णं वायुपुत्रः शशंस ॥२७॥

इति पञ्चपष्टितम सर्गः ॥

यह कह चुकने पर जब हनुमानजी ने देखा कि दोनों राजकुमारों को बेरी बातों पर विश्वास हो गया है तब उन्होंने सीताजी की भेजी हुई चूड़ामणि श्रीरामचन्द्रजी को द दी और सीताजी का कहा हुआ सारा सदेशा भी श्रीरामचन्द्रजी को कह सुनाया ॥२७॥

मुन्दरकाण्ड का पैंसठवा सर्ग पूरा हुआ ॥

पट्टपष्टितमः सर्गः

एवमुक्तो हनुमता रामो दशरथात्मजः ।

तं मणिं हृदये कृत्वा प्रहरोद सलक्ष्मणः ॥१॥

जब हनुमानजी न इस प्रकार कहा तब दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्रजी उस चूडामणि को छाती से लगा। लक्ष्मण सहित रोने लगे ॥१॥

तं तु दृष्ट्वा मणिश्रेष्ठ राघव शोककाशितः ।

नेत्राभ्यामश्रुपूर्णाभ्या सुग्रीवमिदमब्रवीत् ॥२॥

उस मणि को देख श्रीरामचन्द्रजी डु खी हुए और दोनों नेत्रों में आंसू भर सुग्रीव से बोले ॥२॥

यथैव धेनुः स्रवति स्नेहाद्वत्सस्य वत्सला ।

तथा ममापि हृदयं मणिरत्नस्य दर्शनात् ॥३॥

जैसे वत्सला गाय के स्तनों से दूध के को देखने से अपने आप दूध टपकने लगती है वैसे ही इस मणिश्रेष्ठ को देखने से मेरा मन भी द्रवीभूत हो गया है ॥३॥

मणिरत्नमिदं दत्तं विदेह्याः श्वशुरेण मे ।

वधूकाले यथाबद्धमधिकं भूध्न शोभते ॥४॥

मेरे समुर विदेहराज ने विवाह के समय यह चूडामणि सीताजी को दी थी और मस्तक पर धारण करने से यह बड़ी शोभा भी देती थी ॥४॥

अयं हि जलसम्भूतो मणिः प्रवरपूजितः ।

यज्ञे परमतुष्टेन दत्तः शक्रेण धीमता ॥५॥

यह मणि जल में निकाली गई थी और यह देवपूजित है । बुद्धिमान इन्द्र ने यज्ञ में सन्तुष्ट हो यह जनकजी को दी थी ॥५॥

इमं दृष्ट्वा मणिश्रेष्ठं यथा तातस्य दर्शनम् ।

अद्यास्म्यवगतः सौम्य वैदेहस्य तथा विभोः ॥६॥

हे सौम्य ! इस मणि का देखन स मुझे परन पिता और महाराज जनक का स्मरण हो आया है ॥६॥

अयं हि शोभते तस्याः प्रियाया मूध्न मे मणिः ।

अद्यास्य दर्शनेनाह प्राप्ता तामिव चिन्तये ॥७॥

यह मणि मेरी प्यारी सीता के मस्तक पर आभा पाती था । आज इस मणि को देखन से मुझे ऐसा जान पड रहा है, मानो मुझे साक्षात् ही मिल गई हो ॥७॥

किमाह सीता वैदेही ब्रूहि सौम्य पुन-पुनः ।

पिपासुमिव तोयेन सिञ्चन्ती वाक्यवारिणा ॥८॥

हे सौम्य ! सीता ने क्या कहा ? उसकी कहा वानें तुम मुझसे बार बार कहो, उसने तो माना मुझ प्यास को अपने वचनरूपा जल से तुम्हें किया है ॥८॥

इतस्तु किं दुःखतरं यदिमं वारिसम्भवम् ।

मणिं पश्यामि सीमित्रे वैदेहीमागता विना ॥९॥

हे लक्ष्मण ! इससे बड़ कर मेरे लिए और कौन-सी दुःख की बात होगी कि, बिना सीता के मैं इस जलोत्पन्न चूडामणि को देख रहा हूँ ॥९॥

चिरं जीवति वैदेही यदि मासं धरिष्यति ।

न जीवेयं क्षणमपि विना तामसितेक्षणाम् ॥१०॥

हे लक्ष्मण ! यदि जानकी एक मास जीवित रही तो वह अवश्य बहुत काल जीता रहेगी । मैं तो उस कृष्णनयनी के बिना क्षण भर भी जीवित नहीं रह सकता ॥१०॥

नय मामपि तं देशं यत्र दृष्टा मम प्रिया ।

न तिष्ठेयं क्षणमपि प्रवृत्तिमुपलभ्य च ॥११॥

हे हनुमन् ! तुम मुझे भी वहीं ले चलो, जहाँ तुम मेरी प्यारी सीता को देख आए हो। उसका पता पा कर तो मैं अब एक क्षण मर भी (मन्यत्र) नहीं ठहर सकता ॥११॥

कथं सा मम सुश्रोणी भीरुभीरुः सती सदा ।

भयावहानां घोराणां मध्ये तिष्ठति रक्षसाम् ॥१२॥

हे हनुमन् ! यह तो वतलाप्रो कि, मरी वह सुन्दरी पतिव्रता और अत्यन्त भीरु (डरने वाली) सीता, विम प्रकार उन अत्यन्त भयकर राक्षसों के बीच रहती है ॥१२॥

शारदस्तिमिरोन्मुक्तो नूनं चन्द्र इवाम्बुदैः ।

भावृतं वदनं तस्या न विराजति राक्षसैः ॥१३॥

मन्वकार से युक्त शरद ऋतु का चंद्रमा मेघ से ढक कर जैसे प्रकाशित नहीं होता, वैसे ही राक्षसों द्वारा घिरी हुई होने के कारण सीताजी का मुख-मण्डल भी शोभायमान न होता होगा ॥१३॥

किमाह सीता हनुमंस्तत्त्वतः कथयाद्य मे ।

एतेन खलु जीविष्ये भेषजेनातुरो यथा ॥१४॥

हे हनुमन् ! अब तुम ठीक-ठीक मुझे वतलाप्रो कि जानकी ने तुमसे क्या कहा है ? जैसे रोगी दवा से जीता है, वैसे ही मैं, सीताजी के कथन को सुन निश्चय ही जीता रहूँगा ॥१४॥

मधुरा मधुरालापा किमाह मम भामिनी ।

मद्विहीना वरारोहा हनुमन्कथयस्व मे ॥१५॥

इति पट्पष्टितम सर्ग ॥

हे हनुमन् ! सौम्यमूर्ति एव मधुरभाषिणी जानकी ने वियोग में दुःखी हो मुझे क्या सदेसा भेषा है ? सो तुम कहो ॥१५॥

सुन्दरकाण्ड का छाट्टठवां सर्ग पूरा हुआ ।

सप्तपट्टितमः सर्गः

एवमुक्त्वा हनुमान् राघवेण महात्मना ।

सीताया भाषितं सर्वं न्यवेदयत् राघवे ॥१॥

इस धारा में चन्द्रमा न हनुमान्मा न इस प्रकार कहा, अब हनुमान्जी न सीताया का भाष कथन श्रीरामचन्द्रमा का कह मुनाया ॥१॥

इदमुक्त्वा देवी जानकी पुरुषार्थम् ।

पूर्ववृत्तमभिज्ञानं चित्रपूटे हुययातयम् ॥२॥

ह पुरुषार्थ ! पत्नि चित्रकूट पर्वत पर जा घुम्ना हुई था, देवा जानकी न उनका वृत्तान्त विहाना क रूप में अक्षय वनन किया ॥२॥

सुखसुप्ता त्वया सार्धं जानकी पूर्वमुत्थिता ।

वायस्य सहसोत्पत्य विरराद स्तनान्तरे ॥३॥

ह राम ! तुन और जानकी मुझ न पह सो छे ये । चिन्तु जानकी आप स सुव हा उठ बैठा कि, इसा बाच में प्रवानक एक और ने उठ कर उनको छात्रा में पाद कर दिया ॥३॥

पर्यायेण च मुप्तस्त्व देव्यङ्कु नरतामज ।

पुनश्च किल पत्नी स देव्या जनपति व्ययाम् ॥४॥

हे राम ! आप फिर पाग न देवी का पाद में सो कर, सो उठ काक ने पन पाकर जानकी का पाद दा ॥४॥

पुन पुनरुपागम्य विरराद भृश किल ।

ततस्त्व बोधितस्तस्या शोणितेन समुक्षित ॥५॥

उन बारदार पा कर दडा पाद कर दिया । उस पाद स रक्त निकलने क कारण वह रक्त तुम्हारे पाद पर गिर और तुन जा गए ॥५॥

वायमेन च तेनैव सततं बाध्यमानया ।

बोधिन किल देव्या त्व सुखमुप्त परन्तप ॥६॥

हे शयुहन्ता ! जब कौए ने जानकी को सगातार तग किया तब मुख से सोए हुए तुमको जानकी जी ने जमाया ॥६॥

तां तु दृष्ट्वा महाबाहो दारितां च स्तनान्तरे ।

आशीविष इव क्रुद्धो निःश्वसन्नभ्यभापथाः ॥७॥

हे महाबाहो ! जानकीजी की छाती में घाव देख कर तुम साँप की तरह क्रुद्ध हो फुफकारते हुए बोले ॥७॥

नखाग्रैः केन ते भीरु दारितं तु स्तनान्तरम् ।

कः क्रीडति सरोधेण पञ्चवक्त्रेण भोगिना ॥८॥

हे मोर ! पंजो से तेरी छाती में कितने घाव कर दिया है ? क्रुद्ध पाँच फन वाले साँप के साथ कौन खेल रहा है ? ॥८॥

निरोक्षमाणः सहसा वायसः समवैक्षयाः ।

नखैः सरुधिरंस्तीक्ष्णैस्तामेवाभिमुखं स्थितम् ॥९॥

ऐसा वह जब तुम देखने लगे; तब वह काक तुम को देख पडा, जिसके पंने नख रुधिर में भोगे थे और जो जानकीजी की घोर मुख किए सडा था ॥९॥

सुतः किल स शक्रस्य वायसः पततां वरः ।

रान्तरचरः शीघ्रं पवनस्य गतौ समः ॥१०॥

पक्षियो मे श्रेष्ठ वह काक निश्चय ही इन्द्र का पुत्र था । वह पवन को तरह बडी तेजी से पृथिवी के नीचे पाताल में) जा छिपा ॥१०॥

ततस्तस्मिन्महाबाहो कोपसंघतितेक्षणः ।

वायसे त्वं कृथाः क्रूरां मतिं मतिमतां वर ॥११॥

हे बुद्धिमानो मे श्रेष्ठ ! हे महाबाहो ! तब मारे क्रोध के तुम्हारी धारें तिरछी हो गईं । आपको उस कौए पर बडा क्रोध आया ॥११॥

स दर्भं संस्तराद् गृह्य ब्रह्मास्त्रेण ह्ययोजयः ।

स दीप्त इव कालाग्निर्ज्ज्वालाभिमुखः खगम् ॥१२॥

तुमने नीचे बिछी हुई कुश की चटाई से एक कुश निकाला और उसे ब्रह्मास्त्र के मन्त्र से मन्त्रित किया । वह कालाग्नि की तरह प्रदीप्त हो उस पक्षी की ओर चला ॥१२॥

क्षिप्तवांस्त्वं प्रदीप्तं हि दर्भं तं वायसं प्रति ।

ततस्तु वायसं दीप्तः स दर्भोऽनुजगाम ह ॥१३॥

जब तुमने उस दहकते हुए कुश को उस कोए पर चलाया, तब वह कोए के पीछे दौड़ा ॥१३॥

स पित्रा च परित्यक्तः सुरेश्च समर्हपिभिः ।

त्रींल्लोकान्सम्परिक्रम्य त्रातारं नाधिगच्छति ॥१४॥

उस समय न तो उसके पिता ने और न अन्य किसी देवता ने और न देवर्षियों ने ही उन ब्रह्मास्त्र से उसकी रक्षा की । वह तीनों लोकों में घूमा फिरा; किन्तु उसे कोई रक्षक न मिला ॥१४॥

पुनरेवागतस्त्रस्तस्त्वत्सकाशमरिन्दम ।

स तं निपतितं भूमौ शरण्यः शरणागतम् ॥१५॥

हे अरिन्दम ! वह भयभीत हो फिर तुम्हारे पास आया हे शरणदाता ! वह पृथिवी पर गिर तुम्हारे शरण हुआ ॥१५॥

वधार्हमपि काकुत्स्थ कृपया पर्यपालयः ।

मोघमस्त्रं न शक्यं तु कर्तुमित्येव राघव ॥१६॥

हे काकुत्स्थ ! वह मार डालने योग्य था तथापि शरण में आने के कारण तुमने उसकी रक्षा की । हे राघव ! वह अस्त्र अमोघ था । अतः आपने उस व्यर्थ करना उचित न समझा ॥१६॥

भवांस्तस्याक्षि काकस्य हिनस्ति स्म स दक्षिणम् ।

राम त्वां स नमस्कृत्य राज्ञे दशरथाय च ॥१७॥

और आपने उसकी दहिनी आँख उसमें फोड़ दी । हे राम ! तब वह काक तुम को और महाराज दशरथ को प्रणाम कर ॥१७॥

विसृष्टस्तु तदा काकः प्रतिपेदे स्वमालयम् ।

एयमस्त्रविदां श्रेष्ठः सत्ववाञ्शीलवानपि ॥१८॥

घोर विदा हो अपने घर को चला गया । तुम इस प्रकार के अस्त्रों के जानने वाले, पराक्रमी और शीलवान होकर भी ॥१८॥

किमर्थमस्त्रं रक्षःसु न योजयसि राघव ।

न नागा नापि गन्धर्वा नासुरा न मरुद्गणाः ॥१९॥

हे राघव ! आप राक्षसों पर उन अस्त्रों का प्रयोग क्यों नहीं करते ? न नागों, न गन्धर्वों, न दैत्यों और न मरुद्गण में से ॥१९॥

तव राम रणे शक्तस्तथा प्रतिसमासितुम् ।

तस्य वीर्यवतः कश्चिद्यद्यस्ति मयि सम्भ्रमः ॥२०॥

किसी में भी तुम्हारे सामने युद्ध में खड़े रहने की शक्ति नहीं है । अतः आप बड़े बलवान हो । सो यदि मुझको तुम आदर की दृष्टि से देखते हो ॥२०॥

क्षिप्रं सुनिशितैर्बाणिर्हेन्यतां युधि रावणः ।

भ्रातुरादेशमाज्ञाय लक्ष्मणो वा परन्तपः ॥२१॥

तो शीघ्र अपने पैने बाणों से युद्ध में रावण को मारिए अथवा भ्राता की आज्ञा से शत्रुओं को तपाने वाले लक्ष्मणजी ही ॥२१॥

स किमर्थं भरवरो न मां रक्षति राघवः ।

शक्तौ तौ पुरुषव्याघ्रौ वाय्वग्निसमतोजसौ ॥२२॥

जो नरो में श्रेष्ठ हैं, हे राघव ! वे मुझे क्यों नहीं बचाते । वे दोनों पुरुषसिंह वायु और अग्नि की तरह तेजस्वी और शक्तिमान् ॥२२॥

सुराणामपि दुर्धरौ किमर्थं मामुपेक्षतः ।

ममैव दुष्कृतं किञ्चिन्महदस्ति न संशयः ॥२३॥

तया देवताओं द्वारा भी प्रजेय होकर, किम लिए मेरी उपेक्षा कर रहे हैं । इससे तो जान पड़ता है कि, निस्सराय मेरा ही कोई बड़ा अपराध अथवा पाप है ॥२३॥

समर्थावपि तौ यन्मां नावेक्षेते परन्तपौ ।

वैदेह्या वचनं श्रुत्वा करुणं साश्रुभाषितम् ॥२४॥

(इसी से ता) वे परन्तप दोना भाई समर्थवान् होकर भी मेरी रक्षा नहीं करते । (हनुमानजी कहने लगे कि) हे प्रभो ! सीता के रोकर कहे हुए करुणापूर्ण वचनों को सुन ॥२४॥

पुनरप्यहमार्यां तामिदं वचनमब्रवम् ।

त्वच्छोकविमुखो रामोऽदेवि सत्येन ते शपे ॥२५॥

रामे दुःखाभिभूते तु लक्ष्मणः परितप्यते ।

कथञ्चिद्भ्रुवती दृष्ट्वा न कालः परिशोचितुम् ॥२६॥

मैंने उन मती साध्वी सीता से यह कहा— हे देवि ! मैं शपथपूर्वक सत्य कहता हूँ कि, श्रीरामचन्द्रजी तुम्हारे विरहजन्य शोक से बड़े दुःखी हो रहे हैं और उनको दुःखी देख लक्ष्मण भी शोकसन्तप्त हैं । हे देवि ! मैंने किसी प्रकार आपको देख तो लिया । अब यह समय शोक करने का नहीं है ॥२५॥२६॥

अस्मिन्मुहूर्ते दुःखानामन्तं द्रक्ष्यसि भामिनि ।

तावुभौ नरशार्दूलौ राजपुत्रावनिन्दितौ ॥२७॥

हे सुन्दरि ! आप अब इसी समय से अपने दुःखों का अन्त हुआ जानिये । वे दोनों पुरुषमिह एव अनिन्दित राजकुमार ॥२७॥

त्वद्दर्शनकृतोत्साहौ लंकां भस्मीकरिष्यतः ।

हत्वा च समरे रौद्रं रावणं सहयान्धवम् ॥२८॥

तुम्हें देखने के लिए उत्कण्ठित हो, लंका को भस्म कर डालेंगे और युद्ध में मयकर रावण को सन्धुवाधव सहित मार ॥२८॥

राघवस्त्वां धरारोहे स्वां पुरीं नयते ध्रुवम् ।

यत्तु रामो विजानीयादभिज्ञानमनिन्दिते ॥२९॥

प्रोतिसञ्जननं तस्य प्रदातुं त्वमिहार्हसि ।

साऽभिवीक्ष्य दिशः सर्वा वेप्युद्ग्रथनमुत्तमम् ॥३०॥

हे बरारोहे ! निश्चय ही तुम्हें अयोध्यापुरी को ले जायेंगे । हे प्रतिदित ! मुझे कोई ऐसी चिन्हनी दो जिसको देख श्रीरामचन्द्रजी मेरे ऊपर विश्वास करें । तब उन्होंने इधर-उधर देख सिर की चोटी में गुंथने की यह चूडामणि ॥३६॥३०॥

मुक्त्वा वस्त्राद्ददौ मह्यं मणिमेतं महाबल ।

प्रतिगृह्य मणि दिव्यं तव हेतो रघूदह ॥३१॥

हे महाबली ! अपन आंचल से खोल गुझे दी । हे रघुनन्दन ! मंने आपके लिए दिव्यमणि ले ली ॥३१॥

शिरसा तां प्रणम्यार्यामहमागमने त्वरे ।

गमने च कृतोत्साहमवेक्ष्य वरवर्णिनी ॥३२॥

सीता को प्रणाम कर मैं यहाँ आने के लिए जल्दी करने लगा । जब सुन्दरी सीता ने मुझे चलने को उद्यत ॥३२॥

विवधंमानं च हि मामुवाच जनकात्मजा ।

अश्रुपूर्णमुखी दीना वाष्पसन्दिग्धभाषिणी ॥३३॥

और अपना शरीर बढाए हुए देखा, तब जानकीजी मुझसे कहने लगी । वे आँसुओं में आँसू भर लाइ और उनका कण्ठ गदगद हो गया ॥३३॥

ममोत्पतनसम्भ्रान्ता शोकवेगवशंगता ।

हनुमन्तिहसङ्काशौ तावुभौ रामलक्ष्मणौ ।

सुग्रीवं च सहानात्यं सर्वान्भ्रूया ह्यनामयम् ॥३४॥

क्योंकि मेरे वहाँ से चले आने का बात जान वे घबडाई हुई थीं और दुखी हो रदी थी । वे कहने लगीं—हे हनुमान ! सिंह के समान दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण ने तथा मंत्रियों सहित मुषीवादि समस्त वानरों से मेरा कुशल समाचार कहता ॥३४॥

यथा च स महाबाहुर्मां तारयति राघवः ।

अस्माद्दुःखाम्बुसंरोधात्वं समाधातुमर्हसि ॥३५॥

तुम ऐसा उद्योग करना जिससे वे महाबाहु श्रीरामचन्द्र मुझे इस शीर-
सागर से शीघ्र आकर उबारें ॥३५॥

इमं च तीव्रं भम शोकवेगं

रक्षोभिरेभिः परिभर्त्सनं च ।

ब्रूयास्तु रामस्य गतः समीपं

शिवश्च तेऽध्वास्तु हरिप्रवीर ॥३६॥

हे कपिश्रेष्ठ ! मार्ग तुम्हारे लिए मगलदायी हो । तुम श्रीरामचन्द्रजी
के पास जाकर मेरे इस तीव्र शोक तथा इन राक्षसियों द्वारा मेरे डराए
घमनाए जाने का समस्त वृत्तान्त कह देना ॥३६॥

एतत्तवार्या नृपराजसिंह

सीता वचः प्राह विषादपूर्वम् ।

एतच्च वद्ध्वा गदितं मया त्वं

श्रद्धत्स्व सीतां कुशलां सपत्न्याम् ॥३७॥

इति सप्तपष्टितमः सर्गः ॥

हे नृपराजसिंह ! तुम्हारी मती भीता नें दुःखी हो ये सब बातें कही
हैं । मेरे कहें हुए उनके संदेशे पर विचार कर, समस्त पतिव्रताओं में अग्रणी
सीताजी के कुशलपूर्वक होने का विश्वास करो ॥३७॥

सुन्दरकाण्ड का सड़सठवां सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

अष्टपष्टितमः सर्गः

अयाहमुत्तरं देव्या पुनरुक्तः ससम्भ्रमः ।

तव स्नेहान्नरव्याघ्र सौहार्दादिनुमान्य वै ॥१॥

हनुमानजी कहने लगे—हे नरव्याघ्र ! सीताजी ने यह जान कर कि, मुझ पर तुम्हारा स्नेह है, शेष काय के सम्बन्ध में आदरपूर्वक मुझमें कहा ॥१॥

एवं बहुविधं वाच्यो रामो दाशरथिस्त्वया ।

यया मामापनुयाच्छीघ्रं हत्वा रावणमाहवे ॥२॥

हे कने ! तुम विविध प्रकार में दाशरथनन्दन आरामचन्द्र को समझाता जिसने वे शीघ्र युद्ध में रावणको मार मुझे मिलें ॥२॥

यदि वा मन्यसे वीर वसैकाहमरिन्दम ।

कस्मिन्श्चित्संवृते देशे विश्रान्तः श्वो गमिष्यसि ॥३॥

हे वीर ! यदि तुम चाहो तो किसी गुप्त स्थान में एक दिन और टिके रहो और अपनी थकावट मिटा लो । फिर कल चले जाना ॥३॥

मम चाप्यल्पभाष्यायाः सान्निध्यात्तव वानर ।

अस्य शोकविपाकस्य मुहूर्तं स्याद्विमोक्षणम् ॥४॥

हे वानर ! तुम्हारे मेरे समीप रहने से मैं अभागी कुछ देर के लिए तो इस शोक से छूट जाऊँगी ॥४॥

गते हि त्वयि विक्रान्ते पुनरागमनाय वै ।

प्राणानामपि सन्देहो मन स्यान्नात्र संशयः ॥५॥

तुम्हारे यहाँ से वहाँ जाने और वहाँ से यहाँ फिर आने तक, निश्चय ही मुझे अपने जीवित रहने में भी संशय है ॥५॥

तवादर्शनजः शोको भूयो मां परितापयेत् ।

दुःखाद्दुःखपराभूतां दुर्गतां दुःखभागिनीम् ॥६॥

मैं इस दुर्दशा में पड़ी हूँ और दुःख पर दुःखमह रही हूँ । अतः मैं बड़ी अभागिनी हूँ । तुम्हारे चले जाने पर अथवा तुम्हारी अनुपस्थिति में मुझे फिर बड़ा मारी दुःख होगा ॥६॥

अयं च वीर सन्देहस्तिष्ठतीव ममाग्रतः ।

सुमहांस्त्वत्सहायेषु हयंक्षेपु हरीश्वर ॥७॥

हे वीर ! मुझे एक बात का बड़ा सन्देह है कि, तुम्हारे बड़े सहायक रीछे और वानरो में ॥७॥

कथं न खलु दुष्पारं तरिष्यन्ति महोदधिम् ।

तानि ह्यृक्षसंन्यानि तौ वा नरवरात्मजौ ॥८॥

कौन किस प्रकार इस दुष्पार महासागर को पार कर सकेंगे । वह रीछे वानरो की सेना अथवा वे दानो राजकुमार किस प्रकार समुद्र को पार करेंगे ॥८॥

त्रयाणामेव भूतानां सागरस्यास्य लङ्घने ।

शक्तिः स्याद्द्वैततेयस्य वायोर्वा तव वानघ ॥९॥

हे अनघ ! इस समुद्र को लाने की शक्ति तीन ही जनो में है या तो गहड़ जी में या पवन में या तुममें ॥९॥

तदस्मिन्कार्यनिर्योगे वीरवं दुरतिक्रमे ।

किं पश्यसि समाधानं त्वं हि कार्यविदां वरः ॥१०॥

अतः हे कार्य करने वालो में श्रेष्ठ ! हे वीर ! तुमने इस दुष्कर कार्य के करने का क्या उपाय स्थिर किया है ॥१०॥

काममस्य त्वमेवंकः कार्यस्य परिसाधने ।

पर्याप्तः परवीरघ्न यशस्यस्ते बलोदयः ॥११॥

हे शत्रुनिहन्ता ! यद्यपि तुम अकेले ही सृष्ट में इस काम को पूरा कर सकते हो तथापि ऐसा करने में केवल तुम्हारे यश और बल का बलान होगा ॥११॥

बलैः समग्रैर्यदि मां हत्वा रावणमाहवे ।

विजयी स्वां पुरी रामो नयेत्तत्स्याद्यशस्करम् ॥१२॥

यदि श्रीरामचन्द्रजी रावण को उसकी सारी सेना के साथ मार एवं विजय प्राप्त कर मुझे अशोक्या ले चले, तो उनकी नामवरी हो ॥१२॥

यथाहं तस्य वीरस्य वनादुपधिना हृता ।

रक्षसा तद्भयादेव तथा नार्हति राघवः ॥१३॥

जैसे रावण ने श्रीरामचन्द्र के आश्रम में, उनके मय से भीत हो मुझे छत्रबल से हरा उस प्रकार मैं मेरा यहाँ से उद्धार करना श्रीरामचन्द्रजी के योग्य नहीं है ॥१३॥

यत्तस्नु सङ्कुला कृत्वा लङ्का परबलादेनः ।

मां नयेद्यदि काकुत्स्थस्मत्तन्व्य सदृशं भवेत् ॥१४॥

यदि शत्रु-मैत्र्य विचित्रमकारि श्रीरामचन्द्रजी अपनी सेना लेकर लङ्का का पाट दें और मुझे ल जायें तो यह कार्य उनके स्वरूपानुस्य हो ॥१४॥

तद्यथा तस्य विक्रान्तनुरूपं महात्मनः ।

भवत्याहवशूरस्य तथा त्वनुपपादय ॥१५॥

जो कार्य उन युद्धशूर महात्मा के योग्य हों और उनके पराक्रम को प्रकाशित करें तुम वना ही बचाय करना ॥१५॥

तदर्थोपहितं वाच्यं प्रथिनं हेतुनहितम् ।

निशान्याहं ततः शैवं वाचयन्नुत्तरनद्वयम् ॥१६॥

हे श्रीरामचन्द्र ! इस प्रकार मैं नम्रता और युक्तियुक्त सीता देवी के वचन सुन, मैंने पाँछे में उनसे देते हुए कहा ॥१६॥

देवि ह्यूर्ध्वक्षैन्यानामीश्वरः प्लवता वरः ।

सुग्रीवः सत्त्वन्पन्नन्वायै कृतनिश्चयः ॥१७॥

हे देवि ! शीघ्र और वानरों के अधिपति वानरश्रेष्ठ सुग्रीव बड़े पराक्रमी हैं । वे आपके उद्धार का मकल्प कर चुके हैं ॥१७॥

तन्व्य विक्रममन्पन्नाः सत्त्वन्तो महाबलाः ।

मनःसङ्कुल्पमन्पाता निदेशे हरयः स्थिताः ॥१८॥

उन सुग्रीव की आज्ञा के वश मैं महापराक्रमी, वीर्यवान्, महाबली और इन्द्रियामी भनेक वानर हैं ॥१८॥

तेषां नोपरि नावस्तान्न तिर्यक्मज्जते गतिः ।

न च कर्मसु सोदन्ति महत्स्वमिततेजसः ॥१९॥

क्या ऊपर, क्या अगल बगल, किसी भी ओर जाने में वे नहीं रुक सकते । वे किसी भी बड़े से बड़े काम के करने में नहीं धबडगते । वे भ्रमित तेजस्वी हैं ॥१९॥

असकृत्तमहाभागैर्वानरैर्बलसंयुतैः ।

प्रदक्षिणीकृता भूमिर्वायुमार्गानुसारिभिः ॥२०॥

उन महाबली महाभाग वानरों ने आकाशमार्ग से गमन कर कितनी ही बार पृथिवी को परिक्रमा की है ॥२०॥

मद्विशिष्टाश्च तुल्याश्च सन्ति तत्र वनौकसः ।

मत्तः प्रत्यवरः कश्चिन्नास्ति सुग्रीवसन्निधौ ॥२१॥

मेरी बराबर और मुझसे भी अधिक बली और पराक्रमी वानर वहाँ हैं । मुझसे हीनपराक्रम वाला भ्रष्टान् कम बलवाला एक भी वानर सुग्रीव के पास नहीं है ॥२१॥

अहं तावदिह प्राप्तः किं पुनस्ते महाबलाः ।

न हि प्रकृष्टाः प्रेष्यन्ते प्रेष्यन्ते हीतरे जनाः ॥२२॥

जब मैं ही यहाँ आ गया, तब उन महाबलियों का तो पूछना ही क्या है ? देखो, दूत बनाकर छोटे ही भेजे जाते हैं बड़े नहीं ॥२२॥

तदलं परितापेन देवि मन्युर्व्यपैतु ते ।

एकोत्पातेन वै लंकामेष्यन्ति हरियूथपाः ॥२३॥

हे देवि ! अब तुम सन्तप्त न हो । दीनता त्याग दो । वानर एक ही चर्या में लंका में आ जायेंगे ॥२३॥

मम पृष्ठगतौ तौ च चन्द्रसूर्याविवोदितौ ।

त्वत्सकाशं महाभागे नृसिंहावागमिष्यतः ॥२४॥

हे महाभागे ! वे दोनों पुरुषसिंह मेरी पीठ पर सवार हो उदित हुए चन्द्र और सूर्य की तरह यहाँ आ जायेंगे ॥२४॥

अरिघ्नं सिंहसङ्काशं क्षिप्रं द्रक्ष्यसि राघवम् ।
लक्ष्मणं च धनुष्याणि लङ्काद्वारमुपस्थितम् ॥२५॥

हे वैत्रि ! शत्रुहन्ता और सिंह की तरह पराक्रमी श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण को तुम धनुष हाथ में लिये शीघ्र ही लका के द्वार पर आया हुआ देखोगी ॥२५॥

नखदंष्ट्रायुधान्वीरान्सिंहशार्दूलविक्रमान् ।
वानरान्वारणेन्द्राभाम्क्षिप्रं द्रक्ष्यासि सङ्गतान् ॥२६॥

तुम नख और दाँतो को आयुध बनाए सिंह और शार्दूल की तरह पराक्रमी और गरुराज तुल्य वानरो को शीघ्र लका में इकट्ठा हुआ देखोगी ॥२६॥

शंलाम्बुदनिकाशानां लंकामलयसानुषु ।
नर्दतां कपिमुख्यानामचिराच्छोष्यसि स्वनम् ॥२७॥

पर्वताकार वानर बीरो का, लका के मलयाचल के ऊँचे कँगूरो पर, सिहनाद भी तुमको शीघ्र ही सुनाई पड़ेगा ॥२७॥

निवृत्तवनवासं च त्वया सार्धंमरिन्दमम् ।
अभिषिक्तमयोध्यायां क्षिप्रं द्रक्ष्यसि राघवम् ॥२८॥

तुम शीघ्र ही देखोगी कि, वनवास की अवधि पूरी कर, शत्रु दमनकारी श्रीरामचन्द्रजी तुम्हारे साथ अयोध्या के राजसिंहासन पर आसीन हैं ॥२८॥

ततो मया वाग्भिरदीनभाषिणा
शिवाभिरिष्टाभिरभिप्रसादिता ।
जगाम शान्तिं मम मैथिलात्मजा
तवापि शोकेन तदाभिपीडिता ॥२९॥

सुन्दरकाण्डे

हे रघुनन्दन ! उस समय तुम्हारे शोक से पीड़ित सीताजी इस प्रकार के गुम और प्यारे वचनों से प्रसन्न हुईं । उनकी दीनता दूर हुई और वे शान्त हुईं ॥२६॥

सुन्दरकाण्ड का अठसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ।
इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्ये
चतुर्विंशतिसाहस्रिकाया सहितायाम्

॥ सुन्दरकाण्डः समाप्तः ॥



॥ श्री ॥

श्रीमद्रामायणपारायणसमापनक्रमः

श्रीवैष्णवसम्प्रदायः

—*—

एवमेतत्पुरावृत्तभाष्याय भद्रमस्तु व ।
प्रव्याहरत विलम्ब बल विष्णो प्रवधताम् ॥१॥
लाभस्तथा जयस्तेषां कुतस्तेषा पराभव ।
येवामिन्दीवरश्यामो हृदये सुप्रतिष्ठित ॥२॥
काले वषतु पजन्य पृथिवी सस्यशालिनी ।
देशीय क्षोभरहितो ब्राह्मणा सन्तु निर्भया ॥३॥
कावेरी वर्धता काले काले वषतु वासव ।
श्रीरङ्गनाथो जयतु श्रीरङ्गश्रीश्च वर्धताम् ॥४॥
स्वस्ति प्रजाग्य परिपालयन्ता
न्याय्येन मार्गेण महौ महोशा ।
शोब्राह्मणेभ्य शुभमस्तु नित्य
लोकैः समस्ता सुखिनो भवन्तु ॥५॥
मङ्गल कोसलेन्द्राय महनीयगुणाव्यये ।
चक्रवर्तितनूजाय सावंनीमाय मङ्गलम् ॥६॥
चदवेदान्तवेद्याय मेघश्यामलमूर्तये ।
पुसा मोहनरूपाय पुण्यश्लोकाय मङ्गलम् ॥७॥

विश्वामित्रान्तरङ्गाय मिथिलानगरीपते ।
 भाग्याना परिपाकाय भव्यरूपाय मङ्गलम् ॥८॥
 पितृभक्ताय सतत भ्रानुभि सह सीतया ।
 नन्दिताखिललोकाय रामभद्राय मङ्गलम् ॥९॥
 त्यक्त्वासाकेतवासाय चित्रवूटविहारिणे ।
 सेव्याय सर्वशमिता धीरोदाराय मङ्गलम् ॥१०॥
 सौमित्रिणा च जानक्या चापवाणासिधारिणे ।
 ससेव्याय सदा भक्त्या स्वामिने मम मङ्गलम् ॥११॥
 दण्डकारण्यवासाय खण्डितामरशत्रवे ।
 गुध्रराजाय भक्ताय मुक्तिदायास्तु मङ्गलम् ॥१२॥
 सादर शबरीदत्तफलमूलाभिलाषिणे ।
 सौवभ्यपरिपूर्णाय सत्त्वोद्विक्ताय मङ्गलम् ॥१३॥
 हनुमत्समवेताय हरीशाभीष्टदायिने ।
 वाल्मिप्रमथनायास्तु महाधीराय मङ्गलम् ॥१४॥
 धीमने रघुवीराय सेतूल्लङ्घितसिन्धवे ।
 जितराक्षसराजाय रणधीराय मङ्गलम् ॥१५॥
 अनाद्य नगरीं दिव्यामभिविक्ताय सीतया ।
 राजाधिराजराजाय रामभद्राय मङ्गलम् ॥१६॥
 मङ्गलाशासनपरमंदाचार्यपुरोगमे ।
 सर्वेश्व पूर्वोचार्ये सत्कृतायास्तु मङ्गलम् ॥१७॥

माध्वसम्प्रदायः

स्वस्ति प्रजाम्यः परिपालयन्ता

न्याम्येन मार्गेण महौं महीशा ।

गोब्राह्मणेभ्य शुभमस्तु नित्य

लौकाः समस्ता सुखिनो भवन्तु ॥११॥

काले वर्षंतु पर्जन्य पृथिवी सस्मशालिनी ।

देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणा सन्तु निर्भयाः ॥१२॥

लाभस्तेषा जयस्तेषा क्रुतस्तेषा पराभव ।

येथामिन्द्वीवरश्यामो हृदये सुप्रतिष्ठित ॥१३॥

मङ्गलं कोसलेन्द्राय महनीपगुणाब्धये ।

चक्रवर्तितनूजाय सार्वभौमाय मङ्गलम् ॥१४॥

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा

बुद्ध्यात्मना वा प्रकृते स्वभावात् ।

करोमि यद्यत् सकल परस्मै

भारापणायैति

समर्पयामि ॥१५॥

—*—

स्मार्तसम्प्रदाय

स्वस्ति प्रजाम्य परिपालयन्तां

न्याय्येन मार्गेण महीं महीशा ।

गोब्राह्मणेभ्य शुभमस्तु नित्य

लोका समस्ता सुखिनी भवन्तु ॥१॥

काले वर्षतु पर्जन्य पृथिवी सस्यशालिनी ।

देशोज्य क्षोभरहितो ब्राह्मणा सन्तु निर्भया ॥२॥

अपुत्रा पुत्रिण सन्तु पुत्रिण सन्तु पौत्रिण ।

अपना सघना सन्तु जीवन्तु शरदा शतम् ॥३॥

चरित रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम् ।

एकैकमक्षर प्रोक्त महापातकनाशनम् ॥४॥

शृण्वन् रामायण भक्त्या य पाद पदमेव वा ।

स याति ब्रह्मण स्वान ब्रह्मणा पूज्यते सदा ॥५॥

रामाय रामभद्राय रामचन्द्राय वेधसे ।

रघुनाथाय नाथाय सीताया पतये नम ॥६॥

धम्मञ्जल सहस्राक्षे सर्वदेवनमस्कृते ।

पुत्रनाशे समभवत्तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥७॥

मङ्गल कोसलेन्द्राय महनीयगुणात्मने ।

चक्रवर्तितनूजाय सार्वभौमाय मङ्गलम् ॥८॥

धम्मञ्जल सुपर्णस्य विनताकल्पयत् पुरा ।

अमृत प्रार्थयानस्य तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥९॥

अमृतोत्पादने दंत्यान् घ्नतो वज्रधरस्य यत् ।
अदितिमङ्गल श्रादात्तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥१०॥
त्रोन् विक्रमान् प्रक्रमतो विष्णोरमिततेजस ।
यदासीन्मङ्गल राम तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥११॥
ऋतव सागरा द्वीपा येदा लोका विशिष्व ते ।
मङ्गलानि महाबाहुदिशन्तु तव सवदा ॥१२॥
कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्यात्मना वा प्रकृते स्वभावात् ।
करोमि यद्यत् सकल परस्मै
नारायणार्थेति समर्पयामि ॥१३॥